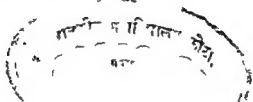


DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj.)**

Students can retain library books only for two weeks at the most.

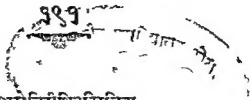
BORROWER'S No.	DUE DTATE	SIGNATURE

P. G. SECTION



॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला



श्रीभट्टोजिदीक्षितमिरचिता

वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी

सर्वमर्श-‘रत्नप्रभा’-हिन्दीव्याख्यासहिता

व्याख्याकार सम्पादकश्च

व्याकरणाचार्यः श्रीचालुक्यपञ्चोली

दे० सू० खेतानमहाविद्यालय-काशिकराजकीय संस्कृतमहाविद्यालय-
वाचस्पत्य-संस्कृत विश्वविद्यालय-पूर्वप्राध्यापक

(समासादि-द्विरुक्तान्तो द्वितीयो भागः)



चौखम्बा संस्कृत सीरीजें आफिस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

मुद्रक : विद्याधिलास प्रेस, वाराणसी-१

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०२६

मूल्य : १८००

© चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)

फोन : ३१४५

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६६, वाराणसी-१

फोन : ३०७६

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
191

VAIYĀKARAṆA-SIDDHĀNTA-KAUMUDĪ

BY
ŚRĪ BHATṬOJĪ DĪKṢITA

Edited with
'Ratnaprabhā' Hindi Commentary

BY
PT ŚRĪ BĀLAKRŚṆA PAÑCHOLĪ,
Vyākaranāchārya
Ex Professor, Khetan Sanskrit College, Varanasi
and Sanskrit University, Varanasi

VOL. II
FROM SAMĀSA TO DVIRUKTĀNTA

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1969

विषयानुक्रमणिका

१. अव्ययीभावसमासप्रकरणम्	१
२. तत्पुरुषसमासप्रकरणम्	१७
३. बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्	६६
४. द्वन्द्वसमासप्रकरणम्	८८
५. एकशेषप्रकरणम्	९८
६. सर्वसमासशेषप्रकरणम्	१०१
७. समासान्तप्रकरणम्	१०३
८. अलुक्समासप्रकरणम्	१०८
९. समासाश्रयविधिप्रकरणम्	११४
१०. तद्धितः (अपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः)	१३६
११. अपत्याधिकारप्रकरणम्	१३८
१२. रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्	१६८
१३. चातुरर्थिकप्रकरणम्	१८६
१४. शैषिकप्रकरणम्	१९३
१५. प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्	२३५
१६. ठगधिकारप्रकरणम्	२४२
१७. प्राग्धितीयप्रकरणम्	२५८
१८. छयदधिकारप्रकरणम्	२६४
१९. आर्हयिप्रकरणम्	२७०
२०. ठन्नधिकारे कालाधिकारप्रकरणम्	२८५
२१. ठन्नधिकारप्रकरणम्	२९१
२२. भावकर्मार्थकप्रकरणम्	२९४
२३. पांचमिकप्रकरणम्	३००
२४. मत्वर्थीयप्रकरणम्	३१९
२५. प्राग्दिशीयप्रकरणम्	३३१
२६. प्रागिवीयप्रकरणम्	३३६
२७. स्वार्थिकप्रकरणम्	३४९
२८. द्विरुक्तप्रकरणम्	३७०
२९. समासादि-द्विरुक्तान्त-सूत्रसूची	३७७
३०. समासादिद्विरुक्तान्त-वार्तिकसूची	३९१
३१. समासादि-द्विरुक्तान्त-परिभाषासूची	३९५

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

सविमर्श 'रत्नप्रभा' हिन्दीव्याख्योपेता

अथान्वयीभावसमासप्रकरणम् ॥ १५ ॥

६४८ समर्थः पदविधिः २।१।१

पदसम्बन्धी यो विधि, स समर्थाश्रितो बोध्यः ।

इसके पूर्व 'स्वीजसम्' से विहितस्वादिप्रत्ययों के अर्थ विशेष को निरूपण कर प्रसङ्गमङ्गले से समासमञ्चा का निरूपण के लिए समास आदि के लिए उपयोगिनी परिभाषा का व्याख्यान कर रहा है यद्यपि समर्थ का समानसंज्ञारूपपदविधि का साक्षात् विशेष्यत्व सम्भव न होने से सामर्थ्याश्रित में लक्षणा से सिद्ध अर्थ को कह गया है, वृत्ति में 'समर्थाश्रित' । इस समर्थाश्रित में भी समर्थपदसामर्थ्य में लाक्षणिक है। सामर्थ्य दो प्रकार का है—व्यपेक्षारूप एकार्थीभावरूप। वाक्य में शब्द अपने-अपने अर्थों का प्रतिपादन करते हुए आवादा, योग्यता, आसक्ति एवं तात्पर्य वगैरे परस्परसम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं उसको व्यपेक्षा कहते हैं। समास, वृत्तप्रत्यय, तद्धितप्रत्यय, एकशेष एवं शानुसंज्ञा में एकार्थीभावरूपसामर्थ्य हो गृहीत जाता है। 'राश पुत्र' आदि वाक्य में व्यपेक्षा है, 'रात्रिपुरुष' आदि में एकार्थीभाव है।

१—स्वार्थपर्यवसानादिना शब्दानामात्मनादिवशाद् य सम्बन्ध परस्पर सा-व्यपेक्षा ।

२—यत्किञ्चित्पदजन्यवृत्तिपरिस्थितिर्विषयार्थकत्वेन लोके दृष्टानां शब्दानां विशिष्टविषयैक शक्त्यैवोपरिस्थितजनकत्वम्-एकार्थीभावत्वम् । अथवा-विशेष्यविशेषणयावापञ्चानामेकार्थोपरिस्थिति जनकत्वम्-एकार्थीभावत्वम् ।

पदसम्बन्धी विधि ही एकार्थीभावरूपसामर्थ्य की अपेक्षा करती है। ऐसा कहने पर इच्छा र्थकम्पनादिविधायकशास्त्रपदविधित्वाभाववान् है वे सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं करने पर दास प्रसक्ति सम्प्राप्त हुए एतदर्थ यहाँ पदविधिशब्द से पदविधि से सहचरित का भी ग्रहण होता है। यहाँ सहचरितता क्या है? स्वयुक्तपदषट्क जो शास्त्र उसको जो विधेयता तद्रूपव है। विधेयवृत्तिधर्म को विधेयता कहते हैं। स्वयद्वितपदषट्कशाक्तविधेयत्व सहचरितत्वम् इन सब का साराश यहाँ यह हुआ कि सूत्र में पदविधिशब्द सामान्यतः पदसम्बन्धी विधि को न बोधन कर लक्षणा से विशिष्ट स्मृतिन अर्थ का प्रतिपादक है, जिससे पाँच वृत्तियों पदविधियाँ बन जाय एवं वे वृत्तियाँ वही हो अर्थात् एकार्थीभावरूपसामर्थ्य रहे। अहाँ व्यपेक्षारूपसामर्थ्य रहे

वहाँ पाँच वृत्तियों में से कोई भी वृत्ति की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः अब यह कर्तव्य आ पढ़ा कि पदविधि का ठीक स्वरूप क्या है ? एवं उसका समन्वय प्रकार क्या है ?

पारिभाषिकशब्दार्थज्ञान के लिए प्रथम उसका सारभूत अर्थ का निर्देश आवश्यक है तब पदविधि का विशिष्टस्वरूप का ज्ञान सुगमता से होता है। यथा—पदत्व (पद) संज्ञा की प्रवृत्ति में कारण प्रत्यय सुप् एवं निष् है (सुप्तिङन्तं पदम्) सुप् एवं निष् का विधायकशास्त्र 'स्वौजसन्' एवं 'धातोः' । इनके दोनों का उद्देश्य प्रातिपदिक एवं धातु है, उन प्रातिपदिक-संज्ञा का उद्देश्य, एवं धातुसंज्ञा का उद्देश्य क्रमशः कृदन्त नदादि तद्धितान्तनदादि एवं समास, एवं सनाद्यन्ततदादि अन्यतम है, इनमें विशेषणता से प्रतीयमानकृतप्रत्यय, तद्धितप्रत्यय, समास, (अर्थवत् का समास भी विशेषण है) एवं मन् क्यच् आदि वारह प्रत्यय हैं, उन सबका विधायक-शास्त्र कृतप्रत्ययविधायकसम्पूर्णसूत्र, तद्धितप्रत्ययविधायकसम्पूर्णसूत्र, समामसंज्ञाविधायकसम्पूर्णसूत्र, सनादिप्रत्ययविधायक वारह सूत्र एवं द्वन्द्वसमास का वाक्य एकशेष होने से उत्सर्ग एवं अपवाद दोनों की समानविषयता होती है, एतावता द्वन्द्वपदविधि तो एकशेष भी पदविधि इस प्रकार पाँच पदविधियाँ हुई हैं । इसका परिष्कृतस्वरूप यह है—“पदत्वप्रयोजकप्रत्ययनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताऽवच्छेदकसंज्ञीयोद्देश्यताऽवच्छेदकसन्पादकशास्त्रविधेयत्वरूपं पदविधित्वम्” । पदत्व-प्रयोजकप्रत्ययः—सुप्तिङ् रूपः, तन्निष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताऽवच्छेदकीभूता संज्ञा=प्रातिपदिकसंज्ञा धातुसंज्ञा च, तादृशसंज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यतावच्छेदकम् = कृदन्तत्वम्, तद्धितान्तत्वम्, समासत्वम् सनादिभेदभिन्नत्वम् (सनाद्यन्तमत्वम्) तत्सन्पादकशास्त्रम् = कृदविधायकम्, तद्धितविधायकम्, समासविधायकम्, सनादिविधायकम् तद्विधेयत्वम् - कृतद्धितसमाससना—दीनान् इति पदविधित्वेन सामर्थ्याश्रितत्वम् । “अनवकाश एकशेषः द्वन्द्वं बाधिर्यते” इति भाष्यम् ।

इस प्रकार पदविधि के लक्षण से 'समासेऽलुलेः सद्गः' वहाँ समासग्रहण सार्थक हुआ । एवं 'पदान्ताद्वा' सूत्र में अन्तग्रहण कृतार्थ हुआ, तथा 'न पदान्तादोरनाम्' की असामर्थ्य में भी प्रवृत्ति हुई । वृत्ति में एकार्थभावस्वरूपसामर्थ्य से 'राजपुरुषः', आदि में विशेषणीभूतराजादि अर्थ में पदान्तरार्थ का अन्वय न हुआ क्योंकि वह पदार्थैकदेश है । 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' यहाँ देवदत्त-पदार्थ का निरूपितत्वसम्बन्ध से एकदेशगुरुत्व में यद्यपि अन्वय है, किन्तु नित्यसापेक्षगुण में ही अन्यपदार्थ का विशेषणतया एकदेशार्थ में अन्वय होता है, त्वम् = गुरुत्वम्, तन्निष्पिका आकाङ्क्षा = जहाँ-जहाँ गुरुत्व है वहाँ-वहाँ इसका निरूपक कीन है, ऐसी आकाङ्क्षा उदीयमान होती है, इस आकाङ्क्षाज्ञान का व्याप्यज्ञान है—गुरुत्वज्ञान, उस ज्ञान का विषय है—गुरुत्व, वह नित्यसाक्षात् कहा जाता है = स्वनिरूपकाकाङ्क्षाव्याप्यज्ञानविषयत्वं नित्यसापेक्षत्वम् ॥ स्व से जिसको नित्य-सापेक्षत्व बनाना है वहाँ लेना, यथा प्रकृत में गुरुत्व । अथवा वहाँ भी एकदेश में देवदत्त का अन्वय नहीं ही है, किन्तु परम्परा-सम्बन्ध से देवदत्त का, विशेष्यकुल में अन्वय है ! स्वनिरूपितोत्पाद्यत्ववत् सम्बन्ध यहाँ है, स्व से देवदत्त उसका निरूपित गुरुत्व तद्व्यान् गुरु उनसे अन्य कुल है ।

यह अधिकारसूत्र है, उत्तरोत्तर सूत्रों में जाकर कहेगा कि—जहाँ-जहाँ पदविधित्व है, वहाँ-वहाँ वे समस्तकार्य एकार्थभावस्वरूपसामर्थ्य में ही होंगे । अन्यथा नहीं ।

६४९ प्राक् कडारात्समासः २।१।३।

‘कडाराः कर्मधारये’ इत्यतः प्राक् समान इत्यधिक्रियते ।

यहां 'कडारात्' यह पञ्चमी दिव्योपलक्षणा है, अतः केवल 'कडारात्' का ही अर्थ 'कडारात् प्राक्' जाना है, इस अधिकारसूत्र से उत्तरसूत्रों में 'प्राक् समास' इन दो पदों का अधिकार है। पूर्व समाससंज्ञा करनी, उसके बाद ही प्राप्त अव्ययीभावसंज्ञाओं यदि प्राप्त हैं तो वे भी होती हैं। इससे सामान्यसमाससंज्ञा एवं विशेष अव्ययीभावसंज्ञाओं का एकत्र समावेश हुआ परस्पर बाध्यवाचकभाव न हुआ। क्योंकि एक साथ दोनों प्राप्त ही नहीं हैं, समासरूपा तो पूर्वकाल में ही ही चुकी है अतः सामान्यसंज्ञा होकर अव्ययीभाव, तत्पुरुष बहुव्रीहि, द्वन्द्व संज्ञा (वन्व विषय में होती है। यह स्पष्ट — अस्कीर्ण ज्ञानाथ पदद्वय का आचार्य ने अधिकार किया है। यहाँ अधिकार में समासपद समाससंज्ञापरक है। न कि 'अनेक पदों का एक पद होना यह अर्थ का प्रतिपादक। समाससंज्ञा प्रातिपदिकसंज्ञा की उत्पत्ति में कारण है, अतः तत् तत्स्थलों में लिखा है कि 'समाससंज्ञा प्रातिपदिकत्वम्' इति। अनेकपदों का एकपद होना यह समास का आचार्य नही है किंतु फलितार्थ कथनमात्र है, समाससंज्ञा के बाद प्रातिपदिकसंज्ञा होकर अब नंतर विभक्तियों का छुट जाने पर समुदाय से एकविभक्ति आने से यह एकपद रूप से परिणत हुआ यह भावार्थ है। सभी प्रकरण में जिस जगह शब्द का समास लिखा जाय वहा तत्प्राकृतिक सुबन्तका समास समझना चाहिये।

६५० (१) सह सुपा २।१।४।

'सह'इति योगो विभज्यते । सुबन्त समर्थेन सह समस्यते । योगविभाग-
स्येष्टसिद्धयर्थत्वात् कतिपयतिङन्तोत्तरपदोऽयं समासः । स च छन्दस्येव ।
पर्यभूषयत् । अनुव्यचलत् ।

(१) सुबन्त का समर्थसुबन्त के साथ समास होता है—यथा 'रविपुरुष' इत्यादि । २ सुबन्त का समर्थतिङन्त के साथ समास होता है यथा पर्यभूषयत्, अनुव्यचलत् । यहाँ पूर्वपद सुबन्त है, उत्तरपद तिङन्त है, यहाँ दुर्गतिप्रादयः सूत्र पर पठित वाक्य है—'गतिमतोदाधवता तिङाऽपि समास' इससे या 'सह' इस योगविभाग से ही समास है । ३ सुबन्त का प्रातिपदिक से समास होता है यहाँ पूर्वपद सुबन्त अवश्य चाहिये । यथा कुम्भकार । ४ सुबन्त का धातु के साथ समास होता है । यथा कटप् आदि । ५ तिङन्त का तिङन्त के साथ समास होता है । यथा विश्वखादता (किया) । ६ पूर्वपद तिङन्त का उत्तरपद सुबन्त का समास होता है । यथा जह्तिस्तम् । इस प्रकार छ सप्तास आचार्यों ने कहे हैं । यह छ प्रकार का समास 'सह सुपा' में योगविभागद्वारा लभ्य है, तत्तद् विशेषवचनों की आवश्यकता नहीं है । यह शब्दकोस्तुम देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है ।

योगविभाग इष्ट प्रयोगसिद्धमात्रार्थक है, उससे अनिष्टकार्य विषयक कुतर्क का निरास हो करना चाहिये । अतः शिष्टानुमोदित होने विने तिङन्त उत्तर पद रहे वहा ही योगविभाग से समास करना चाहिये । वह भी वेद में ही । यथा 'परि अभूषयत्' का समास से एकपदत्व हुआ—पर्यभूषयत् । अनु एवं वि का प्रथमसमास करने ने पश्चात् 'अनुवि' का अवचलत् के साथ इससे समास करना चाहिये । यथा अनुव्यचलत् । यहाँ समासफल यह है कि समासस्वर, एवं 'न समासे' से 'इकोऽमवर्ण' से प्राप्त ह्रस्व समुच्चित्प्राकृतिभाव का निषेधरूप फल है । इस सूत्र में 'सुबान्निन से सुप् की अनुवृत्ति है । उम सुप् में एक व विवक्षित है, अतः अनेक सुबन्तों का एक साथ समास नहीं होता है । सुबन्त का समर्थ के साथ समानार्थक 'सह' का व्याख्यान के बाद सुपा का व्याख्यान करते हैं ।

६५० (२) सुपा २।१।४।

सुप् सुपा सह समस्यते । समासत्वात् प्रातिपदिकत्वम् ।

सुबन्त तदादि का समर्थ सुबन्त तदादि के साथ समाससंज्ञा होती है । समाससंज्ञा होने से 'कृतद्धितसमासाश्च' सूत्र से समाससंज्ञकशब्दस्वरूप की प्रातिपदिकसंज्ञा होती है ।

६५१ सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७।

एतयोरवयवस्य सुपो लुक् स्यात् । 'भूतपूर्वं चरडि'ति निर्देशाद् भूतशब्दस्य पूर्वनिपातः । पूर्व भूतोभूतपूर्वः । ऋइवेन समासो विभक्त्यलोपश्च ऋ । जीमूत-स्येव ।

धातुसंज्ञक का अवयव एवं प्रातिपदिकसंज्ञा का अवयव सुप् का अवदर्शनरूप लोप होता है । समास में दो प्रकार के विग्रहवाक्य होते हैं, लौकिक एवं अलौकिक । लोक में जो प्रयुक्त किया जाय उस को लौकिक विग्रहवाक्य कहते हैं, यहाँ यथा पूर्व भूत इति । अलौकिक वि० वा० उसको कहते हैं जिसका लोक में प्रयोग न होकर शास्त्र की प्रवृत्तिमात्र में ही उपयोगिता रहें । शास्त्रीय-समस्तकार्य अलौकिकविग्रहवाक्य में ही होते हैं । यहाँ यथा 'पूर्वं अन् भूत सु' 'सह' ने समाससंज्ञा इस समुदाय की की है, समाससंज्ञा होने से इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हुई है, अतः 'सुपो' सूत्र से 'अन्' एवं 'सु' दोनों का लुक् हुआ है । यहाँ उत्तरसूत्र 'प्रथमानिद्विदम्' ने उससे दोनों शब्द = पूर्व एवं भूत की उपसर्जन संज्ञा है, अतः 'उपसर्जनं पूर्वम्' से दोनों का पूर्वनिपात एकसमय न होने से पर्याय से प्राप्त होकर 'पूर्वभूतः' 'भूतपूर्वः' यह द्विविध प्रयोग यहाँ प्राप्त हुए हैं किन्तु ग्रन्थकार इस पर कहते हैं कि आचार्य पाणिनि ने सर्वत्र ऐसे स्थलों में भूतशब्द का ही पूर्व निपात किया है, अतः यहाँ एक ही प्रयोग 'भूतपूर्वः' यही है, पूर्वभूतः यह नहीं होता । 'भूतपूर्वं चरड्' इस निर्देश से पूर्वार्थ में विशेषणत्वरूप लौकिक उपसर्जनत्व एवं वृत्तिमशान्यमेति उपसर्जनत्व दोनों हैं, उपसर्जन इस महा-संज्ञाकरण से जहाँ द्विविध उपसर्जनत्व रहे उसी का उपसर्जन द्वारा पूर्वनिपात से यहाँ द्विविध-प्रयोग न होकर पूर्वभूतः यहाँ प्राप्त था, अतः निर्देशवत् का आश्रयण करके यहाँ भूत का ही पूर्वनिपात किया गया है । अप्रधान को उपसर्जन प्राचीन आचार्य कहते हैं 'अप्रधानमुपसर्जनम्' । पाणिनिवचन यह है—'कालोपसर्जने च लुन्यम्' इसमें अप्रधान को ही आचार्य उपसर्जन कहते । एवं यहाँ पूर्वशब्द पूर्वकालार्थक है, वह क्रिया का भेदक = व्यावर्तक है, अतो भूधात्वर्थनिदा में पूर्वार्थ व्यावर्तकत्वरूप विशेषण ही है—'क्रियाभेदाय कालः स्यात्' । इन सब सिद्धान्तों का पर्यालोचन करने पर पूर्व का ही न्यायतः पूर्वनिपात सर्वथा उचित था, किन्तु आचार्यनिर्देश मात्र से उनकी मर्यादारक्षाहेतु भूत का पूर्वनिपात अनिच्छा से यहाँ किया गया है । पूर्वोक्त सन्दर्भ से यही सिद्ध हुआ कि लौकिक एवं शास्त्रीय दोनों उपसर्जनत्व जहाँ रहे उनका पूर्व-निपात होता है । तब 'पूर्वकायः' इस की अस्तित्व होगी यहाँ अर्थ यह है कि काया का पूर्वांग, या पूर्वावयव । यहाँ लौकिक उपसर्जनत्व = विशेषणत्व नप कावार्थ में है । पूर्वार्थ में तो विशेषणत्व-रूप अनुपसर्जनत्वरूप प्राधान्य है ? इस शब्दा का निरान इस प्रकार है । 'पूर्वकायः' यहाँ समाससंज्ञाविधायक "पूर्वापराधरोत्तरान् एकदेशिनाधिकारणे" (२।२।७) है उसमें अवयवी ऋ का बोधकशब्द एकदेशिना तृतीयान्तसे बोधित है, पूर्वदि प्रथमान्त से बोधित है, अतः तृतीयान्तार्थ के समीप में प्रथमान्तार्थ लोक में अप्रधान होता है इसको दृष्टान्तद्वारा यहाँ सिद्ध किया

जाता है यथा—इसने साथ आप भी मेरे घर उत्सव में आईये = 'अनेन साकमशानपिमदगृहवत्सवे आगच्छतु' यद्वा प्रथमान्तार्थ से बोध्य के दृश्य में दुःख होना है, क्योंकि आगमन में तृतीया-
न्तार्थ के अनेन वह है, तृतीयान्तार्थ बोध्य ही प्रधान है। प्रकृत में अधीनस्वरूप लौकिक एवं
शास्त्रीय द्विविध उपसर्जनत्व पूर्वार्थ में है अतः पूर्वनिपात से 'पूर्वकार्य' की सिद्धि हुई है।

इस के साथ समर्थ सुबन्त तदादि की समासमञ्जा होती है एवं वहाँ 'सुबो धातुप्रातिपदिकयो'
से विभक्ति का लोप नष्ट होता है। यथा जीमूतस्वेव, यद्वा जीमूत असु इव समास है जीमूत की
उपसर्जनमञ्जा ए० पूर्वनिपात विभक्ति का श्रवण समास होने पर भी। समास का फल एक-
पदत्वे एवं अन्योद्गात इ है, सूत्र—समासस्य समास का अन्त्याध् उदात्त होना है।

६५२ अव्ययीभावः २।१।५।

अधिकारोऽयम् ।

अव्यय का स्वरूप पूर्व में वर्णित है जो अव्यय नहीं होने हुए भी अव्यय की तरह प्रतीयमान
होता है, उसको अव्ययीभाव कहते हैं, यहाँ च्विप्रत्ययार्थ आरोपित है अर्थात् वास्तव में जो
अव्यय नहीं उसमें अव्ययत्व या आहार्य्य आरोप है, शास्त्रीयवार्थ प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वय आहार्य्य-
ज्ञान की रीतिरतिदेशादिमूखारम्भसे होता है। यह अधिकार इस प्रकरण के सूत्रों में आकर
उनमें समासमञ्जा के पश्चात् अव्ययीभावरूपविशेषज्ञा का भी विधान कराने में सहायक
होता है।

६५३ अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्युद्घर्थाभावात्पयासम्प्रति-
शब्दप्रादुर्भावपदचायथानुपूर्व्ययोगपदसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तर्ग-
नेषु २।१।६।

'अव्ययम्' इति योगो विभज्यते । अव्ययं समर्थेन सह समस्यते, सोऽव्य-
यीभावः ।

यद्वा 'अव्ययम्' इतना अज्ञ दृश्य है। इसका अर्थ—अव्ययस्वरूपशब्दस्वरूप का समर्थ-
सुबन्त के साथ समास होता है, वह अव्ययीभावशब्द है। एवं विभक्ति आदि जो द्वितीयाद्य है
उसमें भी 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति है द्वादशममा विभक्ति स अन्तशब्द तक का है, द्वाद के समीप
में वचन का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, समर्थ की अनुवृत्ति, सुप् एवं सुधा की अनुवृत्ति, प्राक् एवं
समान की अनुवृत्ति, अव्ययीभाव का अधिकार इन सब मिलकर यह अर्थ हुआ कि—

विभक्त्यर्थादि में विद्यमान अव्यय का समर्थ सुबन्ततदादि के साथ समासमञ्जा होती है, एवं
उसकी अव्ययीभावज्ञा है। उदाहरण इन सब व बाद में दिये जायेंगे।

६५४ प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३।

समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टम् उपसर्जनसंज्ञ स्यात् ।

यद्वा समास पद की समाससंज्ञाविधायकशास्त्ररूप अर्थ में लक्ष्यता है, अतः उक्त्य में
प्रथमान्तरार्थ न उकर समासविधायक शास्त्र में जो प्रथमान्तर पद उसका वाच्य जो अर्थ उदात्तचक
आ शब्द उसकी उपसर्जनमञ्जा होती है यथा 'रात्रिपुरुषः' यद्वा समाससंज्ञाविधायकशास्त्र 'पक्षी'
उसमें प्रथमान्तर पक्षी तदबोध्य अर्थ पक्ष्य न तदादि लक्ष्यत्व रात्रि उक्त उसकी उपसर्जन

विभक्तिलोप करने पर राजन् उपसर्जन संज्ञक है, उसी का पूर्वनिपात । यदि लक्ष्य में प्रथमान् कहते तो पुरुष की ही उपसर्जन संज्ञा होकर अनिष्ट पूर्वनिपातरूप आपत्ति होती । उपसर्जन महासंज्ञाकरण से यह अन्वयसंज्ञा है, लोप में प्रसिद्धिविशेषणरूप उपसर्जनयुक्त शास्त्रीय उपसर्जन का यहाँ ग्रहण है ।

६५५ उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३०।

समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम् ।

समास में उपसर्जन का पूर्व निपात होना है । अथवा समासव्याप्य जो संज्ञा उसका विधायक जो शास्त्र उसमें जो प्रथमान्तपद उसका जो बोध्य अर्थ उसका जो वाचक उम की उपसर्जन-संज्ञा होकर इससे पूर्वनिपात उसका होता है । यथा अव्ययीभावसंज्ञा सामान्यसमाससंज्ञा की व्याप्य है, उसमें प्रथमान्तपद 'अव्ययन्' है, उससे बोध्य लक्ष्य में (अधिहरि) अध्यादि है, उसको उपसर्जन संज्ञा कर इससे उसका (अधि का) पूर्वनिपात हुआ है । इसी प्रकार अन्यत्र ज्ञान करना ।

६५६ एकविभक्ति चापूर्वनिपाते १।२।४४।

विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यात्, न तु तस्य पूर्वनिपातः ।

पूर्वसूत्र से अनुवृत्त समास का अर्थ यहाँ विग्रह वाच्यार्थ है । एक शब्द का नियतार्थ है ।

विग्रह में जो नियत विभक्त्यन्तपद उसको उपसर्जनसंज्ञा होती है, किन्तु इस उपसर्जन निमित्त पूर्वनिपात नहीं होता है । उपसर्जन का अभी तक फल पूर्वनिपात ही दिया गया है, अतः इस उपसर्जनसंज्ञा का क्या प्रयोजन है, इस जिज्ञासा के हेतु बक्ष्यमाणसूत्र ह्रस्वविधायक का प्रदर्शन करते हैं—

६५७ गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८।

उपसर्जनं यो गोशब्दः, स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात् । 'अव्ययीभावश्चे'त्यव्ययत्वम् ।

उपसर्जन जो गो शब्द एवं स्त्रीप्रत्ययान्त तदादि तदन्त यो प्रातिपदिक उसका ह्रस्व होता है । 'अव्ययीभावश्चे' सूत्र से यहाँ अव्ययीभाव की अव्ययसंज्ञा हुई ।

६५८ नाव्ययीभावादतोऽमृत्वपञ्चम्याः २।४।८३।

अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक् . तस्य पञ्चमीविना अमादेशश्च । दिश-योर्मध्येऽपदिशम् । 'ह्रीचाव्ययं त्वपदिशं दिशोर्मध्ये विदिक् त्रियाम्' इत्यमरः ।

अकारान्त अव्ययीभाव से उत्तर विभक्ति का लुक् नहीं होता है, किन्तु पञ्चमी की छेद कर अन्य विभक्तियों का अमादेश होता है । (अनुक्तो पञ्चमी का भी, केवल पञ्चमी को अम् का ही निषेध है) । दिशा ओन् अप् यहाँ 'अव्ययन्' सूत्र से समास, उपसर्जनसंज्ञा अप की, उसका पूर्वनिपात अपदिशा यहाँ 'एकविभक्ति' से दिशा की उपसर्जनसंज्ञा, 'गोस्त्रियोः' से ह्रस्व अपदिश की अव्ययसंज्ञा उससे आगत सु का लोप 'अव्ययात्' सूत्र से प्राप्त का इससे अनुक्त बोधनपूर्वक

अमादेश कर पूर्वरूप अपदिशम् । नपुंसक अव्यय 'अपदिशम्' है, इसका अर्थ—दो दिशाओं का मध्य । विदिन् शब्द भी दिशाओं के मध्य को बोधन करता है किन्तु वह स्त्रीलिङ्ग है, यह अमरकोश-वार का मत है ।

६५९ तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २।४।८४।

अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात् । अपदिशम्, अप-दिशेन । अपदिशम्, अपदिशे । बहुलग्रहणात् 'सुमद्रम्', 'उन्मत्तगङ्गमि'-त्यादौ सप्तम्या नित्यमम्भावः । 'विभक्त्यादेरयमर्थ'—विभक्त्यर्थोदिपु वर्तमानमव्यय सुबन्तेन सह समस्यते, सोऽव्ययीभावः । विभक्ती तावत्—हरी इति आघहरि । सप्तम्यर्थस्यैव द्योतकोऽधिः । 'हरि । ङ आघ' इत्यलौकिक विग्रह-वाक्यम् । अत्र निपातेनाभिहितेर्ष्याघकरणे वचनसामर्थ्यात्सप्तमी ।

अकारान्त अव्ययीभावसमास से उत्तर स्त्रीया एव सप्तमी की दिक्कर से अम्भाव होता है । अपदिश से टा को अम्भाव से अपदिशम् । पक्ष में इनादेश गुण से अपदिशेन । अपदिश छि अम् पूर्वरूप अपदिशम्, पक्ष में अपदिशे । सूत्र में 'वा' कहना था, बहुलग्रहण से वहाँ नित्य भी अम्भाव होता है, यथा सुमद्रम् यही हुआ, सुमद्रेण न हुआ । इसी प्रकार सप्तमी में भी सुमद्रे न हुआ । उन्मत्तगङ्गेन उन्मत्तगङ्गे न हुआ किन्तु उभयत्र उन्मत्तगङ्गम् ही हुआ । 'अव्ययम्' इस विमल सूत्र की व्याख्या पूर्व में कर चुके हैं । अन्य अश की अप्रभाव रूप से यहाँ लक्षित व्याख्या हुई अब यहाँ प्रधानरूप से व्याख्या इस प्रकार की है—विभक्त्यर्थ, सनीप, सन्निधि, वृद्धि, अर्थभाव, अत्यय, असम्प्रति, शब्दमादुर्भाव, पश्चात्, यथा, आनुपूर्व्य, दोगपथ, साहचर्य, सम्पत्ति, साकल्य अन्तवचन इन अर्थों में विद्यमान अव्यय का समर्थसुबन्त से समास-संज्ञा होती है । एव समासमण्डक की अव्ययीभावसंज्ञा भी होती है । अब विभक्ति आदि का उदाहरण देते हैं—अधिकरणार्थक विभक्ति सप्तमी है, उसके अर्थ में ही अधि अव्यय है यथा हरि छि अधि यहाँ निपात अधि अव्यय से अधिकरण अर्थ उत्पन्न है अतः हरिशब्द से सप्तमी अप्राप्त है, 'उक्तार्थानाम् अप्रयोग' इस न्याय से किन्तु वह न्याय यहाँ नहीं लगता है, इस समासविभाषक सूत्र में विभक्तिग्रहण से, अतः उक्त अधिकरण अर्थ होने पर भी हरि छि विभक्ति सप्तमी भार है, समास, अव्ययीभावसंज्ञा, अधि की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात से अधिहरि की अव्ययसंज्ञा वससे आगत सुका 'अव्ययात्' से सु- तीनों लिङ्ग एव सभी वचन सभी विभक्तियों में एकमात्ररूप—“अधि हरि” । एवम् काश्याम् इति 'अधिकाधि' = काशी में । यहाँ ईकार का 'भोजियो' से ह्रस्व है । विश्वनाथ इति अधिविश्वनाथम् । आदि अनेक उदाहरण विभक्ति में समझने चाहिये । 'अव्ययम्' सूत्र से समास नित्य होता है, नित्यसमास में विग्रह नहीं होता है, यदि होता है तो अत्यपद, जिसका समास करना है उसका अवबोधकपर्यायवाचकशब्द से ही विग्रह होता है ।

६६० अव्ययीभावश्च २।४।१८।

अयं नपुंसक स्यात् । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' । गोपायतीति, गाः पातीति वा गोपा, तस्मिन् इत्यधिगोपम् । समीपे-कृष्णस्य समीपम् उप-कृष्णम् । समया मामम्, निकषा लङ्गाम्, आराद् वनाद् इत्यत्र तु नाव्ययी-भावः, अभितः परितः 'अन्यारादि'ति द्वितीयापञ्चम्योर्विधानसामर्थ्यात् ।

सद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिर्दुर्ववनम् । विगता ऋद्धिर्वृद्धिः ।
 मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् । हिमस्यात्ययोऽतिहिमम् । अत्ययः = ध्वंसः ।
 निद्रा सम्प्रति न युज्यत इत्यनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाश इति हरिः । विष्णोः
 पश्चाद् अनुविष्णु । पश्चाच्छब्दस्य तु नायं समासः, 'ततः पश्चान् संस्रवते
 ध्वंस्यते' इति भाष्यप्रयोगात् । योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः ।
 अनुरूपम्, रूपस्य योग्यमित्यर्थः । अर्थ अर्थ प्रति प्रत्यर्थम् । प्रतिशब्दस्य
 वीप्सायां कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानसामर्थ्यात्तद्योगे द्वितीयागमं वाक्यमपि ।
 शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति । हरेः सादृश्यं सहरिः । वक्ष्यमाणेन सहस्य सः ।
 व्येष्टस्यानुपूर्व्येणेत्यनुव्येष्टम् । चक्रेण युगपदिति विप्रहे—

अव्ययीभावसमास नपुंसक होना है । नपुंसकलिङ्ग में अजन्त प्रातिपदिक का एत्व होता है ।
 गोपा दो प्रकार से बनता है—गोपाय से किम् अलोप चलोप गोपा या गोपूर्वक पा से विन् गोपा
 गोपि इति 'अधिगोपन्' अधिगोपा नपुंसक एव नु अन् अधिगोपन् । अलौकिक में गोपा छि अधि
 इस प्रकार की स्थिति है, यहाँ विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास है । समीप अर्थ में यथा—
 कृग अस् उप, उपकृष्णम् । समीपार्थक समया एवं निकषा तथा आराव वे अच्यय हैं किन्तु समास
 नहीं होता है, कारण कि 'अमितः परितः' वाकिक से द्वितीया विधान, एवं 'अन्याराव' से पञ्चमी
 विधान वे दोनों समास विधान करने पर व्यर्थ होंगे । अतः द्वितीया एवं पञ्चमीवटित असमस्त-
 वाक्य ही रहता है । वस्तुतः द्वितीया पञ्चमी व्यर्थ नहीं है मध्यार्थक समया के योग में अव्ययी-
 भाव समास अप्राप्त है वहाँ श्रवणार्थ द्वितीयाविधान चरितार्थ है । एवं दूरार्थक आराव के योग में
 पञ्चमीविधान सावकाश है । अतः अव्ययीभावसमास विधायक में आपेय प्रधानार्थक ही अधि-
 शब्द का पाठ है । समया, निकषा, आराव वे अधिकरणशक्ति प्रधान हैं, अतः यहाँ समास की
 प्राप्ति ही नहीं है यह समाधान उचित है । पूर्व समाधान एक रक्षित्वनामक आचार्य रहे उनके
 मत के अनुरोध से दिया गया है । यहाँ 'अव्यय' न्याय से विभक्त्यर्थ समीपादिनाम अर्थ में
 विद्यमान का ग्रहण है वहाँ ही समास होता है । समृद्धि अर्थवाचक यथा - सद्र आन् नु सुमद्रम् ।
 नष्ट ऋद्धि अर्थवाचक यथा यवनानान् दुर् दुर्ववनम् । अभाववाचक यथा मक्षिका आन् निर्
 निर्मक्षिकम् । अत्यय का अर्थ ध्वंसः नाश है, यथा—हिम अस् अति = अतिहिमम् । असम्प्रति
 यथा—निद्रा नु अति अनिनिद्रम् । शब्दप्रादुर्भाववाचक यथा हरि अस् इति, इतिहरिः । पश्चात्-
 वाचक यथा विष्णु अस् अनु अनुविष्णु । सूत्रगुटीत अव्यय के साथ यह अव्ययीभावसमास नहीं
 होता है अतः पश्चात् शब्द का सुबन्त समर्थ के साथ समास नहीं होता है । इसमें प्रमाण—'ततः
 पश्चात्' भाष्य प्रयोग है, वह पूर्वोक्त शासन करता है । यथार्थ चार है—योग्यता वीप्सा, पदार्थ का
 अनुलक्षण करना, एवं सादृश्य । क्रियाद्वारा साकल्यसम्बन्ध की वीप्सा कहते हैं । जिनने अर्थों
 का ज्ञान करना है उनने तद्वाचक शब्दों का प्रयोग करना चाहिये प्रत्यर्थम् प्रति शब्द की
 कर्मप्रवचनीय संज्ञा विधान से वहाँ द्वितीया के श्रवणार्थ वाक्य में रहता है । यस्तुतः प्रतिसिद्धि
 यहाँ कर्मप्रवचनीय प्रति है वहाँ उपमर्ग संज्ञा न हुई वहाँ एव निषेधार्थ प्रति की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा
 चारितार्थ है यथा प्रतिसिद्धि । अतः यह समाधान यहाँ उचित नहीं है, अतः 'प्रत्यर्थ शब्दाभि-
 निवेशः', यहाँ अर्थम् अर्थम् प्रति यह विग्रह प्रदर्शन परकमात्र ही द्वितीयगमिनवाच्य रहता है
 उसमें प्रमाण है । अन्यथा नित्यसमासम्वय में विग्रह अनुचित होता । अतिक्रम = उलटान
 करना न उलटान की अनतिक्रम कहते हैं, यथाशक्ति । सादृश्य अर्थ में सहरि यहाँ अगले सूत्र

से सह कोस आदेश होता है। आनुपूर्व्यं = क्रम अनु ज्यैष्ठ्यम् अनुज्यैष्ठ्यम्। चक्रेण युगपद सचक्रम् यद्वा समास कर के सह का आदेश के लिए सूत्र—

६६१ अव्ययीभावे चाकाले ६।३।८१।

सहस्य स' स्याद् अव्ययीभावे न तु काले। सचक्रम्। काले तु सहपूर्वाहम्। सट्टश सख्या ससत्ति। यथार्थत्वेनैव सिद्धे पुनः सादृश्यग्रहण गुणभूतेऽपि सादृश्ये यथा स्यादित्येवमर्थम्। क्षत्राणां सम्पत्ति सक्षत्रम्। ऋद्धेराधिक्यं ससृद्धिः, अनुरूपम् आत्मभावः सपत्तिरिति भेदः। तृणमध्यपरित्यज्य सतृणमत्ति, साकल्येनेत्यर्थः। न त्वत्र तृणमक्षणे तात्पर्यम्। अन्ते-अग्निप्रत्य-पर्थ्यन्तमघोते साग्निः।

अव्ययीभावसमास में सह को सादेश होना है, यदि उत्तरपद कालवाचक न हो। सह को स आदेश से सचक्रम्। सह का स आदेश कालार्थ पूर्वार्द्ध उत्तर में न हुआ—सहपूर्वाहम्। सादृश्य अर्थ में सह सत्ति टा ससत्ति। यथार्थ पार में एक सादृश्य भी अर्थ है उसी से कार्यनिर्वाह होता पुन 'अपश्यन्' में सादृश्यग्रहण इस लिए है कि नहीं सादृश्य विशेषण रहे, अर्थात् गौण रहे वहा भी समासार्थ वह है। प्रधानीभूतसादृश्य में यथार्थत्वात् समास है। सम्पत्ति अर्थ में 'सक्षत्रम्' सह को स आदेश सह क्षत्र आयु। धन को अधिकता का नाम सपत्ति है। अनुकूल आत्मभाव को सम्पत्ति कहते हैं। सह तृण अन् यहा समास सह को स आदेश 'सतृणम्' यहा तृण खाने में तात्पर्य नहीं है किन्तु पक्ष पर खापसामग्री को कुछ थी, उसकी सम्पूर्ण खा ली है, कुछ भी नहीं अवशिष्ट है इस में सादृश्य है। अग्निप्रत्यपर्थ्यन् अग्रयन में यह अग्नि = साग्निः।

६६२ यथाऽसादृश्ये २।१।७।

असादृश्ये एव यथाशब्दः समस्यते। तेनेह न-यथा हरिस्तथा हरः। हरेरुपमानत्वं यथाशब्दो द्योतयति। तेन 'सादृश्ये' इति वा 'यथार्थ' इति वा प्राप्त निषिध्यते।

असादृश्य अर्थ में ही यथा शब्द का समास होता है। जहा सादृश्य होगा वह समास का अभाव है। 'यथा हरिस्तथा हर' यहाँ हरि का उपमानत्व का यथाशब्द प्रकाशक है। यहा सादृश्य या यथार्थ से प्राप्त समास का निषेध हुआ है। यथा देवदत्तस्तथा यशदत्त यहा भी समास न हुआ। यहा केयं ने सापेक्षत्व हतु से समास अपाप्त है देवदत्त सादृश्यवान् कः। यहा उपमेयविपदिगी आकाशका है। द्वितीय प्रदन कारण यह है कि सादृश्यार्थक बाल प्रत्यय-निष्पन्न यथाशब्द मदा सादृश्यार्थक ही रहेगा यह सूत्र ही व्यर्थ है। अवयववैयर्थ्यप्रसक्त समस्तसूत्र वैयर्थ्य में आत्यर्थ है। तृतीयप्रशन कारण यह है कि सादृश्य सम्पत्ति से प्राप्त का यह निषेध नहीं है, यथार्थत्वात् अवयवप्राप्त का ही यह निषेधक है। इन तीन प्रश्नों का समाधान हम प्रकार का है, प्रधान या नित्यसापेक्षस्थल में समास होता ही है। दूसरे प्रश्न का समाधान यह है कि यहा यथाशब्द अन्तु प्रप्राप्तिपदिक है। यहा असादृश्ये यह प्रतिषेध जागरूक है अतः बालप्रत्ययान्त यथाशब्द नहीं है, बाध्यसमान्यपक्ष से समी का बाधक यह है यह तृतीय-प्रश्न का समाधान है। सूत्र सार्थक है, यह भाष्यमतावलम्बियों का मन है।

६६३ यावदवधारणे २।१।८।

यावन्तः श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामा यावच्छ्लोकम् ।

निश्चयार्थं यावत्शब्द का समर्थसुबन्त के साथ समास होता है । वह समास अव्ययीभावसंज्ञक है, नतोत्र के नियत जिनने श्लोक है, उनसे विष्णु को मक्त प्रणाम करता है ।

अनिश्चित अर्थ में 'यावद् दत्तं तावद् भुक्तम्' यहाँ निश्चयार्थं यावत् नहीं अतः समास यहाँ नहीं हुआ । किन्तु ग्याया वह यहाँ नहीं जाना जाता है ।

६६४ सुप्रतिना मात्रार्थे २।१।९।

शाकस्य लेशः शाकप्रति । 'मात्रार्थे' किम्, वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् ।

मात्रा अर्थ में प्रतिशब्द के साथ समर्थ सुबन्त का समास होता है । यहाँ नृप् की अनुवृत्ति आती थी पुनः नृप् ग्रहण इस लिए किया कि अव्यय की यहाँ निवृत्ति है । मात्रशब्द का अर्थ है लेश । जहाँ प्रति का मात्रा अर्थ नहीं है वहाँ असमास है, यथा—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् यहाँ प्रति कर्मप्रवर्तनीय है उसके योग में वृक्षन् यहाँ द्वितीया है ।

६६५ अक्षशलाकासंख्याः परिणा २।१।१०।

द्युतव्यवहारे पराजये एवायं समासः । अक्षेण विपरीतं वृत्तमक्षपरि, शलाकापरि, एकपरि ।

पूतव्यवहार या पराजय अर्थ प्रतीयमान रहे वहाँ सुबन्त अक्ष, शलाका एवं संख्यावाचक का परि के साथ समास होता है । अक्षेण = एक पासा जुवा में विपरीत गिरने से पराजय हुआ वहाँ अक्षपरि । इसी प्रकार अन्यत्र ।

६६६ विभाषा २।१।११।

अधिकारोऽयम् । एतत्सामर्थ्यादेव प्राचीनानां नित्यसमासत्वम् । 'सुप् सुपा' इति तु न नित्यसमानः, 'अव्ययम्' इत्यादि समासविधानाज्जापकात् ।

यह विभाषा अधिकार है, यहाँ इसके करने के कारण पूर्ववर्ती सूत्रों से विहित समास नित्य है । परन्तु 'सद सुपा' से विधीयमान समास इस लिए नित्य नहीं है कि यदि वह नित्य रहना तो 'अव्ययम्' सूत्र समासविधान न करना । इससे सिद्ध हुआ कि सुप् की अनुवृत्तिपुक्त 'सुपा' सूत्र से विधीयमान समास प्राचीन होते हुए भी अनित्य है । तात्पर्य इस अधिकार सूत्र का यह है कि एकार्थीभावामकशक्ति में समासयुक्त रूप हो ही जाता, एवं व्यपेक्षा में वाच्य रहना समास एवं समासाभाव सिद्ध हो है, किन्तु लक्षण को ध्यान कर नदनुगोपी कार्य करने वालों को स्पष्टता प्राप्त हो सके इस लिए यह अधिकार सूत्र है । 'अव्यय विभक्ति' सूत्र ने समास इस लिए किया है की वह समाससंज्ञा विधायक हो जाय एवं उस सूत्र में प्रथमान्त पद में निर्दिष्ट लक्ष्यशब्द की उपसर्जनसंज्ञा हो जाय, एवं उपसर्जन संज्ञा का पूर्वनिर्वात हो जाय, इन प्रयोजनों के लिए 'अव्ययम्' सूत्र से समास विधान आवश्यक है अन्य नहीं है नव प्राचीन 'सुपा' का समास अनित्य में कर्म पञ्चा नही है अतः वहाँ भी नित्य क्यों नहीं ? यह प्रश्न हुआ । इसके समाधान में यह कहा जाता कि ऐवम् समास का उपसर्जनसंज्ञा पूर्ण निवात फल है तो 'प्रथमा निर्दिष्टम्' सूत्र से समासपद की लक्षणा जिस प्रकार समासविधानकलाप में की, उसी प्रकार हम "समासत्वावाप्यनगविधायके शास्त्रे" इस अर्थ में लक्षणा कर, प्रकृत में 'अव्ययम्'

सूत्र से केवल अव्ययीभावसंज्ञाकर के भी उपमर्जनसंज्ञा लक्षणादय से कर ही लेगे पुनः समास-विधान व्यर्थ हो कर 'सुपा' को अनित्यत्वज्ञापन में प्रमाण है, अथवा सुपा यदि नित्य होता तो स्वपदविग्रह भगवान् माध्वकार न करने—यथा विस्पष्ट पठ इति विस्पष्टपठ इति 'सुपा' अनित्य समास है। इस विभाषाधिकार को नैयाकरण महाविभाषा कहने हैं। यहाँ नित्यसमास-त्वम् = वा अर्थ नित्यसमास तुल्यत्वम् है। 'सुप् सुपा' का अर्थ है सुप् इति अनुवर्तमाने 'सुपा' इति समास यह अर्थ है। इस विभाषा अधिकार से यह स्पष्ट हुआ कि समास एवं समासाभाव से दो रूप होते हैं, यथा राक्ष पुरुष, राक्षपुरुष आदि। इस लिए यह वृत्ति को विकल्प कराना है, यह व्यवहार है।

६६७ अपपरिग्रहिरञ्चः पञ्चम्या २।१।१२।

अपविष्णु समासः। अप विष्णोः। परिविष्णु ससारः। परि विष्णोः।

अहिर्वनम्। अहिर्यनात्। प्राग्बनम्। प्राग्रनात्।

अप, परि, अहि एवं अन्य इनका पञ्चम्यन् सदादि समर्थ में समास विकल्प होता है, एवं अव्ययीभावमहा भी होती है।

६६८ आह्मर्यादाऽभिविध्योः २।१।१३।

एतयोराह् पञ्चम्यन्तेन वा। समस्यते सोऽव्ययीभावः। आमुक्ति संसारः।

आ मुक्तेः। आ बालं हरिभक्तिः। आ बानेभ्यः।

मर्यादा एवं अभिविधि में विद्यमान आह का समर्थ पञ्चम्यन्तदादि से विकल्प समास होता है एवं अव्ययीभावमहा उत्पत्ती होती है।

६६९ लक्षणेनाभिप्रती अभिमुख्ये २।१।१४।

आभिमुख्यद्योतकायभिप्रती चि-ह्वाचिना सह प्राक्वत्। अभ्यग्नि शलमा पतन्ति। अग्निम् अभि। प्रत्यग्नि। अग्निं प्रति।

आभिमुख्यवाचक अभि एवं प्रति का चिह्वाचक समर्थसुबन्त के साथ विद्वत् समास होता है, यह अव्ययीभाव है।

६७० अनुर्यत्समया २।१।१५।

य पदार्थ समया द्योत्यते, तेन लक्षणभूतेनानुः समस्यते। सोऽव्ययीभावः। अनुरन्तम् अशनिर्गतः। वनस्य मयीष गत इत्यर्थः।

जिस पदार्थ का सामान्य द्योतन किया जाय उस लक्षणभूतशब्द के साथ अनु का समास विकल्प होता है, उन्नी अव्ययीभावमहा होती है।

६७१ यस्य चायामः २।१।१६।

यस्य दैर्घ्यमनुना द्योत्यते, तेन लक्षणभूतेनानुः समस्यते। अनुगङ्गं वाराणसी। गङ्गाया अनु। गङ्गादैर्घ्यसदृशदैर्घ्योपलक्षितेत्यर्थः।

जिसका दैर्घ्योपलक्षक अनुशब्द रहे उस लक्षणभूत के साथ अनुशब्द का समास विकल्प से होता है।

६७२ तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च २।१।१७।

एतानि निपात्यन्ते । तिष्ठन्ति गावोऽयस्मिन् काले स तिष्ठद्गु दोहनकालः । आयतीगवम्, इत्यादि, इह शत्रादेशः, पुंवद्भावविरहः, समासान्तश्च निपात्यते ।

इस सूत्र में चकार से यह बोधन होता है कि इनका समासान्तर में षट्कतया प्रवेश नहीं होता है । अर्थात् इस गण में पठित शब्दों का अन्य के साथ समासभाव ही रहता है । 'तिष्ठद्गु' आदि शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं । यथा तिष्ठन्ति गावः यस्मिन् दोहनकाले स तिष्ठद्गु दोहन कालः = जिस समय गाये दुहते समय स्थिर रहती है उस काल को 'तिष्ठद्गु' कहते हैं । यहाँ प्रथमान्तार्थ गावः उसका आख्यातार्थ क्षिप्रत्ययार्थ कर्ता के साथ एकार्थबोधकत्वरूपसामानाधिकरण्य है, अतः अप्रथमान्तार्थ के साथ लट्थं या लकारस्थान में जायमान प्रत्यय तदर्थ के साथ सामानाधिकरण्य रहे वहाँ ही शतृप्रत्यय होता है, अतः अप्राप्तशतृ का यहाँ निपातन हुआ है । यद्यपि पचन् पुरुष की तरह 'लटः' योगविभागद्वारा कश्चित् प्रथमान्तार्थ के साथ लट्थं का सामानाधिकरण्य में शतृ होता है, तथापि यहाँ 'द्विवृद्धन्' न्याय से निपातन भी शतृसाधक है, उपाय-स्योपायान्तरादूपकत्वात् = उपाय एक दूसरे उपाय का दूपक नहीं होता है । आयान्ति गावः यस्मिन् इति यहाँ आयतीगवन् यहाँ शतृ आदेश 'पुंवद्भावः स्त्रियाः' से प्राप्त था उसका अभाव एवं तत्पुरुष में गोन्त समास में टच् होता है, अव्ययीभाव में नहीं, उस टच् का भी निपातन यहाँ है । एवं अन्यपदार्थ में भी अव्ययीभाव भी निपातन लभ्य है । "आतिष्ठगु जपेत् सन्ध्यां पश्चिमानायनीगवन् । यहाँ उभयत्र 'आ' अलग है, समास षट्क नहीं है । यह भट्टिवाक्य है ।

६७३ पारे मध्ये पष्ठ्या वा २।१।१८।

पारमध्यशब्दौ पष्ठ्यन्तेन सह वा समस्येते । एदन्तत्वं चानयोर्निपात्यते । पक्षे पष्ठीतत्पुरुषः । पारेगङ्गाद् आनयगङ्गापारान्, मध्येगङ्गात्, गङ्गा-मध्यात् । महाविभाषया वाक्यमपि गङ्गायाः पारान् । गङ्गाया मध्यात् ।

पार एवं मध्य का पष्ठ्यन्त के साथ विकल्प समान होता है एवं उनको एकारान्तत्व का भी निपातन होता है । इससे जहाँ समास नहीं वहाँ पक्ष में पष्ठीतत्पुरुष समास होता है, विभाषा का अधिकार से वाक्य भी रहता है । तीन रूप हुए । इस सूत्र से जहाँ समास होगा वहाँ पार एवं मध्य का ही उपसर्जन संज्ञा होती है, एवं पार तथा मध्य का पूर्वनिपात होता है, पार के अन्तिम वर्ण अकार को एकार होता है निपातन से । एवं निपातन से मध्यशब्द के अन्तिम अकार को एकार होना है पारे मध्ये पूर्व में रहेंगे यथा पारेगङ्गन् पञ्चमी में पारेगङ्गात् । एवं मध्येगङ्गन् पञ्चमी में मध्येगङ्गात् । यहाँ पञ्चमी को अमादेश नहीं होता है । पक्ष में 'पष्ठी' सूत्र से समासपक्ष में समासविधायकसूत्र में प्रथमान्तपद पष्ठी तदर्थ पष्ठ्यन्तत्वादि तद्विषय लक्ष्य में पष्ठ्यनानगङ्गा है उसी को उपसर्जन संज्ञा गङ्गा का पूर्वनिपात होता है यथा गङ्गापारान्, गङ्गामध्यात् । पक्ष में विभाषा से वाक्य है—गङ्गायाः पारान्, गङ्गायाः मध्यात् ।

यहाँ इस सूत्रस्थ वा शब्द ने एकार्थीभावात्मकशक्ति में नित्य समास होना अपेक्षित था वहाँ एकार्थीभावात्मकशक्तिसत्तादशा ने विकल्प समासबोधन किया । महाविभाषा ने एकार्थीभाव को विकल्प किया = एकार्थीभावात्मिका शक्ति की स्थिति पक्ष में व्यपेक्षा लक्षणसामर्थ्य इस

प्रकार स्पष्टगान करना चाहिये उसको संस्कृत में इस प्रकार कहा गया है कि—“एकया (महा विमापया) वृत्तिः (एकाधीन्यवरूपा) विकल्प्यते । अपरया (इदृश्य वा ग्रहणेन) वृत्ती (एकाधीन्यावस्थित्या) समासो विकल्प्यते इति” । इस सूत्र में यदि वा ग्रहण न करते तो षष्ठी-तत्पुरुष वाला रूप न होता, दो ही रूप होते ।

६७४ संख्या वंशयेन २।१।१९।

वंशो द्विधा—विद्याया, जन्मना च, तत्र भयो वश्यः । तद्व्याचिना सह संख्या या समस्यते । द्वौ मुनी वश्यौ द्विमुनि । व्याकरणस्य त्रिमुनि । विद्या-तद्व्यतामभेदवियक्षायां त्रिमुनि व्याकरणम् । एकविंशति भारद्वाजम् ।

विद्या एवं जन्म से वंश दो प्रकार का है, वंश में उत्पन्न को वंश्य कहते हैं, भवार्थक यह प्रत्यय, एकव्यवसायसन्तानप्रबन्ध वंश है । वंश्यवाचक सुबन्ततदादि के साथ संख्यावाचक सुबन्त का समास विकल्प से होता है । विद्यावंश्य का उदाहरण यथा—द्वौ मुनी वश्यौ इति वाक्य में द्वि मुनि औ समास उपसर्जनसंज्ञा, प्रातिपदिकमञ्जा, विभक्ति लुक् आदि से ‘द्विमुनि’ यह सिद्ध हुआ । त्रयः मुनयः वंश्या वश्य व्याकरणस्य वंश त्रिमुनि व्याकरणम् । पाणिनि कात्यायन पटञ्जलि । व्याकरणविद्या एवं विद्वान् इनकी अभेद विवेक्षा में यह तीन मुनि क्या है वे साक्षात् व्याकरण ही है इस पक्ष में त्रिमुनि व्याकरणम् = तीन मुनि से अभिन्न व्याकरण । दोनों की परस्पर अभेद विवेक्षा होती है तुम हम से अभिन्न हो तो हम तुम से अभिन्न है । जन्मसम्बन्ध का उदाहरण यथा एकविंशति भारद्वाज १९वां । वश्य ‘एकविंशति भारद्वाजम् = भारद्वाज से इच्छीस पीढ़ि वंश का कुल ।

अन्य आचार्य षडुन्नीहि में त्रिमुनि व्याकरणम्, अव्ययीभाव में यह रूप नहीं होता है ऐसा कहते हैं । अव्ययीभाव में व्याकरणस्य त्रिमुनि यही होता है भिन्न-भिन्नसमासप्रयुक्त स्वरभेद इष्ट ही है, षडुन्नीहि में पूर्वपद प्रकृतित्त्वर, तत्पुरुष में अग्नौदात्तस्वर पर भेद है । वस्तुतः यह जो विद्यावंश का उदाहरण दिया है वह असङ्गत है क्योंकि पाणिनि एवं कात्यायन या तीनों में परस्पर गुरुशिवभावमन्वन्ध न था, वे स्वतन्त्र व्याकरण के मूर्धन्य विद्वान् थे, अतः यहाँ तो द्वौ रमेशकमलेशो वंशौ यस्य गुरो इति रमेशकमलेशम् देने उदाहरण देने चाहिये । किञ्च तीनपुत्रवान् में दो पुत्रवान् यह व्यवहार निषिद्ध है हमने भी त्रिमुनि यह व्याकरण से साथ जोड़ना अनुचित मा है ।

६७५ नदीमिश्र २।१।२०।

नदीभिः संख्या प्राग्वत् । ऋक्समाहारे चायमिष्यतेऽऽ । सप्तगङ्गम् । द्वियमुनम् ।

सूत्र ने बहुवचन में नदीपद से लोक में प्रसिद्ध नदीयों का ग्रहण है, मञ्जा एवं स्ववृत्तिवर्ण-माणा का ग्रहण नहीं है । सुबन्तनदीवाचक शब्दों के साथ संख्यावाचकसुबन्त का समास होता है । यह समास समाहार में ही इष्ट है । मत्ताना गङ्गानाम् समाहार इति सप्तगङ्गम् = सप्तन् अष्ट गङ्गा आश् सप्तम्, प्रातिपदिकमञ्जा विभक्ति लुक् अव्ययसंज्ञा आकार का नपुंसकनिमित्त ह्रस्व अव्ययीभाव समुदाय में सु उसको अन् पूर्वरूप सप्तगङ्गम् । यहाँ गङ्गापद नदी परक है । नदीयों में प्रधान गङ्गा है अतः उसका नाम यहाँ लिखा गया है । सात गङ्गा नहीं है । इयो यमुनयोः समा-हार इति द्वियमुनम् ।

६७६ अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् १।१।२१।

अन्यपदार्थं विद्यमानं सुवन्तं नदीभिः सह नित्यं समस्यते संज्ञायाम् । विभाषाऽधिकारेऽपि वाक्येन संज्ञाऽनवगमादिह नित्यसमासः । उन्मत्तगङ्गं नाम देशः । लोहितगङ्गम् ।

संज्ञा होने पर अन्यपदार्थ में विद्यमान सुवन्तका नदीवाचकशब्दों के साथ नित्यनमास होता है । यद्यपि इस सूत्र में 'विभाषा' का अधिकार है, अतः समास विकल्प होना उचित था किन्तु समास से जिस संज्ञा रूप अर्थ का बोध होता है वह बोध एतदर्थकविग्रहवाक्य से नहीं होता, वृत्ति अर्थबोधक वाक्य एवं समासार्थ दोनों का यहां एकार्थबोधकत्व नहीं है, यथा 'राजः पुरुषः' इस विग्रहवाक्य का अर्थ एवं 'राजपुरुषः' इस समास का अर्थ एक है । वृत्त्यर्थबोधक वाक्य विग्रहः । अतः यहां नित्यसमास ही है, यद्यपि नित्यसमास में विग्रहाभाव है, अथवा अन्यपद विग्रह है, यहां तो उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् यह स्वपदविग्रह है, अतः नित्यसमान मनुष्य यह समास है, सादृश्य यह है कि वास्तविक अनारोपित नित्यसमास से जिस अर्थ का प्रतीति होती है उसी ही अर्थ का बोधक विग्रहवाक्य नहीं रहता है, तथा ही यहां भी समास से संज्ञा-रूप अर्थ की प्रतीति उसी संज्ञात्प अर्थ की विग्रहवाक्य से अप्रतीति है, दोनों का सादृश्य (तदर्थबोधकत्व धर्म से) होता है । इसी प्रकार जहां स्वपद के साथ विग्रह हो एवं नित्यनमान माना जाय वहां इसी प्रकार ज्ञान करना चाहिये । हरिद्वार प्रदेश से पूर्वदेश में गङ्गा निःसरण देश में वेगवती गङ्गा है वह देश को 'उन्मत्तगङ्गम्' कहा जाता है । हिमालय में गंग मिन्दुर आदि अनेक धातुएँ विद्यमान हैं उन धातुओं के संसर्ग से वहां का गङ्गा का स्वरूप कुछ लाल-वर्ण युक्त सा होने से लोहिता गङ्गा यत्र देशे स 'लोहितगङ्गम्' देशः । वरतुनः उन्मत्तगङ्गम् एवं लोहितगङ्गम् यह दोनों स्थानविशेष या देशविशेष की संज्ञाप है, योगरूढ है ।

६७७ समासान्ताः ५।४।६८।

इत्यधिकृत्य ।

वह अधिकार सूत्र है । इसका प्रत्ययादिविधायक उत्तर सूत्रों में सम्बन्ध होता है वहां जा कर यह उन-उन कार्यविधायकशास्त्रों को यह सूचित करेगा कि समासान्तप्रत्यय समास के चरम (अन्त्य) अवयव होने हैं अर्थात् समासान्त समास के ही अन्तावयव होते हैं । प्राचीनों ने समास पद की उत्तरपद में लक्षणा कर समासपदक उत्तरपद का अवयव समानान्तप्रत्यय है ऐसा माना था उसका नव्यमत से खण्टन है । यही नव्यमत युक्तियुक्त एवं सिद्धान्तभूत है ।

१- प्राचीनों ने स्वपक्षस्थापनार्थ एक माध्य का उद्धरण किया है कि इन्द्रजमान करके एकशेष करने पर अकारण्य से एकशेष अप्राप्त है, यथा ऋक् च ऋक् च ऋची, यहां इन्द्र होने ही 'ऋपूर्व' सूत्र से अ प्रत्यय होकर ऋक् ऋक् अ औ यहां एक हलन्त एवं उत्तर अदन्त है, दोनों का सारण्य नहीं है अतः एकशेष न होगा = "इन्द्रजमान् एकशेषो न प्राप्नोति, अकारण्यत्वात्" यदि समानान्त समास के अवयव होता एवं उत्तरपद का अवयव न होता तो दोनों ही हलन्त हैं, सारण्य है, एकशेष हो ही जाता है । पूर्वमाध्य विरोध आता । २-एवं 'अकारान्तोत्तरपदो द्विपुरीयामिष्टः । द्विपुरी द्विपुरी यदि समासान्त अ प्रत्यय उत्तरपदावयव न होता तो उ उरद धुर् पुर् हलन्त है वहां स्त्रीत्वबोधन न होता एवं 'द्विगोः' से लीप् की प्रवृत्ति न होती इससे भी समानान्त प्रत्यय उत्तरपद के अवयव है । इस प्राचीनमत है, उसका खण्टन—एकशेषविधायकसूत्र में विभक्ति से अव्ययवित् पूर्ण का सारण्य अपेक्षित है, इन्द्र कर एकशेष करने पर समासावयव अकार विभक्ति के पूर्व व्यवधायक है, सारण्य ऋक् ऋक् का है, किन्तु 'ऋक् ऋक् अ औ' यहां एकशेष नहीं, यहां माध्य का तात्पर्य है,

त्रिपुरी त्रिपुरी यहाँ स्त्रीत्वविधायक 'अकारान्तोत्तरपदः' एवं अन्यान्य जिनके स्त्रीत्व पुंस्त्व नपुंसकत्व-
बोधक वचनों का माध्यम ने खण्डन किया है, कौन शब्द पुल्लिङ्गादि है, उसका निर्णय लोकत
या बोधत होता है एतदर्थ सूत्रादिनिर्माण व्यर्थ हो है। "लिङ्गमशिव्य लोकाश्रयत्वात्लिङ्गस्य"
यह माध्यम वचन है। समासान्तप्रत्यय समान के ही अवयव हैं।

६७८ अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ॥५॥४॥१०७॥

शरदादिभ्यष्टच् स्यान् समामान्तोऽव्ययीभावे । शरदः समीपम् उपशरदम् ।
प्रतिविपाराम् । शरद्, विपार, अनस्, मनस्, उपानद्, दिष्, हिमवत्,
अनहुह, दिश्, दृश, विश, चेतस्, चतुर त्यद्, तद्, यद्, कियत्, 'जराया जरस्
च'(ग) उपजरस्म् । 'प्रतिपरसमनुभ्योऽङ्गणः' । 'यस्ये'ति च प्रत्यक्षम् । 'अङ्गणः
परम्' इति विग्रहे समासान्तविधानसामर्थ्याद् अव्ययीभावः । 'परोक्षे लिट्' इति
निपातनात्परस्योकारादेशः । परोक्षम् । परोक्षा क्रिये'त्यादि तु अर्श आद्यचि ।
समक्षम् । अन्वक्षम् ।

शरदादिगणपठित शब्द है अन्त में जिनके ऐसे अव्ययीभावसमान को समान का अवयव
टच् प्रत्यय होता है। समीपार्थ में अव्ययीभावसमास का इससे टच् उपशरदम् । विपार नदी
समीप में प्रतिविपारम् आदि । अहा टच् प्रत्यय होता है यहाँ अरा को जरस् आदेश-उपजर
सम्बन्धवाक्काके समीप । प्रति पर सम् अनु के हैं आदि में जिसके एव अक्षिशब्द है अन्त में जिनके
ऐसे शब्दों से अव्ययीभावसमास में टच्प्रत्यय होता है । अक्षि का इकार का स्योर्वात् से होय ।
अङ्गण प्रति इति प्रत्यक्षम्, अङ्गण परम् यहाँ समासान्तका विधानसामर्थ्य से अप्राप्त अव्ययीभाव
का निपातन से समान कहना, अन्यथा टच् विधान इसको व्यर्थ होगा, एव 'परोक्षे' निर्देश स
पर के अकार को ओकार आदेश करना । परोक्षम् । परोक्षकालवर्षी किया इस अर्थ में टब्जन्परो-
क्ष शब्द से 'अशो आदिभ्यः' मे अच् प्रत्यय होता है । टाप् एवं दीर्घ से परोक्षा क्रिय । अङ्गण, सन्
समक्षम् । अङ्गण - अनु पश्चात् अन्वक्षम् । इस शरदादिगण में नदीवाचक विपार के पाठ से 'नदी-
पौरुषमात्री सूत्र में नदीपद से नदीवाचक लोक में प्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण नहीं है । अन्यथा यहाँ
विपार का पाठ व्यर्थ होता है ।

६७९ अनश्च ॥५॥४॥१०८॥

अन्नन्तादव्ययीभावाट्च् स्यात् ।

अन् है अन्त में जिनको ऐसे अव्ययीभावसमान से समानावयव टच् प्रत्यय होता है ।

६८० नस्तद्धिते ॥५॥४॥१०९॥

नान्तस्य मस्य टेलोपः स्यात् तद्धिते । उपराजम् । अङ्ग्यात्मम् ।

नान्तगमशब्दशब्द की णि वा लोप होता है तद्धितमङ्गप्रत्यय पर रहते । राज-समापम्
उपराजम् यहाँ 'अनश्च' से टच् इसने अनुरूप टिका लोप उपराज से हुआ, अन् पूर्वरूप उपराजम् ।
आत्मनि इति यहाँ 'अव्ययम्' से विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव टच् टिलोप हुआ, अन् पूर्वरूप अध्या-
त्मम् । टच्प्रत्यय तद्धित यहाँ है ।

६८१ नपुंसकादन्यतरस्याम् ॥५॥४॥१०९॥

अन्नन्तं यन् कृते तदन्तादन्ययीभावाट्च् वा स्यात् । उपचर्मम्, उपचर्म ।

अन् अंश है अन्त में जिसको ऐसा अव्ययीभावसमाप्त से तद्धितसंज्ञक टच् विकल्प से होता है। चर्मणः उप = समीपन् समाप्त टच् टिलोप तु अन् पूर्वरूप उपचर्मन्। टच् के अभाव में उपचर्मन् नकार का लोप नपुंसक में उपचर्म।

६८२ नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ५।४।११०।

टच् वा स्यात्। उपनदम्, उपनदि। उपपौर्णमासम् उपपौर्णमासि। उपाग्रहायणम्-उपाग्रहायणि।

नदी, पौर्णमासी एवं आग्रहायणी वे शब्द हैं अन्त में जिसको ऐसा जो अव्ययीभावसमाप्त उन को विकल्प से समाप्तान् प्रत्यय टच् होता है। यद्यपि नदीसंज्ञा, लोकप्रसिद्ध नदीसंज्ञक शब्द, एवं स्वरूप = वर्षामाला तीन नदी हैं, किन्तु यहां नदीसंज्ञा का अग्रहण में पौर्णमासी आदि यहां व्यर्थ होते वे प्रमाण हैं। शरदादि में विपाश् शब्दपाठ से लोकप्रसिद्धार्थक नदी न लेना, अतः अवशिष्ट स्वरूपबोधक ग्रहणमात्र होता है। नित्य टच् के लिए विपाश् का पाठ चरितार्थ है, व्यर्थ नहीं तो भी शरदादि में विपाश् का पाठ व्यर्थ होगा इस कथन पर भाष्य से यही स्पष्ट सिद्ध होता है कि इस सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति नहीं ही है तब यह भी नित्य टच् करेगा तब भाष्योक्ति सुस्पष्ट हुई। अतः यहाँ टजन्त एकमात्र उदाहरण देना ही उचित है, किन्तु इन सब बातों से अनभिज्ञता प्रयुक्त टच् के अभाव पक्ष में उदाहरण दिये गये हैं। जब इस भाष्यमन्दर्भ से यहां विकल्प की अनुवृत्ति नहीं है तो 'क्षयः' एवं गिरेश्व में भी विकल्प की अनुवृत्ति नहीं तब यहां भी टजन्त एकमात्र उदाहरण ही उचित है, तब 'गिरेश्व' सूत्र का सैनक ग्रहण विकल्पार्थक होकर पूजार्थक भी है यह क्रमप्राप्त है। प्राचीनों के अनुरोध से टच् एवं तदभाव के दोनों उदाहरण यहां दिये गये हैं।

६८३ झयः ५।४।११२।

मयन्तादव्ययीभावादृज्वा स्यात्। उपसमिधम् . उपमसित्-उपमसिद्।

ज्यप्रत्याहार का वर्ण है अन्त में जिस को ऐसे अव्ययीभाव से (विकल्प) टच् होता है। समिधः समीपन् उपसमिधन्, उपसमिद्। यहां वग्नृतः विकल्प की अनुवृत्ति नहीं है।

६८४ गिरेश्व सेनकस्य ५।४।११३।

गिर्यन्तादव्ययीभावादृज्वा स्यात्। सेनकग्रहणं पूजार्थम्। उपगिरम्। उपगिरि। इत्यव्ययीभावः।

गिर्यन्त अव्ययीभाव से टच् विकल्प होता है। गिरिः समीपन् उपगिरन्। पक्ष में उपगिरि यहां सैनकग्रहण प्रसंगमात्रफलार्थक है। इस ग्रन्थ का यही अभिप्राय है कि विकल्प की अनुवृत्ति तो आती है अतः वह विकल्पार्थ नहीं है यहां प्राचीन का आशय है। वग्नृतः 'नदी पौर्णमासी' में भाष्यप्रमाण से विकल्प की अनुवृत्ति नहीं तदुत्तर 'मयः' यहां विकल्प की अनुवृत्ति नहीं है, गिरेश्व में भी विकल्प की अनुवृत्ति नहीं अतः विकल्पार्थक वा को कहना उचित यहां था उसको न कह कर सैनकाचार्य का नामोल्लेखन से सैनक ग्रहण विकल्पार्थक होने हुए पूजार्थक भी है 'सैनकग्रहणं पूजार्थमपि' यह अपि गभित व्याख्यान ही उचित है अतः इस सूत्र के टच् के अभाव के दो उदाहरण सर्वथा यहां उचित हैं।

श्री बा. कृ. पद्मोत्ति विरचिता रत्नप्रभा में अव्ययीभावसमाप्त यहां समाप्त है।

अथ तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ॥ १६ ॥

६८५ तत्पुरुषः २।१।२२ ।

अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहिः ।

बहुव्रीहिसमास के पूर्व तक तत्पुरुष का अधिकार है । उत्तर समास विधायक सूत्रों से समास सञ्जा करने पर उस समास की तत्पुरुषसञ्जा होती है इसका यह बोधक है समाससञ्जा एव तत्पुरुष सञ्जा दोनों का एकत्र समावश है, समासमन्त्रप्रयुक्त प्रातिपादकसञ्जा, अन्तोदात्त, स्वरादि फल है तत्पुरुष में विहित समासात् टकादि प्रयोजन है । अन्य छत्रभूतसञ्जा न कर आचार्य ने इस प्राचीनसञ्जा का आदर इस लिए किया है कि यह अन्वर्थ सञ्जा है, इसके अर्थ से तत्पुरुष के दो अर्थ का ज्ञान होना—यथा 'तस्य पुरुष' तत्पुरुष यह तत्पुरुषसमास का उदाहरण भी गमित है । एवं 'स चासी पुरुष' यह तत्पुरुष का भेद बर्णधारय समास का भी उदाहरण इसा के भीतर है । उनका पुरुष, एवं वह पुरुष यह दोनों उदाहरणों का अर्थ है । एवं समुदाय शक्ति से सञ्जा परक भी है । इसी प्रकार पूर्ववर्णित अन्ययामाव भी अन्यर्थ है । तत्पुरुष के वर्णितार्थ को अधिक व्यक्ति नहीं जानत हैं, वे साथी अर्थ सञ्जामान ही समझत हैं ।

६८६ द्विगुश्च २।१।२३।

द्विगुरपि तत्पुरुषसञ्जा स्यात् । इदं मूत्रं त्यक्तुं शक्यम् । संख्यापूर्वो द्विगुश्चेति पठित्वा चकारधत्तेन सञ्जाद्वयसमावेशस्य सुनयत्वात् । समासान्ता प्रयोजनम् ।

द्विगु समास की भी तत्पुरुषसञ्जा होती है । इस द्विगुश्च सूत्र अनावश्यक है अतः इसको न करना ही उचित है यथा—'संख्यापूर्वो द्विगु' सूत्र में शक्यकारणात् का ही सन्निवेश करने से यह चकार तत्पुरुष का अनुवचन कर देगा सत्यापूर्वक समानाधिकरण की द्विगु सञ्जा एवं द्विगु की तत्पुरुषसञ्जा हागी ही, पुनः इसका कोई प्रयोजन नहीं है । द्विगु की तत्पुरुषसञ्जा का प्रयोजन समासान्त प्रत्यय विधान में है, यथा 'पञ्चाना राज्ञा समाहार' यहाँ संख्यावाचक पूर्वपद है समाहार अर्थ गन्धमान है पञ्चन् शब्द पञ्चत्वसंख्याविशिष्ट सत्येयार्थक है, प्रकृत में राजरूप अर्थका प्रत्यायक = बोधक है, राजन् शब्द भी तदर्थक राजरूपार्थ है शक्यार्थबोधकत्वरूपसमानाधिकरण्य है, द्विगुसमास की तत्पुरुष सञ्जा स 'राजाह मक्षिम्यष्टच्' से टच् प्रत्यय हुआ—'पञ्चराजम्' = पांच राजाओं का समूह ।

६८७ द्वितीया भितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तायनैः २।१।२४।

द्वितीयान्त भितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते ॥ तत्पुरुष । कृष्ण भितः कृष्णभित । इह खमतीतो दुःखातीतः । ऋग्व्यादीनामुपसंख्यानमृच्छ । ग्रामं गमी ग्रामगमी । अन्नं बुभुक्षु-अन्नबुभुक्षु ।

द्वितीयान्त भित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्ति, एवं आपन्न सुबन्त के साथ विक्लप समास होता है एवं इस समास की तत्पुरुष सञ्जा है । गन्धादि कर्म भी द्वितीयान्त के साथ विक्लप तत्पुरुष समास होता है । ग्राम गमी वा ग्रामगमी । अन्न बुभुक्षु वा अन्नबुभुक्षु = भुजपात्र से सज्जन्त कर उपत्यय ॥ = खाने की इच्छा वाला ।

६८८ स्वयं क्तेन २।१।२५।

द्वितीयेति न सम्बध्यते, अयोग्यत्वान् । स्वयंकृतस्यापत्यं स्वायंकृतिः ।

कप्रत्ययान्तप्रकृतिक सुबन्त के साथ 'स्वयन्' अव्यय का तत्पुरुष समास होता है । यहाँ द्वितीया को अनुवृत्ति नहीं है, अनन्वित होने से अयोग्यता है । स्वयन् अव्यय का समास करने पर या न करने पर स्वयं कृत यही होगा, किन्तु समास से एकपद अन्तोदात्तादि अनेककाल है, यथा पठयन्त स्वयंकृतस्य से अपत्य अर्थ में 'अन इञ्' से इन्प्रत्यय होकर 'स्वायंकृतिः' प्रयोग सिद्ध हुआ है ।

६८९ खट्वा क्षेपे २।१।२६।

खट्वाप्रकृतिकं द्वितीयान्तं कान्तप्रकृतिकेन सुबन्तेन समस्यते निन्दायाम् ।
खट्वाखट्वा जाल्मः । नित्यसमासोऽयम् । न हि वाक्येन निन्दा गम्यते ।

निन्दा अर्थ गम्यमान रहने पर द्वितीयान्त खट्वा का सुबन्त कान्त तदादि के साथ समास होता है । ग्रन्थकारी वेदादि शास्त्रों का अध्येता पृथ्वी में न बैठ कर खटिका पर बैठा है, यह उनकी निन्दा प्रतीयमान है, अतः यह बिना विचार कार्य करने वाला है, विद्याऽऽदि व्रत समाप्त कर गृहत्याग्न में प्रवेश के बाद खटिका पर इच्छा है तो आलस्य होना चाहिये । अन्यथा नहीं । जाल्म का ही अर्थ बिना विचारे कार्य करने वाला । असमोक्ष्यकारी । यहाँ समास में ही निन्दा गम्यमान है, अतः यहाँ पदार्थक वाक्य वहीं रहता, क्योंकि वाक्य से निन्दा की प्रतीति नहीं होती है । नित्य समास तुल्य यह समास है । इसको व्याख्या विस्तृत प्रथम कर चुके हैं ।

६९० सामि २।१।२७।

सामिकृतम् ।

यहाँ सामि शब्द का अर्थ अर्थ है, यह अव्यय है, समास या असमास में शब्दस्वरूप एक ही है, किन्तु समास से एकपद, स्वर, एवं सामिकृतस्यापत्यं 'सामिकृतिः' है । सामिकृतिः नहीं ।

६९१ कालाः २।१।२८।

क्तेनेत्येव । अनत्यन्तसंयोगार्थं वचनम् । मासप्रमितः = प्रतिपञ्चन्द्रः । मासं परिच्छेत्तुमारब्धवानित्यर्थः ।

ज्ञानसुबन्त के साथ काल वाक्य द्वितीयान्त का समास होता है । यहाँ "काला अत्यन्त-संयोगे" व एक योग से ही कार्य निर्वाह होना पुनः 'कालाः' वह पृथक् सूत्र व्यर्थ है । इस योग को निवारणार्थ यह लिखा है मूलग्रन्थ में अत्यन्त संयोग में यह समास विधानार्थ है । एक योग में अत्यन्त संयोग में ही समास होता । अदगताः । रात्रिगताः । मासप्रमितश्चन्द्रमाः । यहाँ चराचर कभी दिन में गमन करते हैं, कभी रात्रि में अत्यन्त संयोग न रहे यहाँ समासार्थ नृप सार्थक है । चराचर का अर्थ गमनशील है । यहाँ द्विवचन आकृ आगम है । प्रतिपदा का चन्द्रमा से मासारम्भ होता है । मासप्रमितः । प्रमित में कप्रत्यय मा धातु ने आदि कर्म में कर्ता में है । मास परिच्छेद है, चन्द्र परिच्छेदक है । यह ज्ञानयोग में ही प्रसूत होता है ।

६९२ अत्यन्तसंयोगे च २।१।२९।

काला इत्येव । अक्तान्तार्थवचनम् । मुहूर्ते सुख-मुहूर्तसुखम् ।

अत्यन्त सयोग में बालवाचक सुबन्त का कान्तसुबन्त मित्र के साथ समास होता है। 'मुहूर्तं सुखम्' यश्च। अविच्छिन्न गति से बराबर सुख हो है इस अर्थ में मुहूर्तसुखम्। मुहूर्त = दो घटिका पर्यन्त काल को कहते हैं—मुहूर्तं घटिकद्वयम्।

६९३ तृतीया तत्कृतार्थेन गुणयचनेन २।१।३०।

तत्कृतेति लुप्रतृतीयाकम्। तृतीयान्त तत्कृतार्थकृतगुणवचनेनार्थशब्देन च सह प्राग्वत्। शङ्कुभया खण्ड शङ्कुलारण्ड। धान्येनार्थो धान्यार्थ। तत्कृतेति किम्, अक्षणा काणः।

सूत्र में 'तत्कृत' यह लुप्त तृतीयान्त पद है। गुण शङ्कु से तृतीया का लोप है, अतः 'तत्कृतेन' न कहा। तृतीयान्त का जो अर्थ उससे कृत = सम्पादित को गुणरूप अर्थ तद्वाचक को गुणार्थक शब्द, उसके साथ तृतीयान्त का समास होता है। अब तृतीयान्त का सुबन्त अर्थ के साथ समास होता है। शङ्कुभया खण्ड शङ्कुलारण्ड। यहाँ सरोता से किया गया टुकड़ा अर्थ है। भेदनार्थक खडि धातु से धन् प्रत्ययसे खण्ड सिद्ध हुआ है। शङ्कुल में करण अर्थ में तृतीया है। धा येन अर्थ = प्रयोजनम् धा-याव। 'अक्षणा काणः' यहाँ क्षणव नेत्र से सम्पादित नशा है, जिन्हु जन्मात्तरीय पापादि में सम्पादित है, उस तृतीयान्तार्थक न होने से समासमात्र ही है अतः दर्शनसामर्थ्य-याव को काणत्व कहते हैं। निमीकनार्थक कण्ठ वम काणः।

६९४ पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्यैः २।१।३१।

तृतीयान्तमेतै प्राग्वत्। मासपूर्व। मातृसदृश। पितृसम। जनार्थे-मापोन कार्यापणम्। मायविकलम्। वाक्कलह। आचारनिपुण। गुडमिश्र। आचारश्लक्ष्ण। मिश्रग्रहणे सोपसर्गस्यापि ग्रहणम्, मिश्र चानुपसर्गमसन्धा वित्यत्रानुपसर्गग्रहणात्। गुडसमिश्रा धाना। अक्षरस्योपसख्यानम्। मासे नावरो मासावर।

पूर्व सदृश सम जनार्थ कलह निपुण मिश्र श्लक्ष्ण इन सुबन्तों का तृतीयान्त के साथ समास होता है। मासेन पूर्व मासपूर्व। मात्रा सदृश मातृसदृश। पित्रा सम पितृसम। मापेन जनम् मापोनम्। मापेन विकलम् मायविकलम्। वाक् कलह वाक्कलह। आचारेण निपुण आचारनिपुण। गुडेन मिश्र गुडमिश्र। आचारेण श्लक्ष्ण आचारश्लक्ष्ण। यदा मिश्र ग्रहण से उपसर्ग किञ्चित् का भी ग्रहण होता है, अपि से केवल मिश्र का जो। इसमें प्रमाण यह है। कि समासस्वर में अन्तोदात्त-विविधवाक्य सूत्र है—मिश्र चानुपसर्गमसन्धा ६।२।१५४। उस सूत्र में 'तिल समिश्रा' आदि में अप्रवृत्ति के लिये अनुपसर्गग्रहण किया है, यदि मिश्र से उपसर्ग का ग्रहण समास विधायक में न होता तो समिश्र उत्तरपद में नहीं स्वर प्राप्त हो नहीं पुन अनुसर्गग्रहण-व्यर्थ होकर श्रापन करता है कि मिश्र स उपसर्गपूर्वक का भी ग्रहण होता है। गुडेन समिश्र गुड समिश्र। सुबन्त अक्षर का तृतीयान्त के साथ समास होता है। मासेन अक्षर मासावर।

६९५ कर्तृकरणे कृता बहुलम् २।१।३२।

कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुल प्राग्वत्। हरिणा प्रातो हरिवात। नखैभिन्नो नखभिन्न। 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्'। नखनि-

भिन्नः । कर्तृकरणे इति किम्, भिक्षाभिरुपितः । हेतावेपा तृतीया, बहु-
लग्रहणं सर्वोपाधिव्यभिचारार्थम्, तेन दात्रेण लूनवानित्यादौ न । कृता किम्,
काष्ठैः पचतितराम् ।

कर्ता एवं करण में जो तृतीया तदन्ततदादि वा कृदन्ततदादि के साथ समास होता है।
ग्रह् पालने से कर्म में क्तप्रत्यय ऐकार का आकार त्रातः यहां कर्म उक्त होने से प्रथमा कर्ता
हरि अनुक्त से तृतीया यहां कर्तरि तृतीयान्त हरि का त्रात से समास हरित्रातः = हरि से रक्षित
भक्त, करणतृतीयान्त 'नखैः भिन्नः' यहां विदारणार्थक से कर्म में क्तप्रत्यय का कित्वात् गुण का अभाव
है, निष्ठा तकार एवं धातु का दकार को 'रदाभ्यान्' सूत्र से नकारद्वय से भिन्नः = विदारणरूपफल
का आश्रय राक्षस, इस विदाहरण में प्रकृष्टोपकारक नख से करणे तृतीया है समास से 'नख-
भिन्नः' नखों से विदीर्ण राक्षस यह अर्थ है। इस सूत्र में कृद् ग्रहण किया है अतः 'गतिरनन्तरः'
६।१।४९। यह सूत्र कर्मार्थक क्तान्त उत्तर पद में रहे वहां अव्यवहित गतिसंज्ञक को प्रकृतिस्वर
करता है। इसका उदाहरण है, पुरोहितम् । अनन्तरः किम् अभ्युद्धृतः । इस सूत्र में अनन्तर
ग्रहण व्यर्थ होकर आपन करता है कि—“कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” इस परिभाषा
का यह अर्थ है—कृत् सामान्यग्रहण किया हो सूत्र में, या कृद् विशेष का जहां ग्रहण किया हो
वहां गति विशिष्ट एवं कारक विशिष्ट का भी ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् गतिविशिष्ट में या कारक-
विशिष्ट में कृदन्त तदादित्व का आरोप है, या कृदन्ततदादित्व का व्याप्य धर्म (यथा क्तान्ततदादित्व
का आरोप होता है। अतः 'अभ्युद्धृतः' में धृत वृत्ति क्तान्ततदादित्व का 'वद्धृत' में आरोप
कर अभि को प्राप्त प्रकृतिभाव स्वर के निषेधार्थ वहां अनन्तर ग्रहण कृतार्थ हुआ, वहां अनन्तर
ग्रहणसामर्थ्य से गति से आक्षिप्त क्रियावाचक धातु से अव्यवहित पूर्व का ग्रहण कर उद् को ही
प्रकृतिस्वर हुआ अभि को नहीं। प्रकृत में यहां 'भिन्नः' में ही वास्तविक कृदन्ततदादित्व है वह
इस परिभाषा के दल से गतिसंज्ञक निर् तदविशिष्ट निर्भिन्न में लाकर नखैः करणतृतीयान्त का
निभिन्न के साथ समास हुआ—नखनिभिन्नः । भिक्षाभिः ऊपितः यहां हेतु में तृतीया है, अतः
समास न हुआ, स्थिति या निवास में भिक्षा हेतु है। भिक्षा के हेतु निवास करता है। सूत्र में
अनेकार्थ बोधक (बहुन् अर्थात् लाति इति बहुलम्) बहुल ग्रहण से जिन कारण में समास रूप
कार्य होता है उन कारण समूह रहने पर भी समास का अभाव, समासत्व प्रयोजक कारणसमूह
के अभाव में समास रूप कार्य होता है। यथा दात्रेण लूनवान् यहां लवन (काटना) क्रिया
कर्ता के व्यापार जन्य फल लवन में दात्र इतुला प्रकृष्टोपकार है, दात्र से करण में तृतीया है, लून-
वान् कर्मार्थक क्तवतु प्रत्ययान्त है, वह कृदन्ततदादि है, दात्रेण लूनवान् यहां तृतीयासमासत्व प्रयो-
जक (कारणीभूत) यावद् अपेक्षित कारण समूह है, किन्तु बहुल ने समासाभाव का बोधन किया
है। लून धातु छेदनार्थक से कर्ता में क्तवतुप्रत्यय है (स्वादिभ्यश्च) से तकार का नकारादेश
हुआ है, लूनवान् । क्तवतुप्रत्यय सदा कर्ता में ही होता है। दात्र में दाधातु से प्रन् प्रत्यय है,
करण अर्थ में दाति = छिन्नाति अनेनेति दात्रन् = जिसमें काटा जाय। हंसुवा (गुजराती भाषा में
'दातिटु' कहते हैं। काष्ठैः पचतितराम् यहां पाकक्रिया में काष्ठ करण है, करण में तृतीया है किन्तु
उत्तर पचतितराम् वह कृदन्ततदादि नहीं है, किन्तु तद्धितान्ततदादि तदन्त है। समासाभाव हुआ
'तिष्ठश्च' सूत्र से पचति से अतिशय अर्थ में तरप् प्रत्यय है, पचतितर में 'किमेतिष्' से आनु प्रत्यय
है, पचतितराम् ।

स्तुतिनिन्दाफलकमर्थवादवचनमधिकार्यवचन तत्र कर्तरि करणे च
तृतीया कृत्यैः सह प्राग्वत् । वातच्छेद्य तृणम् । वाकपेया नदी ।

निन्ना एव स्तुति वह है पण जिसका ल्पे अर्थवाद कहते हैं अर्थवाद को ही अधिकार्य वचन
कहते हैं वह गम्यमान रहे वहाँ कर्ता या करण में निहित जो वृत्ताया तदन्त तदादि का वृद्धन्
तदादि के साथ समास होता है । यथा वातेन प्लेवन् यहा वात में कर्तरि तृतीया है, विदार
पार्थक्ये धिदिर धातु से कर्म में प्लव प्रत्यय है, सूत्र 'अदलोर्ण्य' (छेदन कर्म = यहा एग है,
छेदन पलक व्यापार कर्ता वात = वातु है । समास से 'वातच्छेद्य' यहा एग दा ममस्तपद म हो
अर्थ गम्यमान है यथा यह अतीव कोमल बात है ओ वातु से ही विदार होना है । यह एग का
प्रशंसा हुए है । निन्दा में, यथा यह अतीव तुच्छ तृण है, यह वायुनाम से विदीर्ण होना है अर्थात्
यह एग किसी कार्यक्रम नहा है कावेन पेया वाकपेया नदी । यहा 'पा पाने' से कर्म में प्लवत्यय
है, 'ईद वति से प्लवत्यय पर-में एव है । गुा एव टाप से देवाङ्गानकर्न यहा नदी है, पान का कर्ता
काक है । काक से भी कर्ता में ही तृतीया है । यहा भी अर्थव्य है, तराँों से युक्त बल से परिपूर्ण यह
नदी है जिसके तट पर सुखपूर्वक आयास रहित काँवे बल का पान करते हैं । यह तो प्रशंसा
गम्यमान हुए । निन्दा में यह अल्पजन्तुक्त कुमरिह है, बहा देवन् कौन ही पानी पीत हैं, मनुष्यों
से अपेया है

६९७ अन्नेन व्यञ्जनम् २।१।३४।

सत्कारकद्रव्यवाचक तृतीयान्तमन्नेन प्राग्वत् । दध्ना ओदनो दध्मोदन ।
इहान्तभूतोपसेकक्रियाद्वारासामर्थ्यम् ।

जिमने अन्न सत्कृत होता है वह सत्कारकद्रव्य कहा जाता है, केवल अन्न को अन्न के ही
साथ जोड़न अस्वदिष्ट होता है एव शाकत नापक भी है । "अन्नम् अन्नेन न सुशीत" ।
सत्कारक द्रव्यवाचक तृतीयान्त तदादि का सुबन् अन्नवाचक शब्द से समास होता है । यथा
दध्ना ओदन समास से 'दध्मोदन' वह हुआ है । यहा तृतीयान्त कारकार्य समेक क्रिया से
विशेषण होता है एव क्रियान्वया होने पर ही कारक में साधुत्व है । उपसेक क्रिया का कर्म ओदन
वपत्तो उपसिक्त शब्द से कहा जा सकता है दधि में कर्तरि तृतीया है, दधिकर्तृक उपसेक क्रिया
कर्म ओदन है वपसिक्त में कर्म अर्थवोधक कप्रत्यय से ओदनरूपकर्म एक है, अट ओदन से प्रथमा
है, कर्ता अनुक्त से दध्ना में तृतीया है यह कर्मणि प्रयोग है, यहा दधि एव ओदन का मध्यवर्तिनी
क्रिया उपसेक है, तट द्वारा परस्परान्वयरूप सामर्थ्य है, ती ओ सूत्रारम्भ सामर्थ्य से समान
हुआ है ।

६९८ मक्ष्येण मिश्रीकरणम् २।१।३५

गुडेन धाना—गुडधाना । मिश्रणक्रियाद्वारासामर्थ्यम् ।

मक्ष्य (मछनकर्म) वाचक जो अन्त तदन्तवदादि तृतीयान्त रहे उसका मिश्रीकरण वाचक
सुबन् शब्द के साथ समास होता है । गुडेन धाना 'गुडधाना' समास हुआ । यहा भा पूर्ववत्
गुडार्थ तृतीयान्तार्थ का मियन क्रिया में अन्वय एव मियन क्रिया का फलव्यव धाना में अन्वय
है । गुड में रहनेवाली मिश्रणक्रिया उसका जो फल उसका वाग्रव धाना है । कारक तृतीयार्थ का
क्रिया में विशेषणतया यहा भी अन्वय है कहा गया है कि "कारकविष्टप्रकारवानिरूपितशब्द-

बोधन्प्रति विशेष्यता सम्बन्धेन क्रियोपस्थितिः कारणम्” यह शाब्दिक सिद्धान्त है। कर्मादि कारकों का भी फल्यदि द्वारा क्रिया में ही अन्वय है, यहाँ क्रिया शब्द से धातु का प्रधान व्यापार ही अपेक्षित है। राजवत् प्रधान व्यापार ही है। यथा—“सर्वे सेवका राजानमनुसरन्ति” तथैव सर्वाणि कारकाणि प्रधानीभूतव्यापारम्।

६९९ चतुर्थी तदर्थार्थवलिहितमुखरक्षितैः २।१।३६।

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद् वाचिनाऽर्थोर्दिभश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्यते, बलिरक्षितग्रहणाज्जापकात्। यूपाय दारु यूपदारु। नेह रन्धनाय स्थाली। अश्वघासदयस्तु पट्टीसमासाः। ऋअर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्। द्विजायायं द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः। द्विजार्थ पयः। भूतबलिः। गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्।

चतुर्थी विभक्ति है अन्त में जिसको ऐसा जो चतुर्थ्यन्त तदादि उसका जो अर्थ उसके लिए जो वस्तु तद्वाचक सुवन्त के साथ चतुर्थ्यन्त का समास होता है, एवं चतुर्थ्यन्त तदादि का सुवन्त अर्थ शब्द के साथ समास विकल्प से होता है। सूत्र में तदर्थ पद से प्रकृति विकृतिभाव सम्बन्ध ही गृहीत है। उपकायोपकारकभाव आदि सम्बन्ध का ग्रहण नहीं है, नामान्यतः सभी सम्बन्धों का यदि यहाँ ग्रहण होता तो सूत्र में बलिरक्षितग्रहणव्यर्थ होता, उनकी सार्थकता के लिए यहाँ विशेष एकमात्र सम्बन्ध का ग्रहण है। उदाहरण यथा—यूपाय दारु समास यूपदारु। यथ में पशु का वध होता है, उस पशु को यशभूमि में बन्धन के लिए जो शंकु (गुटा या स्तम्भ उसको यूप कहते हैं, काष्ठ (लकड़ी) को छील कर उसका यूप बनाया जाता है तक्षद्वारा (तक्ष = बढ़ा) यहाँ मूलप्रकृति लकड़ी उसका विकृत स्वरूप यूप है दोनों का प्रकृति विकृतिभाव सम्बन्ध है। मृगार्थ का सम्बन्ध इस प्रकार है यहाँ चतुर्थ्य तदादि (चतुर्थी अन्त में रहे उसकी प्रकृति आदि में रहे) यूपाय उसका अर्थ यूप के लिए उसका दारु के साथ समान हुआ है। ‘रन्धनाय स्थाली’ यहाँ रसोई बनाने के लिये बटुवा (तवेली गुर्जर भाषा में) यहाँ उपकार्य उपकारक दोनों पदार्थ का सम्बन्ध है, अतः समास का अभाव से वाक्य हो रहा है। अश्वघासः यहाँ समास नहीं है, इससे वहाँ समासप्राप्ति ही नहीं अतः अश्वघासः = अश्वघासः = अश्व सम्बन्धी घास = वृण। इसी तरह अन्यत्र भी ज्ञान करना। सुवन्त अर्थ के साथ चतुर्थ्यन्त का नित्यसमास होता है, एवं विशेष्यभूतपदार्थ के तुल्य लिङ्ग होता है, अर्थात् विशेष्य पुल्लिङ्ग हो तो नगरत शब्द भी पुल्लिङ्ग इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसक व्यवस्था जाननी चाहिये। द्विजाय अयं सूपः इस अर्थ में अन्वयपद-विग्रह कर द्विजार्थः सूपः द्विज के लिए दाल यहाँ सूपशब्द पुल्लिङ्ग है अतः ‘द्विजार्थः’ पुल्लिङ्ग है, द्विज के लिए यवागू = लपसा (कांसार) यहाँ विशेष्य स्त्रीलिङ्ग है, अतः स्त्रीलिङ्ग। द्विजाय इदम् (पयः) यहाँ नपुंसक है।

द्विज = ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य है, दान्यां = जन्मकर्मन्यां जायते स द्विजः। जन्म एवं कर्म दोनों से द्विजत्व प्राप्त होता है अर्थात् ब्राह्मण से वैध सम्बन्ध से विवाह द्वारा प्राप्त ब्राह्मणी में जायमान होने हुंवे जो ब्राह्मणोचित कर्म करता है उसी ने ब्राह्मणत्व रहता है जन्मकर्म दोनों मिलकर जानित्व का सम्पादक है। एक नहीं। एवं क्षत्रिय से क्षत्रिया में जात नदुचित कर्म करने वाला क्षत्रिय है। इसी प्रकार अन्यत्र। भूतबलिः। गवं दिनम्, गोहितम्। गवे सुगम् गोसुगम्। गवे रक्षितम् गोरक्षितम्।

७०० पञ्चमी भयेन २।१।३७।

चोरादभय चोरभयम् । ऋभयभीतभीतिभीमिरिति वाच्यमृक् । वृकभीत । वृकभीत । वृकभी ।

सुवत् भय शब्द के साथ पञ्चम्यन्त का समास विकल्प से होता है । यहाँ वातिककार कहते हैं कि सूत्र में अभ्यल्प भयेन कहा है, उसके स्थान में भय भीत भीति एव भी इनको रखके इनका भी पञ्चम्यन्त के साथ विकल्प समास होना है । एक ही उदाहरण यहाँ दिया हुआ है भीत वृकभीत यहाँ निमी भये से वर्म में कप्रत्यय भय में हेतु वृक से अपादान में पञ्चमी है, वृक के कारण भय से युक्त पुरुष । एव वृकभीत । वृकभीति । वृकभी ।

७०१ अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः २।१।३८।

एतै सहाल्प पञ्चम्यन्त समस्यते स तत्पुरुष । सुखापेत । फल्पनापोढ । चक्रमुक्त । स्वर्गपतित । तरङ्गापत्रस्तः । अल्पश किम्, प्रासादापतित ।

सुवत् अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, एव अपत्रस्त का अर्थ पञ्चम्यन्त के साथ विवक्ष्य समास होता है । इस समास की तत्पुरुष तथा होती है । सुख से रहित = सुखापेत सुखापेत । फल्पना = तर्क शक्ति से रहित को कल्पनाया अपेत कल्पनापेत । चक्र से मुक्त चक्रात् मुक्त चक्रमुक्त । पुण्यक्षीण से स्वर्ग से पृथ्वी में गिरा हुआ स्वर्गात् पतित स्वर्गपतित पतनार्थक परलु पातु यो सन् प्रत्यय को 'तनिपति' से विकल्प इट् आगम होता है । यहाँ नियम है कि किसी भी स्थल में इन् आगम विकल्प से हुआ हो यहाँ निषा (क चवतु) को इट् नहीं होना है नियम — 'यस्य विभाषा' अतः यहाँ 'पत' होना उचित है, 'पतित' यह रूप नहीं होता है, तथापि सूत्रनिर्देश सामर्थ्य से इट् करने के छिद् 'यस्य विभाषा' अनित्य है । अतः यहाँ निषेध नहीं, इट् से 'पतित' प्रयोग यहाँ कथञ्चिद् बना है । जल के तरङ्गों से त्रस्त अर्थ में तरङ्गात् अपत्रस्त समास से तरङ्गापत्रस्त है । सूत्र में अल्पश का अर्थ यह है कि इन गिन शिष्टों से प्रयुक्त स्थल में इन शब्दों का पञ्चम्यन्त के साथ समास होता है सबत्र नहीं । प्रासादात् पतित यहाँ समास युक्त शब्द स्वरूप शिष्टोच्चरित वा आर्थ प्रत्ये में प्रयुक्त नहीं अतः समास न हुआ ।

७०२ स्तोक्रान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन २।१।३९।

स्तोक्रान्तमुक्त अन्पान्मुक्त । अन्तिकादागत । अम्घ्याशादागतः । दूरादागतः । विप्रकृष्टादागत । कृच्छ्रादागत । पञ्चम्या स्तोकादिभ्य इत्यलुक् ।

श्रुत स्तोक, अन्तिक, दूरार्थ एव कृच्छ्र शब्दों का कप्रत्ययान्त के साथ समास होता है । सूत्रों के उदाहरणों में समास एव 'पञ्चम्या' सूत्र से पञ्चमी का अनुक्त हुआ । स्तोक = अल्प, अल्प = कम, अन्तिक = समीप, अम्घ्याश = समीप, दूर = दूर, विप्रकृष्ट = दूर, कृच्छ्र = बट । मुक्त में वर्म में सु-लृ पातु से कप्रत्यय है । मुक्तिरूप पत्र का आगम मुक्त कहा जाता है । द्वितीया तत्पुरुष, तृतीया तत्पुरुष, चतुर्थी तत्पुरुष एव पञ्चमी तत्पुरुष एव उनके नियम तथा उदाहरण बना कर अब यही तत्पुरुष का निर्देश करते हैं ।

७०३ पृष्ठी २।२।८।

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः ।

पठ्यन्त तदादिका समर्थ सुबन्त के साथ समास संज्ञा होती है। एवं उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है। राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। पक्ष में राज्ञः पुरुषः। यहां राजन् शब्द से 'शेषे' सूत्र से सम्बन्ध में पड़ी विभक्ति है, पठ्याथे स्वत्व है उस में राज पदार्थ का निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय है, एवं स्वत्व का पुरुषार्थ में आश्रयत्व (आधेयत्व या निष्ठत्व या वृत्तित्व) सम्बन्ध से अन्वय है। राजनिरूपित-स्वत्वाग्रयः पुरुषः यह अर्थ है राजार्थ एवं पुरुषार्थ का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है सम्बन्ध के प्रतियोगिवाचक से पड़ी है एवं समास है। समास स्थान में संसर्ग = सम्बन्ध का संसर्ग विधवा आनकर राजपदार्थ का पुरुष में अन्वय से स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से राजविशिष्ट पुरुषार्थ है। राजपुरुष अन्यका नृत्य नहीं होता है, एवं जो किसी का भी नृत्य नहीं वह भी राजपुरुष नहीं अतः यहां भेद, संसर्ग या भेद संसर्ग उभय पड़ी का वाच्य है। अराजकीय मित्रः राजनिरूपित स्वत्ववान् पुरुषः यह राज्ञः पुरुषः का अर्थ है। कहा है कि—

“भेदः संसर्ग उभयमिति वाच्यव्यवस्थितः”।

७०४ याचकादिभिश्च २।२।९।

एभिः पठ्यन्तं समस्यते। नृजकाभ्यां कर्तरीत्यस्य प्रतिप्रसन्नोऽयम्। ब्राह्मणयाचकः। देवपूजकः। कृगुणात्तरेण तरलोपश्चेति वक्तव्यम्। तरचन्तं यद् गुणवाचि तेन सह समासस्तरप्प्रत्ययलोपश्च। ‘न निर्धारणे’ इति, पूरणगुणेति च निषेधस्य प्रतिप्रसन्नोऽयम्। सर्वेषां श्वेततरः = सर्वश्वेतः। सर्वेषां महत्तरः = सर्वमहान्। कृद्द्वयोऽपि समस्यत इति वक्तव्यम्। इध्मस्य ब्रध्नः = इध्मब्रध्नः।

सुबन्त याजकादि शब्दों के साथ पठ्यन्त का समास होता है। यह सूत्र ‘नृजकान्यान्’ का वाचक है। प्रतिप्रसन्न का अर्थ है = विपरीत कार्य की उत्पत्ति करना, समास निषेध से विपरीत कार्य समास रूप कार्य करना उसका प्रतिपादक। ब्राह्मणानां याचकः ब्राह्मणयाचकः। देवानां पूजकः देवपूजकः। याचक पूजक यार्ता में ण्वुल् प्रत्ययान्त है। यज्ञकर्ता याचकः। पूजनकर्ता पूजकः। *तरचन्त गुणवाचक का पठ्यन्त के साथ समास होता है एवं तरप् प्रत्यय का लोप भी होता है*। यह वार्तिक न निर्धारणे एवं ‘पूरणगुण’ का वाचक है। वाचक की प्रतिप्रसन्न कहने हैं। सुबन्त श्वेत शब्द से अतिशय अर्थ में तरप् प्रत्यय होता है। अतिशयेन श्वेतः श्वेततरः, सर्वेषां श्वेततरः यहां समास तरप् का लोप से सर्वश्वेतः। अतिशयेन महान् इति महत्तरः, सर्वेषां महत्तर इति सर्वमहान्। ह्रस्वत उदादि के योग में पठ्यन्त का समास होता है। इध्मस्य = काष्ठस्य ब्रध्नः कुठार इति इध्मब्रध्नः। लकड़ी को काटने वाली कुहाड़ी (गुर्जरभाषा में कोढ़ी) कहते हैं। ओत्रश्चू छेदने से कारण में ल्युट् प्रत्यय होता है = काटने का साधन।

७०५ न निर्धारणे २।२।१०।

निर्धारणे या पठी सा न समस्यते। नृणां द्विजः श्रेष्ठः। कृप्रतिपद्विधाना पठी न समस्यते इति वाच्यम्। सर्पिषो ज्ञानम्।

निर्धारण में विहित जो पठी तदन्त का सुबन्त के साथ समास नहीं होता है। मनुष्य सनुदाय में द्विज श्रेष्ठ है, यहां नृ आन् द्विज सु का पठोऽसमास न हुआ है। *तत्र तत्र विशेष शब्दों को उच्चारण कर विधीयमान जो पठी तदन्त का सुबन्त के साथ समास नहीं होता है। सर्पिः ज्ञानम् यहां

को विदर्थस्य करणे' १।३।५१ से प्रतिपदोक्त षष्ठी का विधान है अतः समास न हुआ। वस्तुतः यह वार्तिक व्यर्थ है, शेष से षष्ठी कर षष्ठी से समास हो जाता, पुनः उन विशेष सूत्रों से विधीयमान जहाँ षष्ठी है उस षष्ठी का अर्थ ही रहता है विधान सामर्थ्य से, अतः उन सूत्रों के वैयर्थ्यभय से समास नहीं होगा। उस सिद्ध वस्तु का यह महावाक्य केवल अनुवादक है, अपूर्व नहीं है।

७०६ पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन २।२।११।

पूरणाद्यर्थे सदादिभिश्च षष्ठी न समस्यते । पूरणे—सता षष्ठ । गुणे—काकस्य कार्ण्यम्, ब्राह्मणस्य शुक्ला । यदा प्रकरणादिना दन्ता इति विशेष्य ज्ञात तदेवमुदाहरणम् । अनित्योऽयं गुणेन निषेधः, तदशिष्य सक्षाप्रमाणत्वादित्यादिनिर्देशात् । तेनार्थगौरव बुद्धिमान्द्यमित्यादि सिद्धम् । सुहितार्थास्तृप्त्यर्था—कलानां सुहित । तृतीयासमासस्तु स्यादेव । स्वरे विशेष । सत्—ब्राह्मणस्य कुर्वन् कुर्वीणो वा किङ्कर इत्यर्थः । अव्ययम्—ब्राह्मणस्य कृत्वा । पूर्वोत्तरमाहचर्यात्कृद्ध्ययमेव गृह्यते । तेन तदुपरीत्यादि सिद्धम् इति रश्चित । तव्य—ब्राह्मणस्य कर्तव्यम् । तव्यता तु भवत्येव—स्वकर्तव्यम् । स्वरे भेद । समानाधिकरणे—तत्तत्कस्य सर्पस्य । विशेषणसमासस्तु इह बहुलप्रहणाश्च । गोर्धेनोरित्यादिषु षोडशुषतीत्यादीनां विभक्त्यन्तरे चरितार्थानां परत्वाद् बाधक षष्ठीसमास प्राप्त सोऽप्यनेन व्यर्थ्यते ।

पूरणप्रत्ययान्त, गुणवाचक, सुहितार्थ, सदा (सदा ज्ञानच) अव्यय, तत्प्रत्ययान्त एवं समानाधिकरण (एकार्थ बोधक) के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता है । पूरण—सता षष्ठ यदा समास न हुआ, छठमी सख्या की पूर्ण करने वाला अर्थात् षष्ठमा अर्थ में षष्ठा पूरण षष्ठ यदा पूरणार्थक छठ प्रत्यय उसकी शुद्ध आगम एवं वृत्त्य से षष्ठ की सिद्धि है गुण में काक सम्बन्धिनी कृष्णता अर्थ में समासामात्र काकस्य कार्ण्यम् । ब्राह्मणस्य शुक्ला यदा शुक्लस्य गुणविशिष्ट दन्ता यदा समासामात्र है । अब दन्त विशेष्य है, सब उसमें गुण शुक्ल विशेषण तब यह उदाहरण है, दन्त वर्णन प्रसङ्ग में अत्रिदस्य रक्ता दन्ता वैश्यस्य पीता दन्ता शूद्रस्य कृष्णा दन्ता । इसके प्रसङ्ग में ब्राह्मणस्य शुक्ला यह वचन में विशेष्य दन्ता का स्वतः प्रकरण से काम होता है ।

इन उदाहरणों से प्राचीन समास की स्थित का दिव्यज्ञान होता है उस समय जातिकी सुगमता पूर्वक ज्ञानार्थ दात पूर्वोक्त प्रकार से रगनी को प्रथा अनिवार्य थे । प्रश्न विना ही स्वतः आशङ्क्य का ज्ञान हो जाता था केवल आशङ्क्यों के दात सफेद रहते थे । अन्य वर्णों के नहीं, श्वेत वर्णों का परिधान आशङ्क्य करते थे । अधिक स्वच्छता प्रिय आशङ्क्य थे, आन्तरिक एवं बाह्य एवं तत् प्रधान असंग्रही विद्या व्यसनी रामद्वेषादि रहित थे ।

गुण के साथ समास निषेध अनित्य है अतः षष्ठ्यन्त का गुणवाचक सुबत से समास जाता है क्वचित् तेन अर्थस्य गौरवम् अर्थगौरवम्, बुद्धे मा भूत् बुद्धिमान्द्यम्य यहाँ समास हो गया । मन्दता गुरुता गुण है । इस अनित्य में सूत्रनिर्देश ही प्रमाण है सञ्ज्ञाया प्रमाणत्व सरमात्र सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात् यह पाणिनि का शब्द सूत्रवत्क है ।

वस्तुतः गुण के साथ समास निषेध कर कोई फल नहीं है, प्रदर्शित उदाहरण समास के अनित्य न मान कर भी सिद्ध हो सकते हैं यथा सञ्ज्ञाया सम्बन्धि सदासम्बन्धि

कृत सम्मान । यद्वा पूर्वपदप्रकृति स्वर है । षष्ठीसमास राधा पूजित का होता है । तृतीया तत्पुरुष एव षष्ठीतत्पुरुष में यह भेद है ।

७०८ अधिकरणवाचिना च २।२।१३।

क्तेन षष्ठी न समस्यते । इदमेपामासित गत मुक्त वा ।

अधिकरण में विहित जो क तदन्त के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता है । एषाम् आसि तम् में अधिकरणवाचिनश्च सूत्र से षष्ठी विधीयमान है । 'आसीनम्' यहाँ आरवन्ते बना यत्र इस अर्थ में 'लोऽधिकरणे' से आधार अर्थ में कप्रत्यय है स्थिति का आश्रय स्थान । समासभाव । एषां गतम् एव मुक्त से भी अधिकरणार्थक क है—गमनक्रिया का अधिकरणमार्थ है, भोजनक्रिया का अधिकरण स्थान अर्थ है ।

७०९ कर्मणि च २।२।१४।

उभयप्राप्तौ कर्मणीति या षष्ठी सा न समस्यते । आश्रयो गवां दोहोऽ-
गोपेन ।

'कर्मकर्मणो' सूत्र से कर्तृ एव कर्म वाचक दोनों को जहाँ षष्ठी प्राप्त है वह 'उभयप्राप्तौ' नियम से कर्मवाचक से षष्ठी बोधन करता है, वही षष्ठी तदन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता है । आश्रयों गवां दोह अगोपेन । यहा गो आन् दोह इ का षष्ठी समास प्राप्त है उसका निषेध है, गवान् में उभयप्राप्तौ नियम से कर्म में षष्ठी है । अगोप से तृतीया । गौकर्मक अगोपकर्तृण जो दूधदूग्धश्च = दूध उसका जो वृषक वरण उसका जनक जो दाध या मशीन चलाना रूप व्यापार आश्रय जनक यह अर्थ है । अधिकतर गोवाले हो गायें उस समय दुहते होंगे यह सामाजिक स्थिति का प्रयोग चित्रण करता है । गुजरात आदि प्रान्त में गृह स्वामिनी स्त्रियों ही गाय भैंस को प्रतिगृह दुह लेती है सम्प्रति भी ।

७१० तृजकाभ्यां कर्तरि २।२।१५।

कर्त्रर्थतृजकाभ्यां षष्ठ्या न समासः । अपा स्रष्टा । वज्रस्य भर्ता । ओदनस्य पाचकः । कर्तरि किम्, इक्षूणा भक्षणम् इक्षुभक्षिका । पत्यर्थकर्मर्तृशब्दस्य याचकादित्वासमासः । भूमर्ता । कथं तर्हि घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलह इति । शेषषष्ठ्या समास इति कैयटः ।

कर्ता का वाचक तृच् एव एक कृतप्रत्ययवन्त सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता है । अपा स्रष्टा यहाँ तृच् कर्ता में है समासभाव । 'वज्रस्य भर्ता' यहाँ भी समासभाव । ओदनस्य पाचक यहा कर्ता में ण्वल् उसको अकादेश उपपाठ्य से पाचक । इक्षूणां भक्षणम् यहा भक्षण में ण्वल् प्रत्यय है वह कर्ता में विहित नहीं है किन्तु भाव में है । इक्षु से कर्म में षष्ठी कर के समास इक्षुभक्षिका । इक्षुभक्षणम् अर्हतीति इक्षुभक्षिका । वाचकादिगण में पति अर्थबोधक भर्तृ का पाठ है । अतः समास से भू = पृथ्वी का भर्ता रक्षक भूमर्ता । घटनिर्माण कर्ता कुहार (प्रजापति वह भी कहा जाता है) एव ब्रह्मा भी प्रजापति इन दोनों में भिन्न प्रकार महान् अन्तर है ऐसी परिस्थिति उत्कर्षव्यापनार्थ क्लेश परस्परस्पर्धा अनुचित है उस प्रकार तुम्हारी भेरे साथ स्पर्धा या कलह अस्वाभाविक है । अत्यन्त उच्चतम के साथ अधम का क्लेश में कहा जाता है कहां वह कहाँ में । यहाँ त्रिभुवनस्य

विधातुः का शेषपठो कर समास होता है। यहां कारक पठो नहीं, अतः निषेध का विषय नहीं है। यह कैयट मत है।

७११ कर्तरि च २।२।१६।

कर्तरि पठ्या अकेन न समासः। भवतः शायिका। नेह तृजनुवर्तते। तद्योगे कर्तृरभिहितत्वेन कर्तृपठ्या अभावान्।

कर्ता में विहित जो पठो तदन्त का अकप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास नहीं होता है। भवतः यहां कर्ता में 'कर्तृ कर्मणोः' से पठो है शायिका में भाव से ण्वुल् 'पर्याहारणा' से है, समासाभाव। यहां तृच् को पूर्व से अनुवृत्ति नहीं है। कर्ता अर्थ में विधीयमान तृच् से कर्तृरूप अर्थ उक्त होने से उसके योग में कर्त्रर्थक पठो न होने से समास यहां अप्राप्त है।

७१२ नित्यं क्रीडाजीविकयोः २।२।१७।

एतयोरर्थयोरकेन नित्यं पठो समस्यते। उद्दालकपुष्पभञ्जिका। क्रीडाविशेषस्य संज्ञा। संज्ञायामिति भावे ण्वुल्। जीविकायां दन्तलेखकः। तत्र क्रीडायां विकल्पे जीविकायां तृजकाभ्यां कर्तरीति निषेधे प्राप्ते वचनम्।

अक प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ क्रीडा एवं जीविका अर्थ में पठ्यन्त का नित्यसमास होता है। उद्दालक को उद्दालक कहते हैं उसके पुष्प जिस क्रीडाविशेष में तोड़े जाते हैं उस क्रीडाविशेष की संज्ञा अर्थ में 'संज्ञायाम्' सूत्र से भावार्थक ण्वुल् प्रत्ययकर भजनं भञ्जिका बना कर उद्दालकस्य पुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां क्रीडायां विग्रह में समास यहां हुआ है। दांतों पर लेखन क्रिया द्वारा जीविका अर्जनकर्ता अर्थ में पठो समास तृजकान्यां निषेध को बाधकर इससे नित्यसमास हुआ—दन्तलेखकः। क्रीडा में विकल्प समास को बाधकर नित्यसमासार्थ यह सूत्र है।

७१३ पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २।२।१८।

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते एकत्वसंज्ञाविशिष्टश्चेदवयवी। पठो-समासापवादः। पूर्व कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। एकदेशिना किम्, पूर्व नाभेः कायस्य। एकाधिकरणे किम्, पूर्वश्छात्राणाम्। सर्वोऽप्येकदेशोऽहं समस्यते, संख्याविस्मयेतिज्ञापनात्। मध्याह्नः। सायाह्नः। केचित्तु सर्व एकदेशः कालेन समस्यते नत्वहैव, ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वात्। तेन मध्यरात्रः। उपरताः पश्चिमरात्रगोचरा इत्यादि सिद्धमित्याहुः।

एकत्व संज्ञायुक्त अवयवी के साथ सुबन्त पूर्व, अपर, अधर, उत्तर शब्द का समास होता है। पठो समास का यह सूत्र बाधक है। पूर्व कायस्य = शरीर का पूर्वभाग अर्थ में पूर्व अन् काय अस् समास से पूर्वकायः। कटि से नाँचे का शरीर को अपरकायः कहते हैं। अवयवी का पूर्वाद शब्दों के साथ समास होता है अवयववाचकपठ्यन्त का नहीं अतः 'पूर्व नाभेः' यहां नाभि अवयवी नहीं समासाभाव = नाभिका पूर्व अंश काया का अवयव है। परस्पराव्ययस्य सान्दर्भ्यं यहां है।

जहां अवयवी बहुत्वसंज्ञायुक्त रहें वहां समासाभाव है, यथा पूर्वः छात्राणाम्। सभी अवयववाचक-शब्द का अहन् सप्तम्यन्त के साथ समास होता है, इसमें ज्ञापक 'संख्याविस्मय' सूत्र ही प्रमाण है यथा सायपूर्वक अह् को अहन् आदेश वह करता है, यदि अवयववाचकभाव का अहन् के साथ समास न होता तो सायपूर्वक अहन् को दुर्लभत्व से आदेश विधान अनुपपन्न होकर समास विधान में

शापक है। यहाँ “अस्ति वाचके प्रमाणानां सामान्ये पक्षपातः” विशेष वाचक न रहे वहाँ शापन लाघवार्थ सामान्य होता है, विशेषज्ञान सामान्यज्ञानपूर्वक होता है वहाँ ज्ञानद्वय का ज्ञान करना पड़ता है गौरव है, अतः सर्वोऽप्येकदेश कालेन सह समस्यते = सभी अवयववाचक शब्दों का कालवाचकपञ्चम्यन्त के साथ समास होता है। यही सामान्यशापन सख्याविज्ञापन में सायग्रहण करता है। इससे राधे मध्यम् मध्यरात्र की सिद्धि हुई, रात्रिशब्द भी कालवाचक है। टन्मृत्ययान्त राज यहाँ है। रात के बारह बजे बाद अश्वमेजवरूप व्यापार से निरत है, एतदर्थक वाक्यघटक ‘पश्चिम राज’ की भी सिद्धि हुई।

७१४ अर्थ नपुंसकम् २।२।२।

समांशवाच्यार्थशब्दो नित्य क्लीबे स प्राग्वत् । एकविभक्तावपञ्चम्यन्तवचनम् । एकदेशिसमासविषयकोऽयमुपसर्जनसंज्ञानिषेधः । तेन ‘पञ्चखट्वी’ इत्यादि सिध्यति । अर्थ पिप्पल्या अर्थपिप्पली । क्लीबे किम्, प्रामार्थः । द्रव्यैक्ये एव । अर्थ पिप्पलीनाम् ।

अर्थशब्द अनेक लिङ्गक है, उनमें समानांशवाचक खण्डार्थक नित्य नपुंसक ही है। समांश वाचक नपुंसक सुबन्त अर्थ का पञ्चम्यन्त के साथ समास होता है। पूर्व वर्णित ‘एकविभक्तौ चापूर्व निपाते’ में वह एकदेशी पञ्चम्यन्त जहाँ रहे वहाँ उपसर्जनसंज्ञा नहीं करता है, अन्यत्र पञ्चम्यन्त समासवाच्य की उपसर्जन संज्ञा होती ही है। प्रकृत में पिप्पल्या अर्थम् = पिप्पली अम् अर्थ । समास, विभक्ति छुट्, अर्थ का उपसर्जनसंज्ञा पूर्वनिपात वहाँ समासार्थविग्रह वाक्य में पिप्पली समास, विभक्ति छुट्, अर्थ का उपसर्जनसंज्ञा पूर्वनिपात वहाँ समासार्थविग्रह वाक्य में पिप्पली नियतविभक्त्यन्त = पञ्चम्यन्त है अतः इस वाक्य ने पिप्पली की उससे प्राप्त उपसर्जन संज्ञा का एकदेशी समास होने के कारण निषेध किया अतः उपसर्जन पिप्पली नहीं अतः हस्व ‘गो खिया’ ने न हुआ। अर्थपिप्पली। पिपर का ठीक आधा हिस्सा यह अर्थ है। पञ्चानां खट्वानां समाहार वहाँ ‘तद्विधार्थोत्तरपदे’ से समास अवयव अवयवी का नहीं है अतः एक देशी समास पर पड़ा हुआ वाक्यिक उपसर्जन संज्ञा का यह प्रतिबन्धक नहीं है उपसर्जन सख्या हीकर खट्वा का आकार का हस्व अकार हुआ है। अकारान्तोत्तरपदोद्दिष्ट खियामिह से नियमान पञ्चखट्वे से द्विगी ङीप् होकर अकारलोप से पञ्चखट्वी है।

प्रामार्थ में वही सूत्र से समान ग्राम की उपसर्जन संज्ञा पूर्वनिपात वहाँ अर्थ शब्द पुक्ति है, अतः ‘अर्थम्,’ सूत्र की अप्रवृत्ति है। अवयवी वाचक शब्द एकवचनान्त नहीं अतः ‘अर्थपिप्पली नाम्’ यहाँ समासभाव है। यहाँ नपुंसक ग्रहण अर्थ है समांशवाचक नित्यनपुंसक है ही, वह अर्थ होकर शापन करता है कि ‘सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्’ परिभाषा।

७१५ द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् २।२।३।

एतान्येकदेशिना सह प्राग्वद्वा । द्वितीय मिश्राया - द्वितीयमिश्रा । एकदेशिना किम् द्वितीय मिश्राया मिश्रुकस्य । अन्यतस्याग्रहणसामर्थ्यात् पूरणगुणोति निषेध बाधित्वा पक्षे पष्ठीसमासः । मिश्राद्वितीयम् ।

सुबन्त द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एव तुर्य का सुबन्त अवयवा के साथ विकल्प समास होता है मिश्रा का दूसरा अर्थ, यहाँ मिश्रा अस् द्वितीय स समासादिक्रय से द्वितीय मिश्रा पक्ष में ‘द्वितीय मिश्राया’ । मिश्रुक की मिश्रा का द्वितीय अर्थ यहाँ ‘द्वितीय मिश्राया मिश्रुकस्य’ मिश्रा अवयवी

वाचक नहीं अतः समास यहाँ न हुआ। अन्यतरस्यां ग्रहण यहाँ एकार्थीभावात्मिका शक्ति में समास विकल्पार्थ है, अतः इससे समासामात्र पक्ष में 'पूरणसुण' से प्राप्त समास निषेध को बाधकर पद्योत्पत्त्युपपत्ति होता है, भिक्षा का इसमें पूर्वनिषेध है - भिक्षाद्वितीयम् । भिक्षा का दूसरा भाग = अंश ।

७१६ प्राप्तापन्ने च द्वितीयया २।२।४।

पक्षे द्वितीया श्रितेति समासः । प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः । जीविकाप्राप्तः । आपन्नजीविकः, जीविकापन्नः । इह सूत्रे द्वितीयया अ इति द्वित्त्वा अकारोऽपि विधीयते । तेन जीविकां प्राप्ता स्त्री प्राप्तजीविका । आपन्नजीविका ।

सुबन्त प्राप्त एवं आपन्न का द्वितीयान्न के साथ समास होता है । पक्षमें द्वितीया श्रित से समास होता है । जीविकां प्राप्तः—प्राप्तजीविकः 'गोत्रिचोः' से आकार का ड़रव । पक्ष में जीविकाप्राप्तः । जीविकान् आपन्नः आपन्नजीविकः पक्ष में जीविकापन्नः । इस सूत्रमें अकार पृथक् कर अकार भी इसका विधेय है, यहाँ स्त्रीवाचक प्राप्ता एवं आपन्ना का आकार को अकारादेश होकर जीविकां प्राप्ता, जीविकान् आपन्ना स्त्री यहाँ प्राप्तजीविका, आपन्नजीविका हुआ है, अकार पदच्छेद में शिष्टकृत व्याख्यान शरण है ।

६१७ कालाः परिमाणिना २।२।५।

परिच्छेद्यवाचिना सुबन्तेन मह कालाः समस्यन्ते । मासो जातस्य यस्य स मासजातः । द्वयहजातः । द्वयोरहोः समाहारो द्वयहः । द्वयहो जातस्येति विग्रहे । ऋउत्तरपदेन परिमाणिना द्विगोः सिद्धये बहूनां तत्पुरुषस्योपसंख्यानमर्हति ।

द्वे अहनी जातस्य स द्वयहजातः, 'अहोऽहः' इति वक्ष्यमाणोऽह्नादेशः । पूर्वत्र तु 'न सख्यादेः समाहार' इति निषेधः ।

सुबन्त परिच्छेद्य वाचक के साथ कालवाचक सुबन्त का समास होता है । जिस बालक को उत्पन्न हुए एक मास हुआ इस अर्थ में 'जातस्य मासः' यहाँ लौकिक विग्रह है । यस्य पठित बहुव्रीहि नहीं है, 'स' समस्त शब्द स्वरूप का परिचायक है, अन्यथा बहुव्रीहि की भ्रान्ति प्रसक्त होगी । मास अन्तर्जात तु यह अलौकिक विग्रह वाच्य है, समास मासजातः । जातस्य द्वयहः इति द्वयहजातः संख्यावाचक द्विशब्द आदि में है, अहन् अहदेश न हुआ 'न संख्यादेः' से निषेध है । द्वयोः अहोः मनाहारः द्वहः । द्वि अहन् टन् टिलोप जानन्य द्वयहः इति द्वयहजातः । परिमाण वाचक उत्तरपद के साथ द्विगुसमानता । सिद्धि के लिए अनेक (बहुत्र) पदों का तत्पुरुष समास होता है । द्वि अहनी जातस्य यहाँ द्वि औ अहन् औ जात अस् यहाँ उत्तरपद परिमाण वाचक जात है, अतः त्रिपदतत्पुरुष समासकर विभक्ति लोप के बाद प्रत्यय लक्षण से सुबन्त मानकर द्वि अहन् का तद्वितीयोत्तरपदे से द्विगुसमास हुआ है । यहाँ 'अहोऽह' से अहदेश हुआ है ।

७१८ सप्तमी शौण्डैः २।२।४०।

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वद् वा । अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः । अधिशब्दोऽत्र पठ्यते । अव्युत्तरपदादिति न्वः । ईश्वराधीनः ।

शौण्डादिगण पठित सुबन्त शब्दों के साथ सप्तम्यन्त का विकल्प से समास होता है । पासा खेलने में पूर्ण यहाँ 'अक्षेषु शौण्डः' अक्षशौण्डः यहाँ श्रुति के अन्तर्भूत प्रसक्ति आदि क्रियाओं का

आपेक्षकर अज्ञादि को आधारत्व मानना । अशुभूर्त । खीर्त । खीकितव । यहाँ सूत्र में बहुवचन से गगनाठ का ग्रहण है । शीष्वादिगण में अधिशब्द का भी पाठ है ईश्वरे अधि ईश्वराधि से सप्रत्यय, ख को इन ईश्वराधीन ।

७१९ सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च २।१।४१।

एतै सप्रम्यन्त प्राग्वत् । साङ्कारयसिद्ध । आतपशुक् । स्थालीपाक । चक्रबन्ध ।

सप्रम्यन्त का सुवन्त सिद्ध शुष्क पक्व बन्ध के साथ समास होता है । साकारसप्तम्यन्त से मवार्यन्त्यप्रत्यय से साकारय । तत्र सिद्ध यहा समास है । आतपे शुष्क-यहा समास । स्थाल्यापाक-स्थालीपाक, चक्रे बन्ध समास चक्रबन्ध इससे हुआ है ।

७१० घ्राङ्क्षेण क्षेपे २।१।४२।

घ्राङ्क्षुवाचिना सह सप्रम्यन्त समस्यते निन्त्रायाम् । तीर्थे घ्राङ्क्षु इय तीर्थ-घ्राङ्क्षु, तीर्थकाक (इत्यर्थ) ।

निन्त्रा प्रतीयमान रहते सुवन्त घ्राङ्क्षुवाचि के साथ सप्रम्यन्त का समास होता है । तीर्थे (तरन्ति पितरः यत्र स्नानश्रद्धादिना तत् तीर्थम्) घ्राङ्क्षु इव इति तीर्थघ्राङ्क्षु तीर्थकाक की तरह यात्रियों से अन्ध व्यवहार करनेवाले राजा । जो भूतंता ॥ यात्रियों को ठगते हैं ।

७२१ कृत्यैर्ऋणे २।१।४३।

सप्रम्यन्त कृत्यप्रत्ययान्तै सह प्राग्वद् आवश्यकै । मासेदेयम् ऋणम् । ऋणग्रहण नियोगोपलक्षणम् । पूर्वाङ्गे गेय साम ।

आवश्यक अर्थ गम्यमान रहते सुवन्त कृत्यप्रत्ययान्त के साथ सप्रम्यन्त का समास होता है । मास व्यतीत होने हो अवश्य देय करने है, यहा मासे देयम् ऋणम् । वा यद ऋण देय आवश्यक अर्थ के उपलक्षणार्थ सूत्र में ऋण ग्रहण है साममन्त्रों का पूर्वाङ्ग में गेय आवश्यक है, पूर्वाङ्गे गेयम् साम । जहा अनावश्यकता प्रतीयमान रहता है वहा समासमात्र से 'मासे देया' मित्रा ऐता अममन्तरूप रहता है ।

७२२ सज्ञायाम् २।१।४४।

सप्रम्यन्त सुपा प्राग्वत् मज्ञायाम् । वाक्येन सज्ञाया अनयगमात् नित्यसमासोऽयम् । अरण्येतिलका । यनेकसेरुका । हलदन्तादिति सप्रम्या अलुक् ।

सज्ञा में सुवन्त के साथ सप्रम्यन्त का समास होता है । वाक्य से मज्ञास्वर अर्थ को प्रतीति नहीं है अतः विग्रह होने दुबे भी नित्यसमास मन्त्र है । उदाहरण दोनों में समास होने पर 'सुपो धातुप्रतिपदिवयो' से उक्त न हुआ, उसका वाक्य सूत्र है—'हलन्ताव' उसमें अलुक् मन्त्र है । वे दोनों किसीके नाम है, वह अन्वेष्य है ।

७२३ केनाहोरात्राययाः २।१।४५।

अहो रात्रेश्चान्वया सप्रम्यन्ता क्चन्तेन सह प्राग्वत् । पूर्वाह्नकृतम् । अपररात्रकृतम् । अयवग्रहण क्रिप्, अद्धि दृष्टम् ।

अद्न् एवं रात्रि के अवयव वाचक सप्तम्यन्त का सुवन्त कान्तके साथ समास होता है। यथा पूर्वाणि कृतम्, अपररात्रौ कृतम् यहाँ समास विभक्ति का लुक्। पूर्वादकृतम्, अपरात्रकृतम्। दिवस नै इष्ट यहाँ समास का अभावार्थ सूत्र में अवयवग्रहण किया है, अहि दृष्टम्।

७२४ तत्र २।१।४६।

तत्रेत्येतत्सप्तम्यन्तं कान्तेन सह प्राग्वत्। तत्रभुक्तम्।

तत्र यह सप्तम्यन्त का सुवन्त कान्तके साथ समास होता है। तत्र भुक्तम् इति तत्र भुक्तम्। यहाँ समास एवं समासामाव में भी रूप समान है किन्तु समास से एकपद स्वर आदि अनेक फल है। तत्र भुक्तस्यापत्यम् तात्रभुक्तिः। यह भी फल है।

७२५ क्षेपे २।१।४७।

सप्तम्यन्तं कान्तेन सह प्राग्वत्। निन्दायाम्। अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत्।

निन्दा अर्थ गम्यमान रहे वहाँ सुवन्त कान्त का समास होता है। एक तो नकुल (नील) न्मावनः अक्षल उसमें भी उसको तप्त स्थान में रखने पर तो मृदाचक्षुल होता है उसी प्रकार तुन्दारों यहाँ स्थिति अत्यन्त अनिश्चित सी है। इससे निन्दा ध्वनित हुए अवनतेनकुलस्थितम् का समास कर तत्पुरुषे कृति बहुलम् से सप्तमी का अलुक् है। यहाँ यद्यपि कान्त तदादि स्थित है किन्तु कारक विशिष्ट नकुल स्थित में कृद्ग्रहण परिमाणा से कान्ततदादित्व आरोप से कान्त तदादि नकुलस्थित को मान कर सप्तम्यन्त का यहाँ समास है।

७२६ पात्रेसमितादयश्च २।१।४८।

एते निपात्यन्ते क्षेपे। पात्रेसमिताः। भोजनकालसमये सङ्कता न तु कार्ये। गेहेशूरः। गेहेनर्दी। आकृतिगणोऽयम्। चकारोऽवधारणार्थः। तेनैपां समाप्तान्तरे घटकतया प्रवेशो न। परमाः पात्रे समिताः।

निन्दा गम्यमान रहते पात्रे समितादिगणपठितों का समास एवं विभक्ति का अलुक् एवं चकार से इन समास युक्त का अन्य समास में अवयवत्व ने प्रवेश नहीं वहाँ वाक्य ही रहेगा। भोजन समय उपस्थित रहते हैं, कार्यकरण समय नहीं यहाँ समास अलुक् से 'पात्रे समिताः' हुआ उसी प्रकार घर में ही शीर्ष का प्रदर्शन करने वाला, अन्यत्र नहीं-गेहेशूरः। घर में गर्जन करने वाला गेहेनर्दी। परमाश्च ते पात्रेसमिताः यहाँ समानाधिकरण तत्पुरुषरूप कर्मधारय समास न हुआ किन्तु चकार बल से वाक्य ही रहा।

७२७ पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन २।१।४९।

विशेषणं विशेष्येणेति सिद्धे पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम्। एकशब्दस्य दिक्-संख्ये संज्ञायाम् इति नियमवाचनार्थश्च। पूर्व स्नातः पश्चादनुलिप्तः स्नानानु-लिप्तः। एकनायः। सर्वयाज्ञिकाः। जरन्मैत्र्यायिकाः। पुराणमीमांसकाः। नवपाठकाः। केवलवैयाकरणाः।

सुबन्त पूर्व, काल, एक, सर्व, जरा, पुराण, नव एव केवल का समानविभक्तिक एवं समानार्थक सुबन्त के साथ समास होता है। यहाँ 'विशेषणम्' सूत्र ॥ समास सिद्ध हो था, यह पूर्वोक्ति की उपसर्जन द्वारा पूर्व निपातार्थ है। एवं एकशब्द का 'दिक् सख्ये' नियम से अप्राप्त समासविध्यर्थ है। स्नातश्चासौ अनुष्ठितश्च स्नातानुष्ठित 'पूर्वम्' 'पश्चात्' का विग्रहवाक्य में प्रवेश नहीं है, अन्यथा उनका लोपार्थ अपूर्ववचन करना पड़ेगा, प्रथम स्नान किया युक्त आदि अर्थ प्रकरणादि-गम्य है। एकश्चासौ नायश्च स्कनाय सर्वे यादविका इति सर्वयादविकाः आदि। मृदावस्यायुक्त नैयायिक। प्राचीनमीमांसा शास्त्र के पढ़ने वाले। जरन्नेयायिका। पुराणमीमांसकाः। आदि।

७२८ दिक्संख्ये संज्ञायाम् २।१।५०।

समानाधिकरणेनेत्यापात्रपरिसमाप्तेरधिकारः। संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। पूर्वपुष्कामशमी। सप्तर्षयः। नेह—उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः।

संज्ञा में दिक् एवं सख्यावाचक का समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास होता है। प्रथमपाद जब तक समास न हो जाय तब तक समानाधिकरण शब्द का अधिकार है। 'विशेषण विशेष्येण' से समास सिद्ध था यह सूत्र नियमार्थ है—संज्ञा में ही दिक् वाचक एवं सख्यावाचक का समास होता है, अन्यत्र नहीं। इस नियम का फल यह है कि उत्तरा वृक्षाः, पञ्च ब्राह्मणाः, यहाँ संज्ञा न होने समासमात्र हुआ। एवं पूर्वा वासी एषुकामशमी व यहाँ संज्ञा होने से समास कर 'पूर्वपुष्काम-शमी' एवं सप्त व त ऋषयः सप्तर्षयः। यहाँ समास हुआ वे दोनों समस्त संज्ञावाचक है।

७२९ तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च २।१।५१।

तद्वितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः, समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्राग्वद् वा। पूषस्या शालाया भवः पौषशालः। समासे कृते 'दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां वः' इति वः। ऋसर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्वाव ऋ। आपरशालः। पूर्वा शाला प्रिया यस्येति त्रिपदे बहुव्रीही कृते प्रियाशब्दे उत्तरपदे पूर्वयोस्तत्पुरुषः। तेन शाला-शब्दे आकार उदात्तः। पूर्वशालाप्रिया। दिक्षु समासो नास्त्यनभिधानात्। सख्यायास्तद्वितार्थे—पण्णा मातृणाम् अपत्यं पाणमातुरः। पञ्च गायो घन यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहावचान्तरतत्पुरुषस्य विकल्पे प्राप्तेः द्वन्द्वतत्पुरुषयो-रुत्तरपदे नित्यसमासवचनमृक्षे।

यहाँ दिक् सख्या की अनुवृत्ति है। तद्वितार्थे में विषयसप्तमी है। तद्वितप्रत्ययका अर्थ प्रती-यमान रहें। एवं समासोत्तर तद्वितप्रत्यय उत्पन्न होना हो वह तद्वितार्थ विषय है। हम सूत्र के पाँच उदाहरण दिये जाते हैं १—तद्वितार्थ विषय में दिग् वाचक का २—तद्वितार्थ में सख्यावाचक का ३—उत्तरपदपरक दिक्वाचक का समास एवं ४—उत्तरपदपरकसख्या वाचक का समाहार नहीं है अनभिधान से अत्र सख्या का ही समाहार का उदाहरण है।

सूत्रार्थ—तद्वितार्थ विषय में, उत्तरपद पर रहने और समाहार में दिग् वाचक सुबन्त एवं सख्यावाचक सुबन्त का विषय से समास होना है। यथा पूर्वस्या शालाया भवः हम अर्थ में पूर्वा छि शाला छि यहाँ तद्वितप्रत्यय का भव अर्थ प्रतीयमान प्रथमसे है, समास विभक्तिक का पूर्वा शाला यहाँ दिक् पूर्वपदात् सूत्रसे अपत्यय आदिवृद्धि शाला का आकार का यस्येति व से छीप

‘सर्वनान्तः’ से पूर्वा का पुंवद्भाव से टाप् की निवृत्ति पीवशालः। अपरस्त्वां शालायां भवः उत्ती प्रकार आपरशालः। उत्तरपदपरक का उदाहरण—पूर्वा शाला प्रिया यस्य यहाँ पूर्वा नु शाला नु प्रिया नु ‘अनेकम्’ सूत्रसे त्रिपदबहुव्रीहि विभक्ति का लोप पूर्वाशालाप्रिया, यहाँ उत्तरपद शब्द पर रहने प्रत्ययलक्षण से पूर्व दो पदों को सुबन्त मानकर तत्पुरुषसमास हुआ, पुंवद्भाव से पूर्व के वाच के टाप् की निवृत्ति पूर्वशाला के आकार तत्पुरुष समास का अन्त होने से एस्व पूर्वशाला-प्रिया अन्तिम आकार का एस्व ‘पूर्वशालाप्रियाः’। दिक्वाचक का समाहार नहीं है, शिष्टप्रयोग नहीं मिलता। यह दो दिक्वाचक के समाहार में उदाहरण दिये गये हैं।

संख्यायास्तद्धितार्थे—यथा पष् आन् मातृ आन् अपत्य अर्थे गम्यमान है समास, विभक्ति लुक् अपत्यार्थक अणप्रत्यय। मातृका ऋकार को उकार रपर आदि वृद्धि पाणमातुरः। कुमार कार्ति-कत्वाभी शंकरजी के ज्येष्ठ पुत्र। पञ्चन् अस् गो अस् धन नु त्रिपदबहुव्रीहि के पश्चात् अवा-न्तर तत्पुरुष इससे प्राप्त था उसको बाध करने के लिए वार्तिक यह है कि उत्तरपद पर में रहने द्वन्द्व एवं तत्पुरुषसमास नित्य होता है, पञ्चगोधन में गोन्ततत्पुरुष से टच् करने का वक्ष्यमाण सूत्र है।

७३० गोरतद्धितलुकि ५।५।९२।

गोऽन्तात् तत्पुरुषाट् टच् स्यात् समासान्तो न तद्धितलुकि। पञ्चगवधनः।

गोशब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है, तद्धितलुक् में नहीं। पञ्चगोधन यहाँ टच् ओकार को अवादेश पञ्चगवधनः, विभक्ति लुक् टच् पञ्चगवम्।

७३१ सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः २।१।५२।

तद्धितार्थेत्यत्रोक्तसंख्यापूर्वो द्विगुः स्यात्।

तद्धितार्थ से विहित जो त्रिविध समास उसमें संख्या वाचक शब्द पूर्वपद रहे तो उस समास का नाम द्विगु समास है। इससे द्विगुसंज्ञा करके—

७३२ द्विगुरेकवचनम् २।१।१।

द्विग्वर्थः समाहार एकवत् स्यात्। स नपुंसकमिति नपुंसकत्वम्। पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम्।

पञ्चगव को द्विगुसंज्ञा, तथा एकवत्, एवं नपुंसकत्व होता है। पञ्चानाम् गवां समाहारः यहाँ पञ्चन् आन् गो आन् समास।

७३३ कुत्सितानि कुत्सनैः २।१।५३।

कुत्स्यमानानि कुत्सनैः सह प्राग्वत्। वैयाकरणखसूचिः। मीमांसकदुर्दुरुटः।

निन्दावाचक शब्द के साथ कुत्स्यमान (निन्दापात्र) सुबन्त का समास होता है। वैयाकरण-श्राप्ता नमूचिश्चेति वैयाकरण नु खसूचि नु समास, विभक्तिलुक् वैयाकरणखसूचिः। मीमांसकश्चासी दुर्दुरुटश्चेति समास-मीमांसकदुर्दुरुटः। व्याकरणशास्त्र का अध्येता या श्रोता को वैयाकरण कहते हैं। उससे किसी ने व्याकरण विद्या विषयक प्रश्न पूछा, किन्तु उत्तर न आने पर मूढ प्रश्न को गोल करने के लिए वह आकाश को नूचित करता है एवं कहता है कि बादल से आकाश आच्छादित हो रहा है, इस प्रकार अप्रासङ्गिक बातें से अपनी अन्यासाभावप्रयुक्त मूर्खता छिपाने का

यह यत्न करता है वह निन्दा में ऐसा प्रयोग होता है “य एष्ट” सन् प्रश्न विस्मारयितुं ख सूचयति, अम्यासवैधुषाव, न तु व्याकरणशास्त्र निन्दितम्, वेदाङ्गेषु तस्य प्राधान्यात् । तज्ज्ञाताऽपि न निन्दितोऽस्तीति । व्याकरण के विषय में—

‘तद्वद्धारमपन’स्य वाच्यमन्या चिकित्सकम् ।

यत्र सर्वविधानामधिविध प्रसारते ।

इयं सा मोक्ष्यमाणानामगिह्य राजपदति ।

व्याकरणप्रदायज्ञानद्वारा वेदादि के अर्थज्ञानद्वारा तदनुकूल अनुष्ठान अन्य मोक्षप्राप्ति में प्रधान द्वारस्वरूप है । नागी के भूलों का व्याकरण चिकित्सा शास्त्र की तरह चिकित्सक है मोक्षे प्राप्ति के इच्छुकों के छिप सरल राजमार्ग है । मोमासाशास्त्र उसके छाता की मोमासक कहते हैं मोमासा पदकर अज्ञानवश ईश्वर का खण्डनार्थ कुतर्क करता है यहाँ निन्दा गम्यमान है—मोमासक दुर्लभ ।

७३४ पाणाणके कुत्सितैः २।१।५४।

पूर्वसूत्रापवादः । पापनापित । अणककुलालः ।

कुत्सित वाचक सुबन्त के साथ सुबन्त पाप एवं अणक का समास होता है । यह पूर्व सूत्रका निषेधक है । पापव्याप्ती नापित, अणकव्याप्ती कुलाल, यहाँ समास एवं विभक्ति लुक् पाप एवं अणक की उपसर्गन सहा, पूर्वनिपात पापनापित = दुष्टनापित जो खीर कर्म उचित प्रकार से नहीं परता है । एवं दुष्ट कुहार जो मिट्टी के पात्रों को उचित दग से नहीं बनाता है अणककुलाल । उप मित समास प्रदर्शन—

७३५ उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५।

घन इव श्यामो घनश्याम । इह पूर्वपद तत्सदृशो लाक्षणिकमिति सूचयितुं लौकिकविमर्हे इवशब्द प्रयुज्यते । पूर्वनिपातनियमार्थं सूत्रम् ।

उप उपमा पूर्वक मात्से वरण में सुदृग्स्थय एवं प्रादिसमास । उपमान शब्द = उपमीयते येन तद् उपमानम् = जिससे अन्य वस्तु सादृश्य से परिच्छिन्न हो । यथा माय की तरह गवय है, यहाँ गो करण सादृश्य हेतु, पुरुष परिच्छेदक है वह गो सादृश्य है । गवय को परिच्छिन्नति व्यावर्तयति । उपमान एवं उपमेय उभय वृत्ति साधारण धर्म को सामान्यवचन कहते हैं । सूत्रार्थ— उपमा उपमेय उभय साधारण धर्म वाचक सुबन्त के साथ उपमान वाचक सुबन्त का समास होता है । यथा मेघ उपमानवाचक है, उपमेय विष्णु है, इन दोनों में श्यामत्व है, अतः श्याम-सुबन्त का मेघ सुबन्त का समास हुआ—घनश्यामी श्यामश्च इति घनश्याम । यद्वा घनपद लक्षणावृत्ति से या अप्रसिद्ध शक्ति से घनमदृश में लाक्षणिक है इसी अर्थ चोतनार्थ इव का प्रयोग किया, किंतु इव का विग्रहवाच्य में घटकतया प्रवेश नहीं है । यहाँ श्यामत्व गुण है, वह गुणी (द्रव्य) भेद से भिन्न है घनवृत्तिश्यामत्व घन में ही है वह विष्णु में नहीं है, विष्णुवृत्ति श्यामत्व गुण विष्णु में ही है मेघ में नहीं अतः यहाँ यह अर्थ करना घनवृत्ति जो श्यामत्व तत्समान जो श्यामत्व वह श्रीकृष्ण वृत्ति है । अथवा सादृश्यमूलक भेद का अभाव है । यह उपमान वाचक का पूर्वनिपात का नियमन करता है । अन्यथा अनियम होगा, यथा—खजकुम्भ, कुम्भखज । की तरह । एवं प्रतिपदाक ही उपमान समास का प्रवृत्ति द्वारा ‘तत्पुरुषे तुल्या’ से प्रकृति स्वरप्रवृत्तिरूप भी इसका प्रयोजन है । यहाँ समानाधिकरण का सम्बन्ध है, प्रकृत में जो घनसदृश है

वह विष्णु एवं विष्णु ही घनसदृश दोनों का एकार्थबोधकाव है। अतः नृगो चासौ चपला यहाँ समानाधिकरण चपला पर रहते पुंवद्भाव से 'नृगचपला' हुआ। यहाँ इयानत्व या चपलत्व साधारण धर्म है।

७३६ उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २।१।५५।

उपमेयं व्याघ्रादिभिः सह प्राग्वत् साधारणधर्मस्याप्रयोगे सति। विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं सूत्रम्। पुरुषव्याघ्रः। नृसोमः। व्याघ्रादिराकृतिगणः। सामान्याप्रयोगे किम्?। पुरुषो व्याघ्र इव शूरः।

उपमेय एवं उपमित दोनों समानार्थक हैं। उपमेय उपमान में नित्यसाक्षात् है, अतः उपमान का यहाँ आक्षेप अर्थात् पक्षिरूपदार्शनिक सम्मत प्रमाण से होता है। उपमान = व्याघ्रादि, उपमेय पुरुषादि हैं। किन्तु उपमान एवं उपमेयवृत्ति साधारण धर्मवाचक शब्द अप्रयुक्त रहें।

सूत्रार्थ—सुबन्त उपमेय का उपमान वाचक सुबन्त व्याघ्रादि शब्दों के साथ समास होता है, जहाँ उभयवृत्ति धर्म वाचक शब्द का अप्रयोग रहे। यह सूत्र उपमेय प्रमान्त बोध्य विशेष्य वाचक की उपसर्जनसंज्ञा द्वारा विशेष्य का पूर्वनिपातार्थ है। व्याघ्रधासी पुरुषश्चेति पुरुष—व्याघ्रः। यहाँ पुरुषार्थ विशेष्य है वही उपमेय है, व्याघ्र = सिद्ध उपमान है, उभयवृत्ति धर्म शूरत्व क्रूरत्वादि उनका वाचक शूर या क्रूर उसका यहाँ अप्रयोग है, समास हुआ। सोमधासी ना इति नृसोमः। आजादकत्व-शीतत्व-निर्मलत्वादि धर्म से उभय का सादृश्य है, समास से नृसोमः। व्याघ्रादि आकृतिगण हैं। सामान्याप्रयोगे का प्रयोजन—पुरुषो व्याघ्र, इव शूरः। यहाँ उपमान एवं उपमेय उभयवृत्ति साधारणधर्म शूरत्व तद्वाचक शूरशब्द का प्रयोग है अतः वाक्य ही रहा, समास न हुआ।

यहाँ यह शङ्का हुई कि पुरुषपदार्थ शूर पदार्थ में सापेक्ष है सापेक्षस्थल में एकार्थीभावस्वरूप सामर्थ्य की स्थिति नहीं; अतः समास अप्राप्त है, अप्राप्त का निषेध अनुचित है, सूत्र में सामान्याप्रयोग ग्रहण क्यों किया?

सापेक्ष स्थल में दो प्रकार हैं, नित्यसापेक्षस्थल में सामर्थ्य की स्थिति मानकर समास करना यथा देवदत्तस्य गुरुकुलम्। दूसरा प्रकार यह है—प्रधानाभूत अर्थ = विशेष्यार्थ वह पदार्थान्तर में सापेक्ष रहे वहाँ एकार्थीभावस्वरूप सामर्थ्य की स्थिति रहती ही है। इस दूसरे पक्ष में वही 'सामान्याग्रहणे' प्रमाण है।

७३७ विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।५७।

भेदकं समानाधिकरणेन भेदेन बहुलं प्राग्वत्। नीलमुत्पलं नीलोत्पलम्। बहुलग्रहणात्कचित्रित्यम्। कृष्णसर्पः। कचित्र, रामो जामदग्न्यः।

विपूर्वक शिष् पातु से कर्तृत्व की अधिवक्षा से करण में ल्युट् प्रत्यय है। विशिष्यत्वे येन इति विशेषणम् = त्वयं रदकर अन्य की व्यावृत्ति करे उसको विशेषण कर्त्ते हैं, अर्थात् व्यावर्तक = रोकने वाला उसको भेदक भी कहा जाता है। जो व्यावृत्ति किया करता है अर्थात् रोकता है उसको व्यावर्त्य = भेद = विशेष्य कहा जाता है। यहाँ एकार्थ बोधकत्वरूप समानाधिकरण का सम्बन्ध है। सुप् एवं लुपा का एवं सामर्थ्य का भी सम्बन्ध है। विपमानत्वे सति व्यावर्तकत्वम् = विशेषणत्वम् यह परिभाषा हुई। व्यावर्त्य—व्यावर्तक = विशेष्य-विशेषण सुबन्त का समास होता है।

सूत्रार्थ—सुवन्त भेदक का समर्थ सुवन्त भेव का विकल्प से समानाधिकरण तत्पुरुष समास होता है। नीलश्च तत् कमलम् = नीलकमलम्। यहाँ नील का नीलगुणाश्रय अर्थ है, नील शब्द से मतुप् का 'गुणवचनेभ्य' से लुक् है, 'य शिष्यते स छुप्यमानार्थमिधाधी' न्याय से। नीलगुणाश्रय से अमित्र उत्पल = कमल है, नील विशेषण रत्नादि की व्यावृत्ति करता हुआ उत्पल में स्थित है। पक्ष में 'नीलम् उत्पलम्' वाक्य है। बहुत ग्रहण से विमवादाधिकार है तथापि कश्चित् नित्यसमास होता है, यथा कृष्णसर्पः। कहीं बहुत से समासाभाव भी होता है, अन्य राम की व्यावृत्ति के लिए परशुराम का बोधार्थ विशेषण वाचक जामदग्न्य दिया, राम विशेष्य है समास न हुआ, वाक्य ही रहा। अनेक राम हैं।

अब यहाँ दृष्टा होनी है कि 'पाचकपाठक' 'पाठकपाचक' के समान विशेषण विशेष्य कामचार है, अतः उत्पल को विशेषणत्व नील को विशेष्यत्वको विकल्पा से कमल अर्थ से समकार्य से अमित्र-नीलार्थ इस प्रकार अर्थबोध में 'उत्पलनीलम्' भी होना चाहिये?, समाधान—जाति का गुण पक्ष क्रिया से सन्निधान में विशेष्यसमर्पकता ही रहती है। यथा-नीलोत्पलम्। पाचकमात्रम्। गुण एव गुण उनके वाचक में अनिवार्य है, यथेष्ट विशेष्य विशेषणभाव है।

७३८ पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमरीराश्च २।१।५८।

पूर्वनिपातनियमार्थमिदम्। पूर्ववैयाकरणः। अपराध्यापकः। अपरस्यार्थे पञ्चभावो वक्तव्यः। अपराध्याप्तावर्धश्च पञ्चार्थः। कयमेकवीर इति?, 'पूर्वकालैक' इति याचित्वा परत्वादानेन समासे वीरैक इति हि स्यात्। बहुल-ग्रहणाद् भविष्यति।

सूत्रतः पूर्वपर, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम एवं वीर का समानाधिकरण (विशेष्य) वाचक के साथ विकल्प से समास होता है। यह पूर्वोक्तियों की उपसर्जनसहा प्रतिपादन करवाता हुआ इनका ही पूर्वनिपात को बोधन करता है। पूर्वधातो वैयाकरण इति पूर्ववैयाकरण। अपराध्याप्ता अध्यापकश्चेति अपराध्यापकः। लघ्वशब्द उत्तरपदने रहते अपर को पक्ष आदेश होता है। यथा अपराध्याप्ता अध्यापकश्चार्थः। यहाँ शङ्का करते हैं कि 'एकवीर' कैसे सिद्ध हुआ?, यहाँ 'पूर्वकालैक' सूत्र से शास्त्र समास को यह परत्वात् वाच कर स्वयं समास करने पर 'वीरैक' होना उचित है, किन्तु यहाँ पूर्वसूत्र से बहुत का सम्बन्ध है, अतः इससे समास न हुआ। अथवा एवैषु = सृष्ट्वैषु वीरयते = पराक्रमते इति एकवीर इति,। 'बहुलकाद् भविष्यति' ऐसा भी पाठ प्राचीन पुस्तकों में है।

७३९ श्रेण्यादयः कृतादिभिः २।१।५९।

श्रेण्यादिषु ऋण्यर्थवचन वक्तव्यम्। अश्रेणय श्रेणय कृता श्रेणीकृता। प्रथम आदि शब्द व्यवस्थानाची हैं, द्वितीय आदि शब्द प्रकारार्थक हैं। एक पण्य या शिखर से जो जावननिर्वाह करते हैं उनका समुदाय को श्रेणि कहते हैं। है, कृतादि अकृतमण्य है, माध्य प्रमाण इसमें है। कृत मित भूत आदि शब्द हैं।

श्रेण्यादि = एक, पुनः, कुन्द, शशि, विशिख, निचय, निषय आदि। जहाँ अभूततद्भाव रहें = अर्थात् जो घटना नहीं हुई उसका कथन। जहाँ इनकी श्रेणी सम्बन्ध सम्पादित वास्तविक है,

वहां इससे समास नहीं होता है। न श्रेणयः, -अश्रेणयः, अश्रेणयः श्रेणयः कृता इति श्रेणीकृताः = एक शिल्प = कला या पण्य = विक्रीयन्तु उनसे जीवन न व्यतीत करने वालों को आरोप से श्रेणीकृत बोधन वहां किया गया है।

७४० तेन नञ्विशिष्टेनानञ् २।१।६०।

नञ्विशिष्टेन कान्तेन अनञ् कान्तं समस्यते। कृतञ्चाकृतञ्च कृता-कृतम्। श्लाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्। श्लाकाप्रियः पार्थिवः श्लाकपार्थिवः। देवपूजकः।

नञ् विशिष्ट के साथ नञ् बिहीन कान्त पद का समास होता है। यथा-कृताकृतम् = कुछ अंश में किया गया कार्य है, कुछ अंश में अवशिष्ट है।

सूत्र में विशिष्ट शब्द अवधारणार्थक है-नञ् मात्र ही अधिक रहें वहां समास, यहां न हुआ-सिद्धं च अनुक्तञ्च वाक्य ही रहा। यहां भाष्यवार्तिक है-“•नुटिदधिकेनापि वक्तव्यम्•। नुट् या इट् आगम अधिक रहे वहां भी इससे समास होता है। यथा-अशितञ्च अनशितञ्चाशितानशितम्। किल्लष्टाकलेशितम्। ‘किल्लशः कृत्त्वानिष्ठयोः’ से विकल्प इट् होता है।

श्लाकपार्थिवादि गण पठित शब्दों की सिद्धि के अनुकूल उत्तरपद का लोप होता है, यथा—श्लाकं प्रियं यस्य स श्लाकप्रियः, श्लाकप्रियश्चासौ पार्थिवः यहाँ पूर्वजात बहुव्रीहि समास के अन्त में प्रिय शब्द का लोप हुआ ‘श्लाकपार्थिवः’ एवम् देवप्रियश्चासौ ब्राह्मण, यहां प्रिय का लोपसे देवब्राह्मणः। पृथ्वी का स्वामी पार्थिव में ‘तत्त्वेश्वरः’ से अण् प्रत्यय है।

७४१ सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः २।१।६१।

सद्वैद्यः। वक्ष्यमाणेन महत् आकारः। महावैयाकरणः। पूज्यमानैः किम्, उत्कृष्टो गौः। पङ्कादुद्धृत इत्यर्थः।

पूज्यमान वाचक मुबन्त के साथ, सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट इन पदों का समास होता है, सञ् चासौ वैद्यः सद्वैद्यः। महान् चासौ वैयाकरणश्च यहां समास कर महत् के तकार को आकारादेश होकर ‘महावैयाकरणः’। कीच में फंसा हुआ बैल का उससे उद्धार किया गया वहां उत्कृष्ट का उद्धृत अर्थ है वए उव एवं गौः का समास पूज्यमान अर्थ के अभाव से न हुआ ‘उत्कृष्टो गौः’ वाक्य ही है। शब्दों के साथ समास में सदादि का ही पूर्णनिपातनियम यह सूत्र करता है।

७४२ वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् २।१।६२।

गोवृन्दारकः। व्याघ्रादेराकृतिगणत्वादेव सिद्धे सामान्यप्रयोगार्थं वचनम्।

मुबन्त वृन्दारक नाग एवं कुञ्जर के साथ पूज्यमानपद का समास होता है। सामान्य-वचन = उपमा एवं उपमेय वृत्ति का साधारण वाचक शब्द प्रयोग में समासार्थ यह सूत्र है, व्याघ्रादि आकृतिगण से वहां समास नहीं होता क्योंकि ‘उपमितम्’ सूत्र में ‘सामान्याप्रयोगे’ है।

७४३ कतरकतमौ जातिपरिग्रहे ७।२।६३।

कतरकठः। कतमकलापः। गोत्रञ्च चरणैः महेति जातित्वम्।

जातिविषयक प्रश्न रहें वहां समानाधिकरण के साथ कतरकतममुबन्त का समास होता है। आपके मध्यमें कठशलाघ्यायी कौन है?, यहां समास हुआ-कतरकठः। किन् शब्दसे कतरन् प्रत्यय

हे, वैशम्पायन का अन्तिवासी होने से कठ से णिनि प्रत्यय हुआ, उसका 'कठचरकास्तुक' से लुक् कठशाखाभ्यायो = कठ । यहाँ 'गोवज' से इसको 'वातिवाचकत्व' है ।

७४४ क्रि क्षेपे २।१।६४।

कुत्सितो राजा किराजा = यो न रक्षति ।

निम्ना की प्रतीति रहे बड़ा किन्तु सुबन्त का समानाधिकरण सुबन्त से समास होता है । प्रजा की रक्षा न करने वाला निच राजा में कुराजा अर्थ में 'किराजा' हुआ ।

७४५ पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनु रक्षावेहद्वक्कयणीप्रवक्तृ-
श्रोत्रियाभ्यापकधूर्तैर्जातिः २।१।६५।

सूत्र में पठित सुबन्त पोटोदि तेरह शब्दों का आतिवाचक समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास होता है ।

७४६ तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १।२।४२।

समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय सवा होती है ।

७४७ पुवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ६।३।४२।

कर्मधारये जातीयदेशीययोश्च परतो भाषितपुस्कात्पर ऊढभावो यस्मिं
स्तथाभूत पूर्व पुवत् । पूरणीप्रियादिषु अप्राप्त पुवद्भावो विधीयते । महानवमी ।
कृष्णचतुर्दशी । महप्रिया । तथा कोपघादे प्रतिषिद्ध पुवद्भाव कर्मधारयादौ
प्रतिप्रसूयते । पाचकका । दत्तभार्या । पञ्चमभार्या । सौघ्नभार्या । सुकशभार्या ।
प्राक्ष्णभार्या । एव पाचकजातीया । पाचकदेशीयेत्यादि । इभपोटा । पोटा =
खीपुसलक्षणा । इभपुषति । अग्निस्तोम । उदन्धितकतिपयम् । गृष्टि =
सकृत्प्रसूता । गोगृष्टि । घेनु = नवप्रसूतिका । गोघेनु । वशा=वन्ध्या, गोवशा ।
वेहत्=गर्भघातिनी, गोवेहत् । वक्कयणी=तरुणवत्सा, गोवक्कयणी । कठप्रवक्ता ।
कठाभ्यापक । कठधूर्त ।

कर्मधारय में जातीय एवं देशीय प्रत्यय के पर रहते भाषितपुस्क के उपर छल् का अभाव हो
जिसमें—देते स्त्रीवाचक पूर्वपद को पुवद्भाव होता है । इस सूत्र से पूरणी एवं प्रियादि उपर में
रहते अप्राप्त पुवद्भाव का विधान है । यथा महती जासी नवमी महानवमी यथा नवाना पूरणी
अर्थ में तस्य पूरणे ङट् से ङट्प्रत्यय कर 'नान्तादसक्यादेर्मट्' से मट आगम छीप् नवमी पूरणप्रत्य
यान्त है यहाँ महती का पुवद्भाव से ङीप् के इकार की निश्चित आकारादेशसे महानवमी । यहाँ
'प्रिया' सूत्रसे पुवद्भाव अप्राप्त था, उसका विधान यहाँ है । एवं कृष्ण जासी चतुर्दशी कृष्ण
चतुर्दशी में पुवद्भाव है । महती प्रिया यथा समाम पुवद्भाव है । एवं कोप में निषिद्ध 'न कोप
पाया' उसका यह बाधक है ऊक्त पुवद्भाव कोप में भी हुआ यथा—पाविका जासी स्त्री च पाचक-
स्त्री । महापूरण्योश्च में पुवद्भाव का निषेध को बाधकर पुवद्भाव इससे होता है यथा—दत्ता भार्या
इति दत्तभार्या । पञ्चमी भार्या इति पञ्चमभार्या । एवं शुद्धिनिमित्तस्य' से अप्राप्त पुवद्भाव का यह
बाधक है । यथा सौघ्नो भार्या सौघ्नभार्या । एवं 'स्वाज्ञाचनेत' से निषिद्ध पुवद्भाव का यह विधा

यक है, यथा नुक्शेर्माया इति नुक्शेर्माया । एवं जानेश्व से पुंवद्भाव का निषेध का यह प्रति-
प्रसव = वाचक है, यथा व्राजगी माया इति व्राजगमाया । एवं पाचिका प्रकारा यहाँ प्रकार अर्थ में
जातीयर् प्रत्यय है उसके उत्तर में रहते भी वाचक प्रकृति का पुंवद्भाव से पाचिका का पाचक
होकर 'पाचकजातीया' हुआ है । एवं ऽप्य पाचिका यहाँ देशीयर् प्रत्यय पर में पूर्व का पुंवद्भाव
से 'पाचकदेशीया' हुआ है । पीठा युवति से समास के एवं पुंवद्भाव नहीं प्राप्त है उसके उदाहरण
यथा-इभी चासी पीठा इति इमपीठा, समास एवं पुंवद्भाव । स्त्री एवं पुरुष दोनों के लक्षण से युक्ता
स्त्री को पीठा कहते हैं । इमी चासी युवतिः-इमयुवतिः । अग्निश्चासी स्तोकाः अग्निस्तोकाः समास ।
जल देने से बढ़ने वाला मट्टा को उदधिव कहते हैं संज्ञा में उदक को उद आदेश-'उदकान्योदः संज्ञा-
यान्' से, उदक उपपदकश्चि से किप् तुक् उपपद समासादि उदधिव का पयस् सुवन्त के साथ
समास है ।

गृष्टि उसका नाम है—प्रथम व्याहरी हुई । गौश्चासी गृष्टिश्च इति गौगृष्टिः । नूतनप्रसववाली को
धेनु कहते हैं गौश्चासी धेनुः = गोधेनुः । वन्ध्या को वशा कहने हैं, गोवशा में समास । गर्भ का नाश
करने वाली को वेष्ट्व कहते हैं । गोवेष्ट्व समास । तरुणवत्सवती को वन्ध्यायगी कहने हैं । कठ-
श्चासी श्रोत्रियः समास, कश्चासी धूर्तः समास । वेद का अध्ययन करता को श्रोत्रिय कहने हैं
छन्दस् शब्दसे घच् एवं श्रोत्रादेश थ को इय् श्रोत्रियः । सूत्र-श्रोत्रियश्छन्दोऽपीति । प्रवृत्तिनिमित्तकुत्सा
में ही 'कुत्सितानि' की प्रवृत्ति है, कठः का धूर्त उससे समास अप्राप्त था अतः समासविधानार्थं धूर्तपद
सार्थक है ।

७४८ प्रशंसावचनैश्च २।१।६६।

एतैः सह जातिः प्राग्वत् । गोमतल्लिका । गोमचर्चिका । गोप्रकाण्डम् ।
गत्रोद्धः । गोतल्लजः । प्रशस्ता गौरित्यर्थः । मतल्लिकादयो नियतलिङ्गा न तु
विशेष्यनिधनाः । जातिः किम्-कुमारी मतल्लिका ।

प्रशंसावाचक सुवन्तसामर्थ्ययुक्त शब्दों के साथ जातिवाचक सुवन्त पद का समास होता है ।
अमरादि कोश प्रमाण से मतल्लिका आदि शब्द प्रशंसार्थक हैं । गौश्चासी मतल्लिका इस प्रकार का
अन्यत्र भी विग्रह कर समास में उक्त स्त्रियों का सिद्धि है । यह श्रेष्ठ गाय अर्थ में है । प्रशंसावाचक इन
शब्दों का नियतलिङ्ग है, विशेष्य वाचक शब्दाधीन इनका लिङ्ग नहीं है, अर्थात् विशेष्य इनके लिङ्ग
का धोतक नहीं है, यहाँ उनका स्वतः न्यायतः प्राप्त लिङ्ग का नाशकर विशेष्याधीनविशेष्यगत
लिङ्ग के वे भागों न हूँ । अपना नियत लिङ्ग सुरक्षित हुआ । कुमारी शब्द जातिवाचक न होने
से मतल्लिका से समस्त रूप न हुआ, वाक्य ही रहा यथा 'कुमारी मतल्लिका' ।

७४९ युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः २।१।६७।

पूर्वनिपातनियमायै सूत्रम् । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया युवतिशब्दोऽपि सम-
स्यते । युवा खलतिः-युवखलतिः । युवतिः खलती-युवखलती । युवजरती ।
युवत्यामेव जरतीघर्मोपलम्भेन तद्रूपारोपान् ग्रामानाधिकरण्यम् ।

सुवन्त मनर्थं खलति, पलित, वलिन, एवं जरती के साथ सुवन्त युवन् शब्द का मनाम होता
है । यहाँ सूत्र में पुंस्त्वयुक्त पुल्लिङ्ग सुवन् शब्द का निर्देश है, अतः 'यूनगिनः' सूत्र में स्त्रीलिङ्ग
में विहित निप्रत्ययान्त युवति का समास अप्राप्त है, उससे दोषनार्थ 'प्रातिपदिकप्रत्यये लिङ्गविशिष्ट-
स्यापि ग्रहणम्' इस परिभाषा से युवन् से युवति का भी ग्रहण करना युवन् शब्दवृत्ति युवत्वधर्म युवति

में आरोप होता है। इसमें इसी सूत्रस्य जरती ग्रहण प्रमाण है तथाहि—बुद्धावस्था युक्ता स्त्री जरती है, वसका पुरुष युवकार्यक के साथ सामानाधिकरण्य = एकार्थबोधकत्व नहीं समास अप्राप्त है अतः जरतीव्यर्थ होकर शापक परिभाषा में 'अयमेव' में एवकार अप्यर्थ में है, यह भी शापक है। उत्तर सूत्र 'कुमार श्रवणादिभिः' सूत्र भी इस परिभाषा में शापक है, वह स्पष्ट वहा करेंगे। शिर के काल रहित को खलति कहते हैं। खल्वाट आश्रयवान् होता है, कोई निर्धन, अधिकांश खल्वाट धनी, पराक्रमी, होते हैं। युवखलति = युवा चासी खलति। युवविश्वासी खलती यहाँ समास एव 'क्षिया पुंवदभावित' सूत्र से पुंवदभावप्रयुक्त स्त्रीप्रत्यय ति की निवृत्ति हुई है युवखलति। रोमादिवश से अतीव दुर्बला युवति में वार्थक्य विह्व दिष्ट पढ़ने से उस स्त्री में जरतीत्वमारोप से युवति चासी जरती वहा दोनों पदार्थों का एकार्थबोधकत्वरूप सामानाधिकरण्य का ज्ञान कर समास एव पुंवदभाव से 'युवजरती' की सिद्धि हुई युवती से अभिन्ना वृद्धा रोगयुक्ता स्त्री यह अर्थ है।

७५० कृत्यतुल्याख्या अजात्या २।१।६८।

भोज्योष्णम् । तुल्यरवेतः । सदृशरवेतः । अजात्या किम्, भोज्य ओदनः । प्रतिषेधसामर्थ्याद् विशेषणममासोऽपि न ।

कृत्यशब्दक प्रत्यय है अन्त में जिसकी येमे शब्द एव सदृशार्थक शब्द का जातिवाचक भिन्न भुवन के साथ समास होता है। भुज् धातु से भक्ष्य अय में कर्म में भवत् गुण वृत्ताभाव से भोज्य = भोजनक्रिया कर्म, भोज्यस्त तत् वणम् च सामा भोज्योष्णम् । तुल्य श्वेन सदृश रवेन यहाँ समास है। भोज्य ओदन, यहा ओदनरव जातिवाचक ओदन है, अन्त समास न हुआ। वक्व ही रहा। 'भोज्य मध्ये' सूत्र ब्रुत्व का अभाव निपातन से करता है, अतः 'चो' सूत्र से यहा ब्रुत्व होकर भोज्यम् न हुआ, मध्य से भिन्न अर्थ में ब्रुव से भोज्यम् = राज्यम् होता है। अजात्या निषेध से इस निषेध विषय में विशेषण समास भी न हुआ। अन्यथा यह प्रतिषेध व्यर्थ होगा।

७५१ वर्णो वर्णेन २।१।६९।

समानाधिकरणेन सह प्राग्धन् । कृष्णसारङ्गः ।

समानाधिकरण वर्ण वाचक भुवन्त शब्द के साथ भुवन्त वर्णवाचक का समास होता है। यथा—कृष्णश्वासी सारङ्ग—कृष्णसारङ्ग ।

७५२ कडाराः कर्मधारये २।२।३८।

कडारादयः शब्दाः कर्मधारये वा पूर्व प्रयोक्तव्याः । कडारजैमिनिः । जैमिनि कडारः ।

कर्मधारय समास में कडारादि शब्दों का पूर्वनिपात विकल्प से होता है। कडारश्वासी जैमिनि—कडारजैमिनि, जैमिनिकडार ।

७५३ कुमारः श्रवणादिभिः २।१।७०।

कुमारी श्रवणा—कुमारश्रवणा। इह गणे श्रवणा, प्रव्रजिता, गभिणी, इत्यादय स्त्रीलिङ्गाः पठ्यन्ते । लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया एतदेष द्वापक बोध्यम् ।

श्रवणा आदि भुवन्त शब्दों के साथ भुवन्त कुमार का समास होता है। यहाँ सामानाधिकरण का सम्बन्ध है पुंस्त्वयुक्त कुमार का गण्यठित स्त्रीलिङ्ग शब्दार्थ के साथ क्वयपि एकार्थबोधकत्व

नहीं समास नहीं होगा इस सूत्र का वैयर्थ्य प्रसक्त है, यह व्यर्थ होकर लिङ्गविशिष्ट परिभाषा में शापक है, शापन करने पर समर्थ कुमारी एवं संन्यासदीक्षादीक्षिणावीद्ध या जैन साध्वी वाचक श्रवणा के साथ समास हुआ। यहाँ समर्थ कुमारत्व प्रातिपदिकत्व का व्याप्य है, एकार्थीभावरूप सामर्थ्य का अपर्याप्त्या आश्रय को यहाँ समर्थ कुमारत्व से युक्त कहा गया है। 'कुमार क्रीटायान्' का कुमारत्व प्रातिपदिकत्वामाव जहाँ है तदवृत्ति है, अतः स्वाभाववदवृत्तित्वस्वरूपव्याप्यत्व कुमारत्व में नहीं है। ऐसा कुनर्क का यहाँ अनवसर ही है।

परिभाषार्थ—लिङ्ग बोधक रहित प्रातिपदिकवृत्तिधर्म या प्रातिपदिकत्व का व्याप्य धर्म का लिङ्ग बोधक प्रत्यय विशिष्ट में आरोप होता है, प्रातिपदिकत्व धर्म व्यापक धर्म है उसके अपेक्षा समर्थ कुमारत्व व्याप्य धर्म है। एवम् समर्थयुक्तत्व भी व्याप्य धर्म है। सामान्य को व्यापक कहते हैं, विशेष को व्याप्य कहते हैं।

७५४ चतुष्पादो गर्भिण्या २।१।९१।

चतुष्पादजातिवचनो गर्भिणीशब्देन सह प्राग्वत् । गोगर्भिणी ।

चतुष्पाद जातिवाचक श्रवन्त का श्रवन्त गर्भिणी के साथ समास होता है। गौश्रासी गर्भिणी यहाँ समास कर 'गोगर्भिणी'। इस सूत्र में 'पोदयुवति' से जाति की अनुवृत्ति है। जातिवाचक जहाँ नहीं वहाँ समासाभाव है, यथा-कालाक्षी गर्भिणी यहाँ वाक्य ही रहा।

७५५ मयूरव्यंसकादयश्च २।२।७२।

एते निपात्यन्ते । मयूरो व्यंसकः—मयूरव्यंसकः । व्यंसकः=धूर्तः । उदक् चावाक् च उच्चावचम् । निश्चितश्च प्रचितश्च निश्चप्रचम् । नास्ति किञ्चन यस्य स अकिञ्चनः । नास्ति कुतो भयं यस्य सोऽकुतोभयः । अन्यो राजा राजान्तरम् । चिदेव चिन्मयम् । ॐ आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्येक्षे । अशनीत पिबतेत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा अशनीतपिबता । पचतभृज्जता । खादत-मोदता । *एहीढादयोऽन्यपदार्थे* । एहीढ इति यस्मिन् कर्मणि तदेहीढम् । एहिपचम् । 'उद्घर=कोप्रादुत्सृज देहि' इति यस्यां क्रियायां सा उद्घरोत्सृजा । उद्धमविधमा । असातत्यर्थमिह पाठः । ॐ जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ये कर्तारं चाभिदधाति ॐ । जहीत्येतत्कर्मणा बहुलं समस्यते आभीक्ष्ये गम्ये समासेन चेत्कर्ताऽभिधीयत इत्यर्थः । जहिजोडः । जहिस्तम्बः । (अविहितलक्षणस्तत्पुरुषो मयूरव्यंसकादौ दृष्टव्यः) ।

मयूरव्यंसकादि गण पठित श्रवन्त शब्दों का समास होता है। एवं सूत्रतः अप्राप्त कार्यों का निपातन होता है। धूर्त मयूर अर्थ में मयूरो व्यंसक इति मयूरव्यंसकः है। उदक् च अवाक् च यहाँ समास एवं निपातन से उदक् को उच्चा आदेश अवाक् को वच आदेश हुआ है 'उच्चावचम्'। निश्चितं च प्रचितं च समास कर निश्चित को निश्च प्रचित को प्रच होता है। निश्चप्रचम्। अकिञ्चन में समास नन् का नकारलोप निपातन, विद्यमान का लोप। नास्ति कुतो भयं यस्य स अकुतोभयः। अन्यः राजा राजान्तरम्। चिदेव चिन्मयम् यहाँ नित्यसमास से उभयत्र अन्वयपद-विग्रह है।

• तिङन्त का तिङन्त के साथ समास होता है, निरन्तर जहाँ क्रिया की प्रतीति गन्धमान रहें। तुम लोग भोजन करो वरुणान करो ऐसा निरन्तर जहाँ कहा जाय ऐसी क्रिया में समास हुआ, यथा अशीतपिबता यदा अन्यपदार्थ क्रिया है अतः टाप् है। इसी प्रकार पचनभृजना में समास जान करना। तुम लोग भोजन करो, हर्षयुक्त रहो ऐसा कवन में स्वादतमोदता क्रिया। यदि ईद आदि गणपठित शब्दों का अन्यपदार्थ में तत्पुरुष समास होता है। भावों स्तुति करें ऐसा कहा कहा जाय ऐसा कर्म में समास एदीडम्। एदिपचम्। कोठार से निकालें दान करें ऐसी क्रिया में उद्धृतोस्तुजा। शुभार्थक च म्या को धम आदेश होकर लोट् म० पु० ए० व० में विपूर्वक धम रूप है विषम, उत्पूर्वक धम है, समास उद्धमविषमा क्रिया। कभी-कभी कहा जाय यदा सातत्य अर्थ नहीं है। पौन पुन्य अर्थ गन्धमान रहे एव समास से कर्ता का कपन रहे वहा कर्मवाचक सुबन्त के साथ जहि तिङन्त का कुछ प्रकार से समास होता है। 'ओडम् जहि' ऐसा बार बार कहा जाय वहाँ समास होकर जहिओड = यह कहने वाला कर्ता। एतन्व जहि यह पुन पुन. कहने वाला कर्ता को 'अहिस्तम्' कहते हैं। यहाँ कोड में घीरा हुआ अथ कुछ पुस्तकों में नहीं मिलता है एव प्राचीनतम पुस्तकों में मिलता है। जिसका तत्पुरुष समास किसी से विहित नहीं है उसका मयूरज्यसकादि में पाठ समझना, यह व्यवस्था शिष्टो-च्चारित प्रयोगों के लिए है, सर्वत्र नहीं।

७५६ ईषदकृता २।२।७

ईषत्पिङ्गलः। ईषद्गुणवचनेनेति वक्तव्यम्। ईषद्दूरकम्।

कृत्यप्रत्ययान्त मिल के साथ सुबन्त ईषद् का समास होता है।

ईषत्पिङ्गलः। गुणवाचक शब्द के साथ ईषत्का समास होता है, रक्तशब्द गुणवाचक है ईषद्दूरकम्। यहा से नञ् तत्पुरुष का प्रारम्भ हो रहा है।

७५७ नञ् २।२।६।

नञ् सुपा सह समस्यते।

सुबन्त के साथ निषेधाधिक्य अन्वय। नञ् का समास होता है।

७५८ नलोपो नञः ६।३।७३।

नञो नस्य लोपः स्यादुत्तरपदे। न ब्राह्मण - अनाह्वयः।

७५९ तस्मान्नुडचि ६।३।७४।

लुप्तनकारात्तत्पुरुष उत्तरपदस्याजादेर्नुमागमः स्यात् 'अनञ्'। अर्थात्मावेऽ-
व्ययीभावेन सहाय विकल्प्यते, रक्षोहागमलम्बसदेहा. प्रयोजनमिति, अद्रुताया-
मसहितमिति च भाष्यवार्तिकप्रयोगात्। तेनानुपलब्धपरिविवादोऽविघ्नमित्यादि
सिद्धम्। नञो नलोपस्तिङ्गि चोपेक्षः। अपचसि त्व जालम्। नैकधेत्यादी
तु नञ्च्येन सह सुप्सुपेति समासः।

लुप्त नकारक नञ् से पर अजादिपद को नुट् आगम होता है।

न स् अथ स समास विभक्ति का लुक्-व्यञ्जन नकार का लोप नुट् आगम अनञ्। 'असदेहा'
यह भाष्यप्रयोग से अर्थात्माव में नञ् तत्पुरुष हुआ, एवम् 'असहितम्' इस वार्तिककारके

प्रयोग से अर्थाभाव में अव्ययीभाव भी हुआ है। अर्थात् भाष्यप्रमाण से एवं वार्तिकप्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि अर्थाभाव में विकल्प से नञ् तत्पुरुष होता है। वेद की रक्षा, एवं तर्क, आगमदान, लाघवार्थ तद्वेदनिवृत्ति व्याकरण के प्रयोजन है। भाष्यवार्तिक प्रयोग घापन न देते तो निर्गक्षिकम् आदि में चरितार्थ अव्ययीभाव को नञ् तत्पुरुष विशेष वचन बाध करता। इस शासन का फल—अस्तंक्षितम्, अविघ्नम्, अविवादः, अनुपलब्धिः, असंदेह आदि हुवे। 'अविवादः' में यद्यपि बहुव्रीहि समास से प्रयोगसिद्धि हो सकती है। एवमेव 'अनुपलब्धिः' 'अविघ्नम्' में भी बहुव्रीहि से कार्यनिर्वाह है। इसको फलरूप से देना चिन्त्य है, या स्वरार्थ है। निन्दा गन्यमान रहे वहाँ नञ् का तिङन्त तदादि से समास होता है एवं नकार का लोप होता है। हे अविचारपूर्वक कार्यकर्ता तुम कुत्सित पाक करते हो वहाँ अपचसि त्वं जातम् हुआ। न एकथा यहाँ नञ् समास से नकार लोप एवं नृट् से 'अनेकथा' होना चाहिये यह शङ्का हुई, किन्तु सानुबन्धका निषेधार्थक नञ् अव्यय का ही समास नञ् सूत्र से होना है यहाँ निषेधार्थ अनुबन्ध से रहित न प्रातिपदिक अव्यय भिन्न है। अतः सुप्त की अनुवृत्ति आती है जिसमें ऐसा 'सुप्' सूत्र से समास यहाँ है। इस लिए भाष्य में शङ्का की गई है कि सानुबन्धक नञ् का उपादान क्यों किया ?, विघ्नपुत्रः, प्रघ्नपुत्रः यहाँ एवं वामन-पुत्रः यहाँ 'नलोपो नस्य' करने पर नकार लोप की प्रसक्ति होगी अतः नस्य न कट्कार 'नजः' कहा है।

७६० नभ्राणपात्रवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्र- नागेपु प्रकृत्या ६।३।७५।

पादिति शत्रन्तः। वेदा इत्यमुन्नतः। न सत्या असत्या न असत्या नासत्या। न मुञ्चतीति नमुचिः। न कुलमस्य नकुलम्। न खम् अस्य नखम्। न स्त्री पुमान्, नपुंसकम्, स्त्रीपुंसयोः स्त्रीपुंसकभावो निपातनात्। न क्षरतीति नक्षत्रम्। क्षीयतेः क्षरतेर्वा क्षत्रमिति निपात्यते। न क्वासतीति नक्रः। क्रमेर्डः। न अकमस्मिन्निति नाकः।

नभ्राट्, नपाट्, नवेदाः, नासत्याः, नमुचि, नकुलं, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र, नाक इनके नञ् तत्पुरुष में नकारका लोप नहीं होता है। अर्थात् स्वामाधिक नकारयुक्त रहता है। यहाँ पाद शत्रुप्रत्ययान्त है। वेदाः यह असुन् प्रत्ययान्त है। नकारका असत्या के साथ प्रथम समास कर पुनः न असत्या का नञ् तत्पुरुषसमास से नासत्या की सिद्धि है। नञ् तत्पुरुष में स्त्रीपुं को पुंसक आदेश से 'गपुंसकम्'। क्रन् पाठ से टप्रत्यय नक्रः। क = मुख अकः = दुग्, दुःख जहाँ नदी उसको 'नाकः' स्वर्णक कहते हैं।

७६१ नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् ६।३।७७।

नग इत्यत्र नञ्प्रकृत्या वा। नगाः-अगाः पर्वताः। अप्राणिष्विति किम्, अगो वृषभः शीतेन। नित्यं क्रीडेत्यतो नित्यमित्यनुवर्तमाने।

अप्राणी अर्थ में नञ् नकार का विकल्प से लोप होना है। पर्वत अर्थ में नगाः, अगाः। शीत से वृषभ चलने में असमर्थ है, यहाँ नकार का लोप नित्य करने के लिए सूत्र में 'अप्राणिषु' कहा है। उत्तरसूत्र जो वक्ष्यमाण है उसमें नित्य की अनुवृत्ति 'नित्यं क्रीडा' से है।

७६२ कुगतिग्रादयः २।२।१८।

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः । गतिश्चेत्यनुवर्त-
वर्तमाने ।

कु, गतिसञ्चक एव प्रादि का भुवन्त के साथ समास होता है नित्य । कुत्सित = निन्दित पुरुष
अर्थ में कुपुरुष । उत्तरसूत्र में 'गतिश्च' से गति की अनुवृत्ति कर के—

७७३ ऊर्यादिच्चिडाचथ १।४।६१

एते क्रियायोगे गतिसंज्ञा स्युः । ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । शुक्लीकृत्य । पट
पटाकृत्य । क्रीकारिकाशब्दस्योपसख्यानम् । कारिकाक्रिया । कारिकाकृत्य ।

ऊरी आदि शब्द, चिप्रत्ययान्तशब्द, एव डाच् प्रत्ययान्त इनकी क्रिया के साथ सम्बन्ध
रहते गति सञ्ज्ञा होती है । जहाँ गतिसञ्ज्ञा वहाँ पूर्वसूत्र से समाससञ्ज्ञा है । स्त्रीकार कर वह गया
इस अर्थ में ऊरी की कृ धातु का अर्थ क्रिया उससे योग होने से गति सञ्ज्ञा है, कृ धातु से क्त्वाप्रत्यय
उरी कृत्वा का कुगति से समासकर 'समासेऽनन्पूर्वे क्त्वा स्वप् से स्वप् आदेश अनुबन्ध लोप
'ह्रस्वस्य पिति कृति' से हुक् आगम ऊरीकृत्य अभ्यस्य है । कृ भू अस् धातु के योग में चि एव डाच्
प्रत्यय होने हैं शुक्ली कृत्वा यहा शुक्लसे चिप्रत्यय का सर्वापहारी ओप 'अस्य, च्यो से ईकार शुक्ली
की गतिसञ्ज्ञा समास कृत्वा के साथ क्त्वा को स्वप् हुक् शुक्लीकृत्य । द्वित्व एव डाच् प्रत्ययान्त पटपटा
की कृत्वा में कृन् धातुर्थ क्रियायोग से गति सञ्ज्ञा समासादि पटपटाकृत्य । कारिका शब्द की गतिसञ्ज्ञा
कृत्वा के साथ समास कृत्वा को स्वप् कारिकाकृत्य । अनेक क्रियाओं का एक बता रहे वहाँ पूर्वकारो
रूप क्रिया के वाचक धातु से का प्रत्यय होता है । सूत्र—“समानकर्तृकयो पूर्वकारे प्राचां कृत्वा” ।

७६४ अनुकरणं चानितिपरम् १।४।६२।

छाट्कृत्य । अनितिपर किम् , खाडिति कृत्वा निरघीवत् ।

इति शब्द से भिन्न शब्द पर रहते अनुकरण की गति सञ्ज्ञा होती है क्रियायोग में । 'छाट्'
यह अनुकरणशब्दार्थक क्रिया, गति सञ्ज्ञा कृत्वा के योग में, गतिसमास, स्वप् तुच् छाट् कृत्य । इति
शब्द के योग में गतिस्वाभाव से इति छाट् कृत्वा यह हुआ ।

विमर्श—यहा अनितिपर किम् इस प्रश्न कर्ता का आशय यह है कि 'ति प्राग्धातो' सूत्र में १
संज्ञानियम पक्ष है, धातु के पूर्व रहनेपर ही गतिसञ्ज्ञा एवं उपसर्गसञ्ज्ञा प्राप्त ही नहीं यहाँ अनिति पर
शब्द सूत्र में 'वर्ष' है, अप्राप्त सञ्ज्ञा (गति) का निषेध व्यवर्त्त है ? समाधानवादि—२ प्रयोग
नियमपक्ष 'ति प्राग्धातो' में मानता है एव गति तथा उपसर्ग सञ्ज्ञा का यह नियमन नहीं
करता है, वे सञ्ज्ञाएँ स्वतन्त्ररूप से होती है केवल प्रयोग का नियम करता है यथा—धातु के पूर्व में
ही गतिसञ्ज्ञक शब्द एव उपसर्ग सञ्ज्ञक शब्द का प्रयोग होता है तब यहाँ छाट् की गति सञ्ज्ञा होकर
यह इति के बाद कृत्वा के पूर्व होकर 'इति छाट् कृत्वा' बनकर समासवादि से इति छाट्कृत्य' न
बन जाय पतदर्थ अनिति आवश्यक है । गले से खासतर खाट शब्द कर शूक दिया यह इसका
अर्थ है ।

७६४ आदरानादरयोः सदसती १।४।६३।

सत्कृत्य । असत्कृत्य ।

आदर अर्थ में सत् एवं अनादर अर्थ में असत् की क्रियायोग में गतिसंज्ञा होती है । सत् कृत्वा यहाँ सत् की गतिसंज्ञा समास क्त्वा को ल्यप् तुक् अव्ययसंज्ञा सत्कृत्य । इसी प्रकार असत्कृत्य । सन्मान कर वह गया । अपमानकर वह गया ।

७६६ भूषणेऽलम् १।४।६४।

अलंकृत्य । भूषणे किम् ? अलं कृत्वैदनं गतः । पर्याप्तमित्यर्थः । अनुकरण-मित्यादि त्रिसूत्री स्वभावाद् कृत्वविषया ।

भूषणार्थक 'भलन्' की क्रिया योग में गति संज्ञा होती है । भूषित कर वह गया इस अर्थ में गतिसंज्ञा समास से 'अलंकृत्य' हुआ है । पर्याप्त्यर्थक अलं की गतिसंज्ञा का अभाव है । अलंकृत्वा = पर्याप्तं कृत्वा गतः । शब्दशक्तित्वमात्र से 'अनुकरणम्' से लेकर तीन सूत्र कृन् धातु के योग में गतिसंज्ञा करते हैं ।

७७६ अन्तरपरिग्रहे १।४।६५।

अन्तर्हृत्य = मध्ये हृत्वेत्यर्थः । अपरिग्रहे किम्, अन्तर्हृत्वा गतः । हृतं परिगृह्य गत इत्यर्थः ।

परिग्रहमिन्न अर्थ में अन्तर् की क्रिया योग में गति संज्ञा होती है ।

मध्य में इनन कर गया अर्थ में मध्यार्थक अन्तर् गतिसंज्ञक से हृत्वा का वुगति से समास-आदि कर अन्तर्हृत्य । मारे हुए को लेकर गया अर्थ में परिग्रह अर्थ है अतः अन्तर् की गतिसंज्ञा का अभाव से समासादि कार्य का भी अभाव है । अन्तर्हृत्वा ।

७६८ कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते १।४।६६।

कणेहृत्य पयः पिबति । मनोहृत्य । कणेशब्दः सप्तमीप्रतिरूपको निपातोऽभिलाषातिशये वर्तते । मनःशब्दोऽप्यत्रैव ।

श्रद्धा का विषात हो तो क्रिया योग में कणे एव मनस् शब्द की गतिसंज्ञा होती है । यहाँ 'कणे' शब्द सप्तमी एकवचन का विभक्त्यन्त प्रतिरूपक अव्यय है, अर्थ इसका अधिक अभिलाषा = इच्छा है । अत्यधिक प्यासा व्यक्ति जलकणों के नाशपूर्वक प्रभूत जल को पी कर गया । मन में आभयिक शत्रु नाश विषय इच्छा कर गया । उभयत्र कणे मनस् की गतिसंज्ञा है ।

७६९ पुरोऽव्ययम् १।४।६७।

पुरस्कृत्य ।

अव्यय पुरस् की क्रियायोग में गतिसंज्ञा होती है । अग्रसर कर गया । पुरस् की गतिसंज्ञा पुरःकृत्वा इति पुरस्कृत्य ।

७७० अस्तञ्च १।४।६८

अस्तमिति मान्तमव्ययं गतिसंज्ञं स्यात् । अस्तंगत्य ।

मान्त 'अस्तम्' अव्यय की गति संज्ञा होती है । नाश करके गया । अस्तं गत्या इति अस्तंगत्य । यहाँ गम् का नकार का 'अनुदात्तोपदेश' से लोप है ।

७७१ अञ्छगत्यर्थवदेषु १।४।६९।

अव्ययमित्येय । अच्छगत्य । अच्छोद्य । अभिमुख गत्वा उक्त्वा चेत्यर्थ ।
अव्यय किम्, जलमच्छ पिबति ।

गत्यर्थक एव वद धातु पर रहते अच्छ अव्यय की गतिसंज्ञा होती है । अच्छ गत्वा इति अच्छगत्य, अच्छ उक्त्वा इति अच्छोद्य । यद्वा अच्छ की गतिसंज्ञा समास कर लृट्, गम् का मकार का लोप अच्छगत्य अच्छ पूर्वक वद् से का अच्छ की गतिसंज्ञा वद् का वकार का सम्प्रसारण ध्वरूप 'उक्त्वा' वनाकर के अच्छ उक्त्वा का समास न्यप् से अच्छ+उद्य गुण अच्छोद्य । सामने आकर, सामने कह कर, गया अध्यायार्थ । स्वच्छ जल को पीता है यह अच्छ अव्यय है अतः गतिसंज्ञा न हुई अच्छ अव्यय पिबति । यद्वा गतिसंज्ञा होती तो निपात सहा होकर 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' से अव्यय सहा होकर, 'अव्ययादाप' से विभक्ति का लोप होकर अच्छ पिबति होता । अतः अव्यय का ग्रहण असू में है

७७२ अदोऽनुपदेशे १।४।७०।

अद कृत्य, अद कृतम् । पर प्रति उपदेशो प्रत्युदाहरणम् । अद कृत्वा,
अद कुव ।

उपदेशार्थक से भिन्न अद की गति सहा होती है । जब स्वय ही विषय पर्यालोचन करता है तब इसका उदाहरण यथा अद कृत्वा इति अद कृत्य । अद कृत्वा अद कुव यद्वा स्वय पर्यालोचन नहीं किन्तु दूसरे को उपदेश देता है कि यह काय करके या करो । यद्वा अद कृत्वा, अद कुव यद्वा गति सहा नहीं है । प्रत्युदाहरण में उक्त्वा को स्ववादि का अभाव, एव द्वितीय उदाहरण में गतित्वाभाव से गतिसंज्ञामूक स्वराभाव है ।

७७३ तिरोऽन्तर्धो १।४।७१।

तिरोभूय ।

अन्तर्ध्यानि अर्थ में तिरस की क्रियायोग में गतिसंज्ञा होती है । तिराभूत्वा = तिरोभूय ।

७७४ विमापा कृनि १।४।७२।

तिरस्कृत्य, तिर कृत्य । तिर कृत्वा ।

कृन् धातु के योग में तिरस की गतिसंज्ञा विकल्प से होती है । अर्हा गतिसंज्ञा यद्वा समासादि एव 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' सूत्र से गतिसंज्ञक तिरस सम्बन्धी विसर्ग को विकल्प से सकारादेना से गतिपञ्च में तिरस्कृत्य तिर कृत्य गतित्वाभाव में तिर कृत्वा ।

७७५ उपाजेऽन्वाजे १।४।७३।

एतौ कृनि वा गतिसंज्ञौ स्त । उपाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा । अन्वाजेकृत्य,
अन्वाजे कृत्वा । दुर्बलस्य यत्नमादायेत्यर्थ ।

कृन् धातु के योग में उपाजे एव अन्वाजे की विकल्प गति सहा होती है । दुर्बल को बल का आधान अर्थ में उपाजे, अन्वाजे विमलबल प्रतिरूपक अव्यय है । उपाजे कृत्वा एव उपाजे कृत्य दो रूप है, अन्वाजेकृत्य, अन्वाजे कृत्वा ।

७७६ साक्षात्प्रभृतीनि च १।४।७४।

कृत्रि वा गतिसंज्ञानि स्युः । कृच्चर्थ इति वाच्यम् । साक्षात्कृत्य, साक्षात्कृत्वा । लघणंकृत्य । लघणं कृत्वा । मान्तत्वम्, निपातनात् ।

कृधातु के योग में अभूततद्भाव रूप अर्थ में (चिप्रत्ययार्थ में) साक्षात्प्रभृति गण पठित शब्दों की गतिसंज्ञा होती है । साक्षात् कृत्वा इति साक्षात्कृत्य, पक्ष में गतित्वाभाव से साक्षात् कृत्वा । न साक्षात् असाक्षात्, असाक्षात् साक्षात् कृत्वा इति साक्षात्कृत्य दो रूप हैं ।

७७७ अनत्याधाने उरसिमनसी १।४।७५।

उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा । अभ्युपगम्येत्यर्थः । मनसिकृत्य । मनसि कृत्वा, निश्चित्येत्यर्थः । अत्याधानम् = उपश्लेषणम्, तत्र न । उरसि कृत्वा पाणि शेते ।

अनत्याधान अर्थ में उरस् एवं मनस् की कृधातु के योग में गति संज्ञा होती है । स्वीकार कर गया अर्थ में विभक्त्यन्त प्रतिरूपक उरसि की विकल्प से गति संज्ञा कर कृत्वा से समासादि से उरसिकृत्य, पक्ष में उरसि कृत्वा । मन में निश्चय कर गया अर्थ में मनसिकृत्य । गतिपक्ष में मनसिकृत्य । अत्याधान में वक्षःस्थल पर दाथ को रखकर संता है । यहाँ उपश्लेष अर्थ है । गति संज्ञा का अभाव है ।

७७८ मध्ये पदे निवचने च १।४।७६।

एते कृत्रि वा गतिसंज्ञाः स्युरनत्याधाने । मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा । निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा = वाचं नियम्येत्यर्थः ।

कृधातु के योग में (कृधात्वर्थ योग में) अनत्याधान अर्थ में मध्ये पदे एवं निवचने की विकल्प से गति संज्ञा होती है । ये तीनों सप्तम्यन्त विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय हैं । गति संज्ञा एवं उसके अभाव में प्रत्येक के दो दो रूप हैं ।

७७९ नित्यं हस्ते पाणौपयमने १।४।७७।

कृत्रि । उपयमनम् = विवाहः । स्वीकारमात्रमित्यन्ये । हस्तेकृत्य । पाणौकृत्य ।

कृ के योग में विवाह अर्थ में हस्ते एवं पाणौ की गति संज्ञा होती है । उपयमन शब्दादं विवाह है, शास्त्रोक्त विधि द्वारा वह सम्पन्न होता है । कोई आचार्य केवल स्वीकार अर्थ मानते हैं । हस्ते एवं पाणौ विभक्त्यन्त प्रतिरूपक अव्यय हैं । नित्यगति से एक एक रूप है ।

७८० प्राध्वं वन्धने १।४।७८।

प्राध्यमित्यव्ययम् । प्राध्वंकृत्य । वन्धनेनानुकूल्यं कृत्वेत्यर्थः । प्रार्थनादिना चानुकूल्यकरणे प्राध्वं कृत्वा ।

कृधातु के योग में वन्धन अर्थ में 'प्राध्यन्' की गति संज्ञा होती है । वन्धन से प्रार्थक को अपने अनुकूल बनाकर गया अर्थ में प्राध्वंकृत्य, गति संज्ञादि कार्य । प्रार्थना आदि से अनुकूल करने में गति संज्ञा नहीं होती है वहाँ प्राध्वं कृत्वा यही होता है ।

७८१ जीविकोपनिषदावौपम्ये १।४।७९।

जीविकामिव कृत्वा जीविकारूपम् । उपनिषदमिव कृत्वा उपनिषत्कृतम् ।
 औपम्ये किम् ? जीविकां कृत्वा । प्रादिप्रहणमगत्यर्थम् । सुपुरुषः । अत्र
 वार्तिकानि—ऋषादयो गताद्यर्थे प्रथमयाः । प्रगत आचार्यः प्राचार्यः ।
 ऋष्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीययाः । अतिक्रान्तो मालाम् अतिमालः । ऋष्यादयः
 कृषाद्यर्थे तृतीययाः । अवकुपुः कोकिलया अवकोकिनः । ऋष्यादयो ग्लाना-
 द्यर्थे चतुर्थ्याः । परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः । ऋष्यादयः क्रान्ताद्यर्थे
 पञ्चम्याः । निष्क्रान्तः कौशम्ब्या निष्कौशाम्बिः । ऋष्यादयः प्रवचनीयानां प्रति-
 पेधः । ऋष्यं प्रति ।

उपमार्थक जीविका एवं उपनिषद् शब्द की क्रियायोग में गतिसंज्ञा होती है ।
 अपनी जीविका की तरह समस्त कर कार्य कर स्वकर्तृत्व में निष्ठ रहता है । एवं वेद मूलक
 उपनिषद् के समान मान कर गया । उपमा के अभाव में जीविका कृत्वा यहाँ गतिसंज्ञा का अभाव है ।
 'कुपतिप्रादय' में प्रादिको भी गतिसंज्ञा है, गति से ही समास होता है । पुनः प्रादि प्रहण
 यहाँ हम लिए किया कि कहा किया योग नहीं यहाँ गतिवा अभाव से प्र परा आदि का
 समासासं वह है यथा—सुपुरुष । यहाँ पाँच वार्तिक है ।

गनादि अर्थ में प्र परा आदि का प्रथमान्त के साथ समास होता है । यथा—आचार्य पहले
 गये अर्थ में प्राचार्य, प्र एवं आचार्य का समास से पक्षदत्त एवं स्वर आदि होते हैं । क्रान्त आदि
 अर्थ में अवदिका द्वितीयान्त के साथ समास होता है । यथा—माला का अतिक्रमण करने वाला
 अर्थ में अतिमाल । माला अन् अति समासादि कार्य कर गो जियो से आकार का हल्व हुआ यहाँ
 विग्रह में भिन्नविभक्त्यन्त माला अन् है, एवंविधत्ता से उपसर्जन सहा माला की है । कृषादि
 अर्थ में अवादि का तृतीयान्त के साथ समास होता है यथा कोकिलसे हीन अर्थ में अवकोकिलः
 कोकिण आ अव समासादि में अवकोकिल । पर्वादि का ग्लान आदि अर्थ में चतुर्थ्यन्तसे
 समास होता है । यथा अध्ययन के लिए अनुरताही अर्थ में अध्ययन ए परि समासादि पर्य-
 ध्ययन । निष् आदि का क्रान्त आदि अर्थ में पञ्चम्यन्त के साथ समास होता है यथा—कौशम्बी
 नामक नगरी से निकल चुका व्यक्ति में कौशम्बी अस् निर समासादि टिका का हल्व निष्कौ-
 शम्बि । कर्मप्रवचनीय सङ्ग का समर्थ सुवन्त के साथ समास नहीं होता है, यथा वृक्ष प्रति
 यथा लङ्गोत्थम् से कर्मप्रवचनीय सङ्ग है । इसके बाद उपपद तत्पुरुष समास का प्रारम्भ हो
 रहा है यथा—

७८२ तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३।२।९२।

सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यानौ वाच्यत्वेन स्थितं कुम्भादि तदुवाचकं पद-
 मुपपदसङ्ग स्यात् तस्मिन् सत्येव वक्ष्यमाणः प्रत्ययः स्यात् ।

'कर्मण्यण्' में सप्तम्यन्त तदादि जो 'कर्मणि' आदि पद उनका वाच्य जो कुम्भ आदि अर्थ उनका
 वाचक जो कुम्भादि शब्द उनको उपपदसङ्ग होती है, एवं वे उपपद में रहते तब ही पातु से
 प्रत्यय होंगे । अन्यथा नहीं ।

७८३ उपपदमतिङ् २।२।१९।

उपपद सुवन्तं समर्थेन नित्य समस्यते । अतिरन्तश्चायं समासः । कुम्भं

४ सि० द्वि०

करोतीति कुम्भकारः । इह कुम्भ अस् कार इत्यलौकिकं प्रक्रियावाक्यम् । अतिङ् किम्, मा भवान् भूत् । 'माहि लुङ्' इति सप्तमीनिर्देशान्माङ् उपपदम् । अतिङ्ग्रहणं ज्ञापयति-सुपेत्येतन्नेहानुवर्तते इति । पूर्वसूत्रेऽपि गतिग्रहणं पृथक्कृत्य अतिङ्ग्रहणं तत्रापकृत्यते सुपेति च निवृत्तम् । तथाच "गति-कारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुवृत्तेरिति सिद्धम् । व्याघ्री । अश्वक्रीती । कच्छपी ।

उपपद संशक सुबन्त का तिङन्ततदादि से भिन्न एवं सामर्थ्ययुक्त के साथ नित्य समास होता है । सूत्र में अतिङ् ग्रहण से उत्तर पद तिङन्ततदादिभिन्न लेना । कुम्भं करोति अर्थ में 'कर्म-प्यण्' सूत्र कुम्भादि कर्म वाचक उपपदसंशक पूर्व में रहते किया वाचक धातु से कर्ता में अण् प्रत्यय करता है । विधायक उस सूत्र में सप्तम्यन्त पद कर्मणि है, उसका वाच्य अर्थ घटा आदि तनाचकशब्द यहां कुम्भ है उसकी उपपद संज्ञा हुई, यहां कर्म संशक एवं उपपद संशक कुम्भ है, उसके पूर्व रहते अण् प्रत्यय, वृद्धि से कार हुआ, वह कृदन्त तदादि है, इसके योग में कर्मवाचक कुम्भ से द्वितीया प्राप्त थी, उसको बाध कर 'कर्तृकर्मणोः' से पछी हुई कुम्भ अस् कार यह अलौकिक विग्रह वाक्य है । यहां उपपदमतिङ् से समास किया । विभक्ति अस् का लोप कुम्भकारः = कुंभार जो मिट्टी का घटा बनाता है, यह शब्द योगरूढ है । अतिङ् का प्रयोजन मा भूत् यहां 'माहि' से बोध्य निषेध का वाचक मा यपि उपपद है, किन्तु उत्तर पद भूत् (लुङ् का) तिङन्त तदादि भिन्न नहीं अतः समासमात्र है, मा के योग में अट् नहीं होता है अतः अभूत् न हुआ भवान् बीच में अट्को सत्ता के अभाव बोधनार्थ रक्खा है । इस सूत्र में कृत जो अतिङ् ग्रहण वह ज्ञापन करता है की 'सुपा' सूत्र से यहां तृतीयान्त 'सुपा' की अनुवृत्ति नहीं है, उसकी अनुवृत्ति करने पर अतिङ् ग्रहण निष्प्रयोजनक होता । एवम् 'कुगतिप्रादयः' में गति अंश की योगविभाग से अलग कर इसमें इस अतिङ् का अपकर्ष कर यह अर्थ हुआ-गतिसंशकं सुबन्तं समर्थेन तिङन्ततदादि भिन्नेन सह समस्यते = गतिसंज्ञा से युक्त सुबन्त का सामर्थ्य युक्त अतिङ् से समास होता है, इस गतिश्च विभक्ति सूत्र में 'अतिङ्' ग्रहण से इसमें भी 'सुपा' तृतीयान्त की अनुवृत्ति नहीं है । इस प्रकार वक्ष्यमाण परिभाषा के दो अंश सिद्ध हुए, तृतीयांश = कारकांश में खालीपुलाकन्याय या 'कर्तृकारणे कृता बहुलम्' में बहुल ग्रहण प्रमाण मानकर यह सिद्ध हुआ कि "गति संशक का उपपद संशक का कृदन्ततदादि के साथ समास उस अवस्था में होता है कि उत्तर पद से सुप् की उत्पत्ति के पूर्व में एवं कारक का भी । संस्कृत में परिभाषा स्वरूप यह है "गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुवृत्ते" । पूर्वपद तो सुबन्त अपेक्षित हो है अर्थात् 'सुधामन्त्रिणे' से प्रथमान्न सुप् का अनुवृत्ति इनमें भी आती है । अतः चर्मन् वा क्रीत यहां समास विभक्ति लुङ् होने पर भी प्रत्यय लक्षण से चर्मन् को सुबन्त मानकर 'सुप्तिङन्तम्' से पद संज्ञा से 'चर्मक्रीती' की सिद्धि हुई है । परिभाषा के फल—

व्याघ्री व्याघ्रिगतीति व्याघ्री विपूर्वक आपूर्वक गन्धग्रहणार्थक घ्रा धातु से 'आतथ्योपपन्नं' से कप्रत्यय । 'पाघ्राघ्या' नृत् से घ्राके भिन्न आदेश संज्ञा में नहीं होना है, 'व्याघ्रादिभिः' निर्देश से । व्याङ् का घ्र के साथ गतिसमास है । यहां गतिसमास में उत्तर पद घ्र सुवृत्ति की अपेक्षा नहीं करता है । यदि सुवृत्ति की अपेक्षा करता तो सुप् की उत्पत्ति के पूर्व अन्तरादा घ्रसे होता तब सुप् आता तब समास करने पर व्याघ्रा एत्वं अकारान्त नहीं है । जातिलक्षण टीप् न होकर अनिष्ट 'व्याघ्रा' होता । यह फल है । अश्वेन क्रीता यहां भी अश्व वा क्रीत यहां

कर्तृकरण से कारक का समास कीव से सुवृत्ति पूर्व हुआ समाससे अधकृति बना, तब 'कीताव करण-पूर्वात्' में लोप् से अधकृती, यहाँ उचरपद यदि सुवृत्ति की अपेक्षा करता तो सुवृत्ति से पूर्व अन्तरङ्गदाप् कर विभक्ति लाकर समास कर हल अकारान्त नहीं छोड़ न होकर अनिष्ट अधकृता रूप होता, अधकृती यह इस परिभाषा का फल है। गति का उदाहरण व्याघ्री दे चुके। कारक का उदाहरण अधकृती दे चुके अब उपपद का उदाहरण यह है—कच्छेन पिबतीति उस अर्थ में 'अपि एव' सूत्र में 'अपि' योगविभाज कर सुबन्त उपपद रहते धातु से कप्रत्यय होता है उसमे कच्छ उपपद संशक है पासे कप्रत्यय आस्वर का लोप उपपद समस्त करने में उत्तरपद 'प' को लुप् की अपेक्षा नहीं समास लोप् कच्छपी। यहाँ पसे विभक्ति की अपेक्षा होती तो अन्तरङ्ग दाप् होता तब विभक्ति आती समास के बाद दाप् का अवन एक ईकार का अभवण रहता यह कच्छपी इस परिभाषा का फल है।

७८४ अमैवाव्ययेन २।२।२०।

अमैव तुल्यविधान यदुपपद तदैवाव्ययेन सह समस्यते। स्वादुक्कारम्। नेह-फालसमयवेलासु तुमुन्। काल समयो वेला वा भोक्तुम्। अमैवेति किम्, अमे भोजम्। अमे भुक्त्वा। विभाषाऽमेप्रथमपूर्वेष्विति क्त्वाणमुलौ। अमा चान्येन च तुल्यविधानमेतत्।

अम् से ही समान विधान ओ उपपद अर्थात् जिस उपपद में जिस वाक्य से अम् ही विहित हो ऐसे उपपद का अव्यय के साथ समास होता है। यथा स्वादुक्कारम्, 'स्वादुमि गमुल्' से गमुल् प्रापय भावे में धातु से होता है स्वादु का वाच्यार्थ वाचक स्वादु की उपपद सहा है यहाँ उपपद सहा एव गमुल् का अम् दोनों का तुल्य विधान ही है अतः समास स्वादु कारम्। काल समय एव वेला उपपद रहते धातु से तुमुन् होता है, यहाँ समासभाव ही रहता है कालादिका भोक्तुम् के साथ समास नहीं। सूत्र में एवकार का ग्रहण इस लिए किया है जो एक ही सूत्र क्त्वाप्रत्यय एव गमुल् दोनों का विभाजक है यहा उपपद सहा का अम् (गमुल्) एव अन्य प्रत्यय क्त्वा का तुल्य विधान है जहाँ अम् से ही तुल्य विधान नहीं अतः यहाँ भी वाक्य ही रहता है, इससे समास नहीं होता है। यथा अमे भोजम्। अमे भुक्त्वा, यहा विभाषा' सूत्र से क्त्वा गमुल् दोनों का विधान है।

७८५ तृतीयाप्रमृतीन्यन्यतरस्याम् २।२।२१।

'उपदशस्तृतीयायाम्' इत्यादीन्युपपदान्यमन्तेनाव्ययेन सह वा समस्यन्ते। मूलकोपदशम्, मूलकेनोपदश मुक्ते।

उपदशस्तृतीयायाम्' इत्यादि सूत्र निषेधक उपपदों का अमन्त अव्यय के साथ विकल्प कर के समास होता है। मूलकेन उपदशम् मुक्ते यहाँ 'उपदशस्तृतीयायाम्' सूत्र में सप्तम्यन्त पद 'तृतीयायाम्' उसका प्रकृत में अर्थ मूली तद्वाचक शब्द मूलक उसकी उपपदसहा मूलकेन उपपद रहते उपपूर्वक दण्डान्वापारार्थक दण्ड धातु से गमुल् प्रत्यय भाव में हुआ है। समास एव समासामात्र से दो रूप यहाँ हुए हैं। यहाँ मूली को चहुँदा दांत से काट कर उसके साथ रोटी आदि को वह खाता है। यहाँ भुज धातु भाच्य क्रिया भोजन उसमें मूलक प्रकृत उपकारक है, अतः मूलकेन यहा करण में तृतीया हुई है, यद्यपि जो कि उपदश पदार्थ के साथ मूलक का शब्द अन्य

सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अर्थकृत सम्बन्ध है वह यह है कि उपदंशन क्रिया का मूलक कर्म है। चैत्र भोजन करता है, किसके साथ मूली के साथ, क्या कर के काट कर किस को मूली को। चैत्र मूली को काटकर उसके टुकड़ों के साथ रोटी खाता है। शब्द सम्बन्ध के अभावमें एवं आर्थसम्बन्ध में समास एवं णमुल् की उत्पत्ति में समास विधायक एवं णमुल् विधायक नृन् ही प्रमाण है, उपदंशन क्रिया का कर्म मूलक से द्वितीया कर्मार्थक नहीं होती है शब्दबोधमें प्रधानीभूत भोजन क्रिया है तत्रिलिपित करणत्वनिमित्तक तृतीया ही होती है, प्रधानननुरुध्यते न्याय से 'सर्वे सेवका राजानम् उपकुर्वन्ति सेवन्ते च' यह भी न्याय है। अर्थात् कर्मत्व मूलक का अनुदभूत एवं करणत्व उदभूत है। क्रियान्वया उदभूत करणत्वादि वाचक कारकों से तृतीया आदि विभक्तियां होती हैं। यह 'अनभिहिते' नृन्खण्टनप्रसङ्ग से अन्यत्र वर्णित है।

७८६ क्त्वा च २।२।१२।

तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि क्त्वान्तेन सह वा समस्यन्ते। उच्चैः कृत्य, उच्चैः कृत्वा, अव्यये यथाभिप्रेतेति क्त्वा। तृतीयाप्रभृतीनीति किम्, अलं कृत्वा, खलु कृत्वा।

क्त्वाप्रत्ययान्त के साथ तृतीयाप्रभृति आदि नृन् में सप्तम्यन्त बोध्य बोधक जो उपपदसंशक शब्द है उन सुबन्तों का विकल्प से समास होता है। उच्चैः कृत्वा इति उच्चैःकृत्य। पक्षमें उच्चैः कृत्वा है। यहां अव्यये यथाभिप्रेते' से क्त्वाप्रत्यय हुआ है, यह अव्यय अधिकरण शक्ति प्रधान उच्चैस् उपपदसंशक है। अलं कृत्वा खलु कृत्वा यहां क्त्वा अन्य नृन् 'अलंखल्वोः' से हुआ है, वह तृतीया प्रभृति में नहीं अतः एवं समासाभाव यहां है। 'अलंखल्वोः' नृन् 'उपदंश-स्तृतीयायान्' से पूर्व है।

७८७ तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ५।४।८६।

संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य तत्पुरुषस्य ममासान्तोऽच् स्यात्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुल दारु। निर्गतम् अङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्।

जिस तत्पुरुषप्रसङ्गमें संख्यावाचक या अव्यय संशक सुबन्त शब्द पूर्व में रहे एवं अङ्गुलि सुबन्त समर्थ अन्त में रहे वहां समासान्त अच् प्रत्यय होता है। द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अन्य वहां तद्वि-
तार्थ में समास प्रमाणार्थक नात्रच् का एक द्विगोनित्यन्' ने अच्, इकारान्ते द्व्यङ्गुलम् दारु। निर-
ङ्गुली अच् अन् निरङ्गुलम् = जो अङ्गुली से निकल गया।

७८८ अहस्सर्वकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ५।४।८७।

एभ्यो रात्रेऽच् स्याच्च संख्याव्ययादेः। अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्। अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः। सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः। पूर्व रात्रेः पूर्वरात्रः। संख्यातरात्रः। पुण्यरात्रः। द्वयो रात्र्योः समाहारो द्विरात्रम्। अतिक्रान्तो रात्रिम् अतिरात्रः।

सुबन्त अह, सर्व एकदेश, संख्यात, एवं पुण्य वे हैं आदि में जिसको एवं सुबन्त रात्रिशब्द है अन्त में जिसको ऐसा समास में समासान्त अच् प्रत्यय होता है। द्वयस की रात्रि यह एवं अन्-
भव है अतः अहन् का रात्रि वहाँ द्वन्द्वसमास अहश्च रात्रिश्च वहाँ अन् से एवं नृन् को र, उकार-
गुण इकारान्ते 'अहोरात्रः'। अथवा द्वाया के द्वयस की मनुष्य सम्बन्धिनी रात्रि वहाँ पती लप्-

रूप समास भी होता है। पूर्वकालिक समास एव अच् से सर्वरात्र । पूर्वापरेण समास अच् पूर्व रात्र । रात्रे पूर्वम् यह एकदेशिममास है। कर्मधारय में पूर्वरत्रि यही होता है। सरयाना चासौ रात्रिश्च विशेषणसमास एव सरयवातरात्र। पुण्या चासौ रात्रिश्च समास अच् पुण्यरात्र । तद्वितार्थ से समाहार में समास अच् द्विरात्रम् । द्वितीयतत्पुरुष अच् अतिरात्र ।

७८९ राजाहसखिम्यष्टच् ५।४।९१।

एतदन्तात् तत्पुरुषाट्च् स्यात् । परमराजः । अतिराजी । कृष्णसखः ।

राजन् अहन् एव सन्ति इतः शब्द है अ तर्मे जिसको ऐसे तत्पुरुष समास से टच् प्रत्यय होता है। सन्महत् से समास परमस्त्रासौ राजा इति परमराजन् टच् (अ) लोप परमराज । राजान अतिरान्ता को अतिराजन् टच् टिलोप, टिण्डाणन से लोप् अलोप अतिराजी = राजा को अतिव्रमण करनेवाली को । टच् के टिट का फल है लोप, चकार का फल 'चित' से अतोऽदात्त है।

७९० अह्नष्टखोरेच ६।४।१४५।

टिलोपः स्यान्नान्यत्र । उत्तमाहः । द्वे अहनी भूतो द्वयहीनः क्रतुः, तद्वि तार्थे द्विगु । तमधीष्ट इत्यधिकारे द्विगोर्वैर्यनुवृत्तौ रात्र्यहःसप्तत्सराच्चेति ख । लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वान्नेह—मद्राणा राक्षी मद्रराक्षी ।

'मत्तद्विते' मूलसे टिलोप यहाँ सिद्ध ही था पुन टिलोपार्थ यह सूत्र नियमार्थ है। अहन् की टिका लोप हो तो टच् था ख प्रत्यय पर रहै तब ही। उत्तमश्च तत् अह यहा 'अह'सर्वैकदेश-स्यात् से समास 'राजाह' से टच् टिलोप उत्तमाह । दि ओ अहन् भी यहा भूषार्थ में 'तद्वितार्थ' इति समास कर दिवोर्वा का अनुवृत्तिभुक्त ए तमधीष्ट सूत्र की अनुवृत्ति भुक्त जा 'रात्र्यह सप्तत्स राट्' सूत्र है उससे ख प्रत्यय इनादेश टिलोप से 'द्वहीन' सिद्ध हुआ है। दो दिवस में सम्पादन किया गया यह । मद्राणा रात्रि यहा समास, टच् 'मस्याटे' बा० से पुनर्वसान टिलोप से मद्रराणी ऐसा क्यों नहीं हुआ ? लिङ्गविशिष्ट परिभाषा 'सक्तिलानुक्त' बा० में घट से कार्य होने पर बड़ी मृदण से अनिरय है, अतः यहा टच् न होकर मद्रराक्षी बना है।

७९१ अह्नोऽह एतेभ्यः ५।४।८८।

सर्वादिभ्य परस्याहन् शब्दस्य अह्नादेशः स्यात् समासान्ते परे ।

सर्वैकदेशादि शब्दों से पर अहन् शब्द को अह्नादेश होता है समासान्त प्रत्यय पर रहते।

७९२ अह्नोऽदन्तात् ८।४।७।

अदन्तपूर्वपदस्थाद् रेफात् परस्याहोऽह्नादेशस्य नस्य णः स्यात् । सर्वाहः । पूर्वाहः । सख्याताहः । द्वयोरहो भयः, कालाट्ठम्, द्विगोर्लुगनपत्य इति ठञो लुक् द्वयहः । स्त्रियाम् अदन्तत्वाट्ठप्—द्वयहा । द्वयहप्रिय । अत्यहः ।

अदन्त पूर्वपद में स्थित रेफ से पर अहन् शब्द के साथ में जायमान अह आदेश के नकार को नकार होता है। सर्वत्र तत् अह समास 'अहोऽह' से अह आदेश, नकार सर्वाहः । अह पूर्वम् एकदेशिममास अह आदेश, नकार पूर्वाहः । सख्यातश्च तत् अह सख्याताहः । यहा पूर्वपद रेफ भुक्त नहीं है अतः नकार न हुआ । तद्वितार्थोत्तरपद से समास द्वयो अहो भय यहा द्वयहन्

ते 'कालात्' सूत्र से ठक् अह आदेश द्वयहः इत् में भवा कन्या अर्थ में 'द्वयहा' टाप् ।
 लुप्त तद्धित में 'रात्राहाहा' की प्रवृत्ति नहीं अतः उससे यहाँ पुंस्त्व बोधन नहीं किया, अतः टाप्
 होता है । इत् में 'लुपि युक्तवत्' से लिङ्ग का अतिदेश ही प्रमाण है यहाँ प्रत्ययलक्षणानाव से
 लुप्ततद्धित निमित्तक लोप् की आशा दुराशा मात्र ही है । द्वे अहनी प्रिये यस्य यहाँ त्रिपद
 बहुव्रीहि कर उत्तर पद परक अवान्तर तत्पुरुष कर अहन् को अह आदेश से द्वयहप्रियः । अहः
 अतिक्रान्तः अत्यहः टच् अह आदेश है ।

७९३ क्षुम्नादिषु च ८।४।३९।

एषु णत्वं न स्यात् । दीर्घाही प्रावृट् । एवं चैतदर्थमह इत्यदन्तानुकरणे
 क्लेशो न कर्तव्यः । प्रातिपदिकान्तेति णत्ववारणाय क्षुम्नादिषु पाठस्यावश्यक-
 त्वात् । अदन्तादिति तपदग्रहणान्तेह—परागतम् अहः पराहः ।

क्षुम्नादि गणपठित शब्दों के नकार को णकार नहीं होता है । दीर्घन् अहः यस्यां ऋतौ
 प्रावृषि इति दीर्घं सु अहन् सु बहुव्रीहि समास कर दीर्घाहन् शब्द से क्रियां लोप् मसंज्ञा अन् के
 अकार का लोप दीर्घाही यहाँ नकार को 'प्रातिपदिकान्त' से णकार प्राप्त है, उसका क्षुम्नादिषु से
 निषेध हुआ है । एतदर्थं अहं अदन्त रहे वहाँ ही णत्व, इलन्त रहे वहाँ णत्वामावार्थ अकारान्त
 अह का णत्वविधायक में अनुकरण है णत्व यहाँ प्राप्त ही नहीं है क्षुम्नादि में इसका पाठ (दीर्घाह)
 का व्यर्थ है वह सब कथन असंगत है, यहाँ तो प्रातिपदिकान्त से प्राप्त णत्व निषेधार्थ ही पाठ है ।
 अतः अदन्त का अनुकरण आदि प्रयास निष्प्रयोजनक एवं गौरवग्रस्त है, उसका अनाश्रयण ही
 उचित है । पराह में पूर्वपद एत्वं अकारान्त नहीं है अतः णत्व का अभाव है । अदन्तात् का
 अर्थ है एत्वत्वं अत्वं दोनो एकत्र विद्यमान रहे अर्थात् एत्वं अकारान्त पूर्वपद णत्वाविधान में
 अपेक्षित है । यहाँ दीर्घत्व अत्वं आकार में है ।

७९४ न संख्यादेः समाहारे ६।४।८९।

समाहारे वर्तमानस्य संख्यादेरह्लादेशो न स्यात् । संख्यादेरिति स्पष्टार्थम् ।
 द्वयोरहोः समाहारो द्वयहः । त्रयहः ।

समाहार में विद्यमान संख्या वाचक से पर अहन् को अह आदेश नहीं होता है । समाहार में
 संख्या का ही सम्भव है पुनः संख्यादि ग्रहण स्पष्ट ज्ञान के लिए है । अर्थात् व्यर्थ ही है । द्वि
 ओस् अहन् ओस् तद्धितार्थ से समास विभक्ति लुक्, टच्, टिलोप अह आदेश का निषेध द्वयहः ।
 तीन दिन का समाहार में त्रयहः ।

७९५ उत्तमैकाभ्याश्च ५।४।९०।

आभ्याम् अह्लादेशो न । उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थः पुण्यशब्दमाह । 'पुण्यैका-
 भ्याम्' इत्येव सूत्रयितुमुचितम् । पुण्याहम् । सुदिनाहम् । सुदिनशब्दः
 प्रशस्तवाची । एकाहः । उत्तमग्रहणमुपान्त्यस्यापि संग्रहार्थमित्येके ।
 संख्याताहः ।

उत्तम तथा एक शब्द से पर अहन् को अह आदेश नहीं होता है । अहः संकेतदेश मूत्र में
 अन्तिम पठित पुण्य शब्द को उत्तम शब्द करता है । कोऽं उत्तम का अर्थ उस मूत्र में अन्तिम से

पूर्व स्स्यात् को उत्तम शब्द कहता है, इन मतभेद ज्ञानार्थ उत्प्रेक्षम्यान् नहीं किया गया है
अन दयाश्रुत न्यासकरण में ही औचित्य है। 'उचितम्' शब्द निपरीत रक्षणा वृत्ति से अनुचित
परक ही है यथा 'उपकृत बहु सख' की तरह शत्रु के प्रति यह वक्ति—है मित्र का अर्थ शत्रु उपकृत का
अर्थ अरकून, सुजनता का अर्थ दुष्टता इन जीव का अर्थ अभी तुम मृत्यु को प्राप्त करो। पुण्यञ्च
तत् अह समास टच् टिलोप पुण्याहम्। शुभदिवस बोधक सुदिन शब्द है, सुदिनञ्च तत् अह
सुदिनाहम्। एकञ्च तत् अह एकाह। सस्यातञ्च तत् अह सस्याताह।

७९६ अग्रानामुरसः ५।४।९३।

टच् स्यात्। अग्रानामुर इष अग्रोरसम्। मुख्योऽय इत्यर्थः।

यहा अग्र शब्दार्थ प्रधान है। प्रधानार्थक उरस् शब्द से पर में टच् प्रत्यय होता है। मुख्य
अर्थ अर्थ में अग्राना उर अग्रोरसम् टच् टिलोप अग्रोरसम्।

७९७ अनोऽश्मायस्सरसां जातिसंज्ञयोः ५।४।९४।

टच् स्यात्, जातौ संज्ञाया च। उपानसम्। अमृतारम। फालायसम्।
मण्डूकसरसम्, इति जातिः। महानसम्। पिण्डारम। लोहितायसम्। जल-
सरसम्, इति संज्ञा।

जाति ए- संज्ञा में अनस, अमृतम्, अमृतस् सरस् इन से टच् समासान्न होता है। उपगतम्
अन, अमृतस्य अमृता, फालञ्च तत् अय, मण्डूकस्य सर, ये जाति के उदाहरण है। महत् च
तत् अन, पिण्डस्य अश्मा लोहितञ्च तत् अय, जलस्य सर यहा सर्वत्र समास एव टच्
प्रत्यय है। संज्ञा शब्द में प्रवृत्तिनिमित्त अन्य एव वाच्यार्थ अन्य रहता है, अवयवार्थ से भिन्न
समुदायार्थ संकेतितार्थ बोधक होता है।

७९८ ग्रामकौटम्ब्यां च तक्षणः ५।४।९५।

ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः। साधारण इत्यर्थः। कुट्या भन. कौट. = स्वतन्त्र
स चासी तक्षा च कौटतक्षः।

ग्राम एव कौट से पर तक्षन् शब्द को टच् समान्त्वान्त प्रत्यय होता है। ग्राम अत् तक्षन् स्
बड़ीसमास टच् ग्राम का साधारण बर्त = ग्रामतक्ष। अपनी कुटीया में रह कर शिल्प कला
निपुण बर्त है वह = कौटतक्ष है। श्रुतही वाचक कुटी समन्वित से नवार्थक अण् वृद्धि इकार
लोप से कौट। स चासी तक्षा समास टच् कौटतक्ष। मुरय बर्त। विष्कर्मा भी बर्त का नाम है।
श्रुत भाषा में उसको 'शुधार' कहते हैं।

७९९ अतेः शुनः ५।४।९६।

अतिश्रो वराहः। अतिश्रो सेवा (सेना)।

अति के उत्तर शन् शब्द को समासान्त टच् प्रत्यय होता है। कुत्ते को दीड को भी निरस्कार
करने वाला अर्थ में श्वानम् अतिक्रान्त में द्वितीया तत्पुरुष समास टच् टिलोप अतिश्रो क ?
बराह। श्वानम् अतिक्रान्ता सेवा यहा भी समास टच् कुत्ते स भी अघम = चीव सेवा है। कुत्ता
तो स्वतन्त्र विवरण करता है लेकिन तो उनसे भी बन्धित है अन इन दोनों से भी अघमतम
सेवा है। दोनों की समता वर्णन करनेवाले कवि ने अघाय किया है। खोर से भागनेवाली सेना
ऐसा अर्थ भी है 'सेना' यह भी मूल में पाठ है। टच् टिव है, क्रियाम् लोप।

८०० उपमानादप्राणिषु ५।४।९७।

अप्राणिष्विपमकोपमानवाचिनः शुनष्टच् स्यात् । आकर्षः श्वेव आकर्षश्च । अप्राणिषु किम् !, वानरः श्वेव वानरश्वा ।

प्राणिभिन्नार्थक उपमावाचक श्वन् शब्द से टच् प्रत्यय होता है । आकर्षः था श्व यहाँ श्वन् का ही अर्थ सदृशगमित है आकर्ष स् श्वन् स् 'उपमितन्' से समास टच् आकर्षश्च = खरिदान में धान्य आदि को खींच करने वाला लकड़ी से बना हुआ काठ जिसको पाँचा कहते हैं जिसमें पाँच काट के अलग २ एक लकड़ी में संयुक्त है उसका नाम आकर्षश्च है । गुर्जरभाषा में 'दन्तावली' कहते हैं । यह अर्थ चिन्त्य है । जहाँ उपमानार्थक नहीं यथा निष्क्रान्तः शुनः इति निश्चा' रूप ही होता है । प्राणिष्विपमकोपमा में टच् नहीं होता है, यथा-वानरश्वा ।

८०१ उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थनः ५।४।९८।

चाटुपमानात् । उत्तरसक्थम् । मृगसक्थम् । पूर्वसक्थम् । फलकमिव सक्थि फलकसक्थम् ।

उत्तर, पूर्व, मृग पूर्व से पर सक्थि शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है । काट की चौड़ी पट्टिया की तरह सक्थियुक्त को फलकसक्थम् कहते हैं ।

८०२ नावो द्विगोः ६।४।९९।

नौशब्दान्ताद् द्विगोष्टच् स्यात् न तु तद्धितलुकि । द्वाभ्यां नौभ्यामागतौ द्विनावरूप्यः । 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इत्यत्र अचीत्यस्यापकर्षणाद्धल्लादेर्न लुक् । पञ्चनावप्रियः । द्विनावम् । त्रिनावम् । अतद्धित लुकि किम्, पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः ।

नौशब्दान्त द्विगु से टच्प्रत्यय होता है किन्तु तद्धितप्रत्यय का जहाँ लुक् होता है वहाँ टच्प्रत्यय नहीं होता है । तद्धितार्थ में समास 'द्विगुमनुष्य' से रूप्यप्रत्यय से द्विनीरूप्य यहाँ नौशब्दान्त को टच् भाव आदेश द्विनावरूप्यः = दो नौकाओं से आया हुआ । अजादिप्रत्यय का ही 'द्विगोः' से लुक् होता है इत्यादि प्रत्यय का नहीं । पञ्चन् जस् नो जस् प्रिय सु बहुव्रीहि समास कर विभक्ति का छाप, उसका प्रत्ययलक्षण से प्रिय उत्तर पदपरक अवान्तर तद्धितार्थ से समास इससे टच् पञ्चनावप्रियः = पाँच नौकाएं प्रिय हैं जिस मनुष्य को वह । समाहार समास में द्विगोः टच् द्विनावन् त्रिनावन् । पञ्चभिः नौभिः क्रीतः यहाँ समास आर्हाय टच् 'अध्यधपूर्व' से लुक् है, अत टच् न हुआ । पञ्चनौः ।

८०३ अर्धाच्च ५।४।१००।

अर्धान्नावष्टच् स्यात् । नावोऽर्धम्, अर्धनावम् । क्लीबत्वं लोकान् ।

अर्धशब्द से उत्तर नौ शब्दान्त तत्पुरुष को समासान्त टच् प्रत्यय होता है । यथा— एकदेशि समास से नावः अर्धम् यहाँ टच् से अर्धनावन् । 'अर्ध नपुंसकन्' से समास होता है । नौशब्द को नपुंसकत्व लोकाधान है, त्रिद्विनिर्गय व्यवहार लोक से होता है ।

८०४ स्वार्याः प्राचाम् ५।४।१०१।

द्विगोरर्धाच्च खार्याष्टच् वा स्यात् । द्विखारम् । द्विखारि । अर्धखारम् । अर्धखारि ।

खारीशब्दान्त द्विगु से एव अर्धशब्दान्त समास से टच् प्रत्यय होता है । द्रव्यो खार्यो समाहार द्विखारम्, तद्विधार्थ से समाहार में समास टच ईकारलोप । पक्ष में द्विखारि यद्वा नपु सप्त ह्रस्व है । एकदेशि समास टच् अर्धखारम् । अर्धखारि ।

८०५ द्वित्रिम्यामञ्जलेः ५।४।१०१।

टच् वा स्यात् द्विगौ । द्वयञ्जलम् । द्वयञ्जलि । अतद्वितलुकीत्येव । द्वाभ्याम् अञ्जलिभ्या क्रीतो द्वयञ्जलि ।

द्विगुसमास में द्वि एव त्रि से पर अञ्जलि को विकल्प से टच होता है । जहा तद्विगुप्रत्यय उ-पक्ष होकर उसका लोप होता है यद्वा टच नहीं होता है । द्वयञ्जलम् यद्वा समाहार में द्विगु है । पक्ष में द्वयञ्जलि । द्वि औ अञ्जलि औ क्रीतार्थ में तद्विनाश विषयमें समास एव ठक प्र प-र उसका लुक् करने पर यद्वा टच न हुआ द्वयञ्जलि । यद्वा अञ्जलिशब्द पाणिद्वयार्थक नहीं क्योंकि उसने क्रयण क्रिया असम्भव है एव उसका कर्म क्रीण यद्वा भी सम्भव नहीं है अत अञ्जलि शब्द अञ्जलि परिमित धान्यादि अर्थक है परिच्छेद्य धान्य में परिच्छेदकत्व - अञ्जलित्व का आरोप है ।

८०६ ब्रह्मणो जनपदारूपायाम् ४।४।१०४।

ब्रह्मान्तान् तत्पुरुषादृच् स्यात् समासेन जानपदत्वमाख्यायते चेत् । सुराप्रे ब्रह्मासुराप्रेन्द्र ।

समास से देशत्व प्रतीयमान रहे यद्वा ब्रह्मन् शब्दान्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय होता है सामीप्य से ब्राह्मण का ही जनपदत्व प्रतीयमान रहे । 'सप्तमी शौण्ठे' से सप्तमी का योगविभाग से यद्वा समास टच नस्तद्धिते से टिलोप सुराप्रेन्द्र ।

८०७ कुमहृद्व्यामन्यतरस्याम् ५।४।१०५।

आभ्या ब्रह्मणो वा टच् स्यात् तत्पुरुषे । कुत्सितो ब्रह्मा कुम्रह्म । कुम्रह्मा ।

कु एव महत् शब्द से पर टच् तत्पुरुष में होता है कुगति से सप्तास टच् कुम्रह्म । पक्ष में कुम्रह्मा ।

८०८ आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४९।

महत आकारोऽन्दादेश स्यात् समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे । महाब्रह्म । महाब्रह्मा । महादेव । महाप्रातीय । समानाधिकरणे किम् ?, महत् सेवा, महत्सेवा । लार्क्षणिक विद्वान् प्रतिपदोक्त-सन्महदिति समासो प्रतीयते इति चेत् महाबाहुर्न स्यात् तस्मान्नलक्षणप्रतिपदोक्तयो प्रतिपदोक्त-स्येति परिमाणा नेह प्रवर्तते, समानाधिकरणसामर्थ्यात् । आदिति योगविभागादात्व प्रागेकादशस्य इति निर्देशाद्वा । एकादश । महतीशब्दस्य पुवत्कर्मधारयेति पुवद्भावे कृते आत्वम् । महाजानीया ।

ॐमहदात्वे घासकरविशिष्टेपूपसंख्यानं पुंवद्भावश्च० । असामानाधिकरण्यार्थमिदम् । महतो महत्या वा घासो महाघासः । महाकरः । महाविशिष्टः । ॐअष्टनः कपाले हविषि० । अष्टाकपालः । ॐगवि च युक्ते० । गोशब्दे परे युक्त इत्यर्थे गम्येऽष्टन आत्वं स्यात् । अष्टागवं शकटम् । अच् प्रत्यन्ववेत्यत्राजिति योगविभागाद् बहुव्रीहावप्यच् । अष्टानां गवां समाहारः—अष्टगवम् । तद्व्युक्तत्वाच्चकटमष्टागवमिति वा ।

नह् शब्द के अन्त्य अल् को आकारादेश होता है, समानविभक्त्यन्त होते हुए एकार्थबोधक शब्द उत्तर पद में रहते या जातीयर् प्रत्यय उत्तर रहते । महान् चासीं ब्रह्मा यदां सन्नमह्' से कर्मधारय ममास कर 'महत्' से टच् टिलोप आत्व से मदावृणः । टच् के अभाव में मदा-ब्रह्मा । महान् देवः आत्व महादेवः । महान् प्रकारः जातीयर् आत्व मदाजातीयः । बड़े की सेवा यदां पठौतत्पुरुष में महत्तः सेवा महत्सेवा यदां समानार्थक नहीं, न यदां समान विभक्ति ही है, न एकार्थबोधकत्व है । अतः आत्व न हुआ । आत्व विधायक नृत् में महत् शब्द को उच्चारण कर समास विधान स्थल में आत्व करने पर महान्ती वाहू यस्य सः यदां बहुव्रीहि में प्रतिपदोक्त महत् शब्द का उच्चारण कर समास नहीं वहां आत्व न हो कर इष्ट प्रयोग मदावाहुः नहीं बनेगा अतः इस सूत्र में कृत समानाधिकरण व्यर्थ होकर शापन करना है कि लक्ष्यप्रतिपदोक्त परिमापा अनित्य है यदां आत्वविधायक ज्ञान में नहीं लगेगी । आत्व से मदावाहु की सिद्धि हुई है । यदि वह परिमापा लगती तो कर्मधारय तमास में उत्तरपद समानार्थक समानविभक्त्यन्त ही मिलता समानाधिकरण सर्वथा व्यर्थ ही हो जाता, एक अधिक दश यदां 'आत्' योगविभाग से आत्व में पकादश । अथवा 'प्रागेकादशम्यः' इस निर्देश सामर्थ्य से आत्व हुआ है । महती प्रकारा मदा-जातीया यदां जातीयर् प्रत्यय कर त्रियाः पुंवत् से पुंवद्भाव करके आत्वविधान हुआ है ।

•घास कर विशिष्ट उत्तरपद रहते महत् के अन्त्य अल् को आत्व होता है । जदां समानाधिकरण उत्तरपद नहीं वहां आत्वार्थ यह वार्तिक है । महतः घासः महत्याः घासः यदां पूर्व से अप्राप्त आत्व था उसका इसने विधान कर उभयत्र मदाघासः सिद्ध हुआ । महतो महत्या वा करः महाकरः । करोति इति करः पचाटित्वात् अच्प्रत्यय है । विशिष्ट का अर्थ युक्त है, महतः महत्याः विशिष्टः महाविशिष्टः । पठौ तत्पुरुष है । •अष्टन् शब्द को आत्व होता है कपाल शब्द उत्तरपद रहते हवि-पूरुष अन्न में । अष्टन् कपालेषु संस्कृतः पुरोटाशः अष्टाकपालः, तद्वितार्थविषय में समास, 'संस्कृतं मद्याः' से अण्, 'दिगोलुंगनपत्ये से लुक् ।

यदां अर्थपूर्वात् लुक् यह व्याख्यान असङ्गत है, 'संस्कृतं मद्याः यह अनादीय है । •गो शब्द पर रहने लुक् अर्थ गम्यमान रहते अष्टन् को आत्व होता है । अष्टागवन् । यदां अष्टानां गवान् समाहार में 'तद्वितार्थोत्तरपदसमाहार' से समास आत्व टच् अष्टागवन् । अष्टौ गवः वर्तन्ते यत्र शकटे यदां बहुव्रीहि समास में आत्व पदं अच्प्रत्यन्ववेति अच् योगविभाग में बहुव्रीहि में भी करना । अष्टागवन् समाहार में है उमका शकट से सम्बन्ध संयोग है, तद्वत्पुनः में तत्र शब्द व्यवधान होता है, तादर्थ्यात् से । यह भी एक पक्ष है ।

८०९ द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यतीत्याः ६।१।४७।

आत् स्यात् । द्वौ च दश द्वादश । द्व्यधिका दशेति वा । द्वाविंशतिः ।

अष्टादश । अष्टाविंशतिः । अबहुव्रीहशीत्योः विम् ? द्वित्राः । द्वयशीतिः ॥
क्षेप्राक् शतादिति वक्तव्यम् । नेह द्विसहस्रम् ।

सख्या वाचक द्विशब्द एवं अष्टन् शब्द को आत्व होता है, किन्तु बहुव्रीहि में या अशीति शब्द उत्तरपद रहते अन्व नहीं होता है । द्वि औ दशन् अस् इन्द्र समास आत्व द्वादश । द्वाभ्याम् अधिका दश यद्वा यद्यमपद अधिक वा लोप करना । सख्यावाचक एवं सख्यावाचक वा साक्षात् समास नहीं यह यो एक पक्ष है उस मत से यह कवन है । द्वौ च विंशतिश्च द्वाविंशतिः । समास आत्व । द्वौ वा त्रयो वा 'द्वित्रा' यद्वा सख्या व्ययासत्र' से शुद्ध में बहुव्रीहि समास हुआ है, अतः आत्व न हुआ । दो या तीन तीन या चार ये द्वित्राः । पाच या छः ये षट्त्राः । आदि का ज्ञान करना । द्वित्रिका अशीति या द्वौ च अशीति च यद्वा आत्व न हुआ यन् से द्वयशीति = बदासी । उत्तरपद सरधावाचक शतसख्या से पूर्व सख्यावाचक रहे यद्वा हो आत्व होता है अतः 'द्विसहस्रम्' यद्वा आत्व न हुआ ।

८१० त्रेक्षयः ६।३।४८।

त्रिशब्दस्य त्रयस् स्यात् पूर्वविषये । त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । बहुव्रीहौ तु त्रिदशाः । सुजयं बहुव्रीहिः । त्रिदश । अशीती तु त्र्यशीतिः । प्राक्शतादित्येव । त्रिशतम् । त्रिसहस्रम् ।

त्रिशब्द को त्रयस् आदेश होता है पूर्वविषय में अबहुव्रीहि एवं अशीति में । यह आदेश सान्त त्रयस् है । 'मन्त्रिवेला' सूत्र में 'त्रयोदशो' इम पाठ से । त्रिदशा में 'सख्यया' सूत्र से शुद्ध में बहुव्रीहि समास है ।

८११ विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् ६।३।४९।

द्वयष्टनोक्तेश्च प्रागुक्तं वा स्यात्, चत्वारिंशदादौ परे । द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत् । अष्टचत्वारिंशत् । अष्टाचत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत् । त्रयश्चत्वारिंशत् । एष पञ्चाशत् पष्टि-सप्तति नवतिषु ।

चत्वारिंशत् आदि शब्द पर रहते द्वि, अष्टन्, त्रिदशब्द को पूर्वोक्त कार्य विकल्प से होने है । अर्थात् आत्व एवं त्रयस् आदेश रूप कार्य विकल्प से । उदाहरणों में कार्य स्पष्ट है । पञ्चाशत् आदि पर रहते भी यह कार्य होगा है ।

८१२ एकादेशैकस्य चादुक् ६।३।५६।

एकादिर्नब् प्रकृत्या स्यादेकस्य चादुगागमश्च । नवो विंशत्या सह समासे कृते एकशब्देन सह तृतीयेति योगविभागात् समासः । अनुनासिकविकल्पः । एकेन न त्रिशतिः-एकात्रविंशतिः । एकाद्विंशतिः । एकोनविंशतिरित्यर्थः । क्षेप्य उक्तं दत्तदशधासूत्तरपदादेः द्रुत्यं च घासु वेति वाच्यम् । षोडश । षोडा । षड्घा ।

एक शब्द है आदि में जिसको ऐसा नब् का नकार का लोप नहीं होता है अर्थात् प्रकृतिमात्र होना है । एवं एक शब्द को अदुक् आगम भी होता है । यद्वा अपवाद का विषय भविष्य में आनेवाला है वद्वा अन्तरङ्ग भी नलोप नब् ॥ नहीं होता है, उपसञ्जिष्यमाण न्याय से । वद्वा भविष्यद् अपवादविषयविरहितत्वेन उत्तरंग शास्त्रीय उद्देश्यतावच्छेदक गर्भ में संक्षेप करता है ।

यथा प्रकृत में—पूर्व नञ् का विशति का समान—‘न विशति तु’ नविशति: इसका ‘तृतीया’ योगविभाग से ‘एक वा नविशति’ का तृतीयातत्पुरुष समास कर के एक को अदक् आगम अनुनासिक ‘वरोऽनुनासिके’ से विकल्प होकर एकान्नविशति: एकाद्वनविशति: रूप देने है। एक का न विशति के समास के बाद यहाँ ‘नलोपो नञः’ से प्राप्त नलोप को प्रकृतिभाव से रोकता है किन्तु तृतीया तत्पुरुष के पूर्व में ही नकार का लोप अन्तरङ्ग है वह होना चाहिये किन्तु पूर्व कथनानुसार न हुआ। *दत्, दज, धा, पर रहने पप् का अन्त्यवर्ण को उकारादेश होता है, एवं उत्तर पद के आदि वर्ण को ष्टुत्व होता है, धा के धकार को विकल्प से ष्टुत्व जहाँ ष्टुत्व वहाँ ही उत्त्व होता है उत्त्व एवं ष्टुत्व दोनों सन्धियोग शिष्ट, है अतः सर्वत्र प्रवृत्ति इन दोनों की। पट् दन्ता अन्त्य यहाँ बहुव्रीहि समास कर ‘वयसि दन्तस्य दत्’ से दत् (दत्) आदेश कर पप् दत् उत्त्व गुण से षोडश का आदि दकार का टकार ष्टुत्व से कर षोडश का प्रथमवचन में षोडन् होता है। पप् जश् दशन् जस का समास कर उत्त्व ष्टुत्व से षोडश। प्रकार अर्थ में पप् से ‘नल्पाया विधार्थे धा’ से धाप्रत्यय कर उत्त्व ष्टुत्व से षोडश, पक्ष में पप् धा जत्वसे ट् पठ्या।

८१३ परपदलिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २।४।२६।

एतयोः परपदस्यैव लिङ्गं स्यात् । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरकुक्कुटाविमौ । अर्धपिप्पली । द्विगुप्राप्तापत्रालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः । पञ्चसुकपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडाशः । प्राप्ता जीविकां प्राप्ताजीविकः । आपत्रजीविकः । अलं कुमार्यै अलंकुमारिः । अत एव ज्ञापनात्समासः । निष्कौशाम्बिः ।

द्वन्द्व एवं तत्पुरुष समास में परपद का ही लिङ्ग होता है। कुक्कुट शब्द पुलिङ्ग है, मयूरी शब्द स्त्रीलिङ्ग है, जहाँ अनुप्रयुज्यमान ‘श्मे’ रहे वहाँ स्त्रीलिङ्गज्ञान करना, एवं अनुनयुज्यमान श्मी रहे वहाँ पुलिङ्ग ज्ञान करना। आदि उदाहरण में स्त्रीलिङ्ग है, द्वितीय उदाहरण में पुलिङ्ग है। अर्धपिप्पली में उत्तरपद स्त्रीलिङ्ग से अर्धपिप्पली स्त्रीलिङ्ग है इस सूत्र का बाधक वातिक कहता है कि द्विगु समास में एवं प्राप्त, आपत्र, अलंपूर्वक समास और गति समास में पर पद का लिङ्ग नहीं होता है। जैसे पञ्चकपालः यहाँ कपाल शब्द नपुंसक होने हुवे भी समासार्थ गत पुलिङ्ग हुआ है, पञ्चकपालः (पात्र) पकाया हुआ पुरोडाश। प्राप्ताजीविकः पुरुषः। इस बाधक से कुमार्यै एवं अलन् का चतुर्थी तत्पुरुष होता है। निष्कौशाम्बिः यहाँ समासार्थगत लिङ्ग पुलिङ्ग हुआ है।

८१४ पूर्ववदश्वडवौ २।४।२७।

द्विवचनमत्रम् । अश्ववडवौ । अश्ववडवान् । अश्ववडवैः ।

अश्व एवं वटवाशब्द के समास में पूर्वपद के समानलिङ्ग समास से होता है। सूत्र में द्विवचनविहित है, परिभाषा ‘नूत्रे लिङ्गवचनमत्रन्त्र’ इसमें अर्थ नपुंसकत्व का नपुंसकवचन ही प्रमाण है, समाशवाचक अर्धशब्द नित्य नपुंसक ही है पुनः नपुंसक ग्रहण इस परिभाषा धारणार्थ है, अतः तस्यापत्यम् में एकवचन एवं अपत्य में नपुंसकत्व दोनों अविवक्षित है। अथवा वटवा च इति द्वन्द्व में पूर्व अश्व पुलिङ्ग है समान से भी पुंस्त्व की ही प्रतीति हुई—अश्ववडवौ। यह ‘अश्ववट’ सूत्र का बाधक है।

८१५ रात्राह्वाहाः पुंसि ४।२।२९।

एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुस्येव । अनन्तरात्वात्परवह्निकताऽपवादोऽप्यय पर-
त्वात्समाहारनपुसकता बाधते । अहोरात्र । रात्रे पूर्वभाग पूर्वरात्र । पूर्वाह्ण ।
द्वयम् । सख्यापूर्व रात्र क्लीबम् । द्विरात्रम् । गणरात्रम् ।

रात्र एव अह इव शब्दान्त द्वन्द्व एव तत्पुरुष समास पुलिङ्ग में ही होता है । बाध्यविशेष
चिन्तापक्ष में यह समीपत्व 'परवह्निक' का ही अपवाद है तो भी समाहार में प्राप्त 'स नपुसकम्'
को भी परत्व के कारण बाध करता है । अद्वय रात्रिश्च अहोरात्र । रात्र पूर्वम्-पूर्वरात्र ।
यहा पूर्वशब्द अवयवार्थक है । अह पूर्व पूर्वाह्न । द्वयोरहो भव द्वयम् । सख्यावाचक पूर्वपद से
परपदस्थित रात्रिशब्दान्त तत्पुरुष नपुसक है । यहा द्वयो रात्र्यो समाहार द्विरात्रम्, तद्विधार्थ में
में ममास टच् नपु सकत्व है । इसी प्रकार त्रिरात्रम् । गणरात्रम् है ।

८१६ अपथं नपुसकम् २।४।३०।

तत्पुरुष इत्येष । अन्यत्र तु अपथो देश । कृतसमामान्तनिर्देशान्नेह-
अपन्या ।

मकासान्त अपथशब्द तत्पुरुष में नपु सक लिङ्गक होना है । अन्यत्र समासार्थगन लिङ्गभाक् है,
यहा न विधने पन्था यत्र देशो अपथो देश, यहा अन्य पदार्थ देशगत पु स्त्व है । 'पथो विमावा' मे
समासान्तप्रत्यय विकल्प है, पक्ष में अपन्या यहा समासात् प्रत्यय नहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं
है । 'पथ संख्याऽन्यमात्रे' बह्व्यमाण सूत्र से यहा गतार्थ है इस 'अपथम्' सूत्र अनावश्यक होने से
खण्डनीय है ।

८१७ अर्धचा पुंसि च २।४।३१।

अर्धर्चाश्च शब्दा पुंसि क्लीबे च स्यु । अर्धर्च । अर्धर्चम् । ध्वन ।
ध्वनम् । एव तीर्थ, शरीर, मण्ड, पीयूष, देह, अक्षुश कलश, इत्यादि ।

अर्धर्चादिगणपठित शब्द पुलिङ्ग एव नपुसक होना है । ऋच अर्धन् समास कर 'ऋक पूरव्यू'
से अ प्रत्यय समासान्त है, नपु सकत्व पक्ष में अर्धर्चम् । 'पुलिङ्ग मे अर्धर्च । ध्वजानि शब्द
उभय लिङ्गक है ।

८१८ जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् १।२।५८।

एकोऽप्यर्थो वा बहुवद् भवति । ब्राह्मणा पूज्या । ब्राह्मण पूज्य ।

आतिवाचक शब्द मे एव अर्थ में बहुवचन विवक्ष्यमे होना है । मकल ब्राह्मण वृत्ति एव
ब्राह्मण से इनर में रहनेवाली जाति ब्राह्मन्त्व है, इस आतिवाचक ब्राह्मण से एकवचन न्यायन
प्राप्त था किन्तु बहुवचन विवक्ष्य मे हुआ है, यथा—ब्राह्मणा पूज्या । यस्मै ब्राह्मण पूज्य । निन्य
एव अनेत्र में रहने वाली जाति है चार प्रकारके शब्द है जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द, एव
संज्ञाशब्द । संज्ञाशब्द को यदृच्छाशब्द भी कहते है नामार्थ=प्रातिपदिकार्थ के विषय में छ पक्ष है
१ जाति २ व्यक्ति ३ लिङ्ग ४ सरया ५ कारक ६ शब्द । 'न ब्राह्मण इत्याद्य' यहा जातिगत-
एकत्र अनेक ब्राह्मणवाचकशब्दमें आरोपित है, अन जातिगत एवत्व का बोधक एववचन है ।

८१९ अस्मदो द्वयोश्च १।२।५९।

एकत्वे द्वित्वे च विवक्षितेऽस्मदो बहुवचनं वा स्यात् । वयं ब्रूमः । पठे
अहं ब्रवीमि आवां ब्रूव इति वा । ॐसविशेषणस्य प्रतिषेधः ॐ । पटुरहं ब्रवीमि ।

एकत्व या द्वित्व विवक्षित हो तो अस्मद् शब्द से बहुवचन विकल्प से होता है । अहं ब्रवी-
नि अर्थ में पक्षमें वयं ब्रूमः । आवां ब्रूवः । विशेषण विशिष्ट अस्मत् शब्द से एकत्व या द्वित्व विव-
क्षित रहते बहुवचन विकल्प से नहीं होता है । यथा—निपुण मैं कहता हूँ यहाँ 'पटुराहं' नहीं
होता है ।

८२० फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे १।२।६०।

द्वित्वे बहुत्वप्रयुक्तं कार्यं वा स्यात् । पूर्वं फल्गुन्यां—पूर्वाः फल्गुन्यः । पूर्वं
प्रोष्ठपदे, पूर्वाः प्रोष्ठपदाः । नक्षत्रे किम् । पूर्वफल्गुन्ये माणविके ।

नक्षत्र वाचक फल्गुनी एवं प्रोष्ठपदा शब्द के द्वित्व अर्थ में बहुत्व प्रयुक्त कार्य विकल्प से
होता है । पूर्वफल्गुन्यां, पूर्वाः फल्गुन्यः आदि । पूर्वा फल्गुनी में उत्पन्न कन्याद्वय यहाँ फल्गुनी
द्वितीयान्त से युक्त अर्थ में अण् प्रत्यय है "नक्षत्रेण युक्तः कालः" सूत्रसे हुआ, इसका 'लुङ्विशेषः' से
लुप् = अदर्शन है, 'यः शिष्यते' न्याय से सूत्र तदभावार्थ अर्थ का बोधक है यहाँ इस सूत्रकी प्रवृत्ति
नहीं है । अतः द्वित्व ही रहेगा ।

८२१ तिष्यपुनर्वस्योर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् १।२।६३।

बहुत्वं द्वित्ववद् भवति । तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्यपुनर्वसू । तिष्येति किम् ,
विशाखानुराधाः । नक्षत्रेति किम् , तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः ।

तिष्य एवं द्विवचनान्तपुनर्वसूका नक्षत्रार्थ में द्वन्द्व समास में बहुवचन का नित्य ही
द्विवचन होता है । तिष्य एक, पुनर्वसु दो, दो एक तीन मिल बार द्वन्द्वोत्तर बहुवचन
प्राप्त था किन्तु इस ने द्विवचन ही बोधन किया । एक विशाखा एवं दो अनुराधा यहाँ बहुवचन
हुआ विशाखानुराधाः यहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं है ।

तिष्य नक्षत्रयुक्त कालोद्भव एवं पुनर्वसू कालोद्भव में अण्, लुक् से माणवकार्य वामेति विशेष्य
तथा है यहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं है, अतः बहुवचन नहीं होता है तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः ।

८२२ स नपुंसकम् २।४।१७।

समाहारे द्विगु द्वेन्द्वश्च नपुंसकं स्यात् । परवह्निर्नापवादः । पञ्चगवम् ।
दन्तोष्ट्रम् । ॐअकारान्तोत्तरपदो द्विगुः त्रियामिष्टः ॐ । पञ्चमूली । ॐआद्यन्तो
वा ॐ पञ्चखट्वी । पञ्चखट्वम् । ॐअनो नलोपश्च वा च द्विगुः त्रियाम् ॐ
पञ्चतक्षी । पञ्चतक्षम् । ॐपात्राद्यन्तस्य न ॐ । पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् ।
चतुर्युगम् । ॐपुण्यमुदिनाभ्यामहः क्लीवतेष्टा ॐ पुण्याहम् । मुदिनाहम् ।
ॐपथः संख्याव्ययादेः ॐ । संख्याव्ययादेः परः कृतसमासान्तः पथशब्दः क्ली-
वमित्यर्थः । त्रयाणां पन्थाः—त्रिपथम् । विरूपः पन्थाः—विपथम् । कृतसमासान्त-
निर्देशान्तेह, सुपन्थाः । अतिपन्थाः । ॐसामान्ये नपुंसकम् ॐ । मृदु पचति ।
प्रातः कमनीयम् ।

समाहार में दिगु एव द्वन्द्व नपुसक लिङ्ग होता है । यह सूत्र परपदगतलिङ्ग बोधक परवस्तिङ्गम् सूत्र का निषेधक है । पञ्चगवम्, पञ्चाना गवा समाहार इति तद्वितार्थं सूत्र से समाहार समास कर, गोऽततत्पुरुष होने से टच् प्रत्यय हससे नपुसकत्व बोधन से पञ्चगवम् । दान्ताथ ओष्ठो च यदा समाहार द्वन्द्व हससे नपुसकत्व से दन्तोष्ठम् । *भकारान्त शुब्द है उचर पद में जिसको ऐसा दिगु समास खोलिङ्ग है ऐसा समझना चाहिये । पञ्चाना मूलाना समाहार पञ्चमूली, समाहार में समास, वार्तिक से स्त्रीत्वबोधन दिगो' सूत्र से छीप्, मसङ्गा अवार लोप, पूर्वपद में लुप्तविभक्तिका प्रत्यय लक्ष्म से पदत्व, नलोप से पञ्चमूली । *आवन्तोत्तर पद दिगु में स्त्रीत्व वैकल्पिक है । पञ्चल्लवम् पञ्चल्लवो, पञ्चाना खट्वाना समाहार । * अन् है उचरपद का अवयव जिसका ऐसा अश्वन्तोत्तरपदक दिगु में विकल्प से स्त्रीत्व है, एव अन् का न लोप विकल्प से होता है । पञ्चतश्चो पञ्चतश्चम् • पात्रान्त उचरपदक दिगु में स्त्रीत्व इष्ट नहीं है । स नपुसकम् से नपुसक ही होगा । पञ्चाना पात्राणां समाहार पञ्चपात्रम् । जवाणां मुवनाना समाहार त्रिमुवनम् । समाहार में समास नपुमकत्व है । चतुर्णाम् शुगाना समाहार चतुर्गुणम् । * पुण्य एव सुदर्शन शब्द से पर अहन् तदन्त में नपुसकत्व इष्ट है । पुण्यञ्च छष्ट अह पुण्यहम् । सुदिनञ्च तत् अह सुदिनाहम् । * सख्यावाचक शब्द से पर एव अव्यय से पर ऊतसमासान्तपथिद् शब्द में स्त्रीत्व = नपुसकत्व इष्ट है । जवाणां यथा समाहार त्रिपथम् यथा 'ऋजूपरञ्च' से अ प्रत्यय है । 'न पूननात्' से सनामान्त निषेध होने पर इसकी प्रवृत्ति नहीं है यथा सुपन्था, अतिपन्था । जहा पुस्तव एव स्त्रीत्व आदि की अविवक्षा रहें वहा नपुसकलिङ्ग ही रहता है, यथा मृदु पचति पचधातु का अर्थ है—विकल्पित जनक व्यापार । यहा फल है—विकल्पित = रूपान्तरप्राप्ति । उसमें अनेक सम्बन्ध से विशेषण है मृदुपदार्थ, बड़ फलरूप किया का विशेषण है अत किया है, अत क्रियाविशेषण है क्रियाविशेषण में भी व्यपदेशिवद्भाव से कर्मत्व है, उसने द्वितीया है 'नामा ये नपुमकम्' से नपुसकत्व मान कर विभक्ति अम् का तुक कुशार है, 'फलमपि कण्ठशय' आशय शब्द नित्य पुल्लिङ्ग है । एतन्मूलक है—क्रियाविशेषणाना कर्मत्व नपुमत्वम्, धकवचनत्वञ्च' इति । प्रात कमनीयम् यहा कम धातु का अर्थ—इच्छाजनक व्यापार है, कमवे इच्छा का विशेषण प्रात पदार्थ है, वसते अम् विभक्तिका तुक से प्रात कमनीयम् ।

८२३ तत्पुरुषोऽनर्कमधारयः २।१।१९।

अधिकारोऽयम् ।

यहा ने अग्रिम सूत्रों में नन् समाम् एव कर्मधारय ने मित्र तत्पुरुषाधिकार है ।

८२४ संज्ञायां कन्योऽशीनरेषु २।४।२०।

कन्यान्तस्तत्पुरुष क्लीब स्यात् सा चेत् उशीनरदेशोत्पन्नाया कन्याया सज्ञा । सुशमस्यापत्यानि सौशम्यस्तेषां कन्या सौशमिकन्यम् । सज्ञाया किम्, वीरणन्या । उशीनरेषु किम्, दाक्षिकन्या ।

उशीनर देश में उत्पन्न यदि कन्या है तो क थान्त तत्पुरुष नपुमक लिङ्ग होता है । मूलग्रन्थ में न्युत्पत्ति का प्रदर्शन है किन्तु यह सज्ञा वाचक है, सज्ञावाचक का प्रवृत्तिनिमित्त मित्र है एव अवशिष्ट समुदाय से मित्र है (यहा सज्ञा अनादि गृहीत है, आधुनिक नहीं । सज्ञा न होने पर नपुसकत्वाभाव है, यथा वीरणकन्या, उशीनरदेश से मित्र सज्ञा में दाक्षिकन्या, यहा नपुसकत्व का अभाव है ।

८२५ उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिरयासायाम् २।४।२१।

उपज्ञान्त उपक्रमान्तश्च तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् तयोरुपज्ञायमानोपक्रम्य-
माणयोरादिः = प्राथम्यं चेदाख्यातुमिष्यते । पाणिनेरुपज्ञा—पाणिन्युपज्ञं ग्रन्थः ।
नन्दोपक्रमं द्रोणः ।

आद्य ज्ञान को उपज्ञा कहते हैं । उपज्ञायते इति इति उपज्ञा, 'आनश्चोपनमं' में अट् प्रत्यय
है । जिस प्रकार का उपदेश के बिना ही श्लोक निर्माण में वास्त्विक का ज्ञान । उपज्ञान = एक का
ज्ञान करके प्रथम । उपपूर्वक 'क्रमु पादविशेष' से भावमें धन् प्रत्यय है ।

उपज्ञान्त उपक्रमान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है, उपज्ञायमाण एवं उपक्रम्यमाण का आदि
अर्थात् प्राथम्य के आख्यान की इच्छा हो तो । इच्छा ही विवक्षित है । वस्तुतः स्थिति की
अपेक्षा नहीं भी हो तो भी कार्य होता है यथा 'त्वदुपक्रमं मौज्यन्' पाणिनेः उपज्ञा, यहाँ
पठितत्पुरुष है । पाणिन्युपज्ञा इमने नपुंसकत्व है पाणिन्युपज्ञन् ग्रन्थ = पाणिनिमन्वन्धि आद्य-
आद्य ज्ञानविषयीभूत ग्रन्थ अष्टाध्यायी है । पाणिनि को किसी अन्य के उपदेश बिना ही यह
प्राप्त है । नन्दस्य उपक्रमः नन्दोपक्रमम् । नन्दमन्वन्धि आदि ज्ञान से जन्य ज्ञान का
विषय द्रोण है । यहाँ उभयत्र पठो कर्ता है ।

८२६ छाया बाहुल्ये २।४।२२।

छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् पूर्वपदार्थबाहुल्ये । इक्षुणां छाया इति इक्षु-
छायम् । 'विभाषा सेना' इति विकल्पस्यायमपवादः । 'इक्षुद्यायानिपादिन्यः'
इति तु आ = समन्तात् निपादिन्य इत्यत्राह प्रश्लेषो बोध्यः ।

पूर्वपदार्थगत बाहुल्य में छायाशब्दान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है । यह सूत्र 'विभाषा सेना'
का बोधक है कवि कालिदास की रचना में इक्षुद्यायानिपादिन्यः यहाँ पाठ है उचित, व्यर्थ की
शङ्का एवं उनके समापनार्थ यत् भी व्यर्थ है । किन्तु कुछचित् ऐसा पाठ है तो आनिपादिन्यः से
ननापान करना ।

८२७ सभाराजाऽमनुष्यपूर्वा २।४।२३।

राजपर्यायपूर्वोऽमनुष्यपूर्वश्च सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् । इन-
सभम् । ईश्वरसभम् । क्षीपर्यायस्यैवेष्यतेक्षी । नेह-राजसभा, चन्द्रगुप्तसभा ।
अमनुष्यशब्दो रुढ्या रक्षःपिशाचादीन् आह । रक्षःसभम् । पिशाचसभम् ।

राजपर्याय पूर्वमें रहे या अमनुष्य पूर्व में रहे ऐसा समानान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है ।
इतस्य = राजः सभा इति इत्यमम् । यहाँ राजपर्याय का ही ग्रहण है । राजः सभा यही रूप
रहता है, एवं राजविशेषजरा रहे बरा भी नहीं, यथा—'चन्द्रगुप्तसभा' । अमनुष्य शब्द रुढिशक्ति
से गश्मन् एवं पिशाच आदि का बोधक है, केवल योगिक नहीं । योगरूढ ही नकला है । रक्षः
सभम् । पिशाचसभम् ।

८२८ अशाला च २।४।२४ ।

मंघातार्या या सभा तदन्तस्तत्पुरुषः स्त्री च स्यात् । स्त्रीसभम् = स्त्रीसंघात
इत्यर्थः । अशाला किम् ? धर्मसभा = धर्मशालेत्यर्थः ।

समाशब्द के दो अर्थ हैं—शाला एव सघात, उभयवाचक समास तत्पुरुष का नपुंसक 'समा राजाऽननुष्यपूर्वा' से कह चुके हैं। यहाँ शाला भिन्नार्थक अर्थात् सघात = समूह उसका वाचक कर ही ग्रहण है। सूत्रार्थ समुदायार्थक जो समाशब्द तदन्ततत्पुरुष नपुंसक होता है। स्त्रीणां समा इति स्त्रीसमम् = स्त्रियों का समुदाय। 'धर्मसमा' यहाँ समा शब्द का अर्थ गृह है। अतः परपद शाला का ही लिङ्ग स्थाव है।

८२९ निभाषा सेनासुराच्छायाशालानिज्ञानाम् २।४।२५।

एतदन्तस्तत्पुरुष क्लीब वा स्यात्। ब्राह्मणसेनम्। ब्राह्मणसेना। य-
वसुरम्, यवसुरा। कुड्यच्छायाम्। कुड्यच्छाया। गोशालम्। गोशाला। श्वनि-
शम्। श्वनिशा। 'तत्पुरुषोऽनन्तकर्मधारय' इत्यनुवृत्तेर्नेह-इदंसेनो राजा।
असेना। परमसेना।

इति तत्पुरुषः

सेना, सुरा, छाया, शाला एव निशा इन शब्दों में अन्त में जिनके ऐसा तत्पुरुष नपुंसक विकल्प से होता है। ब्राह्मणस्य सेना यही तत्पुरुष नपुंसकशब्द इस रूप से ब्राह्मणसेनम्। पक्ष में ब्राह्मणसेना आदि। कुड्य = दिवाल = मिति। इस सूत्र में पूर्वतः 'तत्पुरुषोऽनन्तकर्मधारय' की अनुवृत्ति है। अतः 'इदं सेना यस्य स' यहाँ बहुव्रीहि समास है इदंसेन अचपदार्थ राजा है इससे नपुंसकत्व बोधन न हुआ। 'अशाला' यहाँ नम् तत्पुरुष में नपुंसक नहीं है। परमा चासौ सेना परमसेना यहाँ कर्मधारय है। तत्पुरुष के अधिकार में पठित समास को तत्पुरुष कहते हैं।

प० श्री बा० कृ० पञ्चालिविरचित रत्नप्रभा में तत्पुरुष समास समाप्त।



अथ बहुव्रीहिसमासप्रकरणम् ॥ १७ ॥

८३० शेषो बहुव्रीहिः २।२।२३ ।

अधिकारोऽयम् । द्वितीयाश्रितेत्यादिना यस्य त्रिकस्य विशिष्य समासो नोक्तः
स शेषः = प्रथमान्तमित्यर्थः ।

जिन पदों का जिस अर्थ में अव्ययीभाव आदि समास नहीं कहा गया है उसको शेष कहते हैं, बहुव्रीहि प्रायः अन्य पदार्थ प्रधान होता है, किन्तु यह लक्षण 'उन्मत्तगङ्गन्' अव्ययीभाव में अतिव्याप्त है । शेष ग्रहण से 'उन्मत्तगङ्गो देशः' न हुआ वहाँ अव्ययीभाव विधान से शेष नहीं है । यह अधिकार सूत्र है, उत्तरोत्तर सूत्र जो इस प्रकरण के समास संज्ञा विधायक है उनमें जाकर समाससंज्ञा के पश्चात् उसकी बहुव्रीहि संज्ञा होती है इसको यह बोधन कराता है ।

नूत्रार्थ—जहाँ द्वितीयाश्रित आदि सूत्रों से समास जिस अनेक सुबन्तों का अवहित है ऐसे प्रथमान्तों को शेष कहते हैं । बहुव्रीहि पद का अधिकार कर के विहित समास को बहुव्रीहि कहते हैं ।

८३१ अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४ ।

अनेकं प्रथमान्तमन्यपदार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः । अप्रथमा-
विभक्त्यर्थे बहुव्रीहिरिति समानाधिकरणानामिति च फलितम् । प्राप्तमुदकं यं
प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढरथोऽनट्वान् । उपहृतपशुः रुद्रः । उद्धृतोदना स्यात् ।
पीताम्बरो हरिः । वीरपुरुषको ग्रामः । प्रथमार्थे तु न । 'वृष्टे देवे गतः । व्यधि-
करणानामपि न । पञ्चभिर्भुक्तमस्य । क्षप्रादिभ्यो घातुजस्य वाच्यो वा चोत्तर-
पदलोपः । प्रपतितपर्णः प्रपर्णः । नवोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपद-
लोपः । अविद्यमानपुत्रः—अपुत्रः । अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकम् अव्ययम् ।
अस्तिक्षीरा गौः ।

अन्यपदार्थ का बोधक अनेकप्रथमान्त पद का विकल्प समास होता है, यह बहुव्रीहिसंज्ञक है ।
अप्रथमाविभक्त्यर्थ में एवं समानाधिकरण सुबन्तों का बहुव्रीहि समास होता है यही इसका
सारांश है । प्राप्तमुदकं यं सः प्राप्तोदकः ग्रामः । प्रपूर्वक आप् धातु से कर्ता में क्त प्रत्यय से
प्राप्त का अर्थ प्राप्ति का कर्ता, कर्म यहाँ ग्राम है । कर्तृभूत उदक है । विप्रार्थ यह हुआ कि 'ग्राम-
कर्मकप्राप्ति कर्तृकम् उदकम्' । 'प्राप्त स् उदक स् समास, विभक्ति का लुक् प्राप्तोदकः = उदककर्तृक-
प्राप्तिकर्मः=ग्रामः ।

ऊढः रथः येन ऊढरथः अनट्वान् । ऊढः का वहन कर्म अर्थ है । वहन किया कर्ता अनुट् (वैल)
है—अनुट्कर्तृक वहन कर्मीभूतः रथः यह विग्रहार्थ है । समास करने के बाद ऊढरथः अनट्वान्
यहाँ रथकर्मकवहनकर्ता यह अर्थ है । उपहृतः पशुः यस्मै इति उपहृतपशुः रुद्रः । यहाँ विग्रहार्थ
यह है—रुद्रसंप्रदानकोपहार कर्मीभूतः पशुः । समासार्थ—पशुकर्मकोपहरणसम्प्रदानम् ।

उद्धृत ओदन यस्या सा उद्धृतोदना स्थाली । स्थात्यवधिकोद्धरणकर्म ओदन, विग्रहार्थः । ओदनकर्मकोद्धरणावधि स्थाली समासार्थः है । यहाँ कर्मादि समास से अभिहित है, अतः प्रथमा विभक्ति हुई है ।

पीतम् अम्बरं यस्य स पीताम्बरः = पीतयुगायय जो वस्त्र उसका धारणकर्ता इति है । वीरा-पुरुषा वर्तते यस्मिन् ग्रामे स वीरपुरुषको ग्राम = पौरुषार्थयुक्त पुरुषों का आश्रयभूत ग्राम । प्रथमान्धार्थ में समास नहीं होता है । वृष्टे देवे गतः—मेघवृष्टि के समय वह गया । व्यधिकरणो क्य भी बहुव्रीहि समास नहीं होता है । पाँच पुरुष कृतक भोजन का अधिकरण स्थान वाला यहाँ 'पञ्चभिः भुक्तम् अस्य' यह वाक्य ही है ।

पञ्चन् शब्दाश्च पञ्चत्वसम्बाधुक्त पुरुषरूप कर्तुः अर्थ का प्रत्यायक है । भुक्त में अधिकरणार्थक भोजनार्थक मुञ् पादुपूर कप्रत्यय है, विभिन्न विभक्तियाँ दोनों से है, एकाध्वोपकत्व नहीं है दोनों का । विभिन्नम् अधिकरणम् येषां तेषां न समास = 'व्यधिकरण का अर्थ है । प्रादि उपसर्ग से पर जो धातुजन्यरूप तदन्त का अन्यपद के साथ समास होता है । उत्तरपद का लोप होता है । प्रपतितं पूर्णं यस्य स प्रपणैः, यहाँ पतित का छाप हुआ है । नञ् से पर अन्वर्थवाची शब्दों का समास होता है एवं अस्त्यवक धातुजन्य शब्द का लोप होता है ।

इस वार्तिक में दो अर्थ हैं समासात्तो सूत्र सिद्ध है, अपूर्व नहीं, वह सिद्धवस्तु का अनुवादमात्र है, धातुजशब्दरूप का लोप यह द्वितीयार्थ अपूर्व इसका विधेय है । न विद्यमान-अविद्यमान अविद्यमान पुत्र यस्य, समास, विद्यमान का लोप अपुत्र = जिसको पुत्र नहीं है ।

पुत्रः नामक नरक पोक्तम्, तस्मात् प्रायते इति पुत्र नरक से पिता की रक्षा करनेवाला को पुत्र कहते हैं, शास्त्रोंमें कहा है कि "अपुत्रस्य गति नास्ति" किन्तु वह सुपुत्र रहे तब । कुपुत्र से अपुत्र रहना ही उचित है । पुत्र का लक्षण जीवित पिता की आज्ञा पालन करना, पिता के कृत होने पर सविधि आदादि कियार्थों को एक वर्ष तक करना, वर्षाँड में गया में मोक्षार्थ पिता आदि का आदर करना "किमि पुत्रस्य पुत्रता" इन तीनों से पुत्र का पुत्रत्व है । अस्त्यर्थ जहाँ नहीं वहाँ नहीं इसको प्रवृत्ति नहीं है । यथा 'अनुपनीतपुत्र' यहाँ केवल बहुव्रीहि समास है 'अनेकम्' सूत्र से । यद्वालोप नहीं । एवं जहाँ नञ् नहीं वहाँ भी लोपामात्र है, यथा निर्विद्यमानपुत्र' अस्ति शब्द जहाँ तिङन्तप्रतिक्रमक अन्वय है वहाँ अस्ति भुवत् का सु का लोप से प्रत्ययलक्षण से भुवन्त है, समास से अस्ति क्षीर यस्या सा 'अस्तिक्षीरा गौ' ।

८३२ स्त्रियाः पुंनद्भाषितपुंस्कादनुद् समानाधिकरणे स्त्रियाम-
पूरणीप्रियादिषु ६।३।३४।

भाषितपुस्कादनुद् ऊहोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहि, निपातनात्पञ्चम्या अलुक् पष्ठ्याश्च लुक् । तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुस्क तस्मात् पर ऊहभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकस्य शब्दस्य पुधाचकस्यैव रूप स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे चत्तपदे, न तु पुरण्या प्रियादौ च परत । गो स्त्रियोरिति ह्रस्व । चित्रा गावो यस्येति लौकिकविग्रहे चित्रा अस् गो अस् इत्यलौकिकविग्रहे चित्रगु । रूपवद्भाष्यः । चित्रा जरती गौर्यस्येति विग्रहे अनेकोत्प्रेर्बहूनामपि बहुव्रीहि । अत्र केचित्—चित्राजरतीगु । जरतीचित्रागुर्वा । एवं दीर्घातन्वी जङ्घ, । तन्वीदीर्घाजङ्घ । त्रिपदे बहुव्रीहौ प्रथम न भुवत्, उत्तरपदस्य

मध्यमेन व्यवधानात् । द्वितीयमपि न पुंवत्, पूर्वपदत्वाभावात् । उत्तरपद-
शब्दो हि समासस्य चरमावयवे रुढः । पूर्वपदशब्दस्तु प्रथमावयवे इति वदन्ति ।

वस्तुतस्तु नेह पूर्वपदमाक्षिप्यते । आनङ् ऋन् इत्यत्र चया । तेनोपान्त्यस्य
पुंवदेव । चित्राजरद्वगुरित्यादि । अत एव चित्राजरतयो गावो वस्येति द्वन्द्व-
गर्भेऽपि चित्राजरद्वगुरिति भाष्यम् । कर्मधारयपूर्वपदे तु द्वयोरपि पुंवत्, जरच्-
चित्रगुः । कर्मधारयोत्तरपदे तु चित्रजरद्वगवीकः । स्त्रियाः किम्, ग्रामणि
कुलं दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिः । भाषितपुंस्कात् किम्, गङ्गाभार्यः । अनूङ्-
किम्, वामोरुभार्यः । समानाधिकरणे किम्, कल्याण्य माता
कल्याणीमातः । स्त्रियां किम्, कल्याणी प्रधानं यस्य सः कल्याणीप्रधानः ।
पूरण्यान्तु—

यहां भाषितपुंस्काद् अनूङ् = उलोऽभावो यस्यान् पेशा बहुव्रीहि है । नोत्रत्वलक्षण निपातन
से यहां पञ्चमी विभक्ति का न्यायतः प्राप्त लुक् का अभाव है, एवं समासोत्तर पद्यी का लुक् अप्राप्त
है उसका लुक् है । प्रथम भाषितपुंस्क को व्याख्या विस्तृत कर चुके हैं । हुन् प्रवृत्तिनिमित्त
में एक पुंस्क से पर ऊङ् का अभाव हो जहां ऐसे खोवाचक शब्दों को पुंवदभाव होता है, किन्तु
पूरणार्थ प्रत्ययान्त (पूरणी) एवं प्रियादि से निम्न समानाधिकरण खोद्विक शब्द उत्तरपद
रहते । गोःस्त्रियोः से एत्वं हुआ उदाहरण में ।

समास में द्विविध विग्रह है—लौकिक एवं अलौकिक । यहां स्पष्ट ज्ञानार्थ द्विविध विग्रह
प्रदर्शन करते हैं, समासादि सर्वविध शास्त्रीय कार्य अलौकिक विग्रह में ही होता है ।
अलौकिक नाम इस लिए हुआ कि उस विग्रह लोक में उपयुक्त नहीं है । चित्रगुरिति चित्रा
अत् गो अत् यहां अन्यपदार्थ त्वानी है, समास, विभक्ति का लुक्, से चित्रागो? चित्र शब्द
पुंल्लिङ्ग खोलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग, है, इसका प्रवृत्तिनिमित्त=धर्म चित्रत्व है, तदयुक्त, चित्रशब्द भाषित
पुंस्क होने से पुंवदभाव से टापी की निवृत्ति हुई, एवं अन्त्य अच् ओकार का एत्वं से उकार हुआ
समुदाय से चित्रगुः? रूप की सिद्धि हुई है । रूपवती नार्या यस्य स यहां रूपवती स्नाया स्
समास, विभक्ति लुक्, पुंवदभाव, एत्वं, समुदाय से विभक्ति लुक् रूपवदन्त्यर्थः ।

अनेकमन्यपदार्थों में अनेक ग्रहण से तीन पदों का भी बहुव्रीहि समास होता है । यथा—‘चित्रा
जरती गोः यस्य सः’ यहां बहुव्रीहि समास विभक्ति का लुक् गौका ओकार का एत्वं से
‘चित्राजरतीगुः’ । जरती चित्रा गौर्यस्य स समास एवं एत्वं से जरतीचित्रागुः ।

इसी प्रकार दीर्घे तन्व्यो ऋक् यस्य सः दीर्घातन्व्योऽङ्गः । तन्वी दीर्घा ऋक् यहां
तीन पदों का बहुव्रीहि हुआ है, यहां प्रथम का इस लिए पुंवदभाव नहीं होता है कि
उत्तरपद से प्रथम शब्द अव्ययद्वारेण पूर्व नहीं है नध्यमपद व्यवधायक है । द्वितीयपद
(नध्यम पद का पुंवदभाव इस लिए न हुआ कि वर पूर्वपद नहीं है । उत्तरपद शब्द
यहां यौगिकार्थमात्र प्रत्यायक नहीं है किन्तु समास चरमावयव में रुढ़ है । इसी प्रकार
पूर्वपद भी समासावयव पद में रुढ़ है ।

यद्यपि सूत्र में पूर्वपद नहीं है, वेदल उत्तरपदे का ही अधिकार यहां प्राप्त है ।
किन्तु पूर्वपद दिना अनुपपन्न उत्तरपद है, अतः उत्तरपद से पूर्वपद का यहां आक्षेप है
न्यायतिरूप प्रमाण से । यथा पौनस्य से रात्रि भोजनवत् । तन्वयिद्वि लोक कहेते हैं कि

यहा उत्तरपद से पूर्वपद का आशेष नहीं है, जिस प्रकार मानच् विधायक 'मानच् ऋतो इन्द्रे' में। ऐसी अवस्था में उत्तर पद से अन्यवहित जो अन्त्य समीप मध्यम पद है उसका पुवद्भाव हम सूत्र से होना हो है।

यथा—चित्राजरदगुः । जरतीचित्रगुः । दीर्घानुबद्धः । तन्दीर्घानुबद्धः । इस प्रकार इन्द्र में चित्रा च जरती च चित्राजरत्स्यौ, चित्राजरत्स्यौ गावो यस्य स यहा भी चित्राजरदगुः । मध्यम पद का पुवद्भाव गो पर रहते है। यह भाष्य प्रयोग से भी शत होना है कि पूर्वपद का आशेष यहा नहीं है। कर्मधारय समास कर बहुव्रीहि में यथा जरती चासौ विशा च यहा पूर्वपद जरती का पुवद् भावकर जरथित्रा का गो के साथ बहुव्रीहि में गो पूर्व चित्रा का पुवद्भाव ने जरथित्रगुः । कर्मधारय पूर्वपद का उदाहरण देकर सम्प्रति कर्मधारय उत्तरपद का उदाहरण बना रहे है।

जरती चारसौ गो कर्मधारय समास गो उत्तर में जरती का 'पुंवत् कर्मधारय' सूत्र से पुवद्भाव हत्व जरदगुवी चित्रा जरदगुवी यस्य स पुवद् भाव कप् से चित्रजरदगुवीकः । कर्मधारयसमासोत्तर 'गौरतद्धितलुकि' से टच् प्रत्यय में अकार शेष ओ का अवादेश 'टिड्दानब्' से छौप् चित्रजरदगुवीकः । गाम नयति यद् कुलम् तत् ग्रामणि (कुल) दृष्टिर्यस्य स यहा पूर्वपद नपुंसक किङ् है, मतः पुवद्भाव न हुआ यहा 'क्षिवा' का प्रयोजन है। पुवद्भाव होने पर ग्रामणी होवा नपुंसक हत्व की निवृत्ति होती तो न हुई। माषिजपुंस्क सूत्र में कहते से नित्यस्त्रीकिङ् गङ्गा है गङ्गा गावा यस्य स यहा पुवद्भाव न हुआ। गङ्गामार्यः । अनुच्छेदे यहा स्त्री प्रत्यय कङ् है यहा पुवद्भाव न हुआ कङ् स्त्री निवृत्ति न हुई यथा धार्यकमार्यः । यही तत्पुरुष में पुवद्भाव न हो एतदर्थ सूत्र में समानाधिकरणे कहा है, पूर्वपदार्थ उत्तरपदार्थ के दोनों एकार्थवाचक रहे एवं पूर्वपद उत्तरपद समान विभक्त्यन्त रहे ऐसा यहा नहीं है यथा कल्याणवाः माता = कल्याणीमाता । उत्तरपद स्त्रीकिङ् रहे यह कहने से कहा उत्तरपद नपुंसक है यहा पूर्वपद का पुवद्भाव न हुआ, यथा कल्याणी प्रधानं यस्या ता, 'कल्याणीप्रधाना' । पूरणार्थक प्रत्ययान्त रहे यहा तो—

८३३ अप् पूरणीप्रमाण्योः ५।४।११६।

पूरणार्थकप्रत्ययान्तं यत् स्त्रीलिङ्ग तदन्तात् प्रमाण्यन्ताञ्च बहुव्रीहेरप् स्यात् । कल्याणी पञ्चमी यासा रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । स्त्री प्रमाणं यस्य स स्त्रीप्रमाणः । पुंवद्भावप्रतिषेधोऽप्यप्रत्ययश्च प्रधानपूरण्या-
नेव । रात्रिः पूरणी वाच्या चेत्युक्तोदाहरणे मुख्या । अन्यत्र तु ।

पूरण प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द, तदन्त एवं प्रमाण्यन्त से बहुव्रीहि समास में अप् प्रत्यय होता है। कल्याणी पञ्चमी यासा रात्रीणां ता कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । यहा पञ्चमी शब्द पञ्चन् से बद्ध अनुलोप ओप से सिद्ध है, यहा बट प्रत्यय को मट् आगम है (अप् प्रत्यय परमें ईकारलोप) जिन रात्रियों में पौनवी रात्रि कल्याण सुचा मङ्गलप्रद है। स्त्री प्रमाण यस्य स यहा समास अप् ईकार लोप, प्रमाण = वतुन्याकर्तव्य में निधायक स्त्री है जिस देश में यथा—भारत में सम्प्रति विजयी प्रधान मन्त्रिणी है, वह उच्चकोटि के निर्य में प्रमाणीमृता है—श्रीमन्दिरा देवी। पुवद्भाव का प्रतिषेध एवं अप् प्रत्यय वदा होता है। जहा प्रधान पूरणी हो। रात्रि शब्द उक्तोदाहरण में पूरणी है, हमने पूरा प्रत्ययान्त का प्राधान्य ज्ञान करना, अन्यत्र नहीं यह न कथि ॥ व्याख्यान समय स्पष्ट किया जायगा ।

८३४ नद्युत्तर ५।४।१५३।

नद्युत्तरपदाद् ऋदन्तोत्तरपदाच् च बहुव्रीहेः कप् स्यात् । पुंवद्भावः ।

नदी संशक या एत्वं ऋकार तदन्त उत्तर पद रहते बहुव्रीहि समास से कप् प्रत्यय समासा-
न्त होता है ।

८३५ केऽणः ७।४।१३।

के परेऽणो ह्रस्वः स्यात् । इति प्राप्ते ।

कप् प्रत्यय पर रहते अण् का एत्वं होता है । ऐसी प्राप्ति होने पर ।

८३६ न कपि ७।४।१४।

कपि परेऽणो ह्रस्वो न स्यात् । कल्याणपञ्चमीकः पक्षः । अत्र तिरोहितावय-
वभेदस्य पक्षस्यान्यपदार्थतया रात्रिरप्रधानम् । बहुकर्तृकः । अप्रियादिषु किम् ?
कल्याणीप्रियः । प्रिया, मनोज्ञा, कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, भक्तिः, सचिवा
स्वसा, कान्ता, क्षान्ता, समा चपला, दुहिता, वामा, अवला, तनया,
प्रियादिः । सामान्ये नपुंसकम् । दृढं भक्ति र्यस्य स दृढभक्तिः । स्त्रीत्वविव-
क्षायान्तु दृढाभक्तिः ।

कप् प्रत्यय पर रहते अण् का एत्वं नहीं होता है ।

कल्याणी पञ्चमी यस्य सः । यदा अन्यपदार्थ पक्ष है, पन्द्रह रात्रि के समुदाय को पक्ष कहते
हैं, जब पक्ष शब्द अवयव गत भेद को तिरोहित करके पक्षत्वेन पक्ष रूप अर्थ का बोधक है तब
पक्ष ही प्रधान है, पूरणप्रत्ययान्त पञ्चमी उसका अर्थ पाँचवीं रात्रि यह अर्थ अप्रधान है, अतः
यदा अण् प्रत्यय एवं पुंवद् भाव का निषेध न हुआ कप् प्रत्यय पर रहते पञ्चमी के इकार का एत्वं
न हुआ । ऋकारान्तोत्तरपद में कप् प्रत्यय का उदाहरण-बहवः कर्तारः यत्र बहुकर्तृकः । प्रियादि
गण पठित जहाँ उत्तरपद रहे वहाँ पुंवद्भाव न हुआ । कल्याणी प्रिया यस्य सः-
कल्याणीप्रियः । भक्ति का विशेषण स्त्रीलिङ्ग दृढा होना चाहिये किन्तु 'सामान्ये नपुंसकम्' से दृढं
भक्ति र्यस्य सः दृढभक्तिः । स्त्रीत्वको विवक्षा में तो दृढाभक्तिः ।

८३७ तसिलादिष्वाकृत्यसुचः ६।३।३५।

तसिलादिषु आकृत्यसुजन्तेषु परेषु स्त्रियाः पुंवत् स्यात् । परिगणनं कर्त-
व्यम्, अन्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहाराय । त्रतसौ तरप्तमपौ । चरट्जातीयरौ ।
कल्पवृक्षेऽपीरौ । रूपपाशपौ । थाल् । तिलथ्यनौ । बहुव्रीषु बहुत्र । बहुतः ।
दर्शनीयतरा । दर्शनीयतमा, घस्येति वक्ष्यमाणो ह्रस्वः परत्वात्पुंवद्भाव्यं बाधते ।
पट्वितरा । पट्वितमा । पट्टजातीया । दर्शनीयकल्पा । दर्शनीयदेऽपीया ।
दर्शनीयरूपा । दर्शनीयपाशा । बहुथा । प्रशस्ता वृक्षी वृक्षतिः । अजाभ्यो
हिता अजथ्या । ॐ शक्ति बहुल्पाथस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः ॐ । बह्वीभ्यो देहि
बहुशः । अल्पाभ्यो देहि अल्पशः । ॐ त्वतलो गुणवचनस्य ॐ । शुक्लाया
भावः शुक्लत्वम् । गुणवचनस्य किम् ?, कर्त्तव्य भावः कर्त्रीत्वम् । शरदः कृता-

तार्थतेत्यादौ तु सामान्ये नपुंसकम् । ऋ भस्यादे तद्धिते ऋ । हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम् । अदे किम्, रौहिणेयः । स्त्रीभ्यो ढगिति ढोऽत्र गृह्यते । अग्ने ढकिं तु पुवदेव । अग्नायी देवताऽस्य स्थूलपाकस्याग्नेयः ।

ततिलादि कृत्वस्य प्रत्यय पर्यन्त प्रत्यय पर रहते स्त्रीवाचक का पुवद्भाव होता है । लक्ष्य में अप्रवृत्तिरूप अव्याप्ति दोष एवं जलक्ष्य में प्रवृत्ति रूप अतिव्याप्ति दोष के परिहार के लिए यहाँ प्रत्ययों का परिगणन अत्यावश्यक है । मूलग्रन्थ में प्रत्यय निर्देश स्पष्ट किया है । सप्तम्यन्त किमादिसर्वनाम से तल् प्रत्यय-बद्धीषु इति बहुषु, पुवद्भावः । पञ्चम्यन्त से तसिल् बद्ध्या इति बहुषु । अनयामभ्ये इय दन्तनीया तरप्, पुवद्भावः । तमप् पुवद्भाव-दर्शनीयतमा । अनयोमभ्ये इयम् अतिशयेन पट्वी इति यहाँ पुवद्भाव को वरूप सूत्र विहित हस्तबाध करता है अत्र हस्त्व ही हुआ पट्वितरा, पट्वितमा । पट्वी प्रकारा पट्व्यातीया । ईषद् असमाप्ता दर्शनीया दर्शनीयकल्पा । एव देशीयर् से दर्शनीयदेशीया । प्रशस्ता दर्शनीया इति दर्शनीयरूपा । कुत्सिता दर्शनीया दर्शनीयपाशा । बद्धी प्रकारा बहुषु । प्रशस्ता बद्धी इति भवति । अजाभ्यो हिता अजव्या । शस् प्रत्यय पर रहते बहु अर्थ अल्प अर्थक स्त्रीवाचक का पुवद्भाव होता है । मङ्गलमें बद्धीभ्य देहि बहुषु । अमङ्गलमें अवदाभ्या देहि अरपश । एवं एव तल् प्रत्यय पर रहने गुणविशिष्टगुणी (द्रव्य) वाचक स्त्रीलिङ्ग का पुवद्भाव होता है । शुद्धा से भावार्थकत्वप्रत्यय एवं पुवद्भावः । शुद्धत्वम् । कर्त्रीत्वम् यहाँ गुणवाचक-त्व नहीं पुवद्भाव का अभाव है । कृतार्थात् न हुआ यहाँ अर्थशब्द नपुंसक है । १० दमिन्नतद्धित प्रत्ययविधित्ति रदे यहाँ मसहक स्त्रीवाचक शब्द का पुवद्भाव होता है । अदे में डे विवक्षितार्थपरक है, अतः प्रत्ययोत्पत्ति के पूर्व में ही पुवद्भाव होता है । यथा—हस्तिनीनां समूह हास्तिकम् । यहाँ पुवद्भावकर हस्तिन् से 'अचित्तहस्ति' सूत्र से ठक् इकादेश आदिशुद्धि 'नस्तद्धिते' से टिलोप हास्तिकम् ।

विमर्श—यहाँ कोई शङ्का करता है कि पुवद्भाव न कर ठक इकादेशकर के यत्येति च से ईकार का लोपकर हास्तिन् वी टिका लोपसे प्रयोगसिद्धि होती है इसको पुवद्भाव बोधन धर्म्य है, इस शङ्का का समाधान—यत्येति लोप 'असिद्धवदन्नाभाव' से आसीयत्वेन असिद्ध होने से टिलोप नहीं होगा । अथवा स्थानिवद् भाव से भी टिलोप नहीं होगा । शस् साहचर्य से ठक् भी भवप शब्द विहित का ही ग्रहण है, अतः 'ठक्शतो' से यहाँ पुवद्भाव सिद्ध नहीं है । एवं सूत्रप्राप्तपुवद्भाव का ही 'आदेश' निषेधक है, यहाँ तो वार्तिक प्राप्त पुवद्भाव होता ही है 'हास्तिकम्' काय प्रयोग-सिद्ध हुआ ।

रौहिण्या अपत्यम् रौहिणैव बहो पुवद्भाव ठक् होने से न हुआ । यदि पुवद्भाव होता तो रौहित्य बनता । रौहित् से 'वर्णात्' सूत्र से ऋष् एवं नकारादेश विहित है । राहिणी । यहाँ प्रतिपक्षोक्त परिभाषासे स्त्रीभ्यो ठक् का ग्रहण है नहीं पुवद्भाव का प्रतिषेध । अन्य ठक् में पुवद्भाव होता ही है यथा अग्नायी देवता अस्य पाकस्य यहाँ अग्नेठक् से ठक्प्रत्यय है, पुवद्भाव हुआ—आग्नेयः ।

सपत्नीशब्दस्त्रिधा । शत्रुपर्यायात्सपत्नशब्दाच्छ्राद्धरथादित्वात् ङीन्येकः । समानः पति रस्य इति विप्रदे विवाहनिबन्धनं पतिशब्दमाश्रित्य नित्यस्त्री-लिङ्गो द्वितीयः । स्वामिपट्यायपतिशब्देन भाषितपुस्कस्तृतीयः । आद्ययोः शिवाद्यण् । सपत्या अपत्य सापत्नः । तृतीयात्तु लिङ्गविशिष्टपरिभाषया पत्युत्तरपदलक्षणो ण्य एव, न त्वण् । शिवादौ रुढयोरेव ग्रहणात्, सापत्यः । ऋठक्छोसश्च । भवत्याख्यात्रा भावत्का । भवदीया । एतद्वयार्तिकम्, एक-

तद्धिते चेति सूत्रं न कर्तव्यम्, क्लृप्तसर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। इति भाष्य-
कारेष्ट्या गतार्थत्वात् । सर्वमयः । सर्वकाम्यति । सर्विका भार्या यस्य सः सर्वक-
भार्यः । सर्वप्रियः, इत्यादि । पूर्वस्यैवेदम्, भस्त्रैपाज्ञाद्वेति लिङ्गात् । तेनाकचि
एकशेषवृत्तौ च न । सर्विका । सर्वाः । क्लृप्तकुक्कुट-यादीनामण्डादिपुंक्लृ । कुक्कुट-या
अण्डं कुक्कुटाण्डम् । मृग्याः पदं मृगपदम् । मृगक्षीरम् । काकशावः ।

सप्तमी शब्द तीन प्रकार का है— सप्तमः शब्दः । इस अर्थ का वाचक सप्तम शब्द से लोन्
प्रत्ययान्त सप्तमी शब्दः । विवाहप्रयुक्त तुल्यपति युक्त में सप्तमी अर्थ में नित्यस्त्रीलिङ्ग है,
स्वामिपत्यां वाचक भाषितपुंक्त तृतीय है । पूर्वोक्त दो शिवादिगण पठित होने से अण् प्रत्यय
होता है, 'योगादूर्ध्विलीयसी' न्याय से । यौगिकार्थ विलम्ब से रूढि अर्थ का शीघ्रता से ज्ञान इस
अन्तरङ्ग परिमाणा मूलक ही योगादूर्ध्विलीयसी है, अपूर्व नहीं है । सप्तमी से अण् एवं पुंवद्भाव
हुआ—साप्तमः । तृतीय से लिङ्गविशिष्टपरिमाणा बल से ण्य प्रत्यय ही है, अण् नहीं । शिवादिगण में
रूढ का ही ग्रहण है वह प्रथम कह चुके हैं । तृतीयमें साप्तम्यः । ठक् एवं शस् प्रत्यय की विवक्षा में
या पर रहते स्त्री वाचक का पुंवद्भाव होता है । भवत्याः छात्राः यहाँ भावत्काः ठक्
पुंवद्भाव इकादेश को बाधकर 'इससु' से कादेश है । छस् में भवदीयाः । यहाँ भवती का भवत्
पुंवद्भाव से । यह वार्तिक एवं 'एकतद्धिते' उत्त्वविधायक दोनों की आवश्यकता नहीं है । व्यापक
वचन यह है - 'सर्वनाम्नो' उससे पुंवद्भाव में भावत्काः, भवदीयाः, एकस्या आगतम् एकरूपम् ।
एकस्याः क्षीरम्—'एकक्षीरम्' आदि को सिद्धि होती है । नामपातुरूपा वृत्ति—सर्वा काम्यति सर्व-
काम्यति । सर्विका भार्या यस्य सर्वकभार्यः । उभयत्र पुंवद्भाव हुआ । वृत्तिवट्टक अनेक भाग मध्य में पूर्व
सर्वनाम रहे वहाँ ही पुंवद्भाव 'सर्वनाम्नो' से होता है । अन्यथा एषा दा इनको क से पूर्व आप्
पर रहते इकार विधान निर्विषय हो जायगा । मन्त्रोपा सूत्रव्यर्थ होगा अतः 'पूर्वस्यैवेदम्' ।
यह शान्य वचन सिद्ध हुआ ।

इससे सर्विका यहाँ अकच् में पुंवद्भाव न हुआ । एवं सर्वा च सर्वा च सर्वा च, इति सर्वाः यहाँ
एकशेष रूपा वृत्ति में पुंवद्भाव न हुआ, वृत्ति घटक अनेक अंश नहीं एवं उन अंशों के अभाव से
तन्त्रिरूपितपूर्वत्व का तो अत्यन्ताभाव यहाँ है । •अण्णादि उत्तरपद रहते स्त्रीलिङ्ग कुक्कुटी आदि का
पुंवद्भाव होता है । कुक्कुट्याः अण्डन् यहाँ समास, पुंवद्भाव से कुक्कुटाण्डन् । जातिमात्रपरक कुक्कुट
से अण्ड का समास होकर प्रयोगसिद्धि हो हो जाती है । स्त्रीलिङ्ग कुक्कुटी का अण्ड के साथ
समास नहीं होता है अनभिधान से । इस वार्तिक की आवश्यकता नहीं है, "वयालक्ष्मणप्रयुक्ते" ।

८३८ क्यङ्मानिनोश्च ६।३।३६।

एतयोः परतः पुंवत् । एनीवाचरति एतायते । श्येनीवाचरति श्येतायते ।
स्यभिन्नां काञ्चिद् दर्शनीयां मन्यते दर्शनीयमानिनी । दर्शनीयां त्रियं मन्यते
दर्शनीयमानी चैत्रः ।

वर्गवाचक पद एवं श्येत से लोप् तकार को नकार से एनी एवं श्येनी स्त्रीलिङ्ग में रूप है । क्यङ्
तथा पुंवद्भाव से एतायते । श्येतायते । अपने से भिन्न स्त्री को दर्शनीय माननेवाली भी दर्शनीया-
मानिनी पुंवद्भाव यहाँ हुआ । मनश्च से णिनि प्रत्यय से गानिन् इससे लोप् मानिनी ।
पुंलिङ्गने मानी होता है, दर्शनीया मानी पुंवद्भाव दर्शनीयमानी चैत्रः ।

८३९ न कोपधायाः ६।३।३७।

कोपघाया स्त्रिया न पुवत् । पाचिकाभार्य । रसिकाभार्य । मद्रीकायते ।
मद्रिकामानिनी । ऋकोपघप्रतिषेधे तद्धितबुग्रहणम्* । नेह-पाका भार्या यस्य
स पाकभार्य ।

नवारोपध स्त्री वाचक का पुवद्भाव नहीं होता है । पचतीति पाचिका ण्वल् अक टाप् इकार
'प्रत्ययस्थात्' से हुआ । पाचिका भार्या यस्य स यहाँ स्त्रिया पुवत्' से प्राप्त पुवद्
भाव का निषेध है । रस अस्ति अस्या ठक्प्रत्यय, इकादेश रसिका, रसिका भार्या यस्य
स रसिकाभार्य पुवद्भाव न हुआ । टाप् इकार की निवृत्ति न हुई । मदे मवा मद्रीका ण्वल्प्रत्यय
है—मद्रिकायते यहाँ 'व्यङ्ग्यानिनोश्च' ली प्राप्त पुवद्भाव का निषेध है । मद्रिकामानिनी यहाँ
गिनि प्रत्ययान्त मानिन् स्त्रिया मानिनी पुवद्भाव निषेध है । न्न कोपघाया से कोपघ में
ओ पुवद्भाव का प्रतिषेध होता है वहाँ तद्धित ग्रहण करना एवं हु ग्रहण करना ।
तद्धित एव हु का इन्द्र समास है, ग्रहण का प्रत्येक से सम्बन्ध है । तद्धितप्रत्यय
वटक वकार या तुल्यानिक अक्षदेश का ककार कोपघ से गृहीत है । अन्य नहीं । पाका में ककार
आतु का वकार की 'चना' सूत्र से कृत्व हुआ है अतः पाका भार्या यस्य स' पाकभार्य यहाँ
पु वद्भाव हुआ । निषेध का विषय नहीं है ।

८४० संज्ञापूर्णयोश्च ६।३।३८।

एतयोर्न पुवत् । दत्ताभार्या । दत्तामानिनी । दानक्रियानिमित्त. स्त्रिया पुसि
च सज्ञाभूतोऽयमिति भाषितपुस्कत्वमस्ति । पञ्चमीभार्य । पञ्चमीपारा ।

सहावाचक एव पूरणपरवान्त स्त्रीवाचक का पु वद्भाव नहीं होता है । दान देनेवाली स्त्री की
सहा दत्ता है, दत्ता भार्या यस्य स दत्ताभार्य । स्वादत्ता मानिनी यहाँ भी पुवद्भाव का अभाव है, दत्ता
मानिनी । दत्ता शब्द भाषितपुस्क एवं योगिक है । क्योंकि दानक्रिया कर्तृत्व इसका प्रवृत्तिनिमित्त है ।
वह पुवच साधारण भी है । पञ्चानां पूरणी पञ्चमी, पञ्चमी भार्या यस्य स पञ्चमीभार्य यहाँ भी
पु वद्भाव प्रतिषेध है ।

८४१ वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे ६।३।३९।

वृद्धिशब्देन रिहिता या वृद्धिस्तद्व्येतुर्यस्तद्धितोऽरक्तविकारार्थस्तदन्ता
स्त्री न पुवत् । सौधनीभार्य । माथुरीयते । माथुरीमानिनी । वृद्धिनिमित्तस्य किम्,
मध्यमभार्य । तद्धितस्य किम्, काण्डहलाभार्य । वृद्धिशब्देन किम्, तावद्-
भार्य । रक्ते तु कापायी वन्था यस्य स कापायवन्थ । विकारे तु हैमो मुद्रिका
यस्येति हैममुद्रिक । वृद्धिशब्देन वृद्धि प्रति फलोपघानाभावादिह पुवत्—
यैयाकरणभाय । सौवन्धभार्य ।

वृद्धिशब्द की उच्चारण करके जो वृद्धि उसका कारणीभूत ओ रक्तार्थक एवं विकारार्थ भिन्न तद्धित
प्रत्यय तदन्त स्त्रीवाचक शब्द का पुवद्भाव नहीं होता है । सूत्रे मवा सौधनी यहाँ मवार्यक अण्
प्रत्यय है, एवं आदि वृद्धि ङीप् अकारलोप से सौधनी सा भार्या यस्य स सौधनीभार्य । यहाँ पुवद्भाव
न हुआ । माथुरीयते यहाँ व्यङ्ग्यानिनोश्च का यद् निषेधक है । माथुरीमानिनी । मध्ये मवा मध्यमा
सा भार्या यस्य स मध्यमभार्य यहाँ मप्रत्यय वृद्धिनिमित्त न होने से 'स्त्रिया' से पुवद्भाव हुआ
है । काण्ड तुनातीति यहाँ कर्मण्वण् से अण् प्रत्यय, उपपत्तमास ङीप् काण्डव्ययी भार्या यस्य स

यहां वृद्धिनिमित्तक कृत् प्रत्यय है। पुंवद्भाव हुआ है। तावती भार्या यस्य सः यहां आ सर्वनान्तः से तद् के दकार को आकारादेश, वह वृद्धिशब्दोच्चरित वृद्धिशब्द से विधीयमान नहीं है, अतः पुंवद्भाव हुआ। रक्तार्थक अण् में कापायी कन्या यस्य स कापायकन्यः पुंवद्भाव है। हेमन्तः विकारा ईमां सा मुद्रिका यस्य स हेममुद्रिकः, पुंवद्भाव हुआ यहां विकारार्थ अण् है। तस्य विकारः से।

विमर्श—निमित्त कारण को कहते हैं, निमित्तवृत्तिधर्म को निमित्तता या कारणता कहते हैं। कारणता दो प्रकार की है—स्वरूपयोग्यतारूपा, एवं फलोपधानतारूपा। यथा घटं प्रति दण्डः कारणम् यहां जिस दण्ड से घट रूप कार्य की उत्पत्ति होती है उस दण्ड में घट निर्माणरूप फलोपधायकता रूपा कारणता है। एवं कुन्दाल के गृह कोण में रक्ता हुआ जो दण्ड है उनमें स्वरूपयोग्यस्वरूपा कारणता है। कारणता में रहनेवाला धर्म = कारणतावच्छेदक धर्मस्वरूप कारणता स्वरूप योग्यनान्ता कारणता करते हैं, प्रकृत में कारण दण्ड है कारणता दण्ड में है कारणताऽवच्छेदक धर्म न दण्डत्व न दान् गृह कोण स्थित दण्ड भी है। प्रकृत में जिस नखितनिमित्त वृद्धिरूप कार्य लक्ष्य में हुआ हो वहां ही वह पुंवद्भाव का निषेधक है यहां निमित्तता = कारणता फलोपधायकतारूपा ही गृहीत है। वैयाकरणी भार्या यस्य सः यहां वैयाकन्यभार्यः पुंवद्भाव का निषेध न हुआ। एवं सौवशी भार्या यस्य यहां भी पुंवद्भाव से सौवश्वभार्यः। क्योंकि अण् निमित्त वृद्धि को 'न चान्यान्' ने पेच् ने बाध किया है, अतः यहां नखित प्रत्यय अण् निमित्तक वृद्धि रूप कार्य नहीं हुआ है।

८४२ स्वाङ्गाच्चेतः ६।३।४०।

स्वाङ्गाद् य ईकारस्तदन्ता स्त्री न पुंवत्। सुकेशीभार्यः। स्वाङ्गात् किम्, पटुभार्यः। ईतः किम्, अकेशभार्यः। क्लृप्तामानिनीति वक्तव्यम्। सुकेशमानिनी।

स्वाङ्गावाचक ने विहित जो ईकार तदन्त स्त्रीवाचक का पुंवद्भाव नहीं होता है सुकेशी भार्या यस्य सः सुकेशीभार्यः। यहां स्वाङ्गाच्चोपसर्जनावत् से सुकेश से छीप् प्रत्यय है। यहां 'प्रियाः पुंवद्भाषित' से प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध हुआ है। गुणवाचक से टाप् पट्वी सा भार्या यस्य स यहां पूर्वपद स्वाङ्गावाचक नहीं है। पुंवद्भाव से पटुभार्यः। अकेशा भार्या यस्य सः अकेशभार्यः यहां ईकार नहीं है। मानिनी पर रहते पुंवद्भाव निषेध नहीं होता है। सुकेशमानिनी।

८४३ जातेश्च ६।३।४१।

जातेश्च परो यः स्त्रीप्रत्ययस्तदन्तं न पुंवत्। शूद्राभार्यः। ब्राह्मणीभार्यः। मातृस्यायं निषेधः। तेन हस्तिनीनां समूहो 'हस्तिकम्' इत्यत्र 'भस्याट्' इति तु भवत्येव।

जातिवाचक शब्द से पर जो स्त्रीप्रत्यय तदन्त का पुंवद्भाव नहीं होता है।

शूद्रा भार्या यस्य स शूद्राभार्यः, यहां 'प्रियाः पुंवत्' ने प्राप्त पुंवद्भाव का निषेध है। ब्राह्मणी भार्या यस्य सः ब्राह्मणीभार्यः। 'हस्तिकम्' इति साम्यप्रयोग में वह सूत्र सूत्रप्राप्त पुंवद्भाव का ही निषेधक है। यहां हस्तिनीनां समूहः अर्थ में ठक् को उत्पत्ति पूर्व ही 'भस्याट्' वा० से पुंवद्भाव ततः ठक्, इक्, नन्विति से टिलोप-हस्तिकम्।

८४४ संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः सङ्ख्येये २।२।२५।

सख्येयार्थया सख्यया अन्ययादयः समस्यन्ते स बहुव्रीहिः । दशाना समीपे ये सन्ति ते उपदशाः । नव एकादश चेत्यर्थः । 'बहुव्रीही सख्येये' इति वक्ष्यमाणो ढक् ।

सखाविशिष्ट इत्यर्थक सख्यावाचकसे अन्यय, आसन्न, दूर, अधिक एव सख्या का समास होता है एव उसको बहुव्रीहि सखा होती है । उपशब्द समीपार्थक है, वहा अन्ययीमात्र है । समीपिनि = समीपवत् में बहुव्रीहि । दशानाम् = वृक्षाणा समीपे ये सन्ति वृक्षादय उपदशा, यहाँ 'बहुव्रीही' से ढक् प्रत्यय है, एव टिळोप । नव या न्यारह ।

८४५ ति त्रिंशतेति ६।४।१४२।

त्रिंशतेर्भस्य त्रिशब्दस्य लोपः स्याद्धिति । आसन्नत्रिंशा । त्रिंशते-
रासन्ना इत्यर्थः । अदूरत्रिंशा । अधिकचत्वारिंशा । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्रा ।
द्विरावृत्ता दश द्विदशा । त्रिंशतिरित्यर्थः ।

पूर्व सूत्र से समास ढक् कर 'ति' का लोप है । त्रिंशत अदूरा अदूरत्रिंशा । अदूरा त्रिंशत-
अदूरत्रिंशा । द्वौ वा त्रयो वा यहा पूर्व से सुअर्थ में बहुव्रीहि समास, ममास से सुअर्थ वक्त है अत
यहा सुच् न हुआ । त्रिंशति अर्थ में द्विरावृत्ता दश समास द्विदशा ढक् एव टिळोप हुआ ।

८४६ दिङ्नामान्यन्तराले २।२।२६।

दिशो नामान्यन्तराले वाच्ये प्राग्वत् । दक्षिणस्या पूर्वस्याश्च दिशोऽ-
न्तरालं दक्षिणपूर्वा । नामग्रहणाद् योगिकानां ग्रहण न । ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्चा-
न्तरालं विक् ।

मध्यार्थक अन्तराल शब्द है, प्रत्यासत्त्या = समीप्यमूलक सम्बन्ध से अन्तराल भी दिशा ही
लेना, अर्थ नहीं । अन्तराल वाच्य होने पर दिक् वाचक शब्दों का समास होता है ।
यथा-दक्षिणपूर्वा । सूत्र में नामग्रहण में योगिकार्थ बोधक दिक्वाचक का ग्रहण नहीं है ।
यहाँ समास न होकर वाक्य ही रहता है । इन्द्रो देवता अस्या = दिश ऐन्द्री, कुबेरः
देवता यस्या कौबेरी । साऽस्य देवता से अण्, वृद्धपाठि, लीप् ।

८४७ तत्र तेनेदमिति सरूपे २।२।२७।

सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपे पदे तृतीयान्ते च ग्रहणविषये इदं युद्धं
प्रवृत्तमित्यर्थे समस्येते कर्मव्यतिहारे द्योत्ये स बहुव्रीहि । इतिशब्दादयं
विषयविशेषो लभ्यते ।

समानरूपवाले सप्तम्यन्त के ग्रहण विषय में, एव समानरूप वाले तृतीयान्त के ग्रहणविषय
में 'इदं युद्धं प्रवृत्तम्' = अर्थात् यह युद्ध प्रवृत्त हुआ इस अर्थ में कर्मव्यतिहार द्योत्य हो तो बहुव्रीहि
समास होता है । इति शब्द निपात है, निपात अनेकार्थक है, उससे यह विशाख काया बाला अर्थ
निष्पन्न हुआ है, दृष्टानुरोध से ।

८४८ अन्येषामपि दृश्यते ६।३।१३७।

आशीर्वाद अर्थ में सह को स आदेश नहीं होता है, किन्तु स्वरूपस्थिति सह की रहती है । *ओ, वत्स, एव ह्य विपयक आशीर्वाद में सहको सादेश होता है वहाँ सह का स्वरूपावस्थान नहीं रहता, आदेश से सह स्वरूप नष्ट हुआ यथा 'सगवे' आदि ।

८५३ बहुव्रीहौ सङ्ख्येये ङजगुगणात् ५।४।७३ ।

सङ्ख्येये यो बहुव्रीहिस्तस्मादृच् स्यात् । उपदशा । अङ्गगुगणात् किम्, उपबह्व । उपगणा । अत्र स्वरे विशेष । ऋसख्यायास्तपुरुषस्य वाच्यः* निर्गतानि त्रिंशतो निस्त्रिंशानि वर्षाणि चैत्रस्य । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंश रङ्ग ।

संख्येयार्थक बहुव्रीहि समास के उत्तर टच् प्रत्यय होता है । दशानां उप = समीप ये सन्ति अर्थ में 'संख्येया' सूत्र से समास कर टच् प्रत्यय, टिलोप से उपदशा । 'उपबह्व' 'उपगणा' यहाँ टच् न हुआ । रूप में भेद न होने पर भी टच् होता तो चित् से अन्तोऽदात्त होता सा न हुआ किन्तु पूर्वपद प्रवृत्तिस्वर रहा । *सख्यावाचक शब्द के उत्तर तत्पुरुष समास से कच् प्रत्यय होता है । निस्त्रिंशः में पञ्चमी तत्पुरुष कर टच् हुआ ।

८५४ बहुव्रीहौ सक्थ्यङ्गोः स्वाङ्गात् षच् ५।४।११३।

व्यत्ययेन षष्ठी । स्वाङ्गवाचिसक्थ्यङ्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात् । दीर्घे सक्थिनी यस्य स दीर्घसक्थः । जलजाङ्गी । स्वाङ्गात् किम्, दीर्घ-सक्थि शकटम् । स्थूलाक्षा वेणुयाष्टिः । अश्रोऽदर्शनादित्यच् ।

प्रत्यय विधान में प्रवृत्ति वाचक से पञ्चमी विभक्ति लक्षित है 'सक्थ्यङ्गिन्याम्' न कहकर षष्ठ्यन्त निर्देश जो है वह 'व्यत्ययो बहुलम्' से यहाँ षष्ठी पञ्चमर्थ में लावार्थ है । अर्थ करने में पञ्चम्यन्तता है । इसी प्रकार 'बहुव्रीहे' पञ्चम्यन्त न कर सप्तम्यन्त है यहाँ भी व्यत्यय से सप्तमी है लावार्थ ।

शरीरावयव वाची सक्थि एव अस्ति ये है अन्त में त्रिस्रो ऐते बहुव्रीहि से षच् समासान्त होता है । दीर्घे सक्थिनी यस्य यहाँ समासादि षच् (अ) ईकार ओप से दीर्घसक्थः = कमल समान दो मैत्रों से युक्ता औ यहाँ समास षच् चित्वात् जीप् अलजाङ्गी । स्वाङ्गवाचक नहीं यहाँ यहाँ षच् होता है । स्थूलाक्षा में अच् प्रत्यय है = बेंतकी छाती ।

७५५ अङ्गुलेर्दारुणि ५।४।११४।

अङ्गुल्यन्ताद् बहुव्रीहे षच् स्यात् दारुण्यर्थे । पञ्चाङ्गुलयो यस्य सत् पञ्चाङ्गुल दारु । अङ्गुलिसदृशावयव धान्यादिविक्षेपणकाष्ठमुच्यते । बहु-व्रीहेः किम्, द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्या द्व्यङ्गुला यष्टि । तद्वितार्थे तत्पुरुषस्या-ङ्गुलेरित्यच् । दारुणि किम् । पञ्चाङ्गुलि ईस्त्व ।

अङ्गुलि शब्द है अन्त में त्रिस्रो ऐता बहुव्रीहि से षच् प्रत्यय होता है, दारु अर्थ में । पञ्चाङ्गु-लम् यहाँ षच् प्रत्यय हुआ है—पाँच मापा में कहते हैं । तद्वितार्थोत्तरपद से समास तत्पुरुष में अच् प्रत्यय से पञ्चाङ्गुल यष्टि । ईस्त्व अर्थ में पञ्चाङ्गुलि ।

७५६ द्वित्रिम्यां ष मूर्ध्नः ५।४।११५।

आभ्यां मूर्त्तः पः स्याद् बहुव्रीहौ । द्विमूर्द्धः । त्रिमूर्द्धः । ॐनेतुर्नक्षत्रे अब्
वक्तव्य* मृगो नेता यासां ता मृगनेत्रा रात्रयः । पुष्यनेत्राः ।

बहुव्रीहि समास में द्वि एवं त्रिशब्द से पर मूर्द्धन् शब्द को समासान्त प प्रत्यय होता है
दो मूर्द्धानौ यस्य स द्विमूर्द्धः । त्रिमूर्द्धः । *नक्षत्रवाचक नेत्र शब्दान्त बहुव्रीहि में अप् प्रत्यय होता है ।
मृगनेत्राः रात्रयः । पुष्यः नेता यस्य पुष्यनेत्राः ।

८५७ अन्तर्वहिभ्याश्च लोम्नः ५।४।११७।

आभ्यां लोम्नोऽप् स्याद् बहुव्रीहौ । अन्तर्लोमः । वहिर्लोमः ।

अन्तर् एवं वहिस् शब्द से पर लोमन् वह है अन्त में जिसको पेसा बहुव्रीहि से अप् । होता
है । अप् कर टिलोप अन्तर्लोमः ।

८५८ अञ् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ५।४।११८।

नासिकान्ताद् बहुव्रीहेरच् स्यात् नासिकाशब्दश्च नसं प्राप्नोति न तु
स्थूलपूर्वात् ।

नासिकाशब्दान्त बहुव्रीहिते अच् होता है, एवं नासिका को नस् आदेश होता है, किन्तु स्थूल-
शब्द पूर्व में रहे तब नहीं होता है।

८५९ पूर्वपदात् संज्ञायामगः ८।४।३

पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य नस्य णः स्यात् संज्ञायां न तु गकारव्यव-
धाने । द्रुवि नासिकाऽस्य द्रुणसः । खरणसः । अगः किम्, ऋचामयनम्
ऋगयनम् । अण्गयनादिभ्य इति निपातनाण् णत्वाभावमाश्रित्य अग इति
प्रत्याख्यातं भाष्ये । अस्थूलात् किम् स्थूलनासिकः । छिखुरखराभ्यां वा
नस् छि । खुरणाः । खरणाः । पक्षे अजपीप्यते । खुरणसः । खरणसः ।

संज्ञा में पूर्वपद में स्थित रेफल्प निमित्त से पर नकार को णकार होता है, किन्तु गकारको
व्यवधान में पत्व नहीं होता है । शास्त्रा पेट की टाली वाचक द्रुशब्द है, द्रुवि नासिका यहाँ
द्रुका द्रुसदृश में लक्षणा है, द्रुः नासिका अत्य समास, पूर्व नृन् से वच् प्रत्यय नकार को णकार
द्रुणसः । गकार का व्यवधान से ऋगयनम् । यहाँ णकार न द्रुका । 'ऋगयन' निपात से पत्व का
बाध हो जाता "निपातनानि बाधकानि" पुनः 'अगः' सूत्र में न करना । स्थूल के बाद नासिका
को अच् नहीं द्रुका स्थूलनासिकः । *खुर एवं खर से पर नासिका को नस् आदेश विकल्प से
होता है । अच् पूर्व से नित्य है वर तो दोगा ही । खुरणाः । खरणाः । पक्ष में खुरणसः । खरणसः ।

८६० उपसर्गाच्च ५।४।११९।

प्रादेर्यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेरच् नासिकाया नसादेशश्च ।
असंज्ञायां वचनम् । उन्नता नासिका यस्य स उन्नसः । 'उपसर्गादनोत्परः' इति
सूत्रं भङ्ग्युक्त्या भाष्यकार आह—

प्रादि उपसर्ग से पर स्थित जो नासिका उन्नत बहुव्रीहि से अच् एवं नासिका को नस् आदेश
होता है । संज्ञा में जहाँ नहीं है उसके लिए सूत्र है । पूर्व मंडा में कार्य करता है । अनोत्पर को

न कर उसके स्थान में 'बहुलम्' पढ़कर 'उपसर्गादनोत्' के स्थान पर 'उपसर्गाद् बहुलम्' सूत्र सम्प्रति है, उसी को बता रहे हैं।

८६१ उपसर्गाद् बहुलम् ८।२।२८।

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नसो नस्य णः स्याद् बहुलम् । प्रणसः । ऋवेप्रो वक्तव्यः । विगता नासिका अस्य विप्रः । ऋख्यश्च । विख्यः । कथं तर्हि 'विनसा हत्वान्धवा' इति मट्टिः, विगतया नासिकयोपलक्षितेति व्याख्येयम् ।

उपसर्ग में स्थित जो रेफ उसने पर नत् के नकार को णकार विकल्प से होता है। प्रणस, समास, अच् नसादेश, णकार । ऋ से पर नासिका को प्र आदेश होता है। विगता नासिका अस्य विप्र । वि से पर नासिका को ख्य होता है। विख्य । विनसा क्यों हुआ ? प्र या ख्य होना चाहिये, वह प्रथमान्त मट्टि वाक्य नहीं है किन्तु पददन्तोमास् से वसादेश युक्त तृतीयान्तरूप नासिका का है विनसया नासिकया युक्त सा शृण्गता । यह भाव है।

८६२ सुप्रातसुधसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः ५।४।

१२०।

एते बहुव्रीहौ अच् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः । शोभनं श्वोऽस्य सुधः । शोभनं दिवा अस्य सुदिवः ।

शारेरिष कुक्षिरस्य शारिकुक्षः । चतस्रोऽश्रयोऽस्य चतुरश्रः । पण्या इव पादावस्य एणीपदः । अजपदः । प्रोष्ठो गोस्तस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः ।

सुप्रात आदि शब्द बहुव्रीहि समास से अच् प्रत्ययान्त निपातित होते हैं। यद्वा 'अभ्ययानाम्' से टिळोप है।

८६३ नञ् दुःसुम्यो हलिसक्ध्योरन्यतरस्याम् ५।४।१२१।

अच् स्यात् । अहलः । अहलिः । असक्थः । असक्थिः । एवं दुःसुम्याम् । शस्त्योरिति पाठान्तरम् । अशक्तः । अशक्तिः ।

बहुव्रीहि समास में नञ् दुस् एव सुधश्च से पर हलि एव सक्थि शब्द से अच् प्रत्यय होता है विकल्प से। सूत्र में शक्ति ऐसा भी पाठ है। अशक्त । अशक्ति ।

८६४ नित्यमसिच् प्रजामेघसोः ५।४।१२२।

नञ्दुःसुम्य इत्येव । अप्रजाः । दुष्प्रजाः । सुप्रजाः । अमेघाः । दुर्मेघाः । सुमेघाः ।

नञ्, दुस्, सु से पर प्रजा एवं मेघा को नित्य असिच् प्रत्यय होता है।

८६५ धर्मादनिच् केवलात् ५।४।१२३।

केवलात् पूर्वपदात् परो धर्मशब्दस्त्वदन्ताद् बहुव्रीहोरनिच् स्यात् । कल्याण-धर्मा । केवलात् किम्, परमः स्वो धर्मो यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ मा भूत् । स्व-

शब्दो हीह न केवलं पूर्वपदं किन्तु मध्यमत्वादापेक्षिकम् । संदिग्धसाध्यधर्मेत्यादौ तु कर्मधारयोत्तरपदो बहुव्रीहिः । एवञ्च परमस्वधर्मेत्यापि साध्येव निवृत्तिधर्मा अनुच्छित्तिधर्मेत्यादिवन् । पूर्वपदन्तु बहुव्रीहिणाऽऽक्षिप्यते ।

केवल पूर्वपद से पर स्थित धर्म शब्द तदन्त बहुव्रीहि से अनिच् प्रत्यय होता है । जहां दो पद पूर्व में रहे धर्म अन्त में रहे ऐसा बहुव्रीहि में अनिच् नहीं होता है केवल ब्रह्म विषय बहुव्रीहि में परमस्वत्व व धर्म व दशा समास कर अनिच् नहीं होता है केवल ब्रह्म से वहां मध्यमपदापेक्षा आपेक्षिक पूर्वपदत्व परम में है । यदि प्रथम पदद्वय का कर्मधारय समास कर कर्मधारय समास संज्ञक पद का धर्म से बहुव्रीहि समास करने पर वहां कर्मधारय समास संज्ञक एक पूर्वपद है उसके उत्तर धर्म है । वहां अनिच् प्रत्यय होता ही है यथा संदिग्ध साध्य का प्रथम कर्मधारय, बाद में सन्दिग्ध-नाध्वो धर्मः यस्य वहां अनिच् हुआ, उसी प्रकार परमश्चासौ स्वश्च तदनन्तर परमस्वः धर्मो यस्य वहां समास में अनिच् परमस्वधर्मा । दृष्टान्त प्रदर्शन करते हैं, वादि एवं प्रतिवादी उभय सन्मत अर्थ को दृष्टान्त कहते हैं—“वादिप्रतिवादिनोर्यत्र साम्यधीः” तद् दृष्टान्तम् । प्रकृत में न उच्छित्तिः अनुच्छित्तिः अनुच्छित्तिः धर्मः यस्य सः अनुच्छित्तिधर्मा । निवृत्तिधर्मा उसी प्रकार । वहां बहुव्रीहि से पूर्वपद का आक्षेप है ।

८६६ जम्भा सुहरितवृणसोमेभ्यः ५।४।१२५।

जम्भेति कृतसमासान्तं निपात्यते । जम्भो भक्ष्ये दन्ते च । शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भा । हरितजम्भा । वृणं भक्ष्यं यस्य वृणमिव दन्ता अस्येति वा वृणजम्भा । सोमजम्भा । स्वादिभ्यः किन्, पतितजम्भः ।

सु, हरित, वृण, सोम से उत्तर कृतसमासान्त जम्भा शब्द निपातित होता है । जम्भ शब्द का मध्य एवं दन्त अर्थ है, सु=शोभनो जम्भो यस्य स सुजम्भा । अनिच् प्रत्यय है । स्वादि से पर नहीं वहां पतितजम्भः है ।

८६७ दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ५।४।१२६।

दक्षिणे ईमम्=व्रणं यस्य दक्षिणेर्मा मृगः । व्याघ्रेण कृतव्रण इत्यर्थः ।

व्याघ्र सन्तव्य एते पर दक्षिणेर्मा निपातित होता है (अनिच् प्रत्यय होता है) मृगविशेष या व्याघ्रकृत व्रण युक्त ।

८६८ इच् कर्मव्यतिहारे ५।४।१२७।

कर्मव्यतिहारे यो बहुव्रीहिस्तस्मादिच् स्यात् समासान्तः । केशाकेशि । मुसलामुसलि ।

कर्मव्यतिहार में जो बहुव्रीहि उसके उत्तर समासान्त इच् प्रत्यय होता है । केशेषु केशेषु गृहात्वा इदं लुब्धं प्रवृत्तमिति केशाकेशि 'तत्र' से समास पूर्वपद का शेषश्च ।

८६९ द्विदण्ड्यादिभ्यश्च ५।४।१२८।

तादर्थ्यं चतुर्थ्येषा । एषां सिद्धवर्थमिच्प्रत्ययः स्यात् । द्वौ दण्डौ यत्किम् प्रहरणे तद् द्विदण्डि प्रहरणम् । द्विमुसलि । उभाहस्ति । उभयाहस्ति ।

इस सूत्र में तादर्थ्य में चतुर्थी है। इस गण में पठित शब्दों की सिद्धि के लिए इच्छा होता उभाइरित में पूर्वपद का दीर्घ एव उभयादिति में भी समास इच्छा दीर्घ।

८७० प्रसंभ्यां जानुनोऽङ्गुः ५।४।१२९।

आभ्यां परयोर्जानुशब्दस्य 'ङु' आदेशः स्याद् बहुव्रीहौ। प्रगते जानुनी यस्य प्रङ्गुः। सङ्गुः।

बहुव्रीहि समास में प्र एव सम्भे पर जानु को ङु आदेश होता है।

८७१ ऊर्ध्वाद् विभाषा ५।४।१३०।

ऊर्ध्वङ्गुः। ऊर्ध्वजानुः।

बहुव्रीहि में ऊर्ध्व से उत्तर जानु को ङु आदेश विकल्प से होता है। ऊर्ध्व जानुनी यस्य ऊर्ध्वङ्गुः। पक्ष में ऊर्ध्वजानुः।

८७२ धनुषश्च ५।४।१३१।

धनुरन्तस्य बहुव्रीहेरनङ्गादेशः स्यात्। शार्ङ्गधन्वा।

धनुरन्त बहुव्रीहि को अनङ् आदेश होता है। शार्ङ्ग धनु यस्य स शार्ङ्गधन्वा।

८७३ वा संज्ञायाम् ५।४।१३२।

शतधन्वा। शतधनुः।

शता में धनुष को अनङ्गादेश विकल्प से होता है। शता धनूषि यस्य स शतधन्वा, शतधनुः।

८७४ जाया या निह् ५।४।१३३।

जायान्तस्य बहुव्रीहे निङादेशः स्यात्।

जाया शब्द है अन्त में भित्तको देने बहुव्रीहि को निङादेश होता है। अलोऽन्त्यस्य से अन्त आकारको यह होगा।

८७५ लोपो व्योर्वलि ६।१।६६।

यकारयकारयोर्लोपः स्याद् वलि। पुनर्दभावः। युवति जायाऽस्य युव-जानि।

यल पर रहते यकार एव बकार का लोप होता है। पुनर्दभाव भी होता है जिया युवत सूत्र से। 'यूनरि' से विप्रत्यय ओङिङ्ग होकर युवति। युवति जाया-पत्नी यस्य स में निङ् आदेश एव यकार शेष युवजानि। कोई यहा 'जाया' को लुप्तपञ्चमन्त मानकर उसको 'या' को निङ् आदेश करता है तब यहा यलोपकी आवश्यकता नहीं है, पुनर्दभाव से युवति का युवन् उसका नवार लोप। जायाया या इति जायाया = 'या' को ही निङ् हुआ।

८७६ गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिर्म्यः ५।४।१३५।

एभ्यो गन्धस्येकारोऽन्तादेशः स्यान्। उद्गन्धिः। पूतिगन्धिः। सुगन्धिः। सुरभिगन्धिः। ॐ गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणम् ॐ। एफान्तः = एकदेश इव अविभागेन लक्ष्यमाण इत्यर्थः। सुगन्धि पुष्प सलिल च। सुगन्धि घ्रायुः। नेह—शोभना गन्धाः = द्रव्याण्यस्य सुगन्ध आपणिकः।

उद. पूति, उ, सुरभि इनसे पर गन्ध शब्द को समासान्त इकारादेश होता है। गन्ध शब्द को स्त्व विधान में एकदेश के समान अविनाग से लक्ष्यमाण रहते। दूकानके एक कोने में गन्धक नामद्रव्य रक्का है वहां दुग्न्धः ही होगा, स्त्व नहीं।

८७७ अल्पाख्यायाम् ५।४।१३६।

सूपस्य गन्धः = लेशो यस्मिन् तत् सूपगन्धि भोजनम् । घृतगन्धि । गन्धो गन्धक आमोदे लेशो सम्बन्धगर्वयोः” इति चिन्धः ।

अलार्थ बोधन में गन्धशब्दान्त बहुव्रीहि को इकार समासान्त होता है। अनेकार्थक गन्ध शब्द विश्वकोशकारके कथन से है। गन्धक, आमोद, लेश, सम्बन्ध एवं गर्व ।

८७८ उपमानाच्च ५।४।१३७।

पद्मस्येव गन्धोऽन्य पद्मगन्धिः ।

उपमानवाचक गन्धशब्दान्त बहुव्रीहि से इकारादेश समासान्त होता है। यहां उदाहरण में कमलार्थ पद्म शब्द सट्टशार्थक है। व्यधिकरण बहुव्रीहि का यह उदाहरण है।

८७९ पादस्य लोपोऽहस्त्यादिस्यः ५।४।१३८।

हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ । स्थानिद्वारेणायं समासान्तः । व्याघ्रस्येव पादौ अस्य व्याघ्रपात् । अहस्त्यादिभ्यः किम्, हस्तिपादः । कुसुलपादः ।

बहुव्रीहि समास में हस्त्यादि मित्र उपमावाचक शब्द से पर स्थित पाद का अन्य वर्ण का लोप होता है, यद्यपि लोप अभावस्वरूप या शून्यस्वरूप है वह किसी का अवयव नहीं हो सकता है। उसका समासान्ताधिकार में पाठ अनुपयुक्त है तो भी वहाँ आदेशरूप लोप में पाद का अकार में समासावयवत्व या उसका आदेश लोप में आरोप कर लोप को भी समासान्त मानना चाहिये। व्यधिकरण बहुव्रीहि में व्याघ्रपादः । हस्त्यादि उपमान रहने पर लोपाभाव है। यथा—हस्तिपादः ।

८८० कुम्भपदीषु च ५।४।१३९।

कुम्भपद्यादिषु पादस्य लोपो ङीप् च निपात्यते सिचाम् । पादः पत् । कुम्भपदी । त्रियां किम्, कुम्भपादः ।

कौलिक में कुम्भपदी इत्यादि में पाद शब्द का अकार का लोप होता है एवं ङीप् भी। पादशब्द की वहाँ संज्ञा वहाँ पद आदेश होता है ‘पादः पद’ सूत्र से। कुम्भरूप (१३) पादौ यस्याः सा कुम्भपदी । पुनश्च में कुम्भपादः ।

८८१ संख्यासुपूर्वस्य ५।४।१४०।

पादस्य लोपः स्यान् समामान्तो बहुव्रीहौ । द्विपात् सुपात् ।

संख्या वाचक शब्द पूर्व में या सु पूर्व में रहते पाद के अन्त्य का लोप होता है। दो पादों अन्य स द्विपाद । शीमनी पादौ सत्य सुपाद ।

८८२ वयसि दन्तस्य दत् ५।४।१४१।

संख्यासुपूर्वस्य दन्तस्य दत् इत्यादेशः स्याद् वयसि । द्विदन् । चतुर्दन् ।
पट् दन्ता अस्य पोहन् । सुदन् , सुदती । वयसि किम् ? द्विदन्तः करी ।
सुदन्तो नटः ।

वय = अवस्था गम्यमान रहे वहा दन्त को दत् आदेश बहुव्रीहि में होता है । पशुओं में दाँत दिया कर वय का निर्णय होता है । द्विदन् वृषभ । द्वौ दन्तौ यस्य स द्विदन् दत् में ऋकार की इत्प्रा से जगित् मानकर खीच्छि में जगित्थ से जीप् यया सुदती । हाथी आजीवन दो दाँतों से युक्त है यहा अवस्था गम्यमान नहीं, अतः दन्त को दत् न हुआ ।

८८३ त्रियां संज्ञायाम् ५।४।१४३।

दन्तस्य दत् स्यात् समामान्तो बहुव्रीहौ । अयोदती । फालदती । संज्ञायां किम् , समदन्ती ।

संज्ञा में दन्त को दत् आदेश बहुव्रीहि में होता है । अयोदती फालदती संज्ञा है । समान दाँत वाली में समदन्ती । नासिकोदर से जीप् ।

८८४ विभाषा श्यावारोक्त्याम् ५।४।१४४।

दन्तस्य दत् स्याद् बहुव्रीहौ । श्यावदन् । श्यावदन्तः । अरोकदन् । अरोकदन्तः ।
वपिश्च वर्ण को श्याव कहते हैं । छिद्र रहित को अरोक कहते हैं । बहुव्रीहि में श्याव एवं अरोक के बाद का दन्त को दत् आदेश होता है विकल्प से ।

८८५ अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ५।४।१४५।

एभ्यो दन्तस्य दत् वा । कुड्मलाग्रदन् । कुड्मलाग्रदन्तः ।

अग्रान्त, शुद्ध, शुभ्र, वृष एवं वराह से पर दन्त को विकल्प दत् आदेश होता है पुष्प की कलियों के अग्रभाग समान दाँत वाला अर्थ में कुड्मलाग्रदन् ।

८८६ ककुदस्यावस्थायां लोपः ५।४।१४६।

अजातककुत् । पूर्णककुत् ।

अवस्था गम्यमान होने पर ककुद शब्द के अन्त्य अल् का लोप होता । वास्यावस्था यहा अजात ककुद यस्य अजातककुप् से गम्यमान है । युवावस्था पूर्णककुत् से गम्यमान है ।

८८७ त्रिककुत्पर्वते ५।४।१४७।

त्रीणि ककुदानि अस्य त्रिककुत् । संज्ञेया पर्वतविशेषस्य । त्रिककुदोऽन्यः ।

पर्वत विशेष की संज्ञा में त्रिशब्दोत्तर ककुत् का अन्त्य अव्यय का लोप होता है ।

८८८ उद्दिग्ध्यां काकुदस्य ५।४।१४८।

लोप स्यात् । उत्काकुत् । विस्काकुत् । काकुदम् = तालु ।

बहुव्रीहि में उद् एव वि से पर काकुद का अन्त्यलोप होता है । मुखवयवस्थानविशेष को यहा काकुद तालु को कहता है ।

८८९ पूर्णाद् विभाषा ५।४।१४९।

पूर्णकाकुद् । पूर्णकाकुदः ।

पूर्ण शब्द से पर काकुद का अन्त्य लोप होता है ।

८९० सुहृद्दुहृदौ मित्रामित्रयोः ५।४।१५०।

सुहृर्भ्याम् हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते । सुहृन् = मित्रम् । दुहृद् = अमित्रः ।

अन्यत्र सुहृदयः । दुहृदयः ।

मित्र अर्थ में सु से उत्तर हृदय शब्द को हृद् आदेश होता है । एवं अमित्र = शत्रु अर्थ में दुर् के उत्तर हृदय को हृद् आदेश होता है । जहां मित्रता या शत्रुता नहीं उस उदासीन में 'सुहृदयः' यही होता है । एवं दुहृदयः ।

८९१ उरः प्रभृतिभ्यः कप् ५।४।१५१।

व्यूहोरस्कः । प्रियसपिष्कः । इह पुमान् , अनड्वान् , पयः नौः । लक्ष्मी-
रिति एकवचनान्तानि पठ्यन्ते । द्विवचनद्विवचनान्तेभ्यस्तु शेषाद् विभाषेति
विकल्पेन कप् । द्विपुमान् द्विपुंस्कः । क्लीअर्थान्नचः क्ली अनर्थकम् । नचः किम् ।
अपार्थम् । अपार्थकम् ।

बहुव्रीहि समास में उरः प्रभृति शब्दों से कप् प्रत्यय विकल्प से होता है । व्यूहम् = विपुलम्
उरः = वज्रस्तलम् यस्य अस्ती व्यूहोरस्कः । प्रियं सपिः यस्य प्रियसपिष्कः । इस गण में एकवच-
नान्त जो शब्द पठित हैं उन्हीं को नित्य कप् इससे । अर्थात् द्विवचनादि में विकल्प कप् । नन्पूर्वक
जो अर्थ तदन्त बहुव्रीहि से कप् होता है । अनर्थकम् । अपगतः अर्थः यस्मिन् तत् अपार्थकम् , यह
नन् नहीं अतः कप् न हुआ । न विघने अर्थो यस्मिन् वाक्ये तत् अनर्थकम् वाक्यम् यहां इस से
कप् हुआ है ।

८९२ इनः स्त्रियाम् ५।४।१५२।

बहुदण्डिका नगरी । अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेनापि तदन्त-
विधिं प्रयोजयन्ति । बहुवाग्मिका । स्त्रियां किम् ? बहुदण्डी । बहुदण्डिको
ग्रामः ।

इन् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिङ्ग में कप् प्रत्यय होता है । बहवो दण्डिनो वर्तन्ते यस्यां नगर्व्या
ता नगरी बहुदण्डिका । अर्थवान् या अनर्थक अन् इन् अन् मन् रहें वहां तदन्तविधि द्वारा
अग्रन्त इन्त अस्मन् मनन्त का ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकरण' परि-
नाया यहां अनित्यत्व के कारण नहीं प्रवृत्त होती । अनित्य में प्रमाण 'इणः पीध्वन्' नृन् में
अग्रग्रहण है । प्रत्यय अर्थवान् उमका अंश = अवयव अनर्थक है । यथा चान् से ग्मिनि प्रत्यय
का इन् निरर्थक है । सुन्दर प्रवचन अधिक करने वाले पुरुष युक्ता नगरी बहुवाग्मिका । पुंलिङ्ग
में यथा बहवो दण्डिनो यस्मिन् ग्रामे बहुदण्डी यहां कप् नित्य न हुआ, विकल्प से हुआ है ।

८९३ शेषाद् विभाषा ५।४।१५३।

अनुक्तसमासान्ताच्छेषाधिकारस्याद् बहुव्रीह्या कप् स्यात् । महायशस्कः ।
महायशाः । अनुक्तेत्यादि किम् , व्याघ्रयान् । सुगन्धिः । प्रियपथः । शेषाधिकार-
स्थान् किम् , उपवह्वः । उत्तरपूर्वा । सुपुत्रः । तन्त्रादिना शेषशब्दोऽर्थद्वयपरः ।

जहाँ समासान्त न कहा गया हो एवं शेषाधिकार में विद्यमान रहे वहाँ बहुव्रीहि के उत्तर कप प्रत्यय समासान्त विकल्प से होता है। यथा महत् यज्ञो यस्व स महायज्ञः । महायज्ञा । न्यायप्राप्त में लोपरूप समासान्त उक्त है। सुगन्धि में इकारादेशरूप समासान्तविहित है। प्रियपथ में 'कृवप्' से अप् प्रत्ययविहित है। इन सब में अनुक्त नहीं अतः विकल्प से इसमें कप न हुआ। 'उपनदव', मैं 'सख्ययाञ्चया' से समास है। वह शेषाधिकारस्य नहीं है। उत्तरपूर्वा में दिङ् नामान्वतराले समास है। सुपुत्र में 'तेन सह' से समास है। शेष बहुव्रीहि शेष का अधिकार 'सख्यया' आदि में नहीं है। शेष का अनेकमन्यपदार्थों में ही सम्बन्ध है। अन्यत्र उसकी निवृत्ति है। यहाँ अनुक्त एवं शेषाधिकार दो अर्थ उत्पन्न या आवृत्ति से है। संकटदुष्परित्यगाय से एक शब्द से एक ही अर्थ का एक काक में बाध होता है अतः यहाँ आवृत्ति का आशयन करना वस्तुतः अनुक्तार्थक शेष की आवश्यकता यहाँ नहीं है तत् तत् समासान्त अपने अपने विषय में कप का बाध करेंगे अतः अवशिष्ट में हो यह कप शेष, शेष की आवृत्ति के बीना ही यह शेष शब्द शेषाधिकार परक होगा।

८९४ आपोऽन्यतरस्माम् ३।४।१५।

कथाबन्तस्य ह्रस्वो वा स्यात् । बहुमालक । बहुमालाक' । कप्रभावे बहुमालः ।

कप प्रत्यय पर रहते आबन्त का ह्रस्व विकल्प से होता है। ह्रस्व ए॥ कप् पष्ठ में बहुमाकाक । ह्रस्वामाव में बहुमाकक । कप् के अभाव में बहुमाक । दो विकल्प में तीन रूप हैं।

८९५ न संज्ञायाम् ५।४।१५५।

शेषादिति प्राप्त कप् न स्यात् संज्ञायाम् । विन्धे देवा अस्य विन्धेदेव' ।

सदा में 'शेषात्' से प्राप्त कप नहीं होता है। समास में एकार निपातन है।

८९६ ईयसथ ५।४।१५६।

ईयसन्तोत्तरपदात् न कप् । बहु. श्रेयासोऽस्य बहुश्रेयान् । गो. क्षियोरिति ह्रस्वत्वे प्राप्ते ईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाक्यम् । बहु. श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी । बहुव्रीहे किम्, अतिश्रेयसि ।

ईयसन्तोत्तरपदक बहुव्रीहि से कप् नहीं होता है। अर्थात् ईयस है उत्तर पद में भित्तको देता उत्तर पद युक्त बहुव्रीहि से कप् नहीं होता है। प्रशस्त्य से ईयसन् प्रशस्त्य को य आदेश प्रकृतिभाव, गुण से श्रेयस् के बहुवचन में स्त्रीलिङ्ग में श्रेयस्य । ईयसन् उचित है स्त्रीलिङ्ग में स्त्रीप् । बहुश्रेयसी में 'भोत्र क्षियो' सूत्र से ह्रस्व प्राप्त या किन्तु ईयसन् बहुव्रीहि में ह्रस्व नहीं होता है। बहुश्रेयसी । श्रेयसीम् अतिश्रेयसि या स्त्री द्विवचन उत्पन्न में ह्रस्व दाता है। यथा—अतिश्रेयसि ।

८९७ वन्दिते आतुः ५।४।१५७।

पूजितेऽयं यो मातृशब्दस्त्वदन्तान् कप् न स्यात् । प्रशस्तो भ्राता यस्य प्रशस्तभ्राता । न पूजनादिति निषेधस्तु बहुव्रीहौ सक्ध्यदणो' प्रागेव वक्ष्यते । वन्दिते किम् ? मूर्तभ्रातृक ।

पूचित अर्थ में जो आवृ शब्द वह है उत्तरपद में जिसको ऐसे बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय नहीं होता है । प्रश्नञ्जाता यहाँ कप् न हुआ । मूर्खञ्जातकः यहाँ कप् हुआ ।

८९८ नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे २।४।१५९।

स्वाङ्गे यौ नाडीतन्त्रीशब्दौ तदन्तात् कप् न स्यात् । बहुनाडिः कायः । बहुतन्त्री ग्रीवा । तन्त्री = धर्मनी । त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावाद् ह्रस्वो न । स्वाङ्गे किम् ! । बहुनाडीकः स्तम्भः । बहुतन्त्रीका वीणा ।

स्वाङ्ग वाचक नाटी एवं तन्त्री वे हैं उत्तरपद में जिसको ऐसे बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय समासान्त नहीं होता है । बहुनाडिः में 'गोः स्त्रियोः' से उपसर्जन हरव है । तन्त्री में ईप्रत्यय 'स्त्रियान्' के अधिकार में विहित नहीं है । अतः ह्रस्व न हुआ, स्वाङ्गवाचक न होने से कप् होता है, यथा—स्तम्भ एवं वीणा अर्थ में ।

८९९ निष्प्रवाणिश्च २।२।१६०।

कवभावोऽत्र निपात्यते । प्रपूर्वाद् वयतेल्युट् । प्रवाणी = तन्तुवायशलाका । निर्गता प्रवाण्यस्य निष्प्रवाणिः पटः । समाप्तवान् = नव इत्यर्थः ।

निष्प्रवाणि में कप् का अभाव निपातन से होता है । प्रपूर्व वेषु तन्तुमन्ताने से ल्युट् प्रत्ययान्त प्रवाणी है । जुलाहा की धोनेकी शलाका को प्रवाणी कहते हैं । नवीन पट को निष्प्रवाणि कहते हैं यहाँ उपसर्जन ह्रस्व है ,

९०० सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ २।२।१६१।

सप्तम्यन्तं विशेषणं बहुव्रीहौ पूर्वं प्रयोज्यम् । कण्ठेकालः । अत एव ज्ञापनाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । चित्रगुः । क्षेमर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानमृक्षं रर्वश्चेतः । द्विशुक्लः । क्षेमिथोऽनयोः समासे संख्यापूर्वम् , शब्दपरविप्रतिषेधात्क्षे द्वयन्यः । क्षेसख्याया अल्पीयस्याःक्षे द्वित्राः । द्वन्द्वेऽप द्वादश । क्षेवा प्रियस्यर्क्षप्रियगुडः । गुडप्रियः । क्षेगह्वादेः परा सप्तमीक्षे गडुकण्ठः । क्षेफचिल । वहेगडुः ।

बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त पद एवं विशेषण वाचक पद का पूर्वनिपात करना चाहिये । यथा कण्ठे कालः = सदाशिव भगवान् शङ्कर आश्रुतोष हैं । समुद्रमयन से उत्पन्न दाटाएल दिप का पान करने से गले में नीलमा हो गई इस लिए उनका नाम शितिकण्ठ, नीलकण्ठ हुआ है । इस मूत्रारम्भ से ज्ञापन होता है कि अप्रयमान्त का भी व्यधिकरण बहुव्रीहि होता है । यथा कण्ठे सप्तम्यन्त का प्रथमान्त काल का यहाँ समास कर 'एहदन्तात्' से सप्तमो का थलुक् हुआ है । चित्राः गावो जल चित्रगुः 'गोःस्त्रियोः' से हरव हुआ है । सर्वनाम एवं संख्या का भी पूर्वनिपात होता है । रर्वश्चेतः । द्विशुक्लः । सर्वनाम एवं संख्यावाचक के समास में शब्दकृत परस्व के कारण संख्यावाचक का ही पूर्वनिपात होता है । मूत्ररूप परस्व के कारण विप्रतिषेध ऐसे लगता है ऐसा ही तन्त्रि शब्द ह्रस्वरूप को लेकर भी परदण्ड हो वाग्या घोषन होता है । यथा द्वयन्यः । दोनों संख्यावाचक समासान्तान्त रहें वही अविशेष अन्तर संख्यावाचक का ही पूर्वनिपात होता है । यथा द्वौ च त्रयश्च इति द्वित्राः, यथा सूर्य में शुक्रोद्दिष्टे, बहुव्रीहि में सूर्य उक्त है, अतः सूर्य न हुआ, द्वन्द्व में भी अत्यन्त बोधक संख्यावाचक का पूर्वनिपात होता है, यथा द्वादश । प्रिय में

विकल्प करके पूर्वनिपात बहुव्रीहि में होता है। प्रियगुह । गुहप्रिय । गहु कण्ठे यस्य यद्वा गहु आदि में सप्तम्यन्त का परनिपात होता है। गहुकण्ठ । क्वचित् नहीं भी होता है— वरेगुहु ।

९०१ निष्ठा २।२।३६।

निष्ठान्त बहुव्रीहौ पूर्व स्यात् । कृतकृत्य । ऋजातिकालसुखादिभ्य परा निष्ठा वाच्याऋ । सारङ्गजम्बी । मासजाता । सुरजाता । प्रायिक चेद्म् । कृतकट । पीतोदक ।

बहुव्रीहि समास में निष्ठा प्रत्ययात्त पद का पूर्वनिपात होता है। कृत कृत्य येन इति कृत कृत्य । ऋजाति वाचक, कालवाचक एव सुख आदि शब्द जहाँ समास घटक रहे वहाँ निष्ठा प्रत्ययान्त पद का परनिपात होता है। यथा जम्ब सारङ्ग यथा सारङ्गजम्बी ।

मासजाता । सुरजाता । क्वचित् यह वातिक नहीं लगता है। कृत कट येन स यहाँ निष्ठान्तपद का ही पूर्वनिपात हुआ है, आहिताग्निस्व की कल्पना से। सकर्मक कृषात्तु से कर्म की अभिवक्षा कर भाव में क्तिन् तत् अर्थ आदिभ्य से अच्प्रत्यय है, वरणम् इति सा अस्ति अस्य इति कृत । पीतम् उदकम् येन स । यद्वा पानम् पीति सा अस्य अर्थ में पा वात्तु से भावार्थक क्तिन् कर अर्थ आदिभ्य से अच् प्रत्यय है। पान किया युक्त अर्थ हुआ। अन्वधा पा वात्तु सकर्मक है कर्म में क्तप्रत्यय से उदक कम उक्त है एवं पीतपदार्थ उदकार्थ में सापेक्ष है सापेक्ष स्थल में सामर्थ्य नहीं। समासामात्र होगा। पीतोदक ।

९०२ बाहिताग्न्यादिषु २।२।३७।

आहिताग्नि । अग्न्याहित । आकृतिगणोऽयम् । ऋप्रहरादिभ्य परे निष्ठासप्तम्यौऋ । अस्युद्यत । दण्डपाणि । क्वचित् विवृतासि ।

इति बहुव्रीहि ।

आहिताग्नि आदि में विकल्प से पूर्व निपात होता है। यद्वा आकृति गण है। प्रहरणाधिक के उत्तर निष्ठान्त एव सप्तम्यन्त का प्रयोग होता है। यथा उद्यता अस्ति येन उद्यतासि अस्युद्यत । दण्ड बाणी यस्य दण्डपाणि । क्वचित् नहीं भी होता है। विवृतासि ।

प० गीता० कृ० पञ्चोक्तितरत्नप्रघाते बहुव्रीहि प्रकरण समाप्त



अथ द्वन्द्वसमासप्रकरणम् ॥ १८ ॥

९०३ चार्थे द्वन्द्वः २।२।२९।

अनेकं सुवन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते स द्वन्द्वः । समुच्चयान्वाचये-
तरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्य एकस्मिन्नन्वयः समु-
च्चयः । अन्यतरस्यानुपपन्निकत्वेऽन्वाचयः । मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः ।
समूहः=समाहारः । तत्र ईश्वरश्च गुरुश्च भजस्वेति समुच्चये, भिक्षामट गाध्वा-
नयेत्यन्वाचये च न समासोऽसामर्थ्यात् । धवस्वदिरी । संज्ञापरिभाषम् ।
अनेकोक्तेर्होतृपोतृनेष्टोद्गातारः । द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वं कृत्वा पुनर्द्वन्द्वे तु होतापोता-
निष्टोद्गातारः ।

चार्थे न विद्यमान अनेक सुवन्त का समास होता है । एवं इस समाससंज्ञक की द्वन्द्व संज्ञा भी
होती है । चार्थ चार है—१-समुच्चय, २-अन्वाचय, ३-इतरेतरयोग, ४-समाहार । १ परस्पर-
अपेक्षा न रखने वाले पदों के अर्थों का एक में सम्बन्ध को समुच्चय कहते हैं । दो पदार्थों में एक का
प्राधान्य अन्य का अप्राधान्य को अन्वाचय कहते हैं । मुख्यप्रवृत्तिम् उद्दिश्य प्रवृत्तस्य पुरुषस्य अन्यार्थ-
लभः=अन्वाचयः । एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य के अभाव से समुच्चय एवं अन्वाचय में समास
नहीं होता है । परस्परमिलित पदार्थ बोधक को इतरेतरयोग कहते हैं । अनेक पदार्थों का
समुदाय को समाहार कहते हैं ।

यथा ईश्वर एवं गुरु की सेवा करो यहाँ ईश्वरार्थ एवं गुरु का अर्थ दोनों अर्थों का परस्पर
सम्बन्ध नहीं है किन्तु इन दोनों अर्थों का साक्षात् भजन क्रिया में ही सम्बन्ध है, यथा ईश्वरं च
गुरुं च भजस्व यहाँ समुच्चय में सामर्थ्य नहीं, समास न हुआ, वाक्य ही रहा । प्रवृत्ति का मुख्य
उद्देश भिक्षा है, यदि मिले तो गाय को भी लेते आना यहाँ गाय का आनयन अप्राधान्य है,
यथा भिक्षाम् अट, गाध्वानय । यहाँ भी समासाभाव असामर्थ्य से है । इतरेतरयोग का उदाहरण—
धवश्च रादिरश्च धवगदिरी यहाँ समुचित धवगदिर का छेदनादि क्रिया में कर्मत्व सम्बन्ध से
अन्वय है, सहविवक्षा है, द्वन्द्व हुआ । पृथक् ज्ञान पदार्थों का परस्पर अन्वय को सहविवक्षा
कहते हैं, सह विवक्षा साहित्य रूप है । साहित्य उसको कहते हैं कि—एक धर्म उक्त का एक सम्बन्ध से
एक पदार्थ में अन्वय को । यथा प्रकृत में धवगदिर समुदाय का कर्मत्व रूप एक सम्बन्ध से
छेदन रूप अध्याहृत एक क्रिया में अन्वय है । संस्कृत में यह सम्बन्ध है—“एकधर्माविच्छिन्नस्य
एकधर्माविच्छिन्नसम्बन्धेन एकधर्माविच्छिन्नेऽन्वयः=सामर्थ्यम् । सहविवक्षा पदार्थ=पृथक्ज्ञातयोः
पदार्थयोः परस्परम् अन्वयः । इतर शब्द अन्यायक है, दूसरे इतर का भी अन्याय है । योग का
अर्थ है सम्बन्धः मिलकर अर्थ परस्पर सम्बन्ध वाच्यार्थ है, इतरेतर योग द्वन्द्व में अवयव गत
संख्या द्वित्व एवं बहुत्वदि उद्भूत होने से तदर्थक मत्वा वाचक विभक्ति द्वन्द्व नामानंतर
आती है ।

यथा धवगत् एकम् रादिरगत् एकत्वं यद् दोनों एकत्व मिलकर द्वित्व संख्या के
उत्पादक हुए, अतः धवगदिर का द्वन्द्व के बाद भी विभक्ति द्वित्वार्थक आई है । समाहार द्वन्द्व का

उदाहरण—यथा सगा च परिभाषा च प्लयो समाहार = समूह इति मञ्चापरिभाषम् । समाहार द्वन्द्व में समस्यमान पदार्थगत सख्या निरोहित होती है । एवं वन वस्तुओं का समुदाय वन समुदाय एक होने से एक वचन ही जाता है । यथा अनुद्भूतावयवार्थगत सख्या है । एवं समाहार द्वन्द्व में 'स नपुसकम्' से नपुसक रहता है । यथा मञ्चापरिभाषा का समुदाय = मञ्चापरिभाषम् । कुछ विशेष शपक स्थलोंको छोड़कर सर्वत्र इतरतर योग विवक्षा, या समाहार द्वन्द्व विवक्षा, या उभय विवक्षा होती है । अपवाद इतरतर योग के पश्चात् दत्तये जायेगे ।

चायें द्वन्द्व में 'अनेकम्' की अनुवृत्ति में दो सुबन्त तीन सुबन्त या इमत्ते मो अधिक सत्त्वों का द्वन्द्व होता है, यथा होना च पोता च नेहा च उद्गाता च इति यथा इतरतरयोग द्वन्द्व से हातपोतनेष्टोद्गातार । यथा उद्गातु इतर पद से पूर्व नेष्ट को 'आनष्ट ऋता द्वन्द्व' ॥ आनष्ट आदेश ऋकार को होकर नकार का रूप हुआ है 'नेगेद्गातार' में । आनष्ट ऋतो द्वन्द्व में पूर्वपद यौगिकार्थ मात्र बोधक है स्व नहीं है । एवं यथा इतरपद से पूर्वपद सकेतिङार्थ का आक्षेप भी नहीं है । केवल पूर्वपद = पूर्वत्र तत् पदञ्च देना चाहिये । इस परिस्थिति में पूर्वोक्त चार में दो दो का द्वन्द्व करने पर पूर्व तीन पदों के ऋच्छर का आनष्ट आदेश होता ही है यथा होता च पोता च इति यहाँ द्वन्द्व समास विभक्तिक्र लुक् होत के ऋकार को आनष्ट (आन्) हुआ है—

होतापोतारी, एवं नेहा च उद्गाता च यथा मो द्वन्द्व समास करके विभक्ति लुक् से नेष्ट उद्गातु भी पूर्व ऋकार को आन् लोप नेष्टोद्गातारी, पुन द्वन्द्व होतापोतारी च नेष्टोद्गातारी च होतापोतानेष्टोद्गातार । यथा अवयवार्थगत बहुत्व सख्या उद्भूत होने से इतरतरयोग द्वन्द्व के बाद समुदाय बोधक बहुवचन विभक्ति उत्पन्न हुए हैं ।

९०४ राजदन्तादिषु परम् २।२।३१ ।

एषु पूर्वप्रयोगार्ह पर स्यात् । दन्ताना राजा इति राजदन्त । ऋधर्मोदिष्व- नियम ऋधर्मधर्मो । धर्मोर्धो । दम्पती । जम्पतिः । जायापति । जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च वा निपात्यते । आकृतिगणोऽयम् ।

राजदन्तादि शब्दों में जो शब्द पूर्वप्रयोग के योग्य हो उसका परनिपात होता है । यथा पक्षीत-पुरुष में पक्षयन्त भी अपसर्जन सञ्चा होकर पूर्वनिपात प्राप्त का इसने परनिपात किया दन्ताना राजा इति राजदन्त । धर्मोदि शब्द विषय में पूर्वनिपात या परनिपात का कोई नियम नहीं है । यथा—अर्थश्च धर्मोऽस्ति धर्मधर्मो, धर्मोर्धो । जाया च पतिश्च यहाँ द्वन्द्व कर जाया के स्थान में जम् आदेश विकल्प से होता है जहाँ वे नहा होंगे वहाँ जाया रहता है यथा दम्पती । जम्पती । जायापति । राजदन्तादि आकृतिगण हैं ।

९०५ द्वन्द्वे चि २।२।३२।

द्वन्द्वे घिसज्ञ पूर्व स्यात् । हरिश्च हरश्च हरिहरी । ऋ अनेकप्राप्ती एकत्र निय- ५नियमश्च शेषे ऋ । हरियगुरु । हरिहरगुरु ।

द्वन्द्व समास में घिसञक का पूर्वनिपात होता है । हरिश्च हरश्च घिसञक है । जहाँ अनेक का निपात प्राप्त रहे वहाँ एक में नियम अन्यत्र यथेष्ट प्रयोग होता है । हरि एवं गुरु दोनों धि क ह, यथा जब हरिका पूर्व निपात तब गुरु का नहीं । जब गुरु का तो हरि का नहा, पूर्ण गतिव पद का छोड़कर भावी में यथेष्ट प्रयोग यथा—हरिगुरुह । हरिहरगुरु । यह हरमें अनिवार्य है ।

९०६ अजाद्यदन्तम् २।२।३३।

इदं द्वन्द्वे पूर्व स्यात् । ईशकृष्णौ । बहुष्वनिचमः । अश्वरथेन्द्राः । इन्द्राद्य-
रथाः । ईष्यन्ताद्जायन्तं विप्रतिपेधेन ई । इन्द्राग्नी ।

इन्द्र समास में अजादिरूप अदन्त का पूर्वनिपात होता है । ईशकृष्णौ । अनेक अजादिरूप अदन्त का लुगपद इन्द्रसमास में यह नियम नहीं है । यथा अश्वरथेन्द्राः । इन्द्राश्वरथाः । जिस रूप में वि संज्ञक रहे एवं अजादिरूप अदन्त रहे वहाँ 'विप्रतिपेधे परं कार्यम्' से अजायन्तम् से परत्वं के कारण अजादि रूप अदन्त का ही पूर्व निपात होता है' यथा इन्द्रश्च अग्निश्च इन्द्राग्नी ।

९०७ अल्पाचूतम् २।२।३४।

शिवकेशवौ । ईष्यतुतक्षत्राणां नमनाक्षराणामानुपूर्व्येण ई । हेमन्तशिशिर-
वसन्ताः । कृत्तिकारोहिण्यौ । समानाक्षराणां किम् । ग्रीष्मवसन्तौ । कलव्यक्षरं
पूर्वमई । कुशकाशम् । अभ्यर्हितञ्जई । तापसपर्वतौ । ईष्यर्णानामानुपूर्व्येण ई ।
ब्राह्मणक्षत्रियविद्वज्ज्ञाः । ईष्यभ्रातृव्यायसः ई । युधिष्ठिरार्जुनौ ।

इन्द्र समास में अल्प अच् युक्त का पूर्वनिपात होता है । शिवश्च केशवश्च शिवकेशवौ ।
समानाक्षर एक जो अतुवाचकशब्द एवं नक्षत्र वाचक शब्द उनका उद्गमकमानुसार
पूर्वनिपात होता है । अर्थात् 'अनुर्भो' में प्रादुर्भाव क्रम एवं नक्षत्रों के उद्गमकक्रम पूर्वनिपात में
कारण है । प्रथम हेमन्त द्वितीय शिशिर तृतीय वसन्त इसका इन्द्र में 'हेमन्तशिशिरवसन्ताः' हुआ
है । कृत्तिका के बाद रोहिणी का उद्गम होता है कृत्तिकारोहिण्यौ । समान अक्षर = अनु नहीं वहाँ
रस निपटन नहीं है । वहाँ अल्पाच् का ही पूर्वनिपात होता है । यथा ग्रीष्मवसन्तौ । यहाँ वसन्त
का प्रादुर्भाव पूर्व में होते हुए तीन अनु युक्त है, अतः परनिपात ग्रीष्मापेक्षया हुआ है । इन्द्र में
कलव्यक्षरतुल्य का पूर्वनिपात होता है कुश का काश की अपेक्षा पूर्वप्रयोग से कुशकाशम् । इन्द्र में
पूज्य का पूर्वनिपात है । यथा तापसपर्वतौ । यहाँ पर्वत लघु अक्षर युक्त है किन्तु पूज्य नहीं अतः
परनिपात इसका हुआ है । चारवर्ण है उनमें उत्पत्ति क्रम से पूर्वनिपात होता है । यहाँ वर्णपद
से ब्राह्मणदि का ग्रहण होता है । यथा ब्राह्मणक्षत्रियविद्वज्ज्ञाः । इन्द्र में भ्राताओं के मध्य में
ज्येष्ठ का पूर्वनिपात होता है । युधिष्ठिरार्जुनौ । युधि तिष्ठतीति युधिष्ठिरः, यहाँ सप्तमी समास
एवं सप्तमी का अनुक्त एवं स्थिर का सकार का पकार एवं षट्त्व है, 'ह्रस्वन्ताड्' से अनुक्त । गवि-
युधिभ्यां स्थिरः से पठ्य है ।

९०८ इन्द्रश्च प्राणितूर्यसेनाह्वानाम् २।४।२।

एषां इन्द्र एकावत् स्यात् । पाणिपादम् । मार्दल्लिकवैणविकम् । रथिका-
श्वारोहम् । समाहारस्यैकत्वादेकत्वे सिद्धे नियमार्थ प्रकरणम् । प्राण्यह्वानादीनां
समाहार एव गद्या स्यात् ।

यू में इन्द्रसमास का अन्त में अद् का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है । अन्त का अर्थ समास
है । इन्द्र समास में प्राणी के अद्वाचक का तूर्यस्व का एवं सेनाद का एवम्वात् भाव कर्त्तव्य एक
वचन में होता है । यथा प्राणी दो हैं पठ्य दो है किन्तु बहुवचन प्रात या एकवचन से प्राणिपदम्
ही हुआ । इन्द्राद्वाचने का शिब्युक्त एवं वेदुनिमित्त धंड़ी के वसनेवाला अर्थ में नादिकादि
ध्वनिकश्च मार्दलिकवैणविकम् । रूप से अमण करनेवाला एवं अश्वारोही इनके वाचक का इन्द्र

रयिकाद्वाराहम् । समाहार द्वन्द्व से समूह एक होने में एकवचन सिद्ध ही ॥ यह सूत्र नियमार्थ है—
प्राण्यज्ञ तूर्य के अङ्ग एवं सेनाज्ञ का समाहार द्वन्द्व ही होता है । ऐच्छिक इतरेतरयोग द्वन्द्व को
प्राप्त था वह इनका कथमपि नहीं होता है । समाहार में नपुंसकत्व एकवचनत्व ही रहता सदा है ।

९०९ अनुवादे चरणानाम् २।४।३।

चरणाना द्वन्द्व एकवत् स्यात् सिद्धस्योपन्यासे । क्षीय्येणोर्लुङिति वक्त-
व्यमृक्षः । उदगात् कठकलापम् । प्रत्यष्टात् कठकौशुमम् ।

सिद्ध का कथन होने पर चरणवाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है । लुङ्न्त तथा धातु
तथा लुङ्न्त इण् धातु के प्रयोग में ही । शास्त्रा के अध्येता का वाचक को चरण कहते हैं । छात्रा-
नत्वा में परस्पर वार्ताकाय प्रसङ्ग का स्मरण दिलाना है कि कठों के प्रतिष्ठित होने पर एवं
कलापों का उदय होने पर हम दोनों को वहाँ जाना चाहिए वह काळ उपस्थित हो गया था, अतः
तुम हम बात को भूल गये हो यह अपने सहयोगी सहपाठी को कह रहा है । कठप्रोक्त शास्त्रा के
अध्ययन करने वालों को भी कठों कहा जाता है यहाँ वैद्यपापन छात्र होने से विभिन्नाय वृत्ता
वसका 'कठचरवाल' से लुक् हुआ है । अध्येता अर्थ का अण् का प्रोचाल्लुक् से लुक् हुआ है । कला-
पिन् ने अण् 'नान्तस्य टिलोपे 'सम्राट्चारि' वा० से टिलोपाभाव है ।

९१० अध्वर्युऋतुरनपुंसकस्य २।४।४।

यजुर्वेदे विहितो यः ऋतुस्तद्वाचिनामनपुंसकलिङ्गानां द्वन्द्व एकवत् स्यात् ।
अर्धश्वमेधम् । अध्वर्युऋतुः किम्, इषुवर्जा सामवेदे विहितौ । अनपुंसक किम्,
राजसूयवाजपेये । अर्धर्चादि ।

यजुर्वेद में विहित जो ऋतु तद्वाचक अनपुंसकलिङ्ग का द्वन्द्व एकवत् होता है । उदाहरण
सह है ।

९११ अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् २।४।५।

अध्ययनेन प्रत्यासन्ना आख्या येषां तेषां द्वन्द्व एकवत् । पदक्रमकम् ।
अध्ययनकृत सामीप्य जिनका हो उनका द्वन्द्व एकवत् होता है । पदों का अध्ययन करनेवाले
को 'पदक' कहते हैं, यहाँ क्रमादिभ्यो लृक् से लृक्प्रत्यय है । क्रम के अध्येता को क्रमक कहते हैं
यहाँ भी लृक्प्रत्यय है । यहाँ पद एवं क्रम का सामीप्य है ।

९१२ जातिरप्राणिनाम् २।४।६।

प्राणिवर्जजातिवाचकानां द्वन्द्व एकवत् । धानाशष्कुलि । प्राणिनान्तु विट्-
शूद्राः । द्रव्यजातीयानामेव । नेह—रूपरसौ । गमनाकुञ्जने । जातिप्राधान्ये
एवायम् एकवद्भावः । द्रव्यविशेषविवक्षायान्तु यदरामलकानि ।

प्राणिमिन्न जातिवाचक शब्दों का द्वन्द्व में एकवत् होता है । धानाश्व शष्कुन्त्यश्च धानाशष्कुलि ।
प्राणी का एकवद् भाव नहीं विट्शूद्रा । द्रव्यवृत्तिजातिवाचक का ही इससे एकवद्भाव होता है,
गुणवृत्ति जातिवाचक का नहीं । तथा रूपरसौ । क्रियावाचक में एकवद् भाव नहीं होता है । गमना-
कुञ्जने । जाति का प्राधान्य में एकवद्भाव, व्यक्ति के प्राधान्य में एकवद्भाव का अभाव है यथा

इमानि एव बदरामन्त्रानि नमं रोचयन्ते यहाँ यही वैर यही काँवरे मुने रुचिकर है यहाँ व्यक्ति का ही प्राधान्य है। जाति का नहीं। जाति वाच्यवयव में भी जाति का आरोप है। अप्राग्भिन्नान्-पर्युदास से नञिवयुक्तन्याय से द्रव्यशरीर का लाम है, अन्यथा जातिग्रहण ही व्यर्थ है, यह अर्थ पर्युदास से ही स्पष्ट होता है।

९१३ विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः २।४।७।

ग्रामवर्जनदीदेशवाचिनां भिन्नलिङ्गानां समाहारे द्वन्द्व एकवत् स्यात्। उद्धयश्च इरावती च. उद्धयेरावति। गङ्गा च शोणश्च गङ्गाशोणम्। कुरवश्च कुरुक्षेत्रश्च कुरुक्षेत्रम्। भिन्नलिङ्गानां किम्, गङ्गायमुने। मुद्रकेकया। अग्रामाः किम्. जाम्बवं नगरम्। शालूकिनी ग्रामः। जाम्बवशालूकिन्यौ।

ग्रामभिन्न भिन्नलिङ्गक नदी एवं देशवाचक का द्वन्द्व एकवत् होता है। नद का भी नदी से ग्रहण है उद्धय नद है। शोण भी नद है। उद्धयश्च इरावती च उद्धयेरावति। देशवाचक का कुर-वश्च कुरुक्षेत्रश्च कुरुक्षेत्रम्। एकलिङ्गक का इतरेतरयोग—गङ्गायमुने। मुद्रकेकयाः। ग्रामवाचक का भी इतरेतरयोग ही होता है, यथा—जाम्बवशालूकिन्यौ।

९१४ क्षुद्रजन्तवः २।४।८।

एषां समाहारे द्वन्द्व एकवत् स्यात्। यूकालिक्ष्म। आनकुलात् क्षुद्र-जन्तवः।

क्षुद्रजन्तु वाचक शब्दों का द्वन्द्व में एकवद् भाव ही होता है। जिनको दृष्टी नहीं या आकृति में अतिक्षुद्र हो उसमें ही इसकी प्रवृत्ति है। कोई नकुलतक क्षुद्रजन्तु माने गये हैं ऐसा कहते हैं।

९१५ येषां च विरोधः शाश्वतिकः २।४।९।

एषां प्राग्वन्। अहिनकुलम्। गोव्याघ्रम्। काकोल्लकम् इत्यादीं परत्वाद् विभाषा वृक्षमृगेति प्राप्तं चकारेण बाध्यते।

जिन जन्तुओं का विरोध परस्पर स्वभाविक है उनका द्वन्द्व एकवत् होता है। अहयश्च न-लाश्च अहिनकुलम्। गावश्च व्याघ्राश्च गोव्याघ्रम्। काकाश्च उल्लाश्च काकोल्लकम्। यहाँ इसको बाधकर परत्व के कारण 'विभाषा वृक्षमृगेति प्राप्तं चकारेण बाध्यते'। जिनमें इससे सभी अंशों की अनुवृत्ति है वो वंश समानार्थक है यहाँ 'च' नृषू 'पिपाय' का बाधक जो 'विभाषा' उसको बाध करता है, अर्थात् च नृषू बाधक बाधनार्थ ही है।

९१६ शूद्राणानिरवसितानाम् २।४।१०।

अवहिष्कृतानां शूद्राणां प्राग्वत्। तश्चायम्कारम्। पात्राद् अवहिष्कृतानान्तु चाण्डालमृतपाः।

पात्र से जो बहिष्कृत नहीं हैं वे शूद्राणानिरवसितानाम् शब्दों का द्वन्द्व एकवत् होता है। वृद्धं पदं लुप्तार इत्ये पात्रं कश्चिद्विदुः। उन लक्ष एवं अयम्कार का द्वन्द्व परस्पर शुद्ध। एवं पात्र से बहिष्कृतों का परस्पर भाव न होकर वहाँ इतरेतरयोग से द्विवचनावृत्ति। जिसके मोक्षन करने पर वामा आदि धातुओं से निर्मित पात्र मन्मादि से शुद्ध स्मृति शास्त्रोक्त ही वह अवहिष्कृत पात्र वाले समझे जाते हैं। 'मस्मना शुद्धये काम्यन्' इति अन्यत्र एकवद् भाव नहीं होता है।

विमर्शः—सम्प्रति मिट्टी के पात्र में अनेक वर्ण एक ही पात्र में शोबनरूप अनाचार जो करते हैं व अपने मान्य ग्रन्थों का अनुशीलन करें। आहार शुद्धि पात्रशुद्धि सत्त्वशुद्धि दम्बशुद्धि का प्रभाव मन पर पड़ता है यत् ध्रुवा शुद्धि पर पड़ता है। आहारशुद्धी सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धी ध्रुवा मति अ नमय हि सौम्य मन। भारतीय पैर चोकर कौशेयवस्त्र धारणकर पवित्र भूमि में बलि वैश्वदेव पूर्वक भोजन करते ॥ वे भारतीय वास्तविक है। अन्यका अनुकरणकर शिष्टाचार को तिलाञ्जलि देकर अपने को आँखों के मानस पुत्र बनने का जो क्रम है वह हिन्दुत्व भारतीयत्व आदर्श के विरुद्ध है। जूते पहनकर भोजन में वे लज्जा का अनुभव नहीं करते हैं। अपने पूर्वजों का सदा उपहास में ही सभ्य बनने का दम्ब करते हैं वे नेत्रों को विकसित कर इस सून एवं इसका भाव्य को देखें मारें मारें। एक साथ भोजन करने पर भी अमानक द्वेष देखा गया है, अतः सह भोजनप्रेम का परिचायक नहीं है समाज में स्थित सभी के साथ वशुस्व रक्खो घृणा नहीं। उच्च नीच भाव न रखें किन्तु धार्मिक मर्यादा का पालन करना स्वास्थ्य दृष्टि से भी अनुकूल है। अपने यक्ष षिष्टी से भी प्रेम करना उनके बोलों पर भाटे का वितरण लिखा है। घृणास्पद शानावरण अनेक कुटिल राजनीतिज्ञों ने फैलाया है, स्वरबार्धक्य। अपने अपने अधिकार क्षेत्र में ऊँच एवं नीच का भाव भारत में न था, न है, न रहेगा। यह शास्त्रीय सिद्धांत है। सभी मानवों में ईश्वर की मूर्ति देखें।

९१७ गवाश्वप्रभृतीनि च २।४।११।

यथोच्चारितानि साधूनि स्युः । गवाश्वम् । दासीदासम् इत्यादि ।

गवाश्व प्रभृति शब्द अद्वा जैसे शिष्टों से उच्चारित है वे वैसे ही रहते हैं। उसमें उन प्रयोग के विरुद्ध शाल प्रवृत्ति का प्रयास नहीं करना चाहिये। यथा गवाश्वम् । दासीदासम् ।

९१८ विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुन्यश्च वडव-पूर्वापराधरोत्तराणाम् २।४।१२।

वृक्षादीनां सप्तानां द्वन्द्वः, अश्ववडवेत्यादिद्वन्द्वत्रयश्च प्राग्वद् वा। वृक्षादौ विशेषाणामेव ग्रहणम्। प्लक्षन्वग्रोघम्। प्लक्ष्यन्वग्रोघा। कुरुप्रपत्ताम्। कुरुप्रपत्ता। कुशाकाशम्। कुशाकाशा। व्रीहियवम्। व्रीहियवा वधिघृतम्। वधिघृते। गोमहिषम्। गोमहिषा। शुक्रबकम्। शुक्रबका। अश्ववडवम्। अश्ववडवौ। पूर्वापरम्। पूर्वापर। अधरोत्तरम्। अधरोत्तरे। कृकलसेनाग्रनरूप-तिमृगशकुनिशुद्रजन्तुधान्यतृणानां बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एकवदिति वाच्यम्। बदराणि च आमलकानि च बदरामलकम्। जातिरप्राणिनामित्येवद्भावः। नेह, बदरामलके। रथिकाश्वारोही। प्लक्षन्वग्रोघा। इत्यादि। विभाषा वृत्तेति सूत्रे येऽप्राणिनस्तेषां ग्रहणं जातिरप्राणिनामिति नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थम्। पशुग्रहणं हस्त्यश्वादिषु सेनाद्वत्त्वान्नित्ये प्राप्ते मृगाणां मृगैरेव, शकुनीनां तैरेव भयत्र द्वन्द्वः। अन्येस्तु सहेतरतरयोग एवेति नियमार्थं मृगशकुनिग्रहणम्। एव पूर्वापराधरोत्तरमित्यपि। अश्ववडवग्रहणन्तु पक्षे नपुंसकत्वायम्। अन्यथा परत्वात् पूर्ववदश्ववडवाप्रति स्यात्।

वृह, वृग, वृण, धान्य, व्यजन, पशु एवं शकुनि इन सात शब्दों का द्वन्द्व एवं अव्यवृत्त, पूर्वापर, अपरोक्ष यह तीन का द्वन्द्व विकल्प से एकवच होता है। शिष्टोक्तव्याख्यान से वृक्ष में विशेष ग्रहण है। वृक्षविशेष वाचक का द्वन्द्व एकवच होता है। विकल्प से एकवार ने पक्ष में इतरेतर योग में अव्यवृत्त गत सङ्ख्या प्रयुक्त द्विवचनादि होते हैं। १०फल, सेना, वनस्पति, वृग, शकुनि, धुद्रकन्तु, धान्य, वृण इन शब्दों के बहुवचन प्रकृतिक द्वन्द्व को एकवच होता है। यथा वदराणि च धामरुक्मानि च वदरामणकम् यहाँ 'जादिरप्राणिनाम्' सूत्र से एकवद्भाव हुआ है।

द्विवचन में एकवद्भाव नहीं होता है वदरामण के। रथिकाशरोही यहाँ द्वन्द्व सूत्र से एकवद्भाव का अभाव है। प्लक्ष्यन्याग्रोही में विभाषा से एकवद्भाव का अभाव है यहाँ अप्राणिवाचक शब्दों का ग्रहण नित्यार्थ है, विकल्प को बाध करके। पशुग्रहण सेनाशब्द के कारण नियम एकवद्भाव प्राप्त था, यहाँ नियमार्थ ही है। नृगों का नृगों के साथ ही द्वन्द्व एवं एकवद्भाव। एवम् शकुनियों का शकुनियों के साथ द्वन्द्व पूर्वक एकवद्भावार्थ है। अन्यो के साथ इतरेतरयोग द्वन्द्व ही होता है इस नियम के लिए वृग एवं शकुनि का यहाँ ग्रहण है। इसी प्रकार पूर्व अपर अधर उत्तर में समतना चाहिये। पक्ष में नपुंसकत्व के लिए अव्यवृत्त ग्रहण यहाँ किया है, यहाँ इसका ग्रहण न करने पर परत्व के कारण 'पूर्ववत्' सूत्र से एक ही रूप 'अव्यवृत्त' यही होता है।

९१९ विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाची २।४।१३।

विरुद्धार्थानामद्रव्यवाचिनां द्वन्द्व एकवद् वा स्यात्। शीतोष्णे। वैकान्त्यकः समाहारद्वन्द्वश्चायं इति सूत्रेण प्राप्तः स विरुद्धार्थानां यदि भवति तर्हि अद्रव्यवाचिनामेवेति नियमार्थमिदम्। तेन द्रव्यवाचिनामेतरेतरयोग एव। शीतोष्णे उदके स्तः। विप्रतिषिद्धं किम्, नन्दकपाञ्चजन्यौ। इह पाक्षिकः समाहारद्वन्द्वो भवत्येव।

परस्पर विरुद्धार्थक एवं अद्रव्य वाचक शब्दों का द्वन्द्व विकल्प से एकवच होता है शीतोष्ण नव उष्णश्च शीतोष्णम्। पक्ष में शीतोष्णे। चार्थ द्वन्द्व से वैकल्पिक समाहार द्वन्द्व प्राप्त ही था यह सूत्र व्यर्थ होकर नियम के लिए है। "यदि विरुद्धार्थक शब्दों का समाहार द्वन्द्व समान हो तो अद्रव्यार्थ का ही" इससे सिद्ध यह हुआ कि द्रव्य-वाचकों का इतरेतरयोग द्वन्द्व ही होगा। कभी भी समाहार द्वन्द्व नहीं होगा। नियम इतर व्यावर्तक होता है, न्यायार्थ यहाँ समाहार द्वन्द्व द्रव्यार्थकों का हुआ। सकार्थक शीत एवं उष्ण का इतरेतरयोग से 'शीतोष्णे उदके'। नन्दक भी मात्र का नाम एवं पाञ्चजन्य भी मात्र का ही नाम है दोनों एकार्थक पर्याय हैं, विरुद्धार्थक नहीं यहाँ इतरेतर योग से नन्दकपाञ्चजन्यौ। यहाँ पक्ष में इस नियम की अप्रवृत्ति से 'नन्दकपाञ्चजन्य' होता ही है।

९२० न दधिपयादीनि २।४।१४।

एतानि नैकवत्स्युः। दधिपयसी। इध्मावर्हिणी। निपातनात् दीर्घः। ऋक्नामे। वाङ्मनसे।

व्यञ्जन न होने से विकल्प प्राप्त एकावद् भाव दधि पयादि का नहीं होता है द्वन्द्व में। दधि च पयश्च इति दधिपयसी। इध्मावर्हिणी यहाँ पूर्वपद के अन्तिम का निपातन से दीर्घ है यहाँ जिन जिन सूत्रों से इसकी विषय में एकावद्भाव प्राप्त है उन उन समस्त शास्त्रों का यह बाधक है, अतः यहाँ बहुवचन निर्देश है। अनेक बाध्य है। ऋक्नामे। वाङ्मनसे यहाँ 'अनतुर' से समासान्न अच् प्रत्यय है।

९२१ अधिकरणैतावत्त्वे च २।४।१५।

द्रव्यसंख्याप्रगमे एकवदिति नियमो न स्यात् । दश दन्तोष्ठाः ।

‘द्वन्द्व’ का यह बाधक है । द्रव्य की संख्या का अवगमनज्ञान होने पर एकवत् यह नियम की प्रवृत्ति नहीं होती है, प्राण्यज्ञ के कारण एकवत्भाव प्राप्त या उसका निषेध हुआ, ‘चारों’ से समाहार द्वन्द्व वहा समाहार में प्राप्त नहीं है क्योंकि—“सविशेषां वृत्ति न, वृत्तस्य विशेषणयोगो न” से द्वन्द्व की अप्राप्ति है । इतरेतरयोगद्वन्द्व में सामान्याप्रयोग से प्रधान सापेक्ष में वृत्ति होती ही है ।

९२२ विभाषा समीपे २।४।१६।

अधिकरणैतावत्स्वस्य सामीप्येन परिच्छेदे समाहार एवेत्येवंरूपो नियमो वा स्यात् । उपदश दन्तोष्ठाः ।

द्रव्यगत संख्या के अवगम का सामीप्य से परिच्छेदन होने पर समाहार द्वन्द्व ही हो यह नियम की प्रवृत्ति विकल से नहीं होती है । उपदश दन्तोष्ठाः । उपदश दन्तोष्ठा । अवगमोभाव का ही अनुप्रयोग होता है । बहुव्रीहि में तो उपदशस्य दन्तोष्ठस्य । यहाँ नहीं ही होती है ।

९२३ आनङ् श्रुतो द्वन्द्वे ६।३।२५।

विद्यायोनिसम्बन्धशाचिनाम् श्रुदन्तानां द्वन्द्वे आनङ् स्यादुत्तरपदे परे । होतापोतारौ । होतृपोतृनिष्ठोद्गातारः । मातापितरौ । पुत्रेऽन्यतरस्यामित्यतो-मण्डूकप्लुत्या पुत्र इत्यनुवृत्तेः पितापुत्री ।

विद्या एव योनिसम्बन्ध बाधक श्रुकारान् शब्दों के द्वन्द्व में उत्तरपद पर रहते आनङ् आदेश होता है । अनेक का द्वन्द्व में उत्तरपद से जो पूर्व वृत्ति को आनङ् । बार का यहाँ द्वन्द्व किया तीसरे के श्रुकारको आनङ् कर नष्ट कर देना । आनङ् न कर केवल श्रुकार को आ करने में यथैव लायक है किन्तु रपरत्व अनिष्ट की प्रसक्ति होती । आन विधानमें वह अणु नहीं अन रपरत्व यहाँ न हुआ । योनिसम्बन्ध में मातापितरौ । वहाँ ‘पुत्रे’ सूत्र से मण्डूकप्लुति से पुत्र की अनुवृत्तिकर पितापुत्री यहाँ भी आनङ् हुआ है ।

९२४ देवताद्वन्द्वे च ६।३।२६।

इहोत्तरपदे आनङ् । मित्रावरुणौ । ऋषायाशब्दप्रयोगे प्रतिषेधः । अग्नि-चायू । वाय्वग्नाः । पुनर्द्रव्यग्रहण प्रसिद्धसाहचर्यस्य परिग्रहार्थम् । तेन ब्रह्म-प्रजापती’ इत्यादौ नानङ् । एतद्धि नैकद्विर्मागत्वेन श्रुतं नापि लोके प्रसिद्धं साहचर्यम् ।

देवतावाचक शब्दों के द्वन्द्व में उत्तरपद पर रहते आनङ् होता है । मित्रावरुणौ । वायुशब्द के प्रयोग में पूर्वपद को आनङ् नहीं होता है । अग्निचायू । अवशा वाय्वग्नाः । ‘द्वन्द्वे च’ से द्वन्द्व की अनुवृत्ति से कार्यनिर्वाह होता पुन इसमें जो द्वन्द्व ग्रहण है वह प्रसिद्ध देवता साहचर्य का ग्रहण के लिए है । ‘ब्रह्मप्रजापती’ वा लोक में वा वेद में एक हवि का उपयोग रूप साहचर्य नहीं है, अन यहाँ आनङ् न हुआ ।

९२५ ईदग्नेः सोमवरुणयोः ६।३।२७।

देवताद्वन्द्वे इत्येव ।

देवतावाचक शब्द में सोम या वरुण उत्तर पद रहते अग्निशब्द के अन्त्य इकार को ईकारादेश होना है ।

९२६ अग्नेः स्तुतस्तोमसोमाः ८।३।२८।

अग्नेः परेपामेपां सस्य पः स्यात् समासे ।

यह सात्पदायोः का वाचक है । अग्निरूप कर्नापपदक स्तुञ् से सम्पदादिवाच किम् समास तुक् अग्निस्तुत् पत्व षट्त्व अग्निष्टुत् । अग्नीनां स्तोमः = अग्निष्टोमः ।

सोम याग की संस्थाओं में प्रथम संस्था को सोम कहते हैं । अग्नीसोमी यहाँ पूर्वपद के इकार को ईकारादेश एवं सोम के सकार को पकारादेश है । अग्नीवरुणौ यहाँ भी इकार को ईकारादेश है ।

९२७ इद्वृद्धौ ६।३।८२।

वृद्धिमत्युत्तरपदे अग्नेरिददेशः स्यात् देवताद्वन्द्वे । अग्नामरुतौ देवते अस्य आग्निमारुतं कर्म । अग्नीवरुणौ देवते अस्य आग्निवारुणम् । देवताद्वन्द्वे चेत्युभयपदवृद्धिः । अलौकिकवाक्ये आनङ् ईत्वञ्च वाधित्वा इः । वृद्धौ किम् आग्नेन्द्रः । नेन्द्रस्य परस्येत्युत्तरपदवृद्धिप्रतिषेधः । ऋविष्णौ नऋ । आग्नावैष्णवम् ।

देवता वाचक शब्दों के द्वन्द्व समास में वृद्धियुक्त पद उत्तर में रहते अग्नि शब्द के अन्तिम वर्ण को ईकारादेश होता है । यथा अग्निश्च मरुतश्च अग्नामारुतौ, ते देवते अस्य कर्मणः अणप्रत्यय । यहाँ समासार्थ अलौकिक विग्रह वाक्य में प्राप्त आनङ् एवं ईत्व को वाधकर स्वरूपस्थित इकार की रक्षार्थ इकार को ईकारादेश किया है, आग्निमारुतं कर्म । इसी प्रकार आग्निवारुणम् । यद्यपि यहाँ वृद्धि के पूर्व आनङ् एवं ईत्व की प्रवृत्ति अन्तरङ्गत्व प्रयुक्त है, उस समय निषेध की प्राप्ति नहीं होती तो भी अपवाद विषय भविष्यत् है वहाँ अन्तरङ्ग कार्य की पूर्व अप्रवृत्ति हो है ।

‘आग्नेन्द्रः’ यहाँ उत्तर पद वृद्धि युक्त नहीं है, यहाँ ‘नेन्द्रस्य परस्य’ से उत्तर इन्द्र के आदि अच् इकार की वृद्धि का निषेध है । यहाँ शङ्का हुई कि इन्द्र में दो अच् है एक अकार एवं इकार इनमें अकार का यस्येति से लोप है । इकार का अन्तरङ्ग गुण से अपहार है, ‘न्द्र’ अच् रहित है यहाँ वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं है ‘नेन्द्रस्य परस्य’ सूत्र क्यों किया, वह व्यर्थ हो कर ज्ञापन करता है कि पूर्वोत्तर पद सम्बन्धि वर्णनिमित्तक अन्तरङ्ग भी एकादेश अपवाद विषय में पूर्ण प्रवृत्ति नहीं होता है अतः गुण प्रथम नहीं होता है ।

•विष्णु शब्द उत्तरपद रहते यह ईत्व नहीं होता है, अतः पूर्व को आनङ् । यथा आग्नावैष्णवम् ।

९२८ दिवो द्यावा ६।३।२९।

देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे । द्यावाभूमी । द्यावाक्षमे ।

देवता वाचक द्वन्द्व उत्तर में रहते दिव को द्यावा आदेश होता है । द्यावाभूमी । द्यावाक्षमे ।

९२९ दिवसथ पृथिव्याम् ६।३।३०।

दिग् इत्येव । चाद् द्यावा । आदेशो अकारोच्चारणं सकारस्य रुत्व मा भूदित्येतदर्थम् । शौश्च पृथ्वी च दिवस्पृथिव्यौ । द्यावापृथिव्यौ । छन्दसि दृष्टानुविधिः । द्यावाचिदस्मै पृथिवी । दिवस्पृथिव्योरतिमित्यत्र पदकारा विसर्गं पठन्ति ।

पृथ्वी शब्द पर रहते दिक् का दिवस आदेश होता है एक चकार से द्यावा आदेश भी होता है । आदेश दिवस में अकार का उच्चारण कत्व को निवारणार्थ है, पदान्तसकार नहीं है । वेद में प्रयोगाधीन सूत्र है । लोक्त्व सूत्राधीन प्रयोग नहीं है । अत्र दिवम् के सकार को वेद में पदान्त मान कर कत्व विसर्ग कर विभर्गान्त पदकार पढ़ने हैं मन्त्र में ।

९३० उपासोपमः ६।३।३१।

उपस् शब्दस्योपाभादेशो देवताद्वन्द्वे । उपामासूर्यम् ।

देवता वाचक शब्द के द्वन्द्व में उपस को उपासा आदेश होता है । यथा उपाश्च सूर्यश्च उपासा-सूर्यम् । समाहारद्वन्द्व है ।

९३१ मातरपितराबुदीचाम् ६।३।३२।

मातरपितरी । उशीचां किम् , मातापितरौ ।

उशीचों के मत में 'मातरपितरौ' इसमें मातृशब्द को निपातन में अरच् आदेश होता है । उशीचों के मत में येमा क्यों कहा ?, तो अन्यमत में 'मातापितरौ' रूप हुआ है ।

९३२ द्वन्द्वाच्छुदपहान्तात् समाहारे ५।४।१०६।

चरगन्ताद् दपहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात् समाहारे । याक् च त्वच् च वाक्त्वचम् । वाक्स्त्रजम् । शमीहपद्म् । वाक्त्वपम् । छत्रोपानहम् । समाहारे किम् , प्राट्टशरदी ।

इति द्वन्द्वसमासप्रकरणम्

समाहार द्वन्द्व में चरगन्त, दवारान्त, वक्षरान्त हकारान्त शब्दों के उत्तर टच् प्रत्यय होता है इनरेतर योग में इसकी प्रवृत्ति नहीं होता है । अनेक के द्वन्द्व में यथा वाक्त्वस्त्रज् यही होता है । द्वन्द्व गमिन द्वन्द्व में वाक्त्वचस्त्रजम् ।

१० श्री बा० कु० पञ्चोद्दिष्टरवि रत्नप्रभा ने द्वन्द्व समास समाप्त ।

अथैकशेषप्रकरणम् ॥ १९ ॥

सरूपाणाम् । रामौ । रामाः । ईविरूपाणामपि समानार्थानाम् । वक्र-
दण्डश्च कुटिलदण्डश्च वक्रदण्डौ । कुटिलदण्डौ ।

सम्पूर्ण विभक्तियों में समानरूपवाले समानार्थक-शब्दों में अनेक में से एकशेष रहता है ।
अर्थात् अन्यो का या अन्य का लोप होता है । एवं जो शेष रहता है वह स्वार्थ एवं उस इन
दोनों का अर्थ का बोधक है "यः शिष्यते स दुप्यमानार्थमिषायो" । शब्दवृत्ति वर्णमात्रा असमान
रहते हुए भी यदि एकार्थ बोधक है तो वहां भी एकशेष होना है । यथा वक्रदण्डः एवं कुटिल-
दण्डः में भी एकशेष हुआ है ।

९३३ वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः १।२।६५।

यूना सहोक्ती गोत्रं शिष्यते गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं चेत्योः कृत्स्नं वैरूप्यं
स्यात् । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । वृद्धः किम्, गर्गगार्ग्यायणौ । यूना किम्,
गर्गगार्ग्यौ । तल्लक्षणः किम्, भागवित्तिभागवित्तिः । कृत्स्नं किम्, गार्ग्य-
वात्स्यायनी ।

युव प्रत्ययान्त के साथ वृद्ध = गोत्र प्रत्ययान्त की उक्ति होने पर गोत्र प्रत्ययान्त का ही
अवशेष रहता है, किन्तु गोत्र प्रत्यय एवं युवप्रत्ययमात्रकृत ही वैरूप्य रहने पर । यथा गार्ग्य च गोत्र-
प्रत्ययान्त यजन्त का रूप है, यजन्त से युवापत्य में फक् उसको आयन् से गार्ग्यायण युवप्रत्ययान्त है,
इन दोनों में प्रत्ययमात्रकृत ही वैरूप्य अन्त्यांश में साम्य है, अतः गार्ग्यायण का लोपपूर्वक गोत्रप्रत्य-
यान्त गार्ग्य का शेष रहा—गार्ग्यौ = का अर्थ गर्ग के गोत्रापत्य एवं गर्ग के युवापत्य का बोधक,
'यः शिष्यते' न्याय से है । गर्गश्च गार्ग्यायणश्च गर्गगार्ग्यायणौ यहां गर्ग गोत्रप्रत्ययान्त नहीं
है । अतः एकशेष न हुआ । 'गर्गगार्ग्यौ' यहां युवार्थक प्रत्यय न होने से एकशेष न हुआ ।
भागवित्तस्य गोत्रापत्यम् भागवित्तिः से युवार्थक 'वृद्धात्' से ठक यहां कृत्स्ना एवं सौवीरत्व का
अधिक मान, है अतः एकशेष न हुआ तल्लक्षण ग्रहण से । कृत्स्न से गार्ग्यवात्स्यायनी यहां एकशेष
न हुआ ।

९३४ स्त्रीपुंवच्च १।२।६६।

यूना सहोक्ती वृद्धा स्त्री शिष्यते, तदर्थश्च पुंवत् । गार्गी च गार्ग्यायणौ च
गार्गाः । अत्रियामित्यनुवर्तमाने यवज्योश्चेत्तिलुक् । दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी ।

युवप्रत्ययान्त के साथ गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीवाचक शब्द की उक्ति = कथन होने पर स्त्रीवाचक
ही अवशिष्ट रहता है । एवं उसका अर्थ पुंवाचक समान होना है । यथा—श्रियान् में गार्गी होता
है वह गोत्रप्रत्ययान्त है, गार्ग्यायण युवप्रत्ययान्त है यहां एकशेष एवं पुंवत् से 'गार्गाः' यही हुआ
है । अत्रियान् की अनुवृत्ति होने पर यहां यजज्योश्च से यज् प्रत्यय का लुक् पुंस्त्रिङ् में है । दक्ष से
इन् दाक्षि से श्चो मनुष्यजाने । से लोप् दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी ।

९३५ पुमान् स्त्रिया १।२।६७।

ब्रिया सहोक्ती पुमान् शिष्यते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् । हसी च हसश्च हसी ।

श्रीवाचक एव पुत्राचक में पुत्राचक का एकशेष होता है । यदि श्रीत्व पुस्तकृत हो विशेष हो । हसी च हसश्च इति हसी ।

९३६ मातृपुत्रौ स्वसृदुहितृम्याम् १।२।६८।

भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्री ।

स्वसृ एव दुहितृ के साथ वक्ति होने पर भाए एव पुत्र का एकशेष रहता है । भ्रातरौ । पुत्री ।

९३७ नपुंसकमनपुंसकेनैकवचास्यान्यतरस्याम् १।२।६९।

अकलीषेन सहोक्ती क्लीब शिष्यते तच्च वा एकवत् स्यात्तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् । शुक्ल पट, शुक्ला शाटी, शुक्ल वस्त्रम् तदिव शुक्ल तानीमानि शुक्लानि ।

अकलीष के साथ (पुरिष्कञ्ज श्रीकिञ्ज के साथ) वक्ति होने पर नपुंसक अवशिष्ट रहता है वह एकवत् विकल्प से होता है । शुक्लम् वा शुक्लानि । तीनों लिङ्ग शुक्ल शब्द है ।

९३८ पिता मात्रा १।२।७१।

मात्रा सहोक्ती पिता वा शिष्यते । माता च पिता च पितरौ । मातापितरौ ।

मातृ एव पितृ भुवन्त इय का एकशेष में पितृशब्द का विकल्प से एकशेष होता है । यथा-पितरौ । मातापितरौ ।

९३९ अमुरः अम्रूवा १।२।७०।

अम्रूवा सहोक्ती अमुरो वा शिष्यते तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् । अम्रूरश्च अमुरश्च अमुरौ । अम्रूअमुरौ ।

अम्रू के साथ वक्ति होने पर विकल्प करके अम्रूर शब्द शेष रहता है । यदि श्रीत्व एव पुस्तकृत विशेषमात्र हो तब । ऊक्त प्रत्ययान्त सासवाचक अम्रू है ।

९४० त्यदादीनि सर्वेनित्यम् १।२।७२।

सर्वे सहोक्ती त्यदादीनि नित्य शिष्यन्ते । स च देवदत्तश्च तौ ।

ऋत्यदादीना मिथ सहोक्ती यत्पर तच्छिष्यतेऽऽ । स च यश्च यौ । पूर्वशेषो ऽपि दृश्यत इति भाष्यम् । स च यश्च तौ । ऋत्यदादित शेषे पुनपुसकतो लिङ्गवचनानिः । सा च देवदत्तश्च तौ । तच्च देवदत्तश्च यद्देवदत्ता च तानि । पुनपुसकयोस्तु परत्वान्नपुसक शिष्यते । तच्च देवदत्तश्च ते । ऋतद्वन्द्वत्तत्पुरुष विशेषणानामिति वक्तव्यमृक् । कुत्कुन्मयूर्योविमे । मयूरीकुत्कुटाविमौ । तच्च सा च अर्धपिप्पल्यौ च ते ।

सर्व शब्दों के साथ वक्ति होने पर स्वदादि नित्य शेष रहता है । स च देवदत्तश्च तौ । त्यदादि शब्दों का कथन होने पर, पर वो त्यदादि वही अवशिष्ट रहता है । स च यश्च यौ । किसी

स्थलविशेष में पूर्वशेष भी रहता है यह भाष्यमत है। स च यश्च तौ। त्यदादि शब्दों का एक-शेष होने पर पुंलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग के अनुसार लिङ्गवचन होता है। स्त्रीलिङ्ग भी पुंलिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग भी नपुंसक होता है एकशेष में। यथा सा च देवदत्तश्च तौ। तत् देवदत्तः यशदत्ता यहाँ तानि। पुंलिङ्ग एवं नपुंसक का एकशेष में परत्व के कारण नपुंसक का शेष रहता है। तच्च देवदत्तश्च ते। द्वन्द्व एवं तत्पुरुष में पूर्वोक्त कार्य नहीं होता है। वहाँ विशेष्यगत लिङ्ग ही होता है। उत्तरपद मयूरीगत स्त्रीत्व से अनुप्रयोग में श्मे। उत्तरपद कुक्कुट होने से तद्गत लिङ्ग से अनु-प्रयोग में श्मौ। उत्तरपद अर्धपिप्पलीगत स्त्रीत्व से 'ते'।

९४१ ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री १।२।७३।

एषु सहविवक्षायां स्त्री शिष्यते। पुमान् स्त्रियेत्यस्यापवादः। गाव इमाः। ग्राम्येति किम्, रुख इमे। पशुग्रहणं किम्, ? ब्राह्मणाः। सङ्घेषु किम्, एतौ गावौ। अतरुणेषु किम्, वात्सा इमे। अनेकशफेष्विति वाच्यम्। अश्वा इमे। इह सर्वत्र एकशेषे कृतेऽनेकसुबन्तत्वाभावाद् द्वन्द्वो न। तेन शिरसी शिरांसीत्यादौ समासस्येत्यन्तोदात्तः, प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावश्च न। पन्थानौ, पन्थान इत्यादौ समासान्तो न।

इत्येकशेषप्रकरणम्

अतरुण ग्रामीण पशु समुदाय को सहविवक्षा में स्त्रीवाचक शब्द का एकशेष होता है। यह सूत्र पूर्वोक्त 'पुमान् स्त्रियाः' का वाधक है। यथा इमा गावः। ग्राम्य पशु का अभाव में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अनेक खुर विशिष्ट पशुसमूह में सहविवक्षा में यह एकशेष करता है एक खुर वाले पशुओं में नहीं। अन्तरङ्ग एकशेष प्रातिपदिकावस्था में सुबुत्पत्ति से पूर्व होता है अन्तरङ्गत्व के कारण, अब अनेक सुबन्त ही नहीं, अतः द्वन्द्व की अप्राप्ति है, अप्राप्ति लक्षण एकशेष द्वन्द्वापवाद यह प्रवाद है, अप्राप्ति लक्षण अपवाद शब्द अपवाद सद्दृश परक है। इस कारण शिरसी आदि में 'समासस्य' से अन्तोदात्त न हुआ। एवं प्राण्यङ्ग मानकर एकवद्भाव भी न हुआ। पन्थानौ आदि में 'ऋक्पूर्वधू' से अप्रत्यय समासान्त न हुआ।

[पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में एकशेष प्रकरण समाप्त।



अथ सर्वसमासशेषप्रकरणम् ॥ २० ॥

कृतद्वितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपा पञ्चदृश्य । परार्थाभिधान वृत्ति । वृत्त्यर्थोवबोधक वाच्य विग्रह । स द्विधा लौकिकोऽलौकिकश्च । परिनिष्ठितत्वात् साधुलौकिक । प्रयोगानर्होऽसाधुरलौकिक । यथा राज्ञ पुरुष । राजान् अस् पुरुष सु इति । अविग्रहो नित्यसमास , अस्वपदविग्रहो वा ।

समासश्चतुर्विध इति प्रायोवाद् । अव्ययीभावतत्पुरुष-बहुव्रीहिद्वन्द्वधिकारबहिर्भूतानामपि सह सुपेति समासविधानात् । पूर्वपदार्थप्रधानोऽन्यथीभाव । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुष । अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहि । उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्व । इत्यपि प्राचा प्रवाद प्रायोवाद । 'सूपप्रति' उन्मत्तगङ्गमित्याद्यव्ययीभावे, अति-मालादौ तत्पुरुषे 'द्वित्रा' इत्यादि बहुव्रीहौ, दन्तोऽष्टमित्यादि द्वन्द्वे, चामावात् । तत्पुरुषविशेष कर्मधारय । तद्विशेषो द्विगु । अनेकपदत्व द्वन्द्वबहुव्रीहावेव । तत्पुरुषस्य कविदेवेत्युक्तम् । किञ्च,

सुपा सुपा तिङ्गान्ता धातुनाऽय तिङ्गा तिङ्गा ।

सुबन्तेनेति विज्ञेय समास पङ्क्तियो बुधै ॥ १ ॥

सुपा सुपा-राजपुरुष । तिङ्गा-पर्यभूयत् । नान्ता-कुम्भकार । धातुना-कटम् , अजलम् । तिङ्गा तिङ्गा-पिबतसादता, खादतमोदता । तिङ्गा सुपा-कृन्त विचक्षणेति यस्या क्रियाया सा कृन्तविचक्षणा । एहीडादयोऽन्यपदार्थे इति मयूरुण्यसकादौ पाठात् समास ।

इति सर्वसमासशेषप्रकरणम् ।

पाँचों की वृत्तिसंज्ञा है, यह पूर्वपाँचों ने कहा था, उसका इन्होंने भी समावयन किया है । कृत, तद्वित, समास, एकशेष, सनाद्यन्त धातुरूपा यह पाँच वृत्तियों हैं । इसीको पदविधि कहते हैं, वे काय सामर्थ्य में ही होते हैं । यहाँ एकार्थोभावि रूप ही सामर्थ्य गृहीत है । जिससे दूसरा पदार्थ अभिहित हो उसे वृत्ति कहते हैं । वृत्ति के अर्थ का शापक वाक्य को विग्रह कहते हैं । यह विग्रह दो प्रकार का है । लौकिक, एवं अलौकिक परिनिष्ठित इनमें लौकिक साधु है ।

अप्रवृत्त ओ नित्यशास्त्र का उद्देश्य नहीं । न रहे उसको परिनिष्ठित कहते हैं = 'अप्रवृत्तनित्यविद्युरेव्यतावच्छेदकानाकान्तत्वं परिनिष्ठितत्वम्' यह परिनिष्ठित का उद्देश्य है । लोक में प्रयोग के लिए अव्ययी को अलौकिक कहते हैं । यथा राज्ञ पुरुष यह लौकिक है । राजन् अम पुरुष यह अलौकिक है । शास्त्रीय सवविध कार्य अलौकिक विग्रह वाक्य में हो होते हैं । लौकिक में नहीं, वहाँ वाक्यस्थिति है । नित्यसमास उसको कहते हैं वहाँ विग्रह हो न हो, या विग्रह हो वो भी समस्यमान के साथ नहीं, किन्तु उसका पर्याय वाचक किसी शब्द के साथ ।

समास चार प्रकार के हैं, यह भी प्रायः एवम्-इस प्रकार का वाद कथन है अर्थात् प्रायिक है, अन्य भी समास हैं । वो अव्ययीभाव के अधिकार में नहीं हैं, एवं तत्पुरुष के अधिकार में नहीं हैं ।

बहुव्रीहि के अधिकार में नहीं है, द्वन्द्व के अधिकार में नहीं है एवं समास संज्ञक है। यथा 'सह' यथा 'सुपा' दो विभक्त सूत्रों से विहित समास जो सामान्य समास नाम से व्यवहृत हैं।

एवं वक्ष्यमाण समासों का लक्षण भी प्रायोवाद धर्याय प्रायिक है। 'व्यावृत्ति व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्'। लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव वे तीन दूषण न रहें उसे लक्षण कहते हैं, लक्ष्य में लक्षण की अप्रवृत्ति को अव्याप्ति कहते हैं। अलक्ष्य में लक्षण प्रसक्ति को अतिव्याप्ति कहते हैं। किसी भी अभिमत लक्ष्य में लक्षण न आय उसे असम्भव कहते हैं।

प्राचीनोक्त लक्षणनिर्देश कर पश्चात् इसमें दूषणों का उपन्यास किया जाता है। प्रकृत में पूर्वपद का अर्थ प्रधान रहे उसको अव्ययीभाव कहते हैं। प्रधान का अर्थ मुख्य, मुख्य का अर्थ विशेष्य। अप्रधान का अर्थ विशेषण है, विशेषण गौण उपसर्जन अप्रधान वे सब शब्द एकार्थ बोधक पर्याय है। उत्तरपदार्थ प्रधान को तत्पुरुष कहते हैं। समस्यमान पदों के अर्थ से अतिरिक्त जो अन्यपदार्थ वह प्रधान जहाँ रहे उसे बहुव्रीहि कहते हैं। उभय पदार्थ प्रधान को द्वन्द्व कहते हैं।

'सूपप्रति' 'उन्मत्तपङ्गम्' यहाँ अव्ययीभाव समास में पूर्वपदार्थ प्राधान्य का अभाव है, अतिमालः तत्पुरुष में उत्तरपदार्थ प्राधान्य का अभाव है। दन्वोष्ठम् द्वन्द्व में उभयपदार्थ प्रधानत्व का अभाव है। समूह का वहाँ प्राधान्य है। अतः प्राचीनोक्त लक्षण दोष ग्रस्त होने से उपेक्ष्य है। किन्तु 'अव्ययीभावादि अधिकार पठितत्वम्' अव्ययीभावादि यही लक्षण ठीक है। तत्पुरुष का व्याप्यभेद कर्मधारय है, एवं वह यदि संख्या पूर्वक रहे तब द्विगु नाम से कहलाता है। अनेक = तीन आदि पद बहुव्रीहि एवं द्वन्द्व में ही है। तत्पुरुष में कचित् है।

छः प्रकार का समास इस कारिका में कहा गया है 'उदाहरण भी दिये गये हैं यथा पदद्वयसुबन्त का समास राजपुरुषः। पूर्वपदसुबन्त उत्तरपद तिङन्त का समासोदाहरण—पर्यभूषयत् यहाँ सह योगविभाग से छन्द में एवं लोके में भी कचित् समास होता है। पूर्वपद सुबन्त उत्तरपद प्रातिपादक का समास—कुम्भकारः। पूर्वपद सुबन्त उत्तरपद पाठु का समास—कट्पूः। तिङन्त तिङन्त का समास—पिषतखादता क्रिया। तिङन्त सुबन्त का समास कृन्त-विचक्षणा। 'एहीटादयोऽन्यपदार्थे' यह मयूरभ्यंसक का अमान्तर गणसूत्र है, वहाँ उसी से समास होता है।

पं० बी० कृ० पञ्चोलिविरचित रत्नप्रभा में सर्वसमास शेष प्रकरण समास।



अथ समासान्तप्रकरणम् ॥ २१ ॥

९४२ ऋक्पूर्वः पथामानक्षे ५।४।७४।

अ अन्ते इति च्छेद । ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अ प्रत्ययोऽन्तावयवः स्यात् । अक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न । अर्धचः । अन्तृषमह्वृचावभ्येतर्प्येव । नेह, अन्तृक् साम, बह्वृष् सूक्तम् । विष्णोः पू विष्णुपुरम् । क्लीबत्वं लोकात् । विमलाप सरः ।

'आनक्षे' यहाँ अ अन्ते ऐसा पदच्छेद है । ऋक् अद्यान्त, पूरु अद्यान्त अप् अद्यान्त इरु अद्यान्त एव पणिर् अद्यान्त समास को समासावयव अ प्रत्यय होता है, किन्तु शकट का अक्ष बोधक जो धुर अक्ष है तदन्त समास में अ प्रत्यय नहीं होता है । ऋच अर्धम् इति अर्धच । यहाँ 'अर्धचा पुंसि न' से पुल्लिङ्ग बोधन हुआ है । अन्तृष एव बह्वृच इन दोनों को अध्ययन कर्ता अर्ध में ॥ प्रत्यय होता है । अन्यत्र नहीं । ऋक मन्त्र रहित साम अन्तृ साम यहाँ अ प्रत्यय न हुआ । अनेक ऋक है जिस सूक्त में है वहाँ भी अ प्रत्यय नहीं हुआ । विष्णो पू विष्णुपुरम् यद्योत्तरपुरुष एव अप्रत्यय । यहाँ नपुंसल्लिङ्ग से प्राप्त है । विमला आप यस्मिन् सरसि तद् विमलाप सरः ।

९४३ द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ६।३।९७।

अप इति कृतसमासान्तानुकरणम् पष्ठचर्ये प्रथमा । एभ्यो अप ईत् स्यात् । द्विर्गता आपो यस्मिन् इति द्वीपम् । अन्तरीपम् । प्रतीपम् । समीपम् । समापो देवयजनमिति तु समा आपो यस्मिन्निति बोध्यम् । कृतसमासान्त-प्रहणान्नेह । स्वप् स्वपी । ऋग्वर्णान्ताद्वाक् प्रेपम् । परेपम् । प्रापम् । परापम् ।

'अप' सूत्र में समासान्तप्रत्यय से निष्पन्न रूप का अनुकरण है इससे वही के अर्थ में प्रथमा है । द्वि एव अन्तर तथा उपसर्ग से पर अप के अकार को ईत् होता है, यथा द्वीपम् आदि । 'समाप' । यहाँ उपसर्गपूर्वक न होने से ईकार न हुआ । स्वप् में समासान्त नहीं है अतः ईकार न हुआ । न पूजनात् से समासान्त अ प्रत्यय न हुआ । अवर्णान्त उपसर्ग से पर अप के अकार को ईकार विकल्प होता है । यथा प्रेपम् प्रापम् इत्यादि ।

९४४ उदनोर्देशे ६।३।९८।

अनो परस्यापस्य ऊत् आदेशः स्याद् देशे । अनूपो देशः । राजधुरा । अक्षे तु अक्षधूः । दृढधूरक्षः । सखिपथ, रम्यपथो देशः ।

देश अर्थ में अनु से पर अप के अकार को उद् आदेश होता है । अनूपो देशः । ऋक् सूत्र के उदाहरण कहते हैं—राष्ट्र पू राजधुरा यहाँ समास अप्रत्यय टाप् दीर्घ । धुर अक्ष रथ के अक्ष वाचक है यहाँ समास अप्रत्यय नहीं होता है यथा अक्षधू । दृढधू । सख्यु पन्था इति सखिपथ । रम्य = पन्था यस्मिन् देशे ॥ रम्यपथ ।

९४५ अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोमन्ः ५।४।७५।

एतत्पूर्वात् सामलोमान्तात् समासात् अच् स्यात् । प्रतिसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अनुलोमम् । कृष्णोदक्पाण्डुसंख्यापूर्वाया भूमेरजिप्यतेः । कृष्णभूमः । उदग्भूमः । पाण्डुभूमः । द्विभूमः प्रासादः । कृष्णसंख्यायाः नदीगोदावरीभ्याश्च । पञ्चनदम् । सप्तगोदावरम् । अजिति योगविभागादन्यत्रापि पद्मनाभः ।

प्रति अनु अव पूर्वक सामन् एवं लोमन् शब्दान्त समास से अच् प्रत्यय होता है । प्रतिसामम्, यहां अव्ययीभाव समास, या प्रादिसमास या बहुव्रीहिसमास में अन्यतम समास है । इसी प्रकार अनु एवं सामादि में भी समझना चाहिए । कृष्ण, उदक्, पाण्डु एवं संख्या वाचक शब्द इनसे पर जो भूमि शब्द तदन्त समास से अच् प्रत्यय होता है । कृष्णा भूमिर्यत्र कृष्णभूमः । द्वे भूमी यत्र द्विभूमः प्रासादः = दो तला मकान । संख्यापूर्वक नदी एवं गोदावरी तदन्त समास से अच् प्रत्यय होता है । पञ्चानां नदीनान् समाहारः पञ्चनदम् । सप्तानां गोदावरीणां समाहारः सप्तगोदावरम् । सूत्र में अच् पृथक् सूत्र मान कर पूर्व उक्त स्थल से अन्यत्र में अच् प्रत्यय होता है । पञ्चनाभः ।

९४६ अक्षणोऽदर्शनात् ५।४।७६।

अचक्षुपर्यायाद् अक्षणोऽच् स्यात् समासान्तः । गवामक्षीव गवाक्षः । चक्षुः के पर्याय वाचक जो अक्षि शब्द न हो वह उत्तरपदक समास से अच्प्रत्यय होता है गवामक्षीव गवाक्षः = वातायन में यह रूढ है । यहां व्यवस्थितविभाषा से अवष्ट नित्य है । रोगनदान मापा में इतका अर्थ है ।

९४७ अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्कसामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्टीवनक्तन्दिगरात्रिन्दिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुपद्वयायुपत्र्यायुपुर्ग्यजुपजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठ्याः ५।४।७७।

एते पञ्चविंशतिरजन्ता निपात्यन्ते ।

आद्यास्त्रयो बहुव्रीहयः । अविद्यमानानि चत्वार्यस्य अचतुरः । विचतुरः । सुचतुरः । कृत्र्युपाभ्यां चतुरोऽजिप्यतेः । त्रिचतुराः । चर्तुणां समीपे ये सन्ति ते उपचतुराः । तत एकादश द्वन्द्वाः । स्त्रीपुंसौ । धेन्वनडुहौ । ऋसामे । वाङ्मनसे । अक्षिणी च भ्रूवौ च अक्षिभ्रुवम् । दाराश्च गावश्च दारगवम् । ऊरू च अष्टीवन्तौ च ऊर्वष्टीवम् । निपातनाद्विलोपः ।

पदष्टीवम् । निपातनाद् पादशब्दस्य पदभावः । नक्तश्च दिवा च नक्तन्दिवम् । रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम् । रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यते । अह्नि च दिवा च अहर्दिवम् । वीष्मायां द्वन्द्वो निपात्यते । अहन्यहनीत्यर्थः । सरजसमिति साकल्येऽव्ययीभावः । बहुव्रीहौ तु सरजः षष्ठजम् । निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम् । तत्पुरुष एव ।

नेह—निश्रेयान् पुरुषः । पुरुषस्यायु पुरुषायुषम् । ततो द्विगु-
द्वयायुषम् । त्रयायुषम् । ततो द्वन्द्व—अग्न्यजुषम् । ततस्त्रयः कर्मधारया-
जातोक्षः । महोक्ष । बृहोक्ष । शुन समीपम् उपशूनम् । टिलोपाभाव
सम्प्रसारणञ्च निपात्यते । गोष्ठे आ गोष्ठश्च ।

अचतुरादि पञ्चोस शब्द अच्प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध होते हैं । इनमें पड़ते तीन बहुव्रीहि हैं ।
अविद्यमानानि चत्वारि यस्य अचतुर । विद्यमानानि अर्थ में विशब्द, शोभनानि अर्थ में सुशब्द से
विचतुर । सुचतुर । त्रि एव उपपूर्वक चतुर शब्द की अच्प्रत्यय होता है । यथा त्रिचतुरा ।
चतुर्णां वप-समीपे ये ते इति उपचतुरा । इसके पश्चात् प्यारह शब्दों में द्वन्द्व है । ऊरू च अग्रो वन्तौ
च ऊर्ध्वो वन् ।

यहा निपातन से टिलोप हुआ है । पादको निपातन से पदादेश बदहोवन् में हुआ है ।
रात्रिन्दिवन् यहा निपातन से पूर्वपदको मान्यत्व है । गोप्ता अर्थ में दू द निपातित है अहादवन् ।
सरोजम् में साकल्य अर्थ में अवस्थाभाव है । बहुव्रीहि में यह अच्प्रत्यय नहीं करता है वहा
सरज पङ्कजम् यही होता है । तत्पुरुष समास में हो नि श्रेयसन् जाता है । अन्यसमास में
निश्रेयान् पुरुष यहा बहुव्रीहि समास है । उपशूनम् यहा टिलोप का अभाव एव सम्प्रसारण
निपातिन है । गोष्ठश्च यहा अच्प्रत्यय एव 'नस्तद्विने' से अच् का लोप है ।

९४८ ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ५।४।७२।

अच् स्यात् । ब्रह्मवर्चसम् । हस्तिवर्चसम् । क्लृपन्पराजभ्या चेति वक्त
व्यमूक् । पत्यवर्चसम् । राजवर्चसम् ।

ब्रह्म एव हस्ति शब्द से पर वर्चस् शब्द तदन्त समास से अच् प्रत्यय समासान्त होता है ।
ब्रह्मण = ब्राह्मणस्य वर्चं तेजः अर्थ में समास अच् पदव्य नपुसकत्वं विवक्षा में ब्रह्मवर्चसम् ।
पत्य एव राजन् शब्द से पर वर्चस् शब्द तदन्त समास से अच् प्रत्यय होता है । पत्यवर्चसम् ।
राजवर्चसम् । एक शब्द मास बाची है । एकम्=मासम् अदतीति पत्य ।

९४९ अरसमन्धेभ्यस्तमसः ५।४।७३।

अवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धयतीत्यन्धम्, पचाद्यच् । अन्ध तम =
अन्धतमसम् ।

अव, सम् अन्य इन पूर्व में स्थित रहे वहा तमस शब्दोत्तर समास की अच् प्रत्यय होता है ।
अन्ध इष्टमुपधाने धातु से 'पचदि' अच् प्रत्यय से यहा इष्टि का उपधात करने वाला अर्थ
अन्ध का है । अन्धम् तम अवतमसम् ।

९५० श्वसो वसीयश्श्रेयसः ५।४।८०।

वसुशब्द प्रशस्तवाची तत् ईयसुनि वसीय । श्वस् शब्द = उत्तरपदार्थ
प्रशसामाशीविषयतामाह । मयरन्यसकादित्वात् समास । श्वोयसीयसम् =
श्व श्रेयस ते भूयात् ।

वसु शब्द प्रशस्त वाचक है । उसमें अतिशय अर्थ में ईयसुन् प्रत्यय टिलोप से वसीय की
सिद्धि है । श्वस् शब्दार्थ यहा आशीर्वाद विषय जो उत्तर पदार्थ प्रशसा उत्सका शेषक है । श्वस्

शब्द के उत्तर वसीयस् एवं श्रेयस् तदन्त समास को अच् प्रत्यय होता है। श्वोवसीयसन्। श्वः-
श्रेयसन्। यद्वा मयूर व्यंसकादि मान कर समास है।

९५१ अन्ववतप्ताद् रहसः ५।४।८१।

अनुरहसम्। अवरहसम्। तप्तरहसम्।

अनु, अव, तप्त इन शब्द पूर्व में रहे इनके पश्चात् रहस् शब्द तदन्त समास से अच् प्रत्यय होता है। रहः = अप्रकाश्य, अनुहीनम् अवहीनम् वा तमः अनुरहसम्। अवरहसम्। प्रादि समास है। अनुगतं रहः यस्मिन् यद्वा बहुव्रीहि भी सम्भव है।

दूसरे से अनभिगम्यम् = तप्तश्च तत् रहः तप्तरहसम्।

९५२ प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् ५।४।८२।

उरसि प्रति प्रत्युरसम्। विभक्त्यर्थेऽन्यथीभावः।

प्रतिपूर्वक सप्तम्यन्त उरस् शब्द के उत्तर समासान्त अच् प्रत्यय होता है। विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव, एवं अच् से प्रत्युरसम् = वसुःस्थल में।

९५३ अनुगवमायामे ५।४।८३।

एतन्निपात्यते दीर्घत्वे। अनुगवं यानम्। यस्य चायाम इति समासः।

दीर्घ अर्थ होने पर अनुपूर्वक जो गौशब्द तदन्त समास को अच् प्रत्यय होता है। गोगत दीर्घ सम दीर्घतायुक्त यान = वाहन = अनुगवम्।

९५४ द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः ५।४।८४।

अच्प्रत्ययप्रिलोपः समासश्च निपात्यते। यावती प्रकृतौ वेदिस्ततो द्विगुणा त्रिगुणा वाऽश्वमेधादौ तत्रेवं निपातनम्। वेदिरिति फिम्, द्विस्तावती, त्रिस्तावती रज्जुः।

द्विस्तावत् एवं त्रिस्तानत् से समासान्त अच् प्रत्यय होता है एवं टिकोप भी निपातन से होता है। वेदि अर्थ में। याग दो प्रकार के हैं प्रकृति एवं विकृति, जहाँ साक्षोपाङ्गविधिनिर्दिष्ट सम्पूर्ण ई वद् प्रकृति याग है, जहाँ कुछ अपूर्वविधि के बाद कद् दिया गया है कि शेषविधि प्रकृति यागवत् वद् विकृति याग हैं। प्रकृत में प्रकृति याग में कितनी बड़ी वेदि विहित है उससे दुगुनी या त्रिगुनी वेदि बड़ी अश्वमेधादि विकृति याग में बनानी चाहिये। वहाँ 'द्विस्तावा वेदिः' यद्वा अच् प्रत्यय एवं टिकोप हुआ है। इसी प्रकार त्रिस्तावा वेदिः। तद् वतुप् धात्व तापत्। वेदि से मित्र में द्विस्तावती उगित वतुप् होने से ङीप्।

९५५ उपसर्गादध्वनः ५।४।८५।

प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः।

प्र उपसर्ग से पर जो अध्वन् शब्द तदन्त समास से अच्प्रत्यय समासान्त होता है। प्रगतोऽध्वानन् प्राध्वो रथः।

९५६ न पूजनात् ५।४।८६।

पूजनार्थात् परेभ्यः समासान्ता न स्युः । सुराजा । अतिराजा । ऋस्वति-
भ्यामेवः परमराजः । पूजनात् किम् ? गामतिक्रान्तोऽतिगवः । बहुव्रीहौ
सकथ्यक्ष्णोरित्यतः प्रागेवाय निषेधः । नेह-सुसकथ्यः । स्वधः ।

पूजनार्थक शब्द से पर स्थित जो शब्द तदन्त समास से समासान्त नहीं होता है । सुराजा में
टच् न हुआ । अतिराजा में भी टच् का अभाव है । सु एव अति से पर शब्द तदन्त से ही यह
समासान्त प्रत्यय का निषेधक है । अन्यत्र नहीं । परमराजो राजा यहाँ कर्मधारय में टच्
होकर टिलोप से परमराज । अति का जहाँ अतिशय अर्थ है वहाँ पूजा प्रतीयमान है एव
अतिक्रान्तार्थक अति जहाँ है वहाँ गाम् अतिक्रान्त' द्वितीयातत्पुरुष में वहाँ निषेध नहीं है, टच् हुआ
अतिराजः । अतिगवः । यह निषेधक सूत्र की प्रवृत्ति 'बहुव्रीहौ सकथ्यक्ष्णो' के पूर्वसूत्र विहित
समासान्त हुआ हो वहाँ ही है । स्वध में अच् प्रत्यय हुआ ।

९५७ किम् छेपे ५।४।७०।

छेपे य किम् शब्दस्ततः परं यत् तदन्तात् समासान्ता न स्युः । कुत्सितो
राजा किराजा । किसखा । किंगोः । छेपे किम् किराजः । किसखः । किंगवः ।

निन्दार्थक किम् शब्द से पर जो शब्द तदन्त समास से समासान्त प्रत्यय नहीं होते हैं ।
किराजा में टच् न हुआ । किसखा में भी टच् का अभाव । किंगो वहाँ भी टच् का अभाव
प्रश्नार्थक किम् वहाँ समास में टच् एव टिलोप किराजः । किसखः । किंगवः । इनमें पूर्व दो में
'राजा' से टच्, किंगव 'गौरवक्षित' से टच् हुआ है ।

९५८ नवस्तत्पुरुषात् ५।४।७१।

समासान्तो न । अराजा । असखा । तत्पुरुषात् किम्, अथुर शकटम् ।

नच् तत्पुरुष समास से समासान्त प्रत्यय नहीं होते हैं । अथुरम् में बहुव्रीहि है, 'अक् पुरम्' से
अप्रत्यय हुआ है ।

९५९ पथो विभाषा ५।४।७२ ।

नच् पूर्वात् पथो वा समासान्तः । अपथम् । अपन्थाः । तत्पुरुषादित्येव ।
अपथो देशः । अपथं वर्तते ।

इति समासान्तप्रकरणम् ।

नञ पूर्वक पविन् जो शब्द तदन्त समास से समासान्त प्रत्यय विकल्प से होते हैं । तत्पुरुष
में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति । अन्य समास में नहीं ।

अविपमान पन्था यरिमन् देशे, स्थाने वा यहाँ नित्यसमासात् अप्रत्यय हुआ । यथा-
अपथो देशः । अपथं स्थानं वर्तते ।

प० श्रीवा० कृ० पञ्चोक्ति विरचित रत्नप्रभागे समासान्त प्रकरण पूर्ण



अथालुक्समासप्रकरणम् ॥ २२ ॥

९६० अलुगुत्तरपदे ६।३।१।

अलुगधिकारः प्रागानङ्, उत्तरपदाधिकारस्त्वापादसमाप्तेः ।

‘आनङ् कृतो द्वन्द्वे’ के पूर्व तक अलुक् का अधिकार है । एवं तृतीयपाद समाप्ति तक उत्तरपद का अधिकार है । यहाँ अलुक् में प्रसज्य प्रतिषेध है, ‘मुपो धातुप्रातिपदिकयोः’ से प्राप्त लुक् का निषेधक उत्तरसूत्र होते हैं । प्राप्ति का निषेध यह बोधनार्थ उत्तरोत्तर सूत्र में ‘अलुक्’ का सम्बन्ध करता है ।

९६१ पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ६।३।२।

एभ्यः पञ्चम्या अलुक् स्यादुत्तरपदे । स्तोकान्मुक्तः । एवमन्तिकार्थदूरार्थ-कृच्छ्रेभ्यः । उत्तरपदे किम्, निष्क्रान्तः स्तोकात्रिःस्तोकः क्लृप्ताह्वणाच्छसिन उपसंख्यानमृक् ब्राह्मणे विहितानि शस्त्राणि उपचाराद् ब्राह्मणानि तानि शंस-तीति ब्राह्मणाच्छंसी = ऋत्विग्विशेषः । द्वितीयार्थे पञ्चम्युपसंख्यानादेव ।

स्तोकादि शब्दों से पर पञ्चमी विगति का लुक् नहीं होता है उत्तरपद पर रहते । यहाँ ‘स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि’ इस समास विधायक शास्त्रपठित ही स्तोकादि का ग्रहण होता है । ‘करणे च स्तोकाव्यकृच्छ्र’ का नहीं । समासत्व निबन्धप्रातिपदिक संज्ञा के अवयव मुप् का ‘मुपोः’ से प्राप्त लुक् का प्रतिषेध है, तकार को नकार अनुनासिक से है ‘स्तोकान्मुक्तः’ स्तोकान्मुक्तत्वा-पत्यम् स्तोकान्मुक्तिः । यह समास का फल है । एवं अन्तोदात्त एकपदत्वादि अनेक फल हैं, ऐसी परि-स्थित में यहाँ समास असमास में विशेषता नहीं यह भ्रम न करना । अन्तिकान्मुक्तः । दूरा-न्मुक्तः । कृच्छ्रान्मुक्तः । पञ्चमी तत्पुरुष में निःस्तोकः में उत्तरपद परक स्तोक नहीं प्रत्युत स्वयं स्तोक ही उत्तरपद है अतः यहाँ अलुक् न हुआ । ब्राह्मण से पर पञ्चमी का अलुक् शंसिन् उत्तरपद पर रहते होता है । ब्राह्मण ग्रन्थ में विहित शस्त्रों को भी लक्षणया ब्राह्मण ही कहकर उनका कथन कर्ता ऋत्विग्विशेष को ब्राह्मणाच्छंसी यहाँ पञ्चमी का लुक् न हुआ । यहाँ कथनकर्म ब्राह्मण है, अतः द्वितीया कर्मार्थक प्राप्त थी किन्तु पञ्चमी का अलुक् बोधन से यहाँ कर्मार्थक पञ्चमी ही हुई है, पञ्चमी का अर्थ द्वितीयार्थ ही होता है ।

९६२ ओजः सहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः ६।३।३।

ओजसाकृतम् । क्लृप्ताह्वस उपसंख्यानमृक् । अञ्जसाकृतम् = आर्जवेन कृतमित्यर्थः । क्लृप्ताह्वसोऽनुजोऽनुपान्व इति चक्रे । यस्याग्रजः पुमान् स पुंसानुजः । अनुपान्वो जात्यन्धः ।

ओजस्, सद्, अम्भस्, तमस् इनसे पर तृतीया का उत्तरपद पर रहते अलुक् होता । ओजसाकृतम् । सद्साकृतम् । अम्भसाकृतम् । तमसाकृतम् । कार्यम् यह विशेष्य है ।

अजस् शब्दोत्तर तृतीया का अलुक् होता है उत्तर पद पर रहते । सरलतापूर्वक सम्पन्न कार्य में अञ्जसाकृतम् । पुंस शब्द से पर तृतीया का अलुक् होता है अनुज उत्तरपद रहते ।

एव अनुष् से पर तृतीया का अलुक् होता है अन्य उत्तर पद पर रहते । जिसकी उत्पत्ति के पूर्व आता ही उत्पन्न है वह पुस्तानुब् है । जन्म से ही अन्य वहाँ अनुष्ठान् = नालान् ।

९६३ मनसः संज्ञायाम् ६।३।४।

मनसागुप्ता ।

समस्त शब्द से सज्ञा अर्थ की प्रतीति होती हो वहाँ उत्तरपद पर रहते मनस् शब्द से पर तृतीया का अलुक् रहता है ।

९६४ आज्ञायिनि च ६।३।५।

मनस इत्येष । मनसा आज्ञातु शीलमस्य मनसाज्ञायी ।

आज्ञायिन् शब्द उत्तर पद पर रहते मनस् शब्द से पर तृतीया का लुक् नहीं होता है । वचन से नहीं केवल मन से आज्ञा देने का स्वभाव = प्रकृतियुक्त पुरुष को मनसाज्ञायी कहते हैं । शक्तिमान् से आज्ञापक ।

९६५ आत्मनश्च ६।३।६२।

आत्मनस्तृतीयाया अलुक् स्यात् । ॐ पूरण इति वक्तव्यम् ॐ । पूरणप्रत्ययान्ते उत्तरपदे इत्यर्थः । आत्मनापञ्चमः । 'जनार्दनस्वात्मचतुर्थ एव इति बहुव्रीहिर्बोध्य' । पूरणे किम् , आत्मकृतम् ।

आत्मन् से पर तृतीया का अलुक् है, पूरण प्रत्ययान्त उत्तरपद पर रहते । आत्मनापञ्चमः । आत्मा चतुर्थे यस्य यहाँ बहुव्रीहि है तृतीया का लुक् होता ही है । काशिका में सूत्र 'आत्मनश्च पूरणे' देता है । स्वयंकृत अर्थ में आत्मकृतम् ।

९६६ वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्या ६।३।७।

आत्मन इत्येष । आत्मनेपदम् । आत्मनेभाषा । सादृश्ये चतुर्थी । 'चतुर्थी' इति योगविभागात्ममास' ।

व्याकरण सन्निधिनी सज्ञा में उत्तरपद पर रहते आत्मन् से उत्तर चतुर्थी का लुक् नहीं होता है । सादृश्य में चतुर्थी समास छगभाव से आत्मनेपदम् । प्राचीन व्याकरण में आत्मनेभाषा यह भी सज्ञा है । यहाँ 'चतुर्थी तदर्थ' सूत्र में 'चतुर्थी' देता योगविभाग से समास है ।

९६७ परस्य च ६।३।८।

परस्मैपदम् । परस्मैभाषा ।

व्याकरण की सज्ञा में उत्तरपद पर रहते पर से पर चतुर्थी का लुक् नहीं होता है, सज्ञा में । यथा-परस्मैपदम्, परस्मैभाषा ।

९६८ हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ६।३।९।

हलन्ताददन्ताच्च सप्तम्या अलुक् संज्ञायाम् । त्वचिसारः ।

हलन्त एव हल्य अकारान्त से पर सप्तमी का अलुक् सज्ञा में होता है । त्वचिसारः ।

९६९ गवियुधिभ्यां स्थिरः ८।३।९।

आभ्यां स्थिरस्य सस्य पः स्यात् । गविष्ठिरः । अत्र गवीतिवचनादेवालुक् । युधिष्ठिरः । अरण्येतिलकः । अत्र संज्ञायामिति सप्तमीसमासः । ॐ हृद्द्यु-
भ्याञ्छ्रृक् । हृदिस्पृक् । दिविस्पृक् ।

गवि और युधि इनसे पर स्थिर शब्द उसका सकार को पकारादेश होता है । गवि से पर स्थिर के सकार को पत्व विधान से ही गो शब्द से पर समासावयव सप्तमी का लुक् नहीं होता है ऐसा शापन करना । अन्यथा गो से पर ही स्थिर मिलेगा पत्व विधान व्यर्थ है । यद्यपि यहाँ पदद्वय सम्बन्धी समासत्व निबन्धन प्रातिपदिक निमित्तक लुक् बहिरङ्ग है अन्तरङ्ग अवादेश होकर गव् एलन्त है उससे पर शकार विभक्ति का है यहाँ 'हृदन्तात्' से अलुक् हो ही जाता पुनः गवीति वचनान्तरमे से अपूर्व शापक का न्या उपयोग है ? , तथापि यहाँ अन्तरङ्ग परिभाषा की बाधक एक अन्य परिभाषा है, "अन्तरङ्गान् अपि विधीनृषद्विरङ्गो लुक् शापते" से अन्तरङ्ग कार्य अवादेश उसका अभाव से यहाँ गो शोकारान्त हो ते, एलन्त नहीं ।

यहाँ 'सात्पदायोः' से निषेध प्राप्त था, अतः इस सूत्र का आरम्भ किया है । युधिष्ठिरः । समास अलुक् पत्व ष्टुत्व है । अदन्त का बदाहरण—'अरण्येतिलकाः' समास अलुक् । यह किसी की संज्ञा है । हृद् एवं दिद् शब्द से पर सप्तमी का अलुक् होता है उत्तरपद पर रहते । हृदि-स्पृक् । दिविस्पृक् ।

९७० कारनाम्नि च प्राचां हलादौ ६।३।१०।

प्राचां देशे यत्कारनाम तत्र हलादौ उत्तरपदे हलदन्तात् सप्तम्या अलुक् । मुकुटेकार्षापणम् । वृषदिमापकः । पूर्वणैव सिद्धे नियमार्थम् । कारनाम्येव, प्राचामेव, हलादवेवेति । कारनाम्नि किम् , अभ्याहितपशुः । कारादन्यस्यैतद्-
देयस्य नाम । प्राचां किम् , यूथपशुः । हलादौ किम् , अविकटोरणः । हलदन्तात् किम् , नद्यां दोहो नदीदोहः ।

वैश्यः पशुपालकः, कृषक आदि से रावग्रास भाग को कारनाम कहते हैं । करोति=करः, पचायच् करः एव कारः स्वार्थिक अणु , कारस्य नाम तस्मिन् कारनाम्नि । यहाँ कारे करना था, 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति है नाम ग्रहण न्यर्थ है ।

पूर्वदेश में जो कारनाम (कर) वहाँ हलादि उत्तरपद पर रहते हलन्त एवं अदन्त से पर सप्तमी का संज्ञा में अलुक् होता है । मुकुट धारण में कार्षापण द्रव्य दान की रीति कर रूप से देने की रही या संज्ञा में विभक्ति का अलुक् मुकुटेकार्षापणम् । वृषदिमापकः । पूर्व से सिद्ध ही था यह नियमार्थ है, तीन नियम यहाँ होते हैं । १—हलन्त एवं अदन्त से पर सप्तमी का अलुक् होता है किन्तु यदि वह प्राचीन देश प्रसिद्ध कारनामक हलादि उत्तरपद पर में रहे तब ही ।

'अभ्याहितपशुः' यहाँ लुक् होगा । क्योंकि यह कर से अन्य दान क्रिया कर्म = देय का नाम है । 'यूथपशुः' यह पूर्वदेश का राजदेय कर नहीं यहाँ लुक् हो जाता है । अवि से संघ अर्थ में कटच् प्रत्यय है । अविकटे उरणः = मेघः यहाँ अविकटोरणः उत्तरपद हलादि न होने से सप्तमी का लुक् हुआ है । नदीदोहः यहाँ सप्तमी का लुक् हुआ है, पूर्वपद ईकारान्त है ।

९७१ मध्याद् गुरो ६।३।११।

मध्वेगुरुः । ॐ अन्ताश्च अन्तेगुरुः ।

गुरु शब्द उत्तर में रहते मध्य एवं अन्त से पर सप्तमी का लुक् नहीं होता है ।

९७२ अमूर्द्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे ६।३।१२।

कण्ठेकालः । सरसिलोमा । अमूर्द्धमस्तकात् किम्, मूर्द्धशिख । मस्तक-
शिख । अकामे किम्, मुखे कामोऽस्य मुखकामः ।

मूर्द्ध एव मस्तक से मित्र स्वाङ्गवाचक से पर सप्तमी का अलुक् होता है काम से मित्र उत्तरपद पर रहते ।

९७३ बन्धे च विभाषा ६।३।१३।

हलदन्वात् सप्तम्या अलुक् । हस्तेबन्ध । हस्तबन्ध । हलदन्तात् इति
किम्, गुप्तिबन्धः ।

बन्ध शब्द पर रहते हलन्त एव अदन्त से पर सप्तमी का अलुक् विकल्प से होता है ।

९७४ तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६।३।१४।

स्तम्बेरम । स्तम्बरम । कर्णेजपः । कर्णजपः । कचिम्न, कुठचरः ।

तत्पुरुष समास में कृत् प्रत्ययान्त पर रहते बहुत सप्तमी का अलुक् होता है । बहुत से
विकल्प एव कचित् लुक् ही आता है । विकल्पार्थ एव अप्रसङ्गार्थक बहुत ग्रहण रहा है ।

९७५ प्राष्टृशरन्कालदिवां जेः ६।३।१५।

प्राष्टृपिजः । शरदिजः । कालेजः । दिविजः । पूर्वस्याय प्रपञ्चः ।

कृत्प्रत्ययान्त ज उत्तरपद पर रहते प्राष्टृ, शरत्, काल, दिव् रनसे पर सप्तमी का अलुक्
होता है । यह पूर्वसूत्र का ही प्रपञ्च = स्पष्ट कानार्थ है । व्यर्थ है ।

९७६ विभाषा वर्षक्षरशरयरात् ६।३।१६।

पथ्यः सप्तम्या अलुक् जे । वर्षेज । वर्षज । क्षरेज । शरज । शरेजः ।
शरजः । वरेजः । वरजः ।

वर्ष क्षर, शर, वर इन से पर सप्तमी का विकल्प से अलुक् होता है व पर रहते ।

९७७ घकालतनेषु कालनाम्नः ६।३।१७।

सप्तम्या विभाषा अलुक् स्यात् । घे—पूर्वाद्धितरे । पूर्वाद्धितरे । पूर्वाद्धितमे ।
पूर्वाद्धितमे । पूर्वाद्धिकाले । पूर्वाद्धिकाले । तने—पूर्वाद्धेतने । पूर्वाद्धेतने ।

तत्पु एव तमप् की व सञ्जा होती है अत्र वपद से पूर्वोक्त दो प्रत्ययों का ग्रहण करना ।
घसङ्क, कालवाचक, एवं तन पर रहते सप्तमी का अलुक् होता है । ट्यु वा ट्युल् प्रत्यय होकर
घट् भागम से 'तन' बनता है, सूत्र—'साय चिरम्' है ।

९७८ शयवासवासिष्कालात् ६।३।१८।

शेशय । सशय । ग्रामेवासः । ग्रामवासः । ग्रामेवासी । ग्रामवासी ।
हलदन्तादित्येव भूमिशयः क्षिप्रपोयोनिष्वन्तपुष्क । अप्सु योनिः = उत्पत्तिर्यस्य
सोऽप्सुयोनिः । अप्सु भवोऽप्सव्यः । अप्सु मन्तायाज्यमागी ।

यह पाठ हरदत्तानुसारी है, वातिक में मतिपु यह पाठ ही उचित है । शय, वास, वासिन्,

उत्तरपद पर रहते कालयाचक से भिन्न शब्द से पर सप्तमी का विकल्प से अलुक् होता है। पूर्व-पद एलन्त या अदन्त रहे तब ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है भूमिश्य में लुक् हो गया। *योनि, यत्प्रत्यय, मतुप् प्रत्यय पर रहते अप् शब्द से पर सप्तमी का अलुक् होता है*। अप्सुयोनिः। यत् प्रत्यय—अप्सव्यः। ओर्गुण से गुण एवं अवादेश है। भवार्थक यत् प्रत्यय है। एविपान्न के भागद्वय अर्थ में अप्सुमन्तौ।

९७९ नेन्सिद्धवध्नातिषु च ६।३।१९।

इन्नन्तादिषु सप्तम्या अलुक् न। स्थण्डिलशायी। सांकाश्यसिद्धः। चक्रबन्धः।

इन् प्रत्ययान्त शब्द, सिद्धशब्द, एवं बन्धनार्थकबन्ध धातु निष्पन्न बन्ध पर रहते सप्तमी का अलुक् नहीं होता है। अकृत्रिमभूमि को स्थण्डिल कहते हैं। संकाशदेशीदम्ब को सांकाश्य कहते हैं। चक्रबन्धः यहाँ तत्पुरुष है। बहुव्रीहि में तो बन्धे विभाषा से विकल्प लुक् से दो रूप होते हैं।

९८० म्ये च भापायाम् ६।३।१९।

सप्तम्या अलुक् न। समस्थः। भापायां किम्, कृष्णोऽस्याखरेष्टः।

म्ये शब्द पर रहते लोक में सप्तमी का अलुक् नहीं होता है। अर्थात् लुक् होता है। समे तिष्ठति समस्थः, 'सुपि म्यः' से कप्रत्यय आकारलोप उपपद समास सप्तमी का लुक् समस्थः। यह निषेध 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' का ही है, अनन्तरस्य न्याय से। अतः कण्ठस्थः यहाँ अमूर्द्धमरतकेति अलुक् हुआ, यह भाष्य प्रयोग है। 'अनेकन्' सूत्र पर भाष्यकार ने इसका उच्चारण किया है। भाषा कथन से वेदमन्त्र में अलुक् है। आखरेष्टः।

९८१ पृथ्या आक्रोशे ६।३।२१।

चौरस्य कुलम्। आक्रोशे किम्, ब्राह्मणकुलम्। क्षीवागदिकृपश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेपुष्पः। वाचोयुक्तिः। दिशोदण्डः। पश्यतोदरः। क्षीआमुप्यायणाऽऽमुप्यपुत्रिकाऽऽमुप्यकुलिकेति चक्षः। अमुप्यापत्यम्—आमुप्यायणः। नडादित्वात् फक्। अमुप्य पुत्रस्य भावः—आमुप्यपुत्रिका। मनोज्ञादित्वाद् वुञ्। एवम् आमुप्यकुलिका। क्षीदेवानां प्रिय इति च मूर्खेक्षः। अन्यत्र देव-प्रियः। क्षीशेषपुच्छलाङ्गुलेषु शुनःक्षः। शुनःशेषः। शुनःपुच्छः। शुनोलाङ्गुलः। क्षीदिवश्च दासेक्षः। दिवोदासः।

निन्दा गम्यमान होने पर पृथी का अलुक् होता है। चौर का कुल से निन्दा की प्रतीति हुई। ब्राह्मणकुलम् यहाँ निन्दा नहीं विभक्ति का लुक् हो गया है। युक्ति, दण्ड, हर शब्द उत्तरपद रहते वाक्, दिक्, पश्यत् इनसे पर पृथी का अलुक् होता है। वाचोयुक्तिः = वचन का प्रामाण्य। दिशा-सम्बन्धी दण्डः दिशोदण्टः। पश्यत् = दृष्ट् शब्द पश्यदेश पश्यतोदरः। देखनेवाले का अनादर कर दिखते दिखते चुरा लेने वाला चौर। या स्वर्णकारादि। यह असत् पक्ष में उदाहरण है, 'पृथी चानादरे' से, पृथी विभक्ति यहाँ है।

आयनप्रत्यय. पुत्रिका, कुलिका, पर रहते अदस् शब्दोत्तर पृथी का अलुक्। अमुप्य स्वरूप-स्थित रहता है। नडादि मानकर फक् उसको आयन्, आदि वृद्धि से आमुप्यायण की सिद्धि है। मनोज्ञादि मानकर वुञ् प्रत्यय आमुप्यपुत्रिका, वु की अक टाप् प्रत्ययस्थात् से इत्व है। इसी

प्रकार भाग्यकुलिका यद्वा वधौ का अलुक् है । मूलं अर्थ में प्रिय उत्तरपद पर रहते देव से पर वधौ का लुक् नहीं होता है । देवानां प्रियः । मूलं लोप देवमौत्ति, सम्पादनार्थं यत्न करने हैं, वह उनको उपासना फलपरक होने से सर्वसागर में नथनस्या है । काम्यकर्म का निर्वहण परक यह वाक्य है । या नैदमत खण्डनार्थं प्रवृत्ति प्रसक्त ॥ कौटो की निन्दार्थं प्रयुक्त है । दास पुष्प वोगविद्या द्वारा आराधनापेक्षया अथम है । १० शेष, पुच्छ, लांछुक पर रहने शब्द शब्द से पर वधौ का अलुक् होता है । शुन शेषः । शुन इव शेषम् अस्व । शेषस् सकारान्त है ("गोलिङ्गचिद्विशेषो." यह अमरकोश-कारोक्ति है । शुन- पुच्छम्, वहां बड़ग्रीहि है । यह तीनों ऋषिर्विशेष की सच्चाई है । दास शब्द से पूर्व दिवस् शब्द की वधौ जो विभक्ति है उसका अलुक् होता है, दिवोरास ।

९८२ पुत्रेऽन्यतरस्याम् ६।३।२२।

पट्टयाः पुत्रे परेऽलुक्वा निन्दायाम् । दास्याः पुत्रः । दासीपुत्रः । निन्दायां किम्, ग्राहणीपुत्रः ।

निन्दा अर्थ गन्धमान हो तो पुत्र शब्द पर रहते वधौ का अलुक् होता है ।

९८३ ऋतो विद्यायोतिसम्बन्धेभ्यः ६।३।२३।

विद्यासम्बन्धयोतिसम्बन्धवाचिन ऋदन्तात् पट्टया अलुक् । होतुरन्ते-यासी । होतु पुत्रः । पितुरन्तेयासी । पितुःपुत्रः । ऋविद्यायोतिसम्बन्धेभ्यस्तु-पूर्वोत्तरपदमहणः ॥ नेह—होतृजनम् ।

विद्यासम्बन्ध वाचक ऋकारान्त शब्द से पर वधौ का अलुक् होता है, विद्यासम्बन्ध वा योनि-सम्बन्ध वाचक शब्द ही उत्तरपद रहने चाहिये । पितृजनम् से उत्तरपद बन होने से वहाँ लुक् ही गया है ।

९८४ विभाषा स्वसृपत्योः ६।३।२४।

ऋदन्तात् पट्टया अलुक् वा स्वसृपत्योः परयोः ।

ऋकारान्त शब्द से पर वधौ का अलुक् होता है स्वस्त्वा वा पतिशब्द पर में रहते ।

९८५ मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम् ८।३।८५।

आभ्यां परस्य स्वसुः सस्य पो वा स्यात् समासे । मातुःप्यसा । मातुः-स्वसा । पितुःप्यसा । पितुः स्वसा । लुक् पक्षे तु—

समास में मातुः प्य पितुः शब्द से पर जो स्वसृशब्द है उसका सकार को विकल्प से षकार होता है ।

९८६ मातृपितृभ्यां स्वसा ८।३।८६।

आभ्यां परस्य स्वसुः सस्य पः स्यात् समासे । मातृप्यसा । पितृप्यसा ।

असमासे तु मातुः स्वसा । पितुः स्वसा ।

समास में मातृ प्य पितुः से पर स्वस्त्वा के सकार को षकार होता है । असमास में नहीं । मातुः-स्वसा = मौसी । पितुः स्वसा = पिता की बहन ।

प० शी बा० कु० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में अलुक् समास समास

अथ समासाश्रयविधिप्रकरणम् ॥ २३ ॥

९८७ धरूपकल्पचेलङ्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः
६।३।४३।

भाषितपुंस्काद् यो ङी तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वः स्याद् धरूपकल्पप्रत्ययेषु,
चेलङादिषु चोत्तरपदेषु । ब्राह्मणितरा । ब्राह्मणितमा । ब्राह्मणिरूपा । ब्राह्मणि-
कल्पा । ब्राह्मणिचेली । ब्राह्मणिब्रुवा । ब्राह्मणिगोत्रेत्यादि । ब्रुवः पचाद्यचि
चच्चादेशगुणयोरभावोऽपि निपात्यते । चेलङादीनि वृत्तिविषये कुत्सनवाचीनि
सैः 'कुत्सितानि कुत्सनैः' इति समासः । ङ्यः किम्, दत्तातरा । भाषित-
पुंस्कात्किम्, आमलकीतरा । कुवलीतरा ।

धसंशकप्रत्यय, रूपप्, कल्पप्, तथा चेलङ्, ब्रुव, गोत्र, मत, इत, इतने शब्द पर रहते
भाषितपुंस्क शब्दोत्तर जो ङी तदन्त जो अनेकाच् उसका ह्रस्व होता है । 'अतिशयने' सूत्र से तमप्
प्रत्यय होता है, 'द्विवचनविभज्य' सूत्र से तरप् । तरप् तमप् की धसंशा होती है, सूत्र- 'तरपूतमपौ
चः' । ब्राह्मण शब्द जातिवाचक से खीलङ्ग में ङीप् अकारलोप से ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टा खी उसमें
उत्कृष्टा दोनों में एक, ह्रस्व से ब्राह्मणितरा । अनेक में एक उत्कृष्टा स्त्री ब्राह्मणितमा । प्रशस्ता
ब्राह्मणी ब्राह्मणिरूपा यहाँ प्रशंसायां रूपप् प्रत्यय है । ब्राह्मणिकल्पा में ह्रस्व है । ईपदसमाप्ति
अर्थ में ईपद् असमाप्ता ब्राह्मणी । समासावयव चेलङादि निन्दार्थक है । नीचा ब्राह्मणी ब्राह्मणि-
चेली, 'टिड्ढाण्' से ङीप् । ब्राह्मणिब्रुवा । यहाँ अच्प्रत्यय है, वच् आदेश गुण का अभाव निपातन
से है । यहाँ निन्दा में 'कुत्सितानि' सूत्र से समास है । दत्तातरा में ङ्यन्त नहीं, अतः ह्रस्वाभाव
है, आमलकी शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है, भाषितपुंस्क नहीं, अतः आमलकीतरा यहाँ ह्रस्व का अभाव है ।
इसी प्रकार कुवलीतरा में ही ह्रस्वाभाव है । इन दोनों शब्द वृक्षार्थक है ।

९८८ नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् ६।३।४४।

अङ्यन्तनद्या ङ्यन्तस्यैकाचश्च घादिषु ह्रस्वो वा स्यात् । ब्रह्मबन्धुतरा ।
ब्रह्मबन्धूतरा । स्त्रितरा । स्त्रीतरा । ऋकृत्रया नऋ । लक्ष्मीतरा ।

घ, रूप, कल्प, चेलङ्, ब्रुव, गोत्र, मत, इत इन शब्दपर रहते अङ्यन्त नदीसंशक का एवं ङ्यन्त
एकाच् शब्द का विकल्प से ह्रस्व होता है । कृदन्त नदी संशक का ह्रस्व नहीं होता है । लक्ष् से
ऋत् ईप्रत्यय एवं मुट् आगम से लक्ष्मी शब्द सिद्ध है ।

९८९ उगितश्च ६।३।४५।

उगितः परा या नदी तदन्तस्य घादिषु ह्रस्वो वा स्यात् । विटुपितग ।
ह्रस्वाभावपक्षे तु तसिलादिष्विति पुंवत्, विद्वत्तरा । वृत्त्यादिषु विटुपीत-
रेत्युदाहृतं तन्निर्मूलम् ।

धादि पर रहते उगित से पर जो नदी तदन्त का ह्रस्व विकल्प से होता है । 'वृत्त्याख्यौ'
आदि नदी संशा विधायक सूत्रों में दो पक्ष हैं, वर्ण संशापक्ष, एवं तदन्तसंशा पक्ष है । वर्णसंशा

पञ्च में ङीप् ङीप् ङीन् आदि का ईकार की नदी सञ्चा है। इस पञ्च का समाश्रय से यहाँ 'अगित' परा नदी' यह लिखा है। विद खाने से ङट्, ङट्, ङट्, बस् विदस् अगित से ङीप्, सम्प्रसारण, पूर्वरूप पत्य से विदुषी से अतिशयाधिक तरप् टाप् इत्य विदुषितरा। इत्य के अभाव में पुर्व माव से स्त्रीत्व प्रयुक्त ङीप् की निवृत्ति-विदुषिता। विदुषीतरा यह तो अनुचित रूप है।

९९० हृदयस्य हृल्लेखयदण्त्वासेषु ६।३।५०।

हृदय लिखतीति हृल्लेख । हृदयस्य प्रिय हृद्यम् । हृदयस्येदं हार्दम् । हृल्लास' । लेखित्यणन्तस्य ग्रहणम् । घनि तु हृदयलेख' । लेखग्रहणमेव ज्ञापकम्— उत्तरपदाधिकारे तदन्तविधिर्नास्तीति ।

लेखशब्द, प्रत्यय अणप्रत्यय, वाच शब्द इन उत्तरपद में रहते हृदय को हृद् आदेश होता है। हृदय कर्म उपपद रहते अक्षरविन्यासाधिकार लिख वाचु से 'कर्मण्वण्' से अण प्रत्यय लघूपभ गुण, उपपद समास, हृदय को हृद् आदेश, परसर्ग से हृल्लेख' । प्रिय अर्थ में यत् प्रत्यय हृदादेश से हृद्यम् । अण प्रत्यय इदमर्थ में हृदादेश वृद्धि हार्दम् । हृल्लास ।

विमर्श—यहाँ लेख शब्द से अणन्त तदादि का ही ग्रहण है। अणन्त तदादि का नहीं है। लेख ग्रहण ही उत्तरपदाधिकारे परिभाषा में ज्ञापक है। अन्यथा अण् प्रत्यय से अणन्त-तदादि ग्रहण से कार्य निर्वह होता पुन सूत्र में लेख ग्रहण व्यर्थ है, वह ज्ञापन करता है कि उत्तरपद के अधिकार में प्रत्ययग्रहणे परिभाषा तदादि शब्द स्वरूप की उपस्थिति कर तदादि विशेष्य प्रत्यय विशेषणक तदन्त विधि नहीं कहती है, अतः अणक्य उत्तरपद ही अर्थ होकर हृल्लेख में अण् से कार्य निर्वह नहीं होता एतदर्थ लेख ग्रहण स्वाद्य में परितार्थ हुआ।

परिभाषा का स्वरूप—“उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम्” । इसमें लेख ग्रहण ज्ञापक है। लेखान्त उत्तर पद अर्थ यहाँ नहीं है “उत्तरपदाधिकारे प्रातिपदिकग्रहणे न तदन्त—ग्रहणम्” से उत्तरपद विशेष्य प्रातिपदिक विशेषणक तदन्तविधि नहीं होती है, अतः लेखान्त उत्तरपद परमलेख पर में रहते हृद् आदेशार्थ लेख है वह नहीं कह सकते हैं, लेख ग्रहण ज्ञापक है इसको भाष्यकार भी मानते हैं, “यदय लेखग्रहण करोति तत् ज्ञापयति—भाष्यार्थ उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणमिति” यह भाष्यानुपूर्वी कथार्थ है। तेन अण् स्वरूप का ही बोधक है, अणन्त अर्थ का बोधक नहीं है।

९९१ वा शोकप्यनूरोगेषु ६।३।५१।

हृच्छोक । हृदयशोक । सौहार्दम् । सौहृदयम् । हृद्रोगः । हृदयरोगः । हृदयपर्यायो हृच्छब्दोऽप्यस्ति । तेन सिद्धे प्रपञ्चार्यमिदम् ।

शोक, प्यन्प्रत्यय, रोग इन शब्दों के उत्तरपद पर रहते हृदय शब्द के स्थान में हृद् आदेश विकल्प से होता है। हृदय का समानार्थक हृद् शब्द है पुन यह सूत्र स्पष्टार्थ है अर्थात् अनावश्यक है पारायण जन्य अदृष्टमात्र फलार्थ है जिस काम से आचार्य ने अष्टाध्यायी का निर्माण किया उसका आदित अन्त तक अध्ययन रूप पारायण से अदृष्ट सिद्धि होती है, इष्ट फल, अदृष्ट फल इष्ट अदृष्ट उभय फलों में उत्तम इष्ट फल पूर्वक अदृष्ट फल है।

९९२ पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ६।---

एपूत्तरपदेषु पादस्य पदः इत्यदन्त आदेशः स्यात् । पदाभ्यामजतीति पदाजिः । पंदातिः । अज्यतिभ्यां पादे चेतीण् प्रत्ययः । अजे व्यभायो निपातनात् । पदगः । पदोपहतः ।

आजि, आति, ग, उपहत इन पर रहते पाद को पद आदेश होता है । पादाभ्याम अजति = गच्छति अर्थ में अज् से एण् प्रत्यय, उपधावृद्धि से आजि = गमनकर्ता, पाद के अकारान्त पद आदेश दीर्घ पदाजिः । पादाभ्याम् अततीति पदातिः । अज् के स्थान में वि आदेश प्राप्त था उसका अभाव निपातन से हुआ है । पदाभ्यां गच्छति पदगः । पादाभ्याम् उपहतः पदोपहतः ।

९९३ पद्यत्यतदर्थे ६।३।५३।

पादस्य पत् स्यादतदर्थे यत्ति परे । पादौ विध्यन्ति इति पद्याः शर्कराः । अतदर्थे किम्, पादाभ्यामुदकं पाद्यम् । पादार्धाभ्यां चेति यत् । क्लृप्ते चरताः वुपसंख्यानमूष्णः । पादाभ्यां चरति पदिकः । पर्पादित्वात् छन् ।

अतदर्थक यत् प्रत्यय पर रहते पाद शब्द को यत् आदेश होता है । तदर्थक यत् में पदादेश का अभाव है । 'विध्यत्यधनुषा से यत्, प्रत्यय पदादेश पद्याः शर्कराः = दूकण । पाद से तदर्थ अर्थ में यत्, अकार लोप पाद्यम् = पेर, धोने के लिये जल । 'चरति' = गच्छति अर्थ में विहित यत् प्रत्यय पर रहते पाद को पत् आदेश होता है । पादं भ्यान् से छन् विभक्तिलोप इकादेश पदादेश पदिकः = पेर से गमन कर्ता ।

९९४ हिमकापिहतेषु च ६।३।५४।

पद्घिमम् । पत्कापी, पद्धतिः ।

हिम, कापि, हत पर रहते पाद को पदादेश होता है । पत्कापी णिनि प्रत्ययान्त कापी है, 'सुप्यजातौ' से णिनि । पद्धतिः = पादाभ्यां हन्यते यः सः मार्गः । हन् धातु से कर्माधिक क्तिन् प्रत्यय है ।

९९५ ऋचः शे ६।३।५५।

ऋचः पादस्य पत्स्याच्छे परे । गायत्रीं पच्छः शंसति, पादम्पादमित्यर्थः । ऋचः किम्, पादशः कार्यापणं ददाति ।

श पर रहते मन्त्र सम्बन्धी पाद को पदादेश होता है । लोमादि से विहित शस् को 'शे' अनुकरण है वह कदना उचित नहीं है । लोमादि में पाद का पाठ नहीं है । अतः शस् प्रत्यय का अनुकरण है, 'शे' पच्छः पादं पादं शंसति = एक एक करके पढ़ता है । मन्त्र सम्बन्धी मित्र में पादशः । 'संख्यैकवचनाश्च' सूत्र से शस् प्रत्यय यहाँ होता है ।

९९६ वा घोषमिश्रशब्देषु ६।३।५६।

पादस्य पत् । पद्घोषः । पादघोषः । पन्मिश्रः । पादमिश्रः । पच्छवृद्धः । पादशब्दः । क्लृप्ते चेति वाच्यमूष्णः । पन्निष्कः । पादनिष्कः ।

घोष, मिश्र, शब्द इनके पर रहते पादको पत् आदेश विकल्प से होता है । निष्कशब्द पर रहते भी पादको पदादेश होता है ।

९९७ उदकस्योदः संज्ञायाम् ६।३।५७।

उदमेघः । ऊत्तरपदस्येति वक्तव्यम् । क्षीरोदः ।

संज्ञा में पूर्वपदस्य उदक शब्द को उदादेश होता है । उदकमेघः = उदमेघः । सादृश्य से यह मुख को संज्ञा है । क्षीरम् उदकं यस्य क्षीरोदः । यहाँ उत्तरपदस्य उदक को भी उदादेश वार्तिक मत से हुआ है । समुद्र भी संज्ञा है ।

९९८ पेपं वासनाहनधिषु च ६।३।५८।

उदपेपं पिनाष्टि । उदवासः । उदवाहनः । उदधिर्घटः । समुद्रे तु पूर्वेण सिद्धम् ।

णमुत्प्रत्ययान्त पेशम्, वास, वाहन, किप्रत्ययान्त धि, इन उत्तर पद रहते उदक को उदादेश होता है । धिष बाहु का अर्थ है अवयवों को पूर्ण युक्त करना = पिसना । उदकम् पिनाष्टि अर्थ में 'स्नेहने धिष' से णमुत् प्रत्यय है । उदक को उदादेश है । उदके वासो यस्य उदकवासः । उदकस्य वाहन, यस्य उदवाहनः । उदकं धीयतेऽस्मिन् उदधिः किप्रत्यय अधिकरण में 'कर्मण्यधिकरणे च' से हुआ है । उदधिः = समुद्र इस अर्थ में तो संज्ञा में पूर्व सूत्र से ही सिद्ध है ।

९९९ एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् ६।३।५९।

उदकुम्भः । उदककुम्भः । एकेति किम्, उदकस्याली । पूरयितव्येति किम्, उदकपर्वतः ।

पूरयितव्य अर्थ में एक हल्मात्र आदि में रहते उदक को उदादेश विकल्प से होता है । उदकुम्भः । यहाँ भरने योग्य घडा है, जल से भरने योग्य घडा । पर्वत पूरयितव्य नहीं है अतः उदकपर्वतः ।

१००० मन्थौदनसक्तुविन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च ६।३।६०।

उदमन्थः । उदकमन्थः । उदौदनः । उदकौदनः ।

मन्थ, ओदन, सक्तु, विन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध, गाह इन शब्द उत्तरपद पर रहते उदक को उदादेश विकल्प से होता है । मथन करने वा दण्ड को मन्थ कहते हैं । 'मन्थो मन्थनदण्डश्च' ।

१००१ इको ह्रस्वोऽह्यो गालवस्य ६।३।६१।

इगन्तस्य ज्यन्तस्य ह्रस्वो वा स्यादुत्तरपदे । ग्रामणिपुत्रः । ग्रामणीपुत्रः । इकः किम्, रमापतिः । अह्य इति किम्, गौरीपतिः । गालवग्रहणं पूजार्थम्, अन्यतरस्यामित्यनुवृत्तेः । ऊइयङ्गुवङ्माविनामन्ययानां च नेति वक्तव्यम् । श्रीमदः । भ्रूमङ्गः । शुक्लीभावः । ऊभ्रुकुंसादीनामिति वक्तव्यम् । भ्रुकुंसाः, भ्रुकुटिः । भ्रुकुसः । भ्रुकुटिः । अकारोऽप्यनेन विधीयते इति व्याख्यान्तरम् । भ्रुकुंसाः । भ्रुकुटिः । भ्रूया कंसो मापणं शोभा वा यस्य सः स्त्रीवेशधारी नर्तकः । भ्रूवः कुटिः = कौटिल्यम् ।

इगन्त जो अद्यन्त उसका ह्रस्व विकल्प से होता है, उत्तर पद पर रहते । ग्रामणिपुत्रः । पक्ष में ग्रामणीपुत्रः । रमापति यहाँ पूर्वपद इगन्त नहीं है । गौरीपति में पूर्वपद इगन्त है । गालव ग्रहण यहाँ प्रशंसार्थ है, क्योंकि अन्यतरस्यान् की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से होकर विकल्प का लाभ है । *इयङ् उवङ् स्थानी का तथा अव्यय के अन्त्य अच् का ह्रस्व नहीं होता है । श्रिया मदः—श्रीमदः । भ्रुवः भङ्गः—भ्रमङ्गः । अशुक्लं शुक्लं भवतीति शुक्लोभावः यहाँ च्वन्त अव्यय है अतः ह्रस्व न हुआ । *भ्रूँसादि शब्दों में ह्रस्व का निषेध की प्रवृत्ति नहीं अर्थात् ह्रस्व विकल्प होता ही है । अतः भ्रूँसः भ्रूँस रूप द्वय है । भ्रुकुटिः भ्रूकुटिः । यहाँ अकार का विधानक भी है इस अन्यव्याख्या मत में भ्रूँसः । भ्रुकुटिः । मौवो के इशास से कथनीय भावो को व्यक्त करने वाला स्त्रीवेश को धारण कर्ता नट विशेष । कुटिः का अर्थ वक्रता = कुटिलता ।

१००२ एकतद्धिते च ६।३।६२।

एकशब्दस्य ह्रस्वः स्यात् तद्धिते उत्तरपदे । एकस्या आगतम् एकरूप्यम् । एकक्षीरम् ।

तद्धित प्रत्यय पर रहते एक शब्द का ह्रस्व होता है । एकशब्द स्वतः ह्रस्वान्त है, अतः एका शब्दान्त का ह्रस्वोदाहरण है । यहाँ एकस्या आगतम् एकरूप्यम् । एकस्याः क्षीरम् = एकक्षीरम् ।

१००३ ड्यापोः संज्ञाछन्दसोर्वहुलम् ६।३।६३।

रेवतिपुत्रः । अजक्षीरम् ।

हो एवं आप् तदन्त का संज्ञा या छन्द में ह्रस्व होता है विकल्प से । रेवत्याः पुत्रः रेवतिपुत्रः । अजायाः क्षीरम् अजक्षीरम् ।

१००४ त्वे च ६।३।६४।

त्वे प्रत्यये ड्यापोर्वा ह्रस्वः । अजत्वम् । अजात्वम् । रोहिणीत्वम् । रोहिणीत्वम् ।

इगन्त एवं आवन्त का ह्रस्व विकल्प से होता है ।

१००५ प्यङ्गः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ६।१।१३।

प्यङ्गन्तस्य पूर्वपदस्य सम्प्रसारणं स्यात् पुत्रपत्योरुत्तरपदयोस्तत्पुरुषे । तत्पुरुषसमास में पुत्र एवं पति उत्तर पद रहते प्यङ्गन्त का सम्प्रसारण होता है ।

१००६ सम्प्रसारणस्य च ६।३।१३९।

सम्प्रसारणस्य दीर्घः स्यादुत्तरपदे । कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः कौमुदगन्धीपुत्रः । कौमुदगन्धीपतिः । व्यवस्थितविभाषया ह्रस्वो न, 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' इति तदादिनियमप्रतिषेधात् । परमकारीपगन्धीपुत्रः । उपसर्जने तु तदादि-नियमान्नेह—अतिकारीपगन्ध्यापुत्रः ।

सम्प्रसारण का दीर्घ होता है उत्तरपद पर रहते । कुमुद्रस्य गन्ध इव गन्धो यस्य = कुमुद्रगन्धिः यहाँ समासान्त इकारादेश है । कुमुदगन्धेरपत्यं स्त्री कौमुदगन्ध्या 'वत्स्यापत्यम्' से अण् प्रत्यय करके 'अणिप्रोः' से प्यङ्गादेश है । 'प्यङ्गश्चाप्' से चाप् स्त्री प्रत्यय है ।

कौमुदगन्ध्याया पुत्रः यहाँ 'व्यञ्ज' से सम्प्रसारण, पूर्वरूप दीर्घ कौमुदगन्धीपुत्र । इसी प्रकार कौमुदगन्धीपति । इन दोनों स्थलों में 'इको ह्रस्वोऽव्योर्गोचरस्य' से ह्रस्ववैकल्पिक होना चाहिये । ह्रस्वामावपक्ष में दीर्घ विधान सावकाश है, अतः व्यवस्थितविभाषा मानकर यहाँ ह्रस्व का सदा अभाव हो रहता है ।

विमर्श—परमा चासौ कारीपगन्ध्या तस्या पुत्रः यहाँ परमकारीपगन्ध्या व्यञ्जत तदादि नहीं है, 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा से तदादि विशेष्य व्यञ्ज विशेषणक तदन्तविधि से 'व्यञ्जन्ततदादि' अर्थ होता है किन्तु "प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्" इसी परिभाषा की बाधिका परिभाषा है—'कोप्रत्यये चानुपसर्जने न' कोरूपार्थ बोधक प्रत्यय कोरूप अर्थ को प्रधान रूप से बोधन करता है वहाँ तदादि की उपस्थिति नहीं होती है अर्थात् तदादि विशेष्यक तदन्त विधि नहीं है । यहाँ व्यञ्जन्त पूर्वपद यही अर्थ होता है अनुपसर्जन में सम्प्रसारण करने वाले 'व्यञ्ज' सूत्र का पद उपसर्जन में सम्प्रसारण करने वाला 'व्यञ्ज' सूत्र का अर्थ—व्यञ्जन्त तदादि का अवयव निर्दिश्यमानावयव व्यञ्ज का सम्प्रसारण होता है । एक अनुपसर्जनार्थ सूत्र है । परमकारीपगन्ध्या यहाँ परमपदोत्तर दाबन्त परमा का 'पुवत्कर्मधारय' से पुवद्भाष हुआ है, उससे टाप् की निवृत्ति स्त्रीत्वविशिष्ट काकूटगुणाश्रय से अभिन्न स्त्रीत्वविशिष्ट कारीपगन्धिसम्बन्धि स्त्रीत्वविशिष्टापत्यपुत्र, । यह अर्थ परमकारीपगन्धीपुत्र का है । यहाँ व्यञ्ज अनुपसर्जन है, अतः व्यञ्जन्तपूर्वपदमात्र अर्थ । सम्प्रसारण हुआ है । 'अतिकारीपगन्ध्यापुत्र' यहाँ अर्थ यह है—कारीपगन्धिसम्बन्धि-स्त्रीत्वविशिष्टअपत्यकर्मक अतिक्रमणकर्त्री का पुत्र । यहाँ अत्यय = अतिक्रमणकर्त्री विशेष्य है, इसमें विशेषण कारीपगन्ध्या पदार्थ = कारीप गन्धिसम्बन्धि स्त्रीत्वविशिष्ट अपत्य है प्रकारता अपत्य में तत्रिरूपता अवच्छेदकता = प्रकारतावच्छेदकता स्त्रीत्व में है । व्यञ्ज उपसर्जन है अतः व्यञ्जन्त तदादि अतिकारीपगन्ध्या नहीं है यहाँ सम्प्रसारणभाव है । उपसर्जननत्वञ्च—रयान्त-पन्यासशक्तिमित्युक्तार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठवच्छेदकताप्रयोजकम् । एव पद से जिसको उपसर्जन बनाना है वह लेना । यथा प्रकृत व्यञ्जः परिष्कार में प्रकारता अभेद सम्भावितिरिका केनी चाहिये ।

१००७ बन्धुनि बहुव्रीहौ ६।१।१४।

बन्धुशब्दे उत्तरपदे व्यञ्ज सम्प्रसारण स्याद् बहुव्रीहौ । कारीपगन्ध्या बन्धुरस्येति कारीपगन्धीबन्धुः । बहुव्रीहौविति किम्, कारीपगन्ध्याया बन्धुः कारीपगन्ध्याबन्धु । क्लीबनिर्देशस्तु शब्दस्वरूपापेक्षया । क्लृमातज्मातृक-मातृपु धाञ्छ । कारीपगन्धीमात । कारीपगन्ध्यामात । कारीपगन्धीमातृक । कारीपगन्ध्यामातृक । कारीपगन्ध्यामाता । अस्मादेव निपातनाम्मातृशब्दस्य मातृजादेशः, कम् विकल्पश्च । बहुव्रीहौवेदेम्, नेह—कारीपगन्ध्याया माता कारीपगन्ध्यामाता । चिन्वसामर्घ्याच्चत्स्वरो बहुव्रीहिस्वर बाधते ।

बहुव्रीहिसमास में बन्धु शब्द उत्तरपद रहते व्यञ्जप्रत्ययान्त का सम्प्रसारण होता है । बहुव्रीहि कथन से षष्ठीतत्पुरुष में इसकी प्रवृत्ति नहीं है । सूत्र में 'बन्धी' चाहिये किन्तु शब्दस्वरूप विशेष्य मानकर विशेष्यगत नपुंसक से 'बन्धुनि' निर्देश सूत्र में है ।

मातज्, मातृक, मातृ शब्द पर रहते विकल्प व्यञ्ज प्रत्ययान्त का सम्प्रसारण होता है । इस निपातन के कारण मातृशब्द को मातृच् आदेश एव कय विकल्प होता है । मातृच् में वकार की ह्रस्वता होने के कारण यह चित् अन्तोदात्त स्वर बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् को बाध करता है ।

१००८। इष्टकेपीकामालानां चिततूलभारिषु ६।३।६५।

इष्टकादीनां तदन्तानाञ्च पूर्वपदानां चितादिषु क्रमादुत्तरपदेषु ह्रस्वः स्यात् ।
इष्टकचितम् । पकेष्टकचितम् । इषीकतूलम् । मुखेपीकतूलम् । मालभारी ।
उत्पलमालभारी ।

इष्टका, इषीका एवं माला, वे. जिनके अन्त में है उनका क्रमशः चित, तूल एवं भारिन्
उत्तरपद पर रहते ह्रस्वः होता है । यथा इष्टकाभिः चितम् = इष्टकचितम् । पकाश्च ते इष्टकाः
प्राप्तिः चितम् । पकेष्टकचितम् । इषीकायाः तूलम् इषीकतूलम् । मुखेपीकतूलम् । माळभारी,
उत्पलमाळभारी यहाँ भारिन् 'सुप्यजातौ' से निजि प्रत्ययान्त है मालां निर्माति माळभारी । पद एवं
अङ्ग के अधिकार में विहित कार्य-उनको या वे अन्त में रहे उनको होता है ।

१००९। कारे सत्यागंदस्य ६।३।७०।

सुम् स्यात् । सत्यङ्कारः । अगदङ्कारः । ऋवेनोर्भञ्यायामृक् । धेनुम्भञ्या ।
ऋलोकस्य पृणेऋ लोकमृणः । पृण इति मूलविभुजादित्वात्कः । ऋइत्येऽनभ्या-
सस्यः । अनभ्यासमित्यः = दूरतः ; परिहर्तव्य इत्यर्थः । भ्राष्ट्रग्न्योरिन्धेऋ । भ्राष्ट्र-
मिन्धः । अग्निमिन्धः । ऋगिलेऽगिलस्यऋ । तिमिङ्गिलः । अगिलस्य किम्,
गिलगिलः । ऋगिलंगिलं चऋ । तिमिङ्गिलगिलः । ऋउष्णभद्रयोः करणेऋ ।
उष्णङ्करणम् । भद्रङ्करणम् ।

सत्य एवं अगद को कारशब्द पर रहते सुम् आगम होता है । प्रतिशब्द द्वारा सत्य सिद्ध करने
वाला = सत्यङ्कारः । रोगरहित करने वाला को अगदङ्कारः = चिकित्सकः । कार पर रहने अस्तु
को सुम् आगम होता है—अस्तुङ्कारः = ऐसा होने दो ऐसा करने वाला । धेनु को सुम् होता है भञ्या
उत्तर में रहते । धेनु में भेष्ट धेनुम्भञ्या । लोक को सुम् होता है कप्रत्ययान्त पृण पर रहते । पूरण
कर्ता = दृग का अर्थ है । लोगों को प्रसन्न करना है, लोकमृणः । इत्यपर रहते अनभ्यास को सुम् होता
है । अनभ्यासम् इत्यः दूर रखने योग्य व्यक्ति । भ्राष्ट्र एवं अग्नि को सुम् होता है, इन्ध पर रहते ।
भ्रस्राई को तेजोयुक्त करने वाला भ्राष्ट्रमिन्धः । अग्नि को प्रकाश युक्त करने वाला अग्निमिन्धः ।
अगिर्ल को सुम् होता है गिल पर रहते । तिमिङ्गिलः । नित्यविशेष । गल्लगिलः यहाँ पूर्व पद अगिल
नहीं है । गिलं गिलति । कप्रत्यय अचि विभाषा से लत्वविकल्प । गिलगिल उत्तर पद रहते अगिल
को सुम् होता है । यथा तिमेः गिलगिलः—तिमिङ्गिलगिलः । उष्ण एवं भद्र को सुम् होता है करण
पर रहते । उष्णङ्करणम् । भद्रङ्करणम् ।

१०१०। रात्रेः कृति विभाषा ६।३।७२।

रात्रिञ्चरः । रात्रिचरः । रात्रिमटः । रात्र्यटः । अखिदर्थमिदं सूत्रम् । खिति
तु अनद्विपदिति नित्यमेव चक्ष्यते । रात्रिम्मन्यः ।

कृत्यप्रत्ययान्त उत्तर पद रहते रात्रिशब्द को सुम् आगम होता है विकल्प से । अधिकरण उप-
पद में रहते चर, पातु से ट प्रत्यय 'चरेष्ट' सूत्र से होता है । उपपदसमास, सुम् से रात्रिञ्चरः =
राक्षसः । रात्रिचरः । रात्रिमट आदि । अखिद्विपद सूत्र खिदन्त उत्तरपदे पर रहते सुम् करता है यह
अखिदन्तोत्तरपदाधिक है । 'रात्रिम्मन्यः' यहाँ अखिद्विपद से नित्य सुम् है । यद्यपि, लेखप्रदण स्थापित

उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहो न तदन्तस्य ग्रहणम्' से कृदरूप उत्तरपद अर्थ होना चाहिये, किन्तु यह अर्थ न हुआ। क्योंकि रात्रि से पर कृदरूप उत्तरपद असम्भव है इस लिए इस सूत्रारम्भ सामर्थ्य से वह परिभाषा यहाँ अनित्यत्व के कारण नहीं लगती है।

१०११ सहस्य सः संज्ञायाम् । ३।६।७८।

उत्तरपदे । सपत्ताशम् । संज्ञाया किम् सहयुष्वा ।

सहा गन्वमान रहने पर सह को स आदेश होता है।

१०१२ ग्रन्थान्ताधिके च ६।३।७९।

अनयोरर्थयो' सहस्य सः स्यादुत्तरपदे । समुहूर्त उद्योतिषमधीते । सद्रोणा खारो ।

ग्रन्था त तथा अधिक अर्थ में उत्तरपद पर रहते सह को स आदेश होता है। अन्तवचन में अन्ययोर्भावममास सह को स आदेश समुहूर्तम् । 'अन्ययोभावे वाक्यत्वे' से अज्ञात है अतः ग्रन्थान्त ग्रहण यहाँ किया है। अधिकार्थ में सद्रोणा ।

१०१३ द्वितीये चानुपाख्ये ।

अनुमेये द्वितीये सहस्य सः स्यात् । सराशसीका निशा । राशसी साश्रादनुपलम्भमाना निशायाऽनुमीयते ।

अप्रपलं ओ उसको ओक में द्वितीय कहते हैं। व्याख्य प्रत्यय को करते हैं। तदभिन्न को अनुमेय = अनुमान कर्म कहते हैं। अनुमेय द्वितीय में सह को स आदेश होता है। 'नष्टवश्' से कर्मप्रत्ययान्त सराशसीका है। मवानक सवन तिनिरनुत्तरात्रि से राशसी का अनुमान होता है ऐसी रात्रि।

१०१४ समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु ६।३।८०।

समानस्य सः स्यादुत्तरपदे, न ॥ मूर्द्धादिषु । अनुभ्राता सगर्भ्यं । अनुसखा मयूष्यः । यो न सनुत्यः । तत्र भव इत्यर्थे सगर्भसयूषसनुतायात् । अमूर्द्धादिषु किम्, समानमूर्द्धा । समानप्रभृत्ययः । समानोदर्का । समानस्येति योगो विभज्यते । तेन सपञ्चः । साधर्म्यम् । समानजातीयम् इत्यादि सिद्धमिति कारिका । अथवा सहशब्दः सहशवचनोऽस्ति । सहशः सख्या ससरसोति यथा । तेनायमस्वपदविग्रहो बहुव्रीहिः । समानः पञ्चो यस्येत्यादि ।

वेद में उत्तरपद पर रहते समान को स आदेश होता है, परन्तु मूर्द्धा प्रभृति एवं उर्द्धा पर रहते समान को सादेश नहीं होता है। एक माता के गर्भ से उत्पन्न भ्राता अर्थ में समानगर्भोद्भव यथा 'सगर्भ' सूत्र से यह प्रायय है। समानगर्भ = सगर्भ्यः । अनुसखा मयूष्यः । यो न सनुत्यः । तत्र भव अर्थ में 'सगर्भसयूषसनुता' से यह प्रत्यय है अमूर्द्धादिषुर्दास से समानमूर्द्धा आदि। यहाँ समानस्य यह मित्र सूत्र है इससे सपञ्च आदि की सिद्धि हुई है वह कारिकाकार का मत है। अथवा सहशब्दात्री सह शब्द है । समानः पञ्च यस्य इति सपञ्च १०१५, १०१६,

१०१५ ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचन-
बन्धुषु ६।३।८५।

एषु द्वादशसूत्रपदेषु समानस्य सः स्यात् । सज्योतिः । सजनपदः ।
इत्यादि ।

ज्योतिः आदि वारद शब्द उत्तरपद रहते समान को स आदेश होता है । समानज्योतिः
सज्योतिः । आदि ।

१०१६ चरणे ब्रह्मचारिणि ७।३।८७।

ब्रह्मचारिण्युपपदे समानस्य सः स्याच्चरणे समानत्वेन गम्यमाने ।
चरणः = शाखा । ब्रह्म = वेदः । तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म, तच्चरतीति ब्रह्म-
चारी । समानः सः सब्रह्मचारी ।

ब्रह्मचारिन् उत्तर पद पर रहते समान को स आदेश होता है, समानरूप से वेद को शाखा
गम्यमान रहते । चरण से शाखा का ज्ञान करना । ब्रह्म से वेद का ज्ञान करना । वेदाध्ययन के
लिये व्रत को भी ब्रह्म कहते हैं । 'ब्रह्म चरति' इस वाक्य में 'व्रते' सूत्र से णिनि प्रत्यय है, समानो
ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी । ब्रह्मचारी का समानत्व ब्रह्म के समान होने से सिद्ध है । समाने ब्रह्म-
णि व्रतचारी ।

१०१७ तीर्थे ये ६।३।८७।

तीर्थे उत्तरपदे यादौ प्रत्यये विवक्षिते समानस्य सः स्यात् । सतीर्थ्यः = एक-
गुरुकः । समानतीर्थे वासीति यत्प्रत्ययः ।

तीर्थ शब्द उत्तर में रहे यकारादि प्रत्यय विवक्षित हो तो समान को स आदेश होता है । य में
अकार उच्चारणार्थक है, प्रत्यय विशेष्यक तदादि विधि है—यादौ में । तीर्थम् = गुरुकुलम् समाने तीर्थे
वसति सतीर्थ्यः । यत् प्रत्यय है । एक है गुरु जिनके ऐसे छात्र परस्पर 'सतीर्थ्यः' कहाते हैं ।

१०१८ विभापोदरे ६।३।८८।

यादौ प्रत्यये विवक्षिते इत्येव । सोदर्यः ! समानोदर्यः ।

यादि प्रत्यय विवक्षित होने पर उदर पर रहते समान को सादेश होता है । समान उदर में
शयित अर्थ में समानोदर से यत्, सादेश अकारलोप सोदर्यः । सादेश के अभाव में समानोदर्यः ।

१०१९ दृग्दृशवतुषु ६।३।९१।

सदृक्, सदृशः । ॐ दृक्षे चेति वक्तव्यम् ॐ । सदृक्षः । वतुरुत्तरार्थः ।

दृक् एवं दृश एवं दृक्ष उत्तरपद पर रहते समान को स आदेश होता है । इस सूत्र में वतुग्रहण
उत्तरार्थ है ।

१०२० इदं किमोरीश्वकी ६।४।९०।

दृग्दृशवतुषु इदम् ईश्व किमः की स्यात् । ईदृक्, ईदृशः । कीदृक्,
कीदृशः । वतुरुदाहरणं वक्ष्यते । ॐ दृक्षे चेति वक्तव्यम् ॐ । ईदृक्षः । कीदृक्षः ।

आ सर्वनाम्न । दृष्टे च । तादृक् । तादृशः । तावान् । तादृक्षः । दीर्घः, मत्वोत्वे
अमूदृशः । अमूदृक् । अमूदृक्षः ।

इक् इश वतुप् पर रहते इदम् के स्थान में ईश आदेश एव किम् के स्थान में की आदेश होता है । त्यदादि वपपद में रहते इश् वातु से किम् एवं कन् प्रत्यय होते हैं । सूत्र 'त्यदादिषु दृशे' । इदुपर रहते भी इदम् को ईश किम् की की आदेश होता है ।

सर्वनाम पूर्व में रहे हैं आत्व होता है इक् इय, वतुप् पर रहते । मत्व करव करके अमू—
इक् आदि ।

१०२१ समासेऽङ्गुलेः सङ्गः २।३।८०।

अङ्गुलिशब्दात् सङ्गस्य सस्य मूर्धन्य स्यात् समासे । अङ्गुलिपङ्गः । समासे
किम्, अङ्गुले सङ्गः ।

समास में अङ्गुलि शब्द से पर सङ्ग के सकार को षकार होता है । षोतीतपुत्रसमासा-
वयव सङ्ग के सकार को वत्त से अङ्गुलिपङ्ग । असमासे सङ्ग अङ्गुले । यहा षकार न हुआ ।

विमर्श—यहां शङ्का होती है कि सूत्र में 'अङ्गुले' दिग्योगकृष्णा पञ्चमी है अत 'तस्मात्'
इस पञ्चमी परिभाषा से अङ्गुलि शब्द से अव्यवहित उत्तर सङ्ग जहां रहे वहां ही सकार को
षकार होता है असमास में तो 'अङ्गुले सङ्ग' यहां मध्य में विसर्ग का व्यवधान है षकार प्राप्त ही
नहीं है, पुन सूत्र में समास ग्रहण क्यों किया ?, सम्बोधन में 'हे अङ्गुले सङ्ग कुत' यहां अव्यवहित
सकार को षकारादेश निश्चित के लिए सूत्र में समास ग्रहण है इति पञ्चोक्तिः ।

१०२२ भीरोः स्थानम् ८।३।८१।

भीरुशब्दात् स्थानस्य सस्य मूर्धन्य स्यात् समासे । भीरुस्थानम् । अस-
मासे किम्, भीरोः स्थानम् ।

समास में भीरुशब्द से पर स्थान के सकार का मूर्ध-आदेश होता है । असमास में भीरो
स्थानम् । यहा भी पूर्ववत् शङ्का कर समाधान—हे भीरो स्थान पश्य ।

१०२३ ज्योतिरायुषः स्तोमः ८।३।८३।

आध्या स्तोमस्य सस्य मूर्धन्य स्यात् समासे । ज्योतिष्टोमः । आयुष्टोमः ।
समासे किम्, ज्योतिष स्तोमः ।

समास में ज्योतिष् एव आयुष से पर स्तोम के सकार को षकारादेश होता है । यद्विशेष
में ज्योतिष्टोम । आयुष्टोम । अपमास में ज्योतिष स्तोम । हे ज्योति स्तोमोऽस्ति ।

१०२४ सुषामादिषु च ८।३।९८।

सस्य मूर्धन्य । शोभन साम यस्य सुषामा । सुषन्धिः ।
सुषामादि शब्दों में सकार को मूर्धन्य होता है । यहा अच्छी तरह सामोपाय करने वाला
सुषामा । अच्छी सन्धि में सुषन्धिः ।

१०२५ एति संज्ञायामगात् ।

सस्य मूर्धन्यः । हरिपेणः । एति किम् , हरिसक्थम् । संज्ञायां किम् , पृथुसेनः । अगात् किम् , विष्वग्सेनः । इण्कोरित्येव । सर्वसेनः ।

संज्ञा में एकार पर रहते गकार से भिन्न से पर स्थित सकार को पकारादेश होता है, व्यक्ति-विशेष का नाम में हरिपेणः । विष्वग्सेन में गकार पर सकार को णकारादेश न हुआ । सर्वसेन में इण्का या कर्त्तृ से पर न रहने के कारण पकारादेश नहीं हुआ ।

१०२६ नक्षत्राद् वा ८।३।१००।

एति सस्य संज्ञायामगकारात् मूर्धन्यो वा । रोहिणीपेनः । रोहिणीसेनः । अगकारात् किम् , शतभिषक्सेनः । आकृतिगणोऽयम् ।

संज्ञा में नक्षत्र वाचक से उत्तर गकार भिन्न से पर सेना का सकार को पकारादेश होता है ।

१०२७ अपष्ठयतृतीयास्थास्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सु-
कोतिकारकरागच्छेषु ६।३।९९।

अन्यशब्दस्य दुगागमः स्यादाशीरादिषु परेषु । अन्यदाशीः । अन्यदाशा । अन्यदास्था । अन्यदास्थितः । अन्यदुत्सुकः । अन्यदूतिः । अन्यदूरागः । अन्यदीयः । अपठ्ठीत्यादि किम् , अन्यस्य अन्येन दाशीः = अन्याशीः । कारके छे च नायं निषेधः । अन्यस्य कारकः = अन्यत्कारकः । अन्यस्यायम् अन्यदीयः । गहादेराकृतिगणत्वाच्छः ।

आशिप्, आशा, आत्मा, भास्वित, उत्सुक' कृति, कारक, राग, छप्रत्यय पर रहते पठ्यन्त एवं तृतीयान्त से भिन्न जो अन्य शब्द उसको दुगागम होता है । यथा अन्यदाशीः आदि उदाहरणों में । पठ्यन्त या तृतीयान्त में अन्याशीः । कारक एवं छप्रत्यय पर रहते अपठ्यन्त अतृतीयान्त का विषय नहीं अर्थात् वन पर रहते पठ्यन्त या तृतीयान्त भी अन्य का दुगागम होता ही है । यथा अन्यस्य कारकः अन्यत्कारकः । अन्यस्यायम् गहादि छप्रत्यय में अन्यदीयः । छको 'आयन्' सूत्र से इयादेश है ।

१०२८ अर्थे विभाषा ६।३।१०१।

अन्यदर्थः । अन्यार्थः ।

अर्थ शब्द पर रहते अन्यको दुगागम होता है ।

१०२९ कोः कत्तत्पुरुषेऽचि ६।३।१०१।

अजादावुत्तरपदे । कुत्सितोऽश्वः । कदश्वः । कदन्नम् । तत्पुरुषे किम् , ऋष्टो राजा । त्रौ चक्षुः । कुत्सितास्त्रयः कत्त्रयः ।

तत्पुरुष समासमें अजादि उत्तरपद पर रहते कु को कत् आदेश होता है । विशब्द पर रहते भी कु को कत् आदेश होता है । कत्त्रयः ।

१०३० रथवदयोश्च ६।३।१०२।

कदरथः । कद्वदः ।

रथ एवं वद पर रहते कुशब्द को कत् आदेश होता है । यथा-कदरथः । कद्वदः ।

१०३१ तृणे च जातौ ६।३।१०३।

कत्तृणम् ।

जाति प्रतीयमान होने पर तृणशब्द पर रहते कृशब्द को कत्त आदेश होता है ।

१०३२ का पथ्यक्षयोः ६।३।१०४।

कापथम् । काक्ष । अक्षशब्देन तत्पुरुष । अक्षिराब्देन बहुव्रीहिर्वा ।

पथिन् एव अक्षिन् शब्द पर रहते कृशब्द को कत्त आदेश होता है । कुरित्त पन्था कापथम् अक्षक पूरब्धु से अपत्यय है पथ सत्त्वा यवादे से नपुंसकत्व है । कुरित्ते अक्षिणी यस्य स काक्ष ।

१०३३ ईपदर्थे ६।३।१०५।

ईपजलम् = काजलम् । अजादावपि परत्वात् कादेश । कान्तलः ।

इषद अर्थ की प्रतीति होने पर कु को कादेश होता है । अजादि उत्तरपद में ररत्व के कारण कु को कादेश बाध करता है यथा-कान्तल ।

१०३४ विभाषा पुरुषे ६।३।१०६।

कापुरुष । कुपुरुष । अप्राप्तविभाषेयम् । ईपदर्थे तु पूर्वविप्रतिषेधान्नित्य मेव । ईपत्पुरुष = कापुरुष ।

पुरुष शब्द पर रहते किम् को का आदेश विकल्पसे एव पक्ष में कु आदेश होता है । रूप इव है । यद्वा ईपदर्थे की अनुवृत्ति न होने से अप्राप्तविभाषा है । ईपदर्थे में तो पूर्वविप्रतिषेध से नित्य ही का आदेश होता है इष्टानुरोधसे क्वचिद अपर कार्यम् पूर्वकार्यम् भवति नह भी पक्ष आप्याप्तानुरोधस्थल में स्वीकृत है—विप्रतिषेधपर कार्यम् ।

१०३५ कर्ण चोष्णे ६।३।१०७।

उष्णशब्दे उत्तरपदे वाक् का च वा स्यात् । कवोष्णम् कोष्णम् । कदुष्णम् । उष्णशब्द पर रहते किम् को कव आदेश विकल्प से होता है तथा का एव कत्त आदेश भी । चकार वनका भी समुच्चय विकल्प से करता है । तीन रूप होते हैं ।

१०३६ पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ६।३।१०९।

प्रपोदरप्रकरणानि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि स्यु । पृषद् उदर पृषोदरम् । तलोप । वारिवाहको बलाहक । पूर्वपदस्य च, उत्तरपदादेश लत्वम् ।

भवेद् वर्णागमादघस सिहो वर्णविपर्ययात् ।

गूढोत्सा वर्णविकृते वर्णनाशात् पृषोदरम् ॥

क्षदिक्शब्देभ्यो तीरस्य तारभावो वाक् । दक्षिणतारम् । दक्षिणतीरम् । उत्तरतारम् । उत्तरतीरम् । दुरो दाशनाशदमध्येपूत्वमुत्तरपदादे णुत्वञ्च । दु खेन दाश्यते । दूडाश । दु खेन नाश्यते दूणाश । दु खेन दभ्यते दूडम ।

खल् त्रिम्यः । दम्भेर्नलोपो निपात्यते । दुःखेन ध्यायतीति दूह्यः । आतश्चेति कः ।
ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्ति इति वृसी । ब्रुवच्छब्दस्य वृ आदेशः, सदेरधिकरणे डट् ।
आकृतिगणोऽयम् ।

पृषोदरादिगण में शिष्टो द्वारा जिन शब्दों को जिस प्रकार उच्चारण किये गये हैं वे उसी प्रकार ही साधुत्व विशिष्ट हैं । एवं पुण्यजनक है । उसमें विपरीत भावना या अन्य कुतंक का अनवसर ही है । शिष्ट की परिमाणा-रागदेपादि प्रयुक्त अन्यथा भाषण कर्तृत्व राहित्य एवं सकल पदार्थ गत वास्तविक तत्त्ववेत्ता । भाष्यकार ने तो वैयाकरणों को ही शिष्ट पद के वाच्य कहा है “के पुनः शिष्याः ? वैयाकरणा इति” । पृषतः उदरम् समास, तकार का लोप, गुण पृषोदरम् । वारि = जलम् वाहकः = वहनकर्ता अर्थ में वारीणां वाहकः = बलाहकः यहाँ पूर्वपद को व आदेश है उत्तरपद के आदिवर्ण को अकाशदेश है ।

वर्णागम प्रयुक्त इन् धातु के उत्तर पचादि अच् प्रत्यय एवं समागम में ‘हंस’ की सिद्धि हुई । हिसि धातु से पचाधच् प्रत्यय एवं हकार तथा सकार के विपर्यय करने से ‘सिह’ की सिद्धि है । वर्ण विकृति प्रयुक्त अर्थात् आत्मन् के आदि वर्ण आकार को उकारादेश एवं गुण से गृह्येता । तकार के लोप से पृषोदरम् । इस प्रकार पूर्व प्रयोग शिष्टों से उच्चरित सिद्ध जानने चाहिये । • दिशावाचक शब्द से पर तीर को तार आदेश विकल्प से होता है । दक्षिणतारम् । दक्षिणतीरम् । • दाश, नाश, दम, ध्य इन शब्दों के पर रहते दुर को उत्त्व होता है, एवं उत्तरपद के आदि वर्ण को ष्टुत्व होता है । दश धातु दानार्थक है । ‘दाश्च दाने’ । णश अदर्शनार्थक है । दम्भ अहङ्कारार्थ है । ध्ये चिन्तायाम् । दुःख से दान कर्म की वस्तु प्रदाता = दूढाशः । यहाँ रेफ को उकार दीर्घ दकार को डुत्व से ढकार है । दूणासः । दूढमः । इन-तीन धातुओं से खल् प्रत्यय है । ‘दृपद्’ सूत्र से । दम्भ में नकार का लोप भी निपातित है । दुःखेन ध्यायति यहाँ ध्ये को आत्व कप्रत्यय आकार लोप उत्त्व डुत्व दूह्यः । ‘आतः’ सूत्र से क प्रत्यय है । ब्रुवत् को वृ आदेश सद से अधिकरण में डट् प्रत्यय है, लोप् वृसी = आराम खुशी को कहते हैं, या मुनीनाम् आसनम् = वृसी । पृषोदरादि आकृति गण है । प्रयुक्त शब्दों का केवल व्याकरण अन्वाख्यान करना है, शिष्टो द्वारा प्रयुक्त शब्दों का केवल व्याकरण अन्वाख्यान करता है, शिष्टो द्वारा प्रयुक्त । तद् विपरीतान्वाख्यानक शास्त्र नहीं, यही इससे सिद्ध होता है । इस सूत्र का भाष्य-देखने योग्य है ।

१०३७ संहितायाम् ६।३।११४।

इत्यधिकृत्य ।

यह छः प्रकार के सूत्रों में अधिकार सूत्र है, इसका उत्तरोत्तर विधि सूत्रों में सम्मन्वय है ।

१०३८ कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रसुव-
स्वस्तिकस्य ६।३।११५।

कर्णे परे लक्षणवाचकस्य दीर्घः । द्विगुणाकर्णः । लक्षणस्य किम्, शोभनकर्णः । अविष्टादीनां किम्, विष्टकर्णः । अष्टकर्णः । पञ्चकर्णः । मणिकर्णः । भिन्नकर्णः । छिन्नकर्णः । छिद्रकर्णः । सूत्रकर्णः । स्वस्तिककर्णः ।

संहिताधिकार में लक्षण वाचक का दीर्घ होता है, कर्ण शब्द उत्तरपद पर रहते। परन्तु विद्यादि नव शब्द कर्ण पर रहते अन्त्याच् का दीर्घ नहीं होता है।

१०३९ नहिवृत्तिवृत्तिव्यधिरुचिसहितनिषु कौ ६।३।११६।

किञ्चन्तेषु परेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानत्। नीवृत्। प्रावृत्। मर्मावित्। नीरुक्। अभीरुक्। श्रुतीपट्। परीतत्। काविति किम्, परिहणनम्। 'विभाषा पुरुषे' इत्यतो मण्डूकप्लुत्या विभाषाऽनुवर्तते, सा च व्यवस्थिता, तेन गतिकारकयोरेव। नेह—पटुरुक्। तिग्मरुक्।

किप् प्रत्ययान्त नह्, वृत्, वृष्, व्यष्, वृष् सद्, तन्, इन पर रहते पूर्वपद का अन्त्य अक्षर का दीर्घ होता है। उपानत्। वन्मन्त्रार्थक गह से किप् 'नहो वः' से परव अक्षर चत्वं से 'मय' उपानत् = जुता की सहा है। नीवृत्—वृत् वर्तते किप् वृत् निः×वृत् नीवृत्। परस्य मर्माणि विष्मतीति मर्मावित् = दूसरे के मर्मस्थान को पीडा देने वाला पुरुष। रोगरहित नीवृत् निवर्तते नीवृत्। चारों तरफ से घेरा हुआ अभीरुक्। श्रुति सहते श्रुतीपट्। श्रुतीया = घृणा। श्रुतिः सौम चातु है। परितः लभेति परीतत्। चारों ओर विस्तार करने वाला तन् का नकार का 'अनुदात्त' सूत्र से छोप है। वृत् प्रत्ययान्त इननम्, परितः इननम् परिहणनम्। यहा किञ्च नही अतः दीर्घमात्र। यहा विभाषानुवृत्ति एव व्यवस्थितविभाषा मान कर गतिसहक पूर्वपद का कारक पूर्वपद का ही दीर्घ अन्त्य नहीं हमसे गुणवाचक पट् एवं तिग्म = वृष्वाचक का दीर्घ न होने से पटुरुक्, तिग्मरुक् हुआ है।

१०४० वनगियोः संज्ञायां कोटरकिंशुकादीनाम् ६।३।११७।

कोटरादीनां वने परे किंशुकादीनां गिरौ परे दीर्घः स्यात् संज्ञायाम्।

संज्ञा में वन पर रहते कोटरादि शब्द के अन्त्य वर्ण का दीर्घ होता है। एवं गिरि पर रहते किंशुकादि का दीर्घ होता है।

१०४१ वनं पुरगामिश्रकासिध्रकासारिकाकोटराग्रेभ्यः ८।४।४।

वनशब्दस्योत्तरपदस्य एभ्य एव णत्व नान्येभ्यः। इह कोटरान्ताः पञ्च दीर्घविधौ कोटरादयो बोध्याः। तेषां कृतदीर्घाणां णत्वविधौ निर्देशो नियमायः। अप्रेशब्दस्य तु विध्यर्थः। पुरगावणम्। मिश्रकावणम्। सिध्रकावणम्। सारिकावणम्। कोटरावणम्। एभ्य एवेति किम्, असिपत्रवनम्। वनस्याग्रे अप्रेवणम्। राजदन्तादिषु निपातनात् सप्तम्या अलुक्, प्रातिपदिकार्यमात्रे प्रथमा। किंशुकागिरिः।

पुरगा, मिश्रका, सिध्रका सारिका, कोटरा एवं अग्रे इनसे पर ही उत्तर पद वन के नकार को नकार होना है। इस सूत्रमें कोटरा एवंत पाँच शब्द दीर्घविधि में कोटरादि जानने चाहिए। दीर्घ युक्त इनका नकार विधान में निर्देश नियमविधि के लिए है। एवं अग्रे का पाठ यहा विध्यर्थ है। पुरगावनम् = पुरगावनम्। मिश्रकावनम् = मिश्रकावनम् आदि। एतद् मिश्र से उत्तरपद वन के नकार को णत्व नहीं होता है। यथा असिपत्रवनम्। वनस्य अग्रे अग्रेवणम्। यहा राजद-

न्ताद में पाँठ से समास अन्तर्गत सप्तमी का लुक् नहीं होता है, एवं प्रातिपदिकार्थमात्र में साधुत्वा-
धिका प्रथमा है। किञ्चुकागिरिः। अथनागिरिः। जो किञ्चुकादि नहीं यहाँ कृष्णगिरिः। रामगिरिः।

१०४२ वले ६।३।११८।

वलप्रत्यये परे दीर्घः स्यात् संज्ञायाम्। कृषीवलः।

संज्ञा में वलच् प्रत्यय पर रहते पूर्वपद के अन्त्याच् का दीर्घ होता है। यथा खेतिहर अर्थ में
रजः कृष्यासृति से मतुप् प्रत्यय के अर्थ में वल्च् प्रत्यय होता है, यहाँ चकार अन्तोदात्तार्थ है।
सूत्र चितः है। कृषीवलः = कृषकः।

१०४३ मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् ६।३।११९।

अमरावती। अनजिरादीनां किम्, अजिरवती। बह्वचः किम्, ब्रीहिमती।
संज्ञायामित्येव। नेह—वलयवती।

मतुप् प्रत्यय पर रहते अजिरादि शब्दों से मिश्र अनेकाच् प्रातिपदिक का दीर्घ होता है।
इन्द्रपुरी देवपुरी अमरावती। अमर देव का नाम है देवताओं को शरीर को जीर्ण करनेवाली
वृद्धावस्था एवं मरण नहीं प्राप्त होता है। 'अमरा अमरा देवाः' कोश है। अजिरवती यहाँ दीर्घ
नहीं हुआ। धान्ययुक्ता ब्रीहिमती यहाँ पूर्व शब्द अनेकाच् नहीं है। संज्ञा में दो यह सूत्र प्रवृत्त
होता है। कंगन युक्ता अर्थ में = वलयवती, यहाँ दीर्घ न हुआ। संज्ञा नहीं है केवल योगिकार्थ
प्रत्यायक है। अमरावती आदि योग-रूढ है, अवयव शक्ति सहजत समुदाय शक्ति से अर्थ वाचक
को योग-रूढ कहते हैं। मादुपपायाश्च सूत्र मतुप् का मकार का वकार करते हैं।

१०४४ शरादीनाश्च ६।३।१२०।

शरावती।

मतुप् प्रत्यय से पूर्व शरादि जो शब्द उनके अन्त्याच् का दीर्घ होता है। यथा—शरावती।
शर = कास।

१०४५ इको वहेऽपीलोः ६।३।१२१।

इगन्तस्य दीर्घः स्याद् वहे। ऋषीवहम्। कपिवहम्। इकः किम्,
पिण्डवहम्। अपीलोः किम्, पीलुवहम्। ऋषीवहम्। अपीलवादीनामिति वक्तव्यम्।
दारुवहम्।

वह शब्द पर रहते पीलु शब्द मिश्र पूर्वपद का जो अन्त्याच् उसका दीर्घ होता है। ऋषीवहम्।
'पिण्डवहम्' यहाँ इगन्त पूर्वपद नहीं अतः दीर्घभाव। सूत्र में 'अपीलोः' है उसके स्थान में
व्यापक 'अपीलवादीनाम्' ऐसा पढ़ना चाहिए। पीलुवहम्, दारुवहम् यहाँ दीर्घभाव पीलु
वृक्ष एवं उसका फल दोनों का वाचक है, उसका वहन कर्ता। काष्ठ वहन में दारुवहम् है।

१०४६ उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ६।३।१२२।

उपसर्गस्य बहुलं दीर्घः स्याद् घञन्ते परे, न तु मनुष्ये। परीपाकः।
परिपाकः। अमनुष्ये किम्, निपादः।

घञन्ततदादि उत्तर पद में रहते उपसर्ग संज्ञक शब्द के अन्त्य अच् का दीर्घ होता है।
मनुष्य आदि वाच्य रहते हुए दीर्घ नहीं होता है। प्रसरः। प्रसारः। प्रधारः। कृत्रिम होने पर

साद एव कार पर रहते दीर्घ होता भी है। यथा—यह इसका प्रसाद यहाँ भासति। प्राकार = यह उसका कीला है। प्रतिवेशादि को विकल्प दीर्घ होता है। प्रतीवेश। प्रतीकार पूर्वोक्त व्यवस्था में बहुत ग्रहण ही प्रमाण है वह अनेकार्थक है। पुच्छिन्नातिवाचक निषाद अनुष्य है, दीर्घाभाव है। निषोदन्ति पापम् यस्मिन् निषाद है। पाप युक्त जाति विशेष वाचक। प्रतीहार यहाँ द्वार अर्थ है वह द्वारार्थक दीवारिक में यहाँ स्थितिमात्र से उस रसक पुरुष में प्रतीहारत्व का आरोप है। तास्व्यात् तच्छब्दप्रयोग। यथा मञ्जा क्रान्ति वहा मञ्जस्य पुरुष में मञ्जस्वा रोप है। अनेक प्रकार से शब्द अन्यत्रारोपित होते हैं। वै० ल० मञ्जूषा में विस्तृत विवरण है।

१०४७ इकः काशे ६।३।१२३।

इगन्तस्योपसर्गस्य दीर्घः स्यात् काशे। वीकाशः। नीकाशः। इकः किम्, प्रकार।

इगन्त उपसर्ग के अन्तिम अच् का दीर्घ होता है काश शब्द उत्तरपद में रहते। नितरां काशते इति नीकाश। विहृत काशते इति वीकाश। दीप्यर्थक काश है। प्रकाश में पूर्वपद इगन्त नहीं है।

१०४८ अष्टनः संज्ञायाम् ६।३।१२५।

उत्तरपदे दीर्घः। अष्टापदम्। संज्ञायाम् किम्, अष्टपुत्र।

संज्ञा में उत्तर पद पर रहते अष्टप् का दीर्घ होता है। यथा अष्टसु पातुषु पदम् = प्रतिष्ठा यस्य तद अष्टापदम् = सुवर्णम्, स्वर्णम्। अष्टो पुत्रा सति यस्य कृष्णवन्द्यस्य अष्टपुत्र। यहाँ संज्ञा नहीं है, यौगिकार्थ मात्र बोधक है।

१०४९ चित्तेः कपि ६।३।१२७।

एकचित्तीक।

कप् प्रत्यय पर रहते चिति या चिरयन्त का अन्त्य अच् का दीर्घ होता है। यहाँ 'शेषाद् विभाषा' से कप् प्रत्यय होता है। अपनार्थ चिति शब्द है।

एकचित्तीक।

१०५० नरे संज्ञायाम् ६।३।१२९।

विश्वानर।

नर शब्द पर में रहते संज्ञा में पूर्वपद के अत्स्याप् का दीर्घ होता है। यथा विश्वानर।

१०५१ मित्रे चर्षी ६।३।१३०।

विश्वामित्र। श्रुषी किम्, विश्वमित्रो माणवक। ऋशुनो दन्तदष्टाकर्ण-

कुन्दवराहपुच्छपदेऽपु दीर्घो वाच्यः ऋ। श्वादन्त इत्यादि।

ऋषि अर्थ वाच्य रहते मित्र शब्द उत्तर में रहे यहाँ पूर्वपद का दीर्घ होता है। वह अत्स्याप् का ही होगा। ऋषि = मन्त्रद्वेषा को कहते हैं। विश्वामित्र। बालक अर्थ में विश्वमित्र यही होता है। दन्त दष्टाकर्ण कुन्द, वराह, पुच्छ, पद इनके उत्तर पद में रहते पूर्वपद अच् का दीर्घ होता है। यथा श्वादन्त।

१०५२ प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्प्यखदिरपीयूक्षाम्योऽसंज्ञाया-
मपि ८।४।५।

एभ्यो वनस्य णत्वं वा स्यात् । प्रवणम् । कार्प्यवणम् । इह पात्परत्वात्
णत्वम् ।

संज्ञा न होने पर भी प्र, निर, अन्तर्, शर, इक्षु प्लक्ष, आम्र, कार्प्य, खदिर, और पीयूक्ष
इन से पर वन के नकार को णकारादेश होता है विकल्प से । प्रवणम् । कार्प्यवणम् = कृष्णगुण
युक्त वन । यहां पकाररूपनिमित्त को मान कर णत्व होता है, मूर्द्धन्य पकार घटित हो पाठ युक्त है
कार्प्य यह असङ्गत पाठ है । णत्वविधायक सूत्रों में रेफ एवं पकार का सम्बन्ध है, 'रपाभ्यान्' को
अनुवृत्ति से ।

१०५३ विभाषोपधिवनस्पतिभ्यः ८।४।६

एभ्यो वनस्य णत्वं वा स्यात् । दूर्वावणम् । दूर्वावनम् । शिरीषवणम्
शिरीषवनम् । ऋद्व्यच् ड्यच्भ्यामेव । नेह देवदारुवनम् । इरिकादिभ्यः
प्रतिपेधो वक्तव्यः । इरिकावनम् । मिरिकावनम् ।

ओपधिवाचक एवं वनस्पतिवाचकशब्द से पर वन के नकार को णकारादेश विकल्प से होता
है । यथा दूर्वावणम् । दूर्वावनम् शिरीषवणम् । शिरीषवनम् । पूर्वपद दो स्वरयुक्त रहे या तीन
अर्चों से युक्त रहे वहां ही उत्तरपद के वन का नकारको णकार होता है । 'देवदारुवनम्' यहां
णत्वाभाव है । इरिकादिशब्दों से उत्तर वन के नकारको णकारादेश नहीं होता है । यथा
'इरिकावनम्' ओपधित्व के कारण नकार को वहां णकार प्राप्त था । व्यवस्थितविभाषा से यह वार्तिक
गतार्थ है ।

१०५४ वाहनमाहितात् ८।४।८।

आरोप्य यदुह्यते तद्वाचिस्थान्निमित्तात्परस्य वाहननकारस्य णत्वं स्यात् ।
इक्षुवाहनम् । आहितात् किम्, इन्द्रवाहनम् । इन्द्रस्वामिकं वाहनमित्यर्थः ।
वहतेल्युटि वृद्धिरिहैव सूत्रे निपातनात् ।

जो वस्तु ठाकर ले जायो जाय तद्वाचित्व निमित्त (रेफ या पकार) से पर वाहन शब्द
के नकार को णकार होता है । 'इक्षुवाहनम्' ऊख को ढोने का साधनभूतरयादि । इन्द्र है स्वामी
जिसका ऐसा वाहन इस अर्थ में यहां णत्व का अभाव ही है वह आहित नहीं है । वह धातु से ल्युट्
निपातन से वृद्धि कर वाहन शब्द की सिद्धि है ।

१०५५ पानं देशे ८।४।९।

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य पानस्य नस्य णत्वं स्याद् देशे गम्ये । क्षीरं
पानं येपान्ते क्षीरपाणा उशीनराः । सुरापाणाः प्राच्याः । पीयते इति पानम् ।
कर्मणि ल्युट् ।

देश को प्रतीति होने पर पूर्वपदस्थान्निमित्त (रेफ या पकार) से पर पान का नकार को
णकारादेश होता है । क्षीरम् = दुग्धम् पानं येपान्ते क्षीरपाणाः = उशीनराः । सुरापाणाः = प्राच्याः ।
पान क्रिया जन्यफलाश्रय = कर्म पान शब्दार्थ है, कर्म में ल्युट् है ।

१०५६ वा भावकरणयोः ८।४।१०।

पानस्येत्येव । क्षीरपाणम् । क्षीरपानम् । क्षीरगिरिनद्यादीनां वाक्छ । गिरि-
यादी । गिरिनदी । चक्रणितम्बा । चक्रनितम्बा ।

पूर्वपद में विद्यमान निमित्त (रेफ) से पर भाव एव करण में विहित स्फुट् प्रत्ययान्त पान
शब्द के नकार को गकारादेश होता है विकल्प से । दुग्धपान का साधनभूत पान में क्षीरपाणम् ।
क्षीरपानम् । गिरिनद्यादि शब्दों में भी विकल्प गकारादेश नकार को होता है । यथा गिरिनदी ।
गिरिनदी । चक्रणितम्बा । चक्रनितम्बा ।

१०५७ प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च ८।४।११।

पूर्वपदस्यान्निमित्तात्परस्य एषु स्थितस्य नस्य णो वा स्यात् । प्रातिपदि-
कान्ते—मापवापिणौ । नुमि—ब्रीहिवापाणि । विभक्तौ—मापवापेण । पक्षे माप-
वापिनादित्यादि । उत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तदन्तस्यैव णत्वम् । नेह—गर्गाणां
भगिनी गर्गभगिनो । अत एव नुम्ग्रहणं कृतम् । अङ्गस्य नुम् विधानाद् तद्-
भक्तौ हि नुम् न उत्तरपदस्य ।

किञ्च, ब्रीहिण्यमित्यादौ हिवेनुमो णत्वार्थमपि नुम्ग्रहणम् । 'प्रेम्बनम्'
इत्यादौ तु क्षुम्नादित्याम् । छ युवादेर्नेछ । रम्ययूना । परिपक्वानि । एकाज्जुत्तरपदे
णः—नित्यमित्युक्तम् । वृत्रहणौ । हरिं मानयतीति हरिमाणी । नुमि क्षीरपाणि ।
विभक्तौ क्षीरपेण । रम्यविणा ।

पूर्वपदस्य निमित्त से परे प्रातिपदिकान्त, नुम्, एवं विभक्ति में स्थित नकार को विकल्प से
गकारादेश होता है । यथावापिणौ । बोधसन्तानाधिक बप् धातु से आभोक्ष्य अर्थ में गिति प्रत्यय है,
तुम्—'बहुलमानीक्षे' । यह प्रातिपदिकान्त नकार को गकारादेश का उदाहरण है । यहाँ उत्तरपद
नान्त है । नुम् का उदाहरण—ब्रीहिवापाणि । उपपदस्यक ब्रीहिकर्तृक बप् से कर्मण्यण् से
अण् प्रत्यय तदन्त के योग में ब्रीहि से षष्ठी, उपपद समासादि ब्रीहिवाप से नत् सि नुम् दीर्घ, नपुंसक
में ब्रीहिवापाणि । अणन्तमापवाप ठ, इन, गुण से मापवापेण यहाँ विभक्ति का नकार को गकारादेश
हुआ है । स्थित विभक्तिवत् का स्थानिवद् भाव से इनादेश में अभ्यस्त आरोपित है । पक्ष के सभी
उदाहरण में नकार घटित प्रयोग का भी साधुत्व है ।

उत्तरपद से अभिन्न जो प्रातिपदिक उसका जो चरमावयव नकार उसको गकारादेश होता
है । गर्गाणा भगिनी यहाँ गर्गभग शब्द से विहित नपुंसकत्व श्लेष, से नुम् अन्त्य अच् के बाद
होकर अङ्ग का अवयव है अर्थात् गर्गभगरूप अङ्ग का ही अवयव है उत्तरपद का नुम् अवयव
नहीं है, अतः यहाँ उत्तरपद नान्त प्रातिपदिक नहीं है यहाँ णत्वभाव है । अर्थात् अङ्ग को
'परिपक्वान् नुम्' अङ्ग का अङ्ग = अवयव है उत्तरपद का अवयव नहीं है ।

अतः यह भाष्योक्ति जो नुम् के विषय में है वह सङ्गत हुई । यथा—पञ्चारत्नोनि यथा 'शान्त
कपालभगाल' से स्वर न होने की आशङ्का नुम् के बाद हुई उत्तरपद शान्त नहीं है उस पर भाष्य
कार कहने है कि समुदायमलोप्यौ नुम् नोत्पद्यतेऽवयवस्येकान्तात् निह तुमिति । अतः इस सन्दर्भ
से स्पष्ट है कि प्रकृत में नान्तत्व प्रातिपदिकत्व ये दोनों एकाधिकारमयुक्ति यहाँ रहें वहाँ सूत्रार्थ
समन्वय होने पर हमने णत्व होता है । अन्यथा नहीं । अतः प्रातिपदिकान्त से नुम् ग्रहण गता-

र्थता की शक्ता ही न करनी चाहिए। प्रहिन्वन् यहां हिंवि को इदिव मानकर नुन् 'प्रहिण् वन्' मध्य-वर्ती नकार को णत्वार्थ भी नुन् ग्रहण है। 'प्रेन्वन्' यह नुन् निमित्तक णत्व प्राप्त है किन्तु 'धुम्नादिपु' सूत्र से णकारामाव है। पूर्वपदस्थ रेफ से पर रहने पर भी णकारादेश नहीं होता है, रम्ययूना है। 'एकाजुत्तरपदे णः' यह सूत्र प्रथम प्रसंग से आ चुका है। किन्तु णत्व के प्रकरण में यह मुख्य है, अतः पुनः इसका निर्देश यहां किया है। यह नित्यणव करता है ऐसा प्रथम कह भी चुके हैं किन्तु पुनः पुनः स्मरण से ज्ञान में दृढ़ता आती है इस लिए पुनः कहा कि यह नित्य है। उदाहरण—वृत्रह्णां। यह प्रातिपदिकान्त का उदाहरण है। हरिमाणौ यह भी प्रा० का० उ० है। नुन् का उ०—क्षोण्पाणि। विभक्ति का क्षीरपेण। रम्यविणा, उदाहरण है।

१०५८ कुमति च ८।४।१३।

कवर्गवत्युत्तरपदे प्राग्वत् । हरिकामिणौ । हरिकामाणि । हरिकामेण ।

पूर्वपदस्थ रेफादि रूप निमित्त से पर जो कवर्ग से युक्त परपदस्थ प्रातिपदिकान्त, नुन् एवं विभक्तिस्थ नकार को णकार आदेश होता है। हरिकामिणौ। यह प्रातिपदिकान्त नकार को णकारोदाहरण है। नुन् का हरिकामाणि। विभक्ति का हरिकामेण।

१०५९ पदव्यवायेऽपि ८।४।३८।

पदेन व्यवायेऽपि णत्वं न स्यात् । मापकुम्भवापेन । चतुरङ्गयोगेन ।
क्षतद्धित इति वक्तव्यम् । आर्द्रगोमयेण । शुष्कगोमयेण ।

मध्य में किसी पद के व्यवधान होने पर पूर्वपदस्थ निमित्त से पर प्रातिपदिकान्त, नुन्, एवं विभक्तिस्थ नकार को णकारादेश नहीं होता है। मापाणां कुम्भः मापकुम्भः मापकुम्भं वपति तेन यहां वप् से कर्मण्यण से अण् प्रत्यय मास से 'कर्तृकर्मणोः' से पठो, उपपदसमास णत्व का अभाव है मापकुम्भवापेन। चतुरङ्गयोगेन—चत्वारि अङ्गानि अस्य तेन योगः। यहां भी णत्वामाव। उत्तर व्यवधायक पद तद्धितान्त रहे वहां यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है यथा आर्द्रगोमयेण। पठ्यन्त गोशब्द से विकारार्थक यह प्रत्यय है वह तद्धित प्रत्यय है। शुष्कगोमयेण। शुष्कः—शुष् क्त, तत्को ककारादेश 'शुष्पः कः' सू० से। सुवन्त गो से मयद् सूत्रा गोवर से।

१०६० कुस्तुम्बुरुणि जातिः ६।१।१४३।

अत्र सुणिपात्यते । कुस्तुम्बुरुधान्याकम् । क्लीबत्वमतन्त्रम् । जातिः
किम्, कुस्तुम्बुरुणि कुत्सितानि तिन्दुकीफलानि इत्यर्थः ।

जाति वाचक होने पर कुस्तुम्बुरु को सुट् निपातित होता है। कुस्तुम्बुरु = धान्याकम्। कुत्सित लौकी का फल (कुत्सित लौक्यी)।

१०६१ अपरस्पराः क्रियासातत्ये ६।१।१४।

सुणिपात्यते । अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति । सततमविच्छेदेन गच्छन्ती-
त्यर्थः । । अपरे च परे च सकृदेव गच्छन्तीत्यर्थः ।

क्रिया का निरन्तरत्व = सातत्य गम्यमान होने पर अपरस्पराः यहां सुट् का निपातन होता है। अपर एवं पर निरन्तर = व्यवधान रहित गमन करते हैं।

१०६२ गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ६।१।१४५।

सुट् सस्य पत्वं च निपात्यते ।

गावः पद्यन्तेऽस्मिन् देशे स गोभिः सेवितो गोष्पदः । असेविते—
अगोष्पदान्यरण्यानि । प्रमाणे—गोष्पदमात्रं क्षेत्रम् । सेवितेत्यादि किम्, गोः—
पदं गोपदम् ।

सेविन, असेविन, प्रमाण अर्थ में गोपद में सुट् का निपातन होता है अर्थात् 'गोष्पदम्' रूप
होता है । पद धातु गत्यर्थ है, जिस देश में गाये गमन = सञ्चार करती है वह प्रदेश गो से सेवित
कहा जाता है । असेविन गोओं के सञ्चार से रहित वन अगोष्प पदानि अरण्यानि । प्रमाण वे मात्रा
प्रत्ययान्त में सुट् गोष्पदमात्रम् अगोत्र अवयव युत्तरान् । सेवितादि से भिन्न में गोपदम् ।

१०६३ आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ६।१।१४६।

आत्मयापनाय स्थाने सुट् निपात्यते । आस्पदम् । प्रति किम् ।
आपदापदम् ।

अग्ने क्षीर रक्षार्थं स्थान वाध्य होने पर सुट् निपातन से आस्पद रूप की सिद्धि होती
है । प्रतिष्ठा अर्थ न होने पर सुट् नहीं यथा आपदापदम् = आपदि = वृष्ट = दुःख का स्थान ।
“अविवेक परमापदा पदम्” ।

१०६४ आश्चर्यमनित्ये ६।१।१४७।

अद्भुते सुट् । आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत । अनित्ये किम्, आश्चर्यं
कर्म शोभनम् ।

अद्भुत अर्थ में आश्चर्य में सुट् का निपातन होता है । अनित्य कहा नहीं है अर्थात् नित्य
है वहा सुट् नहीं, अच्छा कर्म का आचरण सदा करना चाहिये = आश्चर्य कर्म शोभनम् ।

१०६५ वचस्केऽवस्करः ६।१।१४८।

कुतिसत् वचः वचस्कम् = अन्नमलं तस्मिन् सुट् । अवकीर्यते इति
अवस्करः । वचस्के इति किम्, अवकरः ।

विद्या की वचस्क कहते हैं । वचस्क अर्थ में सुट् से अवस्करः निपातित होता है । वचस्क
से भिन्न में अवकरः = कनवार वा जञ्जाल ।

१०६६ अपस्करो रथाङ्गम् ६।१।१४९।

अपकरोऽन्यः ।

रथाङ्ग होने पर अपस्कर निपातित होता है, अर्थात् सुट् आगम होता है । अपस्करः ।
अन्यत्र अपस्करः ।

१०६७ विष्करः शकुनि विस्करो वा ६।१।१५०।

पक्षे विकरः । बावचनेनैव सुट् विकल्पे सिद्धे विकरग्रहणं तस्यापि शकुने-
रन्यत्र प्रयोगे मा भूदिति वृत्तिस्तत्र, भाष्यविरोधात् ।

शकुनि अर्थ में विकल्प से सुट् होकर विष्करः एवं विकरः दो रूप निपातित होते हैं। यहाँ वृत्तिकार ने कहा था कि वा शब्द से ही विकल्प लाभ से विस्कर वनता पुनः सूत्रकृत विस्कर वह शकुनि से भिन्न अर्थ में भी सुट् होता है यह शपन करता है। यह कथन भाष्यविरुद्ध होने से उपेक्ष्य है।

१९६८ प्रतिष्कशश्च कशेः ६।१।१५३।

कश गतिशासनयोरित्यस्य प्रतिपूर्वस्य पचाद्यचि सुट् निपात्यते, पत्वञ्च । सहायः पुरोयायी वा प्रतिष्कश इत्युच्यते । कशेः किम् , प्रतिगतः कशां प्रति-कशोऽश्वः । यद्यपि कशेरेव कशा तथापि कशेरिति धातोर्ग्रहणमुपसर्गस्य प्रते-ग्रहणार्थम् । तेन धात्वन्तरोपसर्गात् ।

संयोगरूप फलजनक व्यापाराधिक कश धातु है। एवं प्रवृत्ति में पर्यवसानार्थक कश धातु है। प्रतिपूर्वक कश धातु से 'नन्दिग्रहपचादिभ्यः' से अच् प्रत्यय में सुट् का निपातन एवं प्रकारदेश होता है। सहायक या अग्रगमनकर्ता को प्रतिष्कशः कहते हैं। लगाम को भी कशा कहते हैं। कशां प्रतिगतः प्रतिष्कशः - अश्वः यहाँ सुट् नहीं होता है, यहाँ कश धातुवाच्य क्रिया निरूपित उप-सर्गत्व प्रति में नहीं है किन्तु अन्तर्भूत गम्यमान गमन क्रिया निरूपित उपसर्गत्व प्रति में है। यहाँ सुट् अभाव बोधनार्थ सूत्र में 'कशेः' ग्रहण है। अन्यथा 'प्रतिस्करः' इतना ही सूत्र करते क्योंकि कश का ही कशारूप वनता है।

१०६९ प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ६।१।१५३।

हरिश्चन्द्रग्रहणममन्त्रार्थम् । ऋपीति किम् । प्रकण्वो देशः । हरिश्चन्द्रो माणवकः ।

ऋषिवाच्य होने पर प्रस्कण्व, हरिश्चन्द्र इनमें सुट् का निपातन होता है। 'उस्वाद्यन्द्रो-चरपदे मन्त्रे' से मन्त्र में सुट् सिद्ध हरिश्चन्द्र में है किन्तु अमन्त्र में सुट् के लिए हरिश्चन्द्र ग्रहण है।

१०७० मस्करमस्करिणौ वेणुपरित्राजकयोः ६।१।१५४।

मकरशब्दोऽव्युत्पन्नस्तस्य सुद्धिनिश्च निपात्यते । वेण्विति किम् , मकरो ग्राहः । मकरी समुद्रः ।

वेणु एवं परित्राजक अर्थ में अव्युत्पन्नप्रातिपदिक मकरशब्द यहाँ उससे सुट् एवं इन्का निपातन इससे होता है। जहाँ वेणु या परित्राजक अर्थ नहीं वहाँ इन कार्यों का अभाव है। यथा मकरः = ग्राहः = जलीय हिंसक जन्तुविशेष = मघर । उससे युक्त समुद्र = मकरी है।

१०७१ कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ६।१।१५५।

ईषत्तीरमस्यास्तीति कास्तीरं नाम नगरम् । अजस्येव तुन्दमस्येति अज-स्तुदं नाम नगरम् । नगरेति किम् , कातीरम् । अजतुन्दम् ।

नगर अर्थ होने पर कास्तीर एवं अजस्तुद इनमें सुट् का निपातन होता है। नगर से भिन्न में कातीरम् । अजतुन्दम् ही सुट् रहित प्रयोग होता है।

१०७२ कारस्करो वृक्षः ६।१।१५६।

कार करोतीति कारस्करो वृक्ष । अन्यत्र कारकरः । केचित् कस्कादिषु इदं पठन्ति न सूत्रेषु ।

वृक्ष अर्थ में कारस्कर में सुट् का निपातन होता है । करोति कर कारस्य कर कारस्कर = वृक्षविशेष का नाम है अवयवाभे से मित्राभक्त प्रवृत्तिनिमित्त यहाँ वृक्षत्व व्याप्य कारस्करत्व है । सञ्ज्ञा एषा वृक्ष विशेषस्य । कोरं इसका कस्कादि में ही पदता है सूत्र में नहीं किन्तु यह उक्ति भाष्य अनुमोदित नहीं है इसी का ध्वन्यार्थ 'केचित्' शब्द का यहाँ उपादान किया है ।

१०७३ पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ६।१।१५७।

एतानि समुद्कानि निपात्यन्ते नाम्नि । पारस्करः । किष्कम्भ्या । छितद्-बृहत्तो करपत्योश्चोरदेवतयो सुट् सलोपश्च छ । तात्पूर्व चत्वेन द्वा-रो-भोध्य । तद् बृहत्तोर्दकारसकारौ लुप्येते, करपत्योस्तु सुट् । चोरदेवतयोरिति समुदायोपाधि । तस्करः । बृहस्पतिः । छिप्रायस्य चित्तिचित्तयो छि । प्रायश्चित्तिः । प्रायश्चित्तम् । वनस्पतिरित्यादि । आकृतिगणोऽयम् ।

इति समासाश्रयविधिप्रकरणम् ।

सञ्ज्ञा अर्थ में पारस्करादि शब्दों को सुट् का निपातन होता है । पार करोति इस विग्रह में 'कृञो हेतुताच्छीत्य' में सुट् प्रत्यय हुआ है । इससे सुट् पारस्कर । किमपि वस्ते अर्थ में किम् पूर्वक भाषातु में कप्रत्यय आनारका छोप बाप्, निपातन में किम् का का द्वित्व पूर्वमकार का छोप सुट् वकारादेश किष्कि-वा ।

चोर एव देवता अर्थ में 'कर' एव पति पर रहने तद् एव बृहत् शब्द को सुट् का आगम होता है एव तद् का दकार तथा बृहत् का सकार इन दोनों (दकार सकार) का छोप होता है । तस्कर । बृहस्पति । वस्तुतः के रुठ है तो भी सिद्ध प्रकार प्रदर्शित है ।

चित्ति एव चित्त पर रहने प्रायश्चन्द को सुट् का आगम होता है । प्रायश्चित्तिः । प्रायश्चित्तम् वनस्पति । यह पारस्करादि आकृतिगण है ।

५० श्री बा० छ० पञ्चोलिविरचिन रत्नप्रभा में समासाश्रयप्रकरण समाप्त ।



अथ तद्धितप्रकरणम् ॥ २५ ॥

१०७४ समर्थानां प्रथमाद् वा ४।१।८२।

इदं पदत्रयमधिक्रियते—प्राग् दिश इति यावत् । सामर्थ्यं परिनिष्ठितत्वम् । कृतसन्धिकार्यमिति यावत् ।

‘प्राग् दिशो विभक्तिः’ सूत्र पर्यन्त इति तीन पदों का अधिकार है । समर्थानाम् , प्रथमाद् एवं वा इनका अधिकार होने से अधिकृत सूत्रों में इनका सम्बन्ध होता है । यहाँ सामर्थ्य से परिनिष्ठित का ग्रहण करना है । अप्रवृत्त नित्यशास्त्र का जो उद्देश्यतावच्छेदक धर्म उस से अनाक्रान्त को परिनिष्ठित करते हैं । ‘अप्रवृत्तनित्याविध्युद्देश्यतावच्छेदानाक्रान्तत्वम् = परिनिष्ठितत्वम् । अर्थात् सन्धिकार्य से सम्बन्ध प्रयोग ।

१०७५ प्राग्दीव्यतोऽण् ४।१।८३।

तेन दीव्यतीत्यतः प्रागणधिक्रियते ।

तेन दीव्यति सूत्र के पूर्व तक अण् का अधिकार है ।

१०७६ अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४।

एभ्योऽण् स्यात् प्राग्दीव्यतीत्येवार्थेषु । वक्ष्यमाणस्य ण्यस्यापवादः ।

प्राग् दीव्यतीत्य प्रकरण में जिन अर्थों में प्रत्यय विहित है उन अर्थों ने अश्वपत्यादि सुबन्त से अण् प्रत्यय होता है ।

१०७७ तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।

चित्ति णिति च तद्धिते परेऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात् ।

चिद् एवं णित् तद्धित प्रत्यय पर रहते अचो के मध्य में जो आदि अच् उसकी वृद्धि होती है ।

१०७८ किति च ७।०।९१८।

किति तद्धिते च तथा । अश्वपतेरपत्यादि आश्वपतम् । गाणपतम् । गाण-पत्यो मन्त्र इति तु प्रामादिकमेव ।

किन्तु तद्धित प्रत्यय पर रहते अचो के मध्य में जो प्रथम अच् उसकी वृद्धि होती है । पठ्यन्त अश्वपति से अपत्यादि अर्थ में अण् प्रत्यय तद्धितान्तत्वप्रयुक्त प्रातिपदिक संज्ञा विभक्तिका डक् आदि वृद्धि भसंज्ञा यस्येति च से श्कारलोप नपुंसत्वविवक्षा में हु उसको अन् , पूर्वरूप आश्वपतन् । गाण-पतेरपत्यम् गाणपतन् । गाणपत्यः यहाँ प्रयोग अनवधानताप्रयुक्त प्रमाद से प्रयुक्त है । अर्थात् असङ्गत है । वस्तुतः अणन्त के उत्तर चतुर्वर्णादित्वप्रयुक्त प्यन् से उसकी भी सिद्धि हो सकती है ।

१०७९ दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः ४।१।८५।

दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीत्येवार्थेषु ण्यः स्यादणोऽपवादः । दैत्यः । अदितेरादित्यस्य वा आदित्यः । प्राजापत्यः । ऋयमाच्चेति काशिकायाम् ।

याम्यः । ऋषिन्वा । पार्थिवा । पार्थिवी । ऋदेवाद्यव्यौः । दैन्यम् ।
 दैवम् । ऋषिपट्टिलोपो यञ्चः । बाह्यः । ऋईकच् चः । बाहिकः । स्थाम्नोऽ-
 कारः । अश्वत्थामः । पृषोदरादित्वात्सस्य तः । ऋभवार्थे लुग् वाच्यः ।
 अश्वत्थामा । ऋलोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारः । बाह्यादीन्वोऽपवादः । उडुलोमाः ।
 उडुलोमान् । बहुषु किम् , औडुलोमिः । ऋगोरजादिप्रसङ्गे यत् । गन्यम् ।
 अजादिप्रसङ्गे किम् , गोभ्यो हेतुभ्य आगतं गोरूप्यम् । गोमयम् ।

प्राग् दीन्यतीय अर्थों में दिति, अदिति, आदित्य, पत्युत्तरपदक शब्द इनसे एव प्रत्यय होता है । कश्चप अथि की तीन प्रधान शिखाँ हैं—दिति, अदिति एवं मनु । दिति के अपत्य—दैत्य है, अदिति के अपत्य—आदित्य है । मनु ओके अपत्य—मानव या मनुष्य है, वे तीनों वाइयप है, मातृ-
 गन दोष एव में गुण सन्तान में आते हैं, पिताएक ही है । प्रकृतिमें दितेः अपत्यम्—दैत्यः = दिति अस् एव प्रा० सं० वि० लुक् आदि वृद्धि, मत्तडा, इकार लोप है । इसी प्रकार अदितेः अपत्यम् आदित्य । आदित्यस्य अपत्यम् आदित्य । प्रजापतेः अस्त्वम्—प्राजापत्यः । यम शब्द से भी एव प्रत्यय होता है यह काशिका में कहा है । यमस्य अपत्यम् याम्यः । पृथिवी शब्द से अ एव अज् प्रत्यय होता है । पार्थिवा । पार्थिवी । देवशब्द से यज् एव अज् प्रत्यय होता है । ऋषि शब्द से यज् प्रत्यय एवं टिका लोप होता है । ईकच् भी ऋषि से होता है । बाह्यः । बाहिकः । स्थामन् शब्दान्त से अपत्यदि अर्थ में अ प्रत्यय होता है । अश्वत्थामः । पृषोदरादित्य से स को त दोष है । भवार्थ में अश्वत्थामन् के उत्तर अकार प्रत्यय का लुक् होता है । अश्वत्थामा । बहुत्वविशिष्ट अपत्य अर्थ में लोमन् से अकार प्रत्यय होता है यह अकार प्रत्यय ईज् का वाचक है । बहुवचन में उडुलोम्नो बहुत्वविशिष्टानि अपत्यानि—उडुलोमा । अकार प्रत्यय एवं टिलोप है । उडुलोमान् । एकवचन में औडुलोमिः, औडुलोमी द्विवचन में रूप है वहाँ ईज् प्रत्यय है । अजादि प्रत्यय की प्रसक्ति में गो शब्द से अपत्यादि अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । गन्यम् । जहाँ इकादि प्रत्यय की प्रसक्ति है । यथा गोरूप्यम् । गोमयम् ।

१०८० उत्सादिभ्योऽम् ४।१।८६।

औत्सः । ऋअग्निकलिभ्यां ढक् वक्तव्यः । अग्नेरपत्यादि—आग्नेयम् । कालेयम् ।

इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणाः प्रत्ययाः ।

सुबन्त उत्सादि शब्द से अपत्यादि अर्थ में अज् प्रत्यय होता है ।

उत्सस्य अपत्यादि औत्सः । अग्नि एवं कलि से ढक् प्रत्यय होता है ।

यथा अग्नेरपत्यादि आग्नेयम् । कालेयम् ।

पं० श्रीवा० कृ० पं० वि० रत्नप्रभा में अपत्यादि विकारान्तार्थ साधारण-
 प्रत्ययप्रकरणसमाप्त



अथापत्याधिकारप्रकरणम् ॥ २६ ॥

१०८१ स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४।१।८७।

धान्यानां भवन इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमान्नञ् स्नञौ स्तः ।
स्त्रेणः । पौस्नः । वत्यर्थे न, स्त्रीपुंवच्चेति ज्ञापनात् । स्त्रीवत् । पुंवत् ।

धान्यानां भवने सूत्र के पूर्व जो अर्थ निर्दिष्ट है उन अर्थों में स्त्रीशब्द से नञ् एवं पुंस् शब्द स्नञ् प्रत्यय होता है । स्त्रियः अपत्यादि स्त्रेणः स्त्री नञ् वृद्धि णत्व । पुंसः अपत्यादि पौस्नः यहाँ संयोगादि सकार का लोप है । 'स्त्रीपुंवत्' निर्देश से वत्यर्थ = सादृश्य अर्थ में नञ् एवं स्नञ् प्रत्यय स्त्री एवं पुंस् से नहीं होते हैं । स्त्रिया तुल्यम् स्त्रीवत् । पुंसा तुल्यम् = पुंवत् ।

१०८२ द्विगोर्लुगनपत्ये ४।१।८८।

द्विगो निमित्तं यस्तद्धितोऽजादिरनपत्यार्थः प्राग्दीव्यतीयस्तस्य लुक् स्यात् ।
पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः पञ्चकपालः । द्विगो निमित्तस्य किम्, पञ्च-
कपालस्येदं खण्डं पाञ्चकपालकम् । अजादिः किम्

पञ्चगर्गरूप्यम् । अनपत्ये किम्, द्वयोर्मित्रयोरपत्यं द्वैमित्रिः ।

द्विगु समास का निमित्त जो तद्धित प्रत्यय वद् यदि अजादि एवं अनपत्यार्थक है तो प्राग्-
दीव्यतीय तद्धित प्रत्यय का लुक् होता है । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः यहाँ तद्धितार्थ
विषय में समास, विभक्तिलुक्, संस्कृतार्थ अण् उसका इससे लुक् होकर पञ्चकपालः पुरोडाशः
यद् सिद्ध हुआ । जो तद्धित प्रत्यय द्विगु समास में निमित्त नहीं है उसका लुक् नहीं होता है ।
यथा पञ्चानां कपालानां समाहारः पञ्चकपालम् तस्य इदं पाञ्चकपालम् यहाँ 'तस्येदम्' सूत्रविहित
इदम् अर्थ में अण् द्विगु का अनिमित्त है लुक् न हुआ । पञ्चगर्गरूप्यम् में रूप्यप् प्रत्यय द्विगु
समास का निमित्त है किन्तु अजादि नहीं अतः लुक् न हुआ । द्वैमित्रिः में इञ् द्विगु का निमित्त है,
अजादि है किन्तु अपत्यार्थक है अतः लुक् न हुआ ।

१०८३ गोत्रेऽलुगचि ४।१।८९।

अजादौ प्राग्दीव्यतीये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययस्यालुक् स्यात् । गर्गाणां
छात्राः । वृद्धाच्छः ।

अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय विवक्षित होनेपर गोत्र प्रत्यय का अलुक् होता है गर्गस्य
गोत्रापत्यानि पुंसासः यहाँ गार्ग्याः न होकर गर्गाः होता है 'यञ्जोश्च' से यञ् प्रत्यय का लुक्
होता है—गर्गाः रूप हुआ । किन्तु अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय यहाँ छप्रत्यय वृद्धसंज्ञानिमित्तक
क्रियमाण है अतः 'यञ्जोश्च' से लुक् न हुआ गार्ग्य से छप्रत्यय उसको ईयादेश कर गार्ग्य ईय
यहाँ वक्ष्यमाण सूत्र लगता है—

१०८४ आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ६।१।१५१।

हलः परस्यापत्ययकारस्य लोपः स्यात् तद्धिते परे न त्वाकारे । गार्गीयाः ।

प्राग्दीव्यतीये किम्, गर्गभ्यो हित गर्गीयम् । अचि किम्, गर्गभ्य आगत गर्गरूप्यम् ।

तदित प्रत्यय पर रहते इल् से पर अपत्यार्थक प्रत्यय के यकार का लोप होता है । गार्ग्य ईय यकार का लोप गर्गीया । गार्ग्य से द्वितार्थक प्रत्यय छ विवक्षित होतो वह प्राग्दीव्यतीय नहीं अतः 'यन्प्रोश्च' से छक होकर गर्ग से द्वितार्थक छप्रत्यय है, गार्ग्य से नहीं वही गर्गीयम् । प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय रूप्यप् विवक्षित होतो यन् अपकर गर्ग से ही रूप्यप् से गर्गरूप्यम् ।

१०८५ यूनि लुक् ४।१।९०।

प्राग्दीव्यतीये अजादौ प्रत्यये विवक्षिते युवप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । ग्लुचुक-स्य गोत्रापत्यं ग्लुचुकायनि । वक्ष्यमाणं फिन् । ततो यून्यण्, ग्लौचुकायन । तस्य छात्रोऽपि ग्लौचुकायन । अणा लुकि वृद्धत्वाभावाच्छो न ।

अजादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय विवक्षित होतो युवार्थक प्रत्यय का लुक् होता है । पठ्यन्त ग्लुचुक शब्द से गोत्रापत्य अर्थ में 'प्राचामवृद्धाय फिन् बहुलम्' से फिन् प्रत्यय ई यकार को आयन् अकार लोप से ग्लुचुकायनि ।

उससे युवापत्य अर्थ में अण् प्रत्यय स आदि वृद्धि इकार का लोप ग्लौचुकायन, इससे छात्र अर्थ में प्रत्यय अजादि विवक्षित है अतः युवापत्य अण् का लुक् वृद्धा तन्निमित्त वृद्धि का भी निवृत्ति से ग्लुचुकायनि से अण् प्रत्यय है । वही आदि अन् अकार है अतः वृद्धसंज्ञा न हुई । जिससे छप्रत्यय अण् का बाधक न हुआ । युवापत्य में जो रूप वही छात्र अर्थ में भी रूप है—वह यह है—ग्लौचुकायन । अर्थ—ग्लुचुक के गोत्रापत्य के जो युवापत्य या उसका छात्र ।

१०८६ पैलादिभ्यश्च २।५।५९।

पद्भ्यो युवप्रत्ययस्य लुक् । पीलाया वेत्यण् । तस्मादणो द्व्यच इति फिन्, तस्य लुक् । पैलः पिता पुत्रश्च । छतदूराजाच्चाण छ । द्व्यचन्मगधेत्यणन्तादाह्न-शब्दादणो द्व्यच इति फिन् लुक् । आह्नः पिता, पुत्रश्च ।

पैलादि शब्द के उत्तर युवप्रत्यय का लुक् होता है । पीलाया गोत्रापत्यम् अर्थ में अण् से पैलः तस्य युवापत्यम् में फिन् प्रत्यय उस फिन् का इससे लुक् । पिता एव पुत्र दोनों में 'पैल' रूप हुआ । यह सूत्र न करते तो पुत्र में 'पैलायनि' हो जाता । द्व्यचन्मगध सूत्र से अण् प्रत्ययान्त आह्नशब्द से युवापत्य में विहित अणो द्व्यच' से फिन् उसका लुक् होता है । अह्नस्य गोत्रापत्यम् आह्नः तस्य युवापत्यम्—आह्नः, न आह्नयनि ।

१०८७ इजः प्राचाम् २।४।६०।

गोत्रे य इज तदन्ताद् युवप्रत्ययस्य लुक् स्यात् तच्चेद्गोत्रं प्राचा भवति । पन्नागारस्यापत्यम्, अतः इज्, यान्वोश्चेति फक्, पान्नागारि-पिता, पुत्रश्च । प्राचा किम्, दाक्षिः पिता, दाक्षायणः पुत्रः ।

गोत्र अर्थ में विहित जो इज प्रत्यय तदन्त से युवप्रत्यय का लुक् होता है । वह गोत्र प्राचीनों का हो तो, अन्यथा नहीं । पन्नागारस्य अपत्यम् इस अर्थ में इज प्रत्यय कट फक् युवार्थक का लुक्, पिता पुत्र में एक ही रूप पान्नागारिः । न तु पान्नागारायणः । प्राचीन गोत्र न होने से पिता अर्थ में दाक्षि, एव पुत्र अर्थ में दाक्षायणः ।

१०८८ न तौत्वलिभ्यः २।४।६१।

तौत्वल्यादिभ्यः परस्य युवप्रत्ययस्य लुक् न स्यात् । पूर्वेण प्राप्तः । तुत्वलः । तत् इवि फक्, तौल्वालः पिता, तौत्वलायनः पुत्रः ।

तौत्वल्यादि शब्द से पर युवप्रत्यय का लुक् नहीं होता है । पूर्वसूत्र से प्राप्त लुक् का यह निषेधक है । सुबन्त तुत्वल से इन् गोत्रार्थक करके उससे युवार्थक फक् कर पिता एवं पुत्र में पृथक् रूप हुए ।

१०८९ फक्फिओरन्यतरस्याम् ४।१।९१।

यूनि लुगिति नित्ये लुकि प्राप्ते विकल्पार्थं सूत्रम् । कात्यायनस्य च्छात्राः कातीयाः । कात्यायनीयाः । यस्कस्यापत्यं यास्कः, शिवाद्यण् । तस्य युवापत्यं यास्कायनिः । अणो द्वयच इति फिञ् तस्य च्छात्रा यास्कीयाः । याम्कायनीयाः ।

फक् एवं फिञ् प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है । यूनि लुक् से नित्य प्राप्त लुक् का यह अपवाद है । कत का गोत्रापत्य अर्थ में गर्गादित्व प्रयुक्त यञ्, कात्यः, उससे 'यञ्नीश्च' से फक् कात्यायनः तस्य च्छात्राः अर्थ में 'वृद्धाच्छः' से छप्रत्यय, पूर्व जान फक् का लुक् विकल्प से कातीयाः, कात्यायनीयाः । यस्क के गोत्रापत्य अर्थ में शिवादि के कारण अण् उसके युवापत्यरूप अर्थ में फिञ् उसका विकल्प से लुक् छात्र अर्थ में छप्रत्यय यास्कीयाः । लुक् अभाव में याम्कायनीयाः ।

१०९० तस्यापत्यम् ४।१।९२।

पष्ठयन्तान् कृतसन्धेः समर्थोपपत्येऽर्थ उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः । उपगोरपत्यम् आपगवः । आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धौ बाधते ।

तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतं भवेत् ।

उत्सर्ग शेष एवार्सां घृष्टान्यस्य प्रयोजनम् ॥ १ ॥

योगविभागस्तु भानोरपत्यं भानवः । कृतसन्धेः किम्, सौत्थितिः । अकृत-व्यूहपरिभाषया सावुन्थितिर्मा भूदिति । समर्थपरिभाषया नेह—वन्त्रमुपगोरपत्यं चैत्रस्य । प्रथमात् किम्, अपत्यवाचकात् पष्ठ्यर्थे मा भूदिति । चाग्रहणाद् वाक्यमपि, देवयज्ञीति सूत्रादन्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेः समासोऽपि । उपग-पत्यम् । जातित्वाल्होप् । आपगवो । आश्वपनः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रेणः । पौस्तः ।

कृत है सन्धि कार्य जिससे ऐसे पष्ठयन्त समर्थ प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में कथित एवं कहे जाने वाले प्रत्यय विकल्प से होते हैं । उपगु असु अपत्य में अणु तद्धितान्तत्व के कारण प्रातिपदिक संज्ञा, विसक्ति लुक्, आदि वृद्धिः, ओर्गुणः सेगुण, अवादेश-औपगवः । यद्वा उपगताः गावो यस्य इन्द्रोहि ममासत्तर 'गोः न्नियोंः' से इत्त्व से उपगु वी सिद्धि हुई है । अणु के बाद आदि वृद्धि प्राप्त थी, एवं 'अवो णिति' से अन्त्य वृद्धि प्राप्त थी, एवं जगत् आगतः 'जागतः' यद्वा आदि वृद्धि एवं 'अन उपधायाः' से उपधावृद्धि प्राप्त थी, किन्तु पर आदि वृद्धि अन्त्य वृद्धि एवं उपधा वृद्धि को

वाच्य करती है। आदि वृद्धि के करने के उत्तर अन्त्य या उपधा वृद्धि नहीं होती है, 'सकृद्गतौ' न्याय से जो एक बार बाधित है, वह बाधित ही रहता है।

अनुश्रुतिकादिगण में परस्त्री एवं पुष्करसद् का पाठ समयपद के आदि अन्त की वृद्धि के लिए पड़ा है उससे भी ज्ञापन होता है कि आदि वृद्धि वह अन्त्य वृद्धि एवं उपधा वृद्धि की बाधिका है, माध्यानुपूर्वी इस प्रकार है—यदयम् अनुश्रुतिकादी पुष्करसद्ग्रहणं करोति (पठति) ... तज्ज्ञापयति आचार्य आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धौ बाधत इति। अतः यद्वा कस्यानुसारी व्याख्यान, एवं परन्वात्, माध्यप्रामाण्य से 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्' न्याय को अप्रवृत्ति है। 'येन नामाप्ते यो विधिरारम्भते स तस्य बाधको भवति' इस न्याय से यहाँ माध्यबाधकभाव है।

वस्तुतः आदि वृद्धि 'सौश्रुतः' यद्वा सावकाश है। क्योंकि वद्वा आदि वृद्धि को केवल प्राप्ति है। अन्त्य या उपधा समय वृद्धि की अप्राप्ति है। अतः निरवकाशकक्षण बाधकत्व कथन युक्त नहीं है। अतः अनुश्रुतिकादि में 'परस्त्री' 'पुष्कर सद् शब्द' का पाठ ही आदि वृद्धि को प्राप्तत्व बोधन करता है यही कथन उचित है।

यदि अर्थ निर्देश एवं वृद्धयन्त से प्रत्यय विधानार्थ उत्तरत्र इस 'तत्त्वापत्त्यम्' की आवश्यकता है तो तत्त्वापत्त्यमत इम् देसा न्यास करते, औपपन्न्य में इदन्त्वेन अपत्य अर्थ का ज्ञान कर 'तत्त्वेदम्' से ही अण् प्रत्यय होता, पुन योगविभाग से प्रत्ययविधानार्थ 'तत्त्वापत्त्यम्' सूत्र क्यों किया ? उत्तर—'तत्त्वेदम्' का बाधक जो 'वृद्धाच्छ' है, उसको बाधकर अण् प्रत्यय विधानार्थ यह योग-विभाग है। यथा मानो, अपत्यम् यहाँ छप्रत्यय को बाधकर अण् से 'मानवः' प्रयोग की सिद्धि हुई।

पुनः शब्दा—'वृद्धाच्छ' सूत्र तो शेषाधिकारीय है वहाँ शेष पद से १-अपत्य, २-देश, ३-निवास, ४-निर्गुण ५-अदूरभव इन अर्थों से भिन्न अर्थ शेष पद से गृहीत है। अतः मानवः में छप्रत्यय की अपत्यार्थ में अप्राप्ति है, 'तत्त्वापत्त्यम्' योगविभाग अर्थात् क्यों किया ? उत्तर—अन इम् में अपत्य सम्बन्ध से अदन्त शब्द सम्बद्ध अपत्यरूप अर्थ उत्पन्न होने पर भी इकारान्त शब्द सम्बद्ध एवं इकारान्त शब्दयुक्त अपत्य रूप अर्थ अनुक्त से शेष ही है। मानवीयः न हो 'मानवः' हो जाय अतः अण् विधानार्थ 'तत्त्वापत्त्यम्' इस योग की आवश्यकता है। इस से सारांश यह हुआ कि वृद्धसंज्ञकप्रातिपदिक से छप्रत्यय बाधपूर्वक अर्थ इसकी आवश्यकता है। योगविभाग व्यर्थ नहीं है। किन्तु अपत्यरदेन अपत्यार्थ बोध हो एतदर्थ औपपन्न्य आदि के लिए भी सूत्र की आवश्यकता है जिस अर्थ में मैं जिस प्रत्यय का विधान है उस का वह अर्थ है। अपत्य अर्थ में वह सूत्र अर्थ है।

समर्थ का अर्थ कृतसम्भिकार्य कह चुके हैं अतः छ उचित अस् इम् यहाँ अन्तरङ्गदीर्घ को बाधकर वृद्धि से तो आवादेश 'सात्तुत्पितिः' न हो जाय एतदर्थ सन्धिकार्यकर सूचित से प्रत्यय से सौत्पितिः। अकृतव्यूह परिमाण से अन्तरङ्ग दीर्घ न होकर सात्तुत्पितिः न हो एतदर्थ समर्थ ग्रहण है। जहाँ परस्परान्वय रूप सामर्थ्य नहीं है, वहाँ अणादि प्रत्यय नहीं होते हैं, किन्तु वहाँ वाक्य हो रहता है यथा—वस्त्रमुपगो, अपत्य चेतस्य। यद्वा उपगु पदार्थ का अन्वय वस्त्रार्थ से है, अपत्यार्थ से नहीं है, अतएव चेतस्य का चेत्यपदार्थ के साथ अन्वय है। अतः असामर्थ्य प्रयुक्त वाक्य ही रहा।

यद्वा 'समर्थानां प्रथमाद् वा' से प्रथमाद् का सम्बन्ध से प्रत्ययविधायक सूत्रों में प्रथमोच्चरित से = यथा तस्य = वृद्धयन्त से अपत्य में प्रत्यय होते हैं। यहाँ प्रथमाद् का अधिकार न करते तो 'उपगुः अपत्यम् धरय' इस अर्थ में उपगु के पिता अर्थ में प्रत्यय होता, ऐसा न हो एतदर्थ प्रथमाद् आवश्यक है। 'वा' का भी अधिकार से यहाँ उपगोरपत्यम् देसा वाक्य भी रहता है।

यहां 'अन्यतरस्यान्' की अनुवृत्ति है व एकार्धीभाव रूप सामर्थ्य में तद्धितप्रत्यय के अभाव में भी वह सामर्थ्य स्थित होने के कारण समास से 'उपग्वपत्यन्' समस्त रूप भी है। 'गोत्रश्च चरणैः सह' से जाति होने से खोलिङ्ग में 'जातिरस्त्री' से लोप् प्रत्यय अकारलोप से औपगवी।

अश्वपतेः अपत्यम् में अश्वपत्यादिभ्यश्च से अण् आश्वपतः। दिते आपत्यन् दैत्यः। उरस्यापत्यन् औत्सः। पुंसः अपग्यम् पौंसनः। स्त्रियाः अपर्यं स्त्रैणः।

१०९१ अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४।१।१६२।

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात्।

आपत्यत्वेन विवक्षित पौत्र एवं प्रपौत्र आदि की गोत्र संज्ञा होती है।

१०९२ जीवति तु वंशे युवा ४।१।१६३।

वंशे पित्रादौ जीवति पौत्रादे चदिपत्यं चतुर्थादि तद्युवसंज्ञमेव, न गोत्र-संज्ञम्।

वंश में पिता आदि जीवित रहते पौत्र का जो अपत्य चतुर्थप्रपौत्र आदि की युवसंज्ञा ही होती है। गोत्रसंज्ञा नहीं होती है।

१०९३ भ्रातरि च ज्यायसि ४।१।१६४।

ज्येष्ठे भ्रातरि जीवति कनीयाम् चतुर्थादि युवा स्यात्।

ज्येष्ठ भ्राता के जीवित रहते चतुर्थादि कनिष्ठ की (कनिष्ठ पौत्रादि के अपत्य की) युव संज्ञा होती है।

१०९४ त्राऽन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति ४।१।१६५।

भ्रातुरन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति पौत्रप्रभृतेरपत्यं जीवदेव युव-संज्ञं वा स्यात्। एकं जीवतिग्रहणमपत्यस्य विशेषणम्, द्वितीयं सपिण्डस्य। तरव्निर्देशरुभयोस्तुत्कर्षार्थः। स्थानेन वयसा वा चोत्कृष्टे पितृव्ये मातामहे भ्रातरि वा जीवति। गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः, गार्ग्यो वा। स्थविरेति किम्, स्थानवयोन्यूने गार्ग्य एव। 'जीवति' इति किम्, मृते मृतो वा गार्ग्य एव। ऋषद्वयस्य च पूजायामिति वक्तव्यम्, गोत्रस्यैव वृद्धसंज्ञा प्राचाम्। गोत्रस्य युवसंज्ञा पूजायां गम्यमानायाम्। तत्रभवान् गार्ग्यायणः। पूजेति किम्, गार्ग्यः। ऋषयून्श्च कुत्सायां गोत्रसंज्ञेति वाच्यम् ऋषि। गार्ग्यो जालम्। कुत्सेति किम्, गार्ग्यायणः।

भ्राता से भिन्न अन्यस्थविरतर जीवित हो पौत्रादि के जीवित अपत्य की विकल्प से युव संज्ञा होती है। प्रथम जीवति अपत्य का विशेषण है। द्वितीय सपिण्डका। दोनों के उक्तार्थ तरप् निर्देश है। स्थान एवं वयः क्रम से उत्कृष्ट, पितृव्य मातामह भ्राता जीवित रहे तो पौत्रादि के अपत्य की युव संज्ञा विकल्प से होती है। गर्गस्य गोत्रापर्यं गार्ग्यः तस्य युवापर्यं गार्ग्यः। गार्ग्यायणः। सूत्र में स्थविरतर कहने से स्थान (पद) एवं वय की न्यूनता में गार्ग्य ही होता है। स्थविरत्सपिण्ड का मृत्यु होने पर या अपत्यमृत होने पर युवसंज्ञा नहीं गार्ग्य ही रहता है।

पूजा अर्थ होने पर बृद्धकी गोत्र सञ्ज्ञा होती, प्राचीनमत में गोत्र की बृद्ध सञ्ज्ञा होती है। पूज्य अर्थ होने पर गोत्र की युव सञ्ज्ञा होती है जैसे तत्रमवान् गार्ग्य हो गार्ग्यायण है।

निन्दा अर्थ में युव की गोत्र सञ्ज्ञा होती है। असमीक्ष्यकारी गार्ग्यः। गार्ग्यायण होना चाहता था किन्तु निन्दा में गार्ग्य का ही प्रयोग हुआ। बड़ा निन्दा गम्यमान नहीं बड़ा गम्यायण होता ही है।

१०९५ एको गोत्रे ४।१।९३।

गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात्। उपगो गोत्रापत्यम्—औपगयः। गार्ग्यः। नाडायनः।

गोत्रेस्वैकोनसख्यानां प्रत्ययानां परम्परा।

यद्वा स्वद्व्यूनसख्येभ्योऽनिष्टोत्पत्तिः प्रसज्यते ॥ १ ॥

अपत्य पितुरेव स्यात् ततः प्राचामपीति च।

मतभेदेन तद्वचान्यै सूत्रमेतत्तथोत्तरम् ॥ २ ॥

पितुरेवापत्यमिति पक्षे हि उपगोस्त्वृतीये वाक्ये औपगवादिभ्यः स्यात्। चतुर्थे त्वजीवज्येष्टे मृतवश्ये औपगवेः फक्। इत्थं फगिभ्योः परम्पराया मूलाच्छततमे गोत्रे एकोनशत प्रत्ययाः, स्युः। 'पितामहादीनामपि' इति मुख्यपक्षे तु तृतीये वाक्ये उपगोरणा इष्टे सिद्धेऽपि अण्णन्तादिभ्यपि स्यात्। चतुर्थे फगिति फगिभ्योः परम्परायां मूलाच्छतततमे गोत्रेऽष्टनवतिरनिष्टप्रत्ययाः स्युः। अतो नियमार्थमिदं सूत्रम्। एवमुत्तरसूत्रेऽप्युक्तम्।

सूत्रार्थ—गोत्र में एक ही अपत्य प्रत्यय होता है, वह सूत्र नियमार्थ है, नियम से अन्य प्राप्त प्रत्ययों की व्यावृत्ति हुई है।

'गोत्रे' में जातिगत एकत्व विवक्षा है एकवचन है। एक शब्द संख्यावाची है। गोत्र कहने की इच्छा विद्यमान है तो अपत्य कोपक प्रत्यय एक ही होता है अर्थात् गोत्रापत्य में प्रथम ही शब्द प्रत्यय को प्राप्त करना है, अन्य नहीं। यदि अनन्तर अपत्य प्रत्ययान्त से भी प्रत्यय होता तो गोत्रापत्य से एक ही प्रत्यय विधान आनार्थ न करते। इस से 'अपत्य प्रत्ययान्तात् प्रतिषेध' यह वार्तिक गतार्थ है अपूर्व नहीं है।

उपगो गोत्रापत्यम् = औपगय। गार्ग्यस्य गोत्रापत्यम्—गार्ग्यः। नडस्य गोत्रापत्यम् = नाडायनः। सूत्र का प्रयोजन निर्दिष्ट करते हैं—यदि यह सूत्र न दिया गया होता तो गोत्र की अपेक्षा से एक न्यून सख्या के प्रत्ययों की परम्परा प्रसक्त होती। अर्थात् तृतीय गोत्रापत्य वाक्य में दो प्रत्यय होते, चतुर्थ गोत्रापत्य वाक्य में तीन प्रत्यय इस प्रकार मूल पुरुष में दत्त सख्या के अपत्य कहने पर निन्दानवे प्रत्ययों की परम्परा होती, वह इष्ट नहीं है।

साक्षात् अनन्तर अपत्य है वह पक्ष अशुभ्य है अर्थात् सिद्धान्त पक्ष नहीं है। पितामहादि का भी पौत्र अपत्य है, उस मुख्यपक्ष में औपगवादि से आगत अणादि से तृतीयगोत्रापत्य का अविधान होता ही है तो मूल पुरुष में दत्त सख्याक गोत्रापत्य में ९८ अनिष्ट प्रत्ययमाला की

प्रसक्ति होती। इसकी निवृत्ति 'एको गोत्रे' का प्रयोजन है। अतः अण् इञ् फक् अण् यद् प्रत्यय माला न हुई। अपतन हेतु को अपत्य कहते हैं। पिता, पितामह, प्रपितामह आदि के नरकादि पतन जिसके द्वारा श्राद्धादि कर्मानुष्ठान से न हो, यही अपत्यार्थः। कोपकार आत्मजमात्र को अपत्य कहते हैं। एतावता मतभेद अपत्यविषयक है किन्तु मुख्यपक्ष कोशप्रदर्शित नहीं है। "यन्निमित्तं यस्य अपतनं तत्तस्यापत्यम्" यही अपत्यार्थ मुख्य है।

इसी प्रकार 'गोत्रापून्यस्त्रियाम्' सूत्र में भी ज्ञान करना चाहिए। अर्थात् गोत्र प्रत्यय के बाद युवापत्य तद् अपत्य युवा प्रत्ययान्त से पुनः युवा प्रत्यय मूल से शतसंख्यक युर्वरभिधान में ९९ या ९८ अनिष्ट प्रत्ययों को प्रसक्ति निवारणार्थ युवार्थक एक ही गोत्र प्रत्ययान्त से प्रत्यय होता है। अनेक नहीं।

१०९६ गोत्रापून्यस्त्रियाम् ४।१।९४।

यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेवापत्यप्रत्ययः स्यात् स्त्रियां तु न युवसंज्ञा।
गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः। स्त्रियान्तु गोत्रत्वदेक एव प्रत्ययः।

प्रथम गोत्र संज्ञक प्रत्यय करके गोत्र प्रत्ययान्त से ही युवार्थक प्रत्यय होता है। मूल प्रकृति से साक्षात् युवार्थक प्रत्यय नहीं होता है, युवार्थक प्रत्यय स्वोत्पत्ति में गोत्र प्रत्यय के अधीन है। इस सूत्र में 'अस्त्रियाम्' यह योगविभाग है, इसमें युवा का सम्बन्धकर नञ् का निषेध परक से यह अर्थ हुआ—'स्त्रीलिङ्ग में युवसंज्ञा नहीं होती है। वहां गोत्र संज्ञा के कारण एक ही प्रत्यय होता है। गर्ग के युवापत्य में प्रथम गर्गादित्व से यञ् प्रत्यय से गार्ग्य एवं गार्ग्य से युवार्थक फक् प्रत्यय आयन् आदेश से 'गार्ग्यायणः' हुआ।

१०९७ अत इञ् ४।१।९५।

अदन्तं यत्प्रातिपदिकं तत्प्रकृतिकात् पृथ्यन्तादिञ् स्यादपत्येऽर्थे। दाक्षिः।

पृथ्यन्त उच्चाकारान्त प्रातिपादक से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है। दक्षस्यापत्यन् इस अर्थ में 'दक्ष अस् इञ्, विमक्ति लुक्, आदिवृद्धि, मसंज्ञा, अकार का लोप, समुदाय से दाक्षि विमक्तिः से विमक्ति सकारका इत्त्व विसर्ग से दाक्षिः।

१०९८ बाह्यादिभ्यश्च ४।१।९६।

बाह्विः। औडुलोमिः। आकृतिगणोऽयम्।

पृथ्यन्त बाहु आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है। बाहु शब्द संज्ञा वाचक है उससे इञ् प्रत्यय आदि वृद्धि 'और्धुणः' से गुण अवादेश बाह्विः। यहाँ माधव ने 'सौदाह्विः' उदाहरण तदन्त विधि से दिया है वह असङ्गत है। योगिक बाहु का अपत्यार्थ के साथ योग नहीं किन्तु संज्ञा भूत का योग है। उडुलोमन्ः अपत्यं पुमान् औडुलोमिः। 'नस्तद्धिते' से अन् का लोप है। यह आकृतिगण है।

१०९९ सुधातुरकड् च ४।१।९७।

चादिञ्। सुधातुरपत्यं सौधातकिः। क्षब्ध्यासवरुडनिपादचाण्डालालबिम्बानां चेति वक्तव्यम्।

अपत्य अर्थ में षष्ठ्यन्त शब्दात् शब्द से इन प्रत्यय होता है एवं अकच् आदेश होता है ।
सीषानकि ।

व्यास, वरह, निषाद, जण्डाक, विम्ब इन शब्दन्त शब्दों से इप्प्रत्यय एवं इनको अकच् आदेश होता है ।

११०० न याम्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताम्यामैच् ७।३।३।

पदान्ताभ्या यकारवकाराभ्या परस्य न वृद्धि किन्तु ताभ्या पूर्वौ क्रमादै-
वावागमौ स्त । वैयासिकि । वारुडकिरित्यादि ।

यह के अन्त में स्थित यकार एवं वकार से पर स्वर वर्ण की वृद्धि नहीं होती है किन्तु यकार
एवं वकार के पूर्व में क्रम से ये औ आगम होते हैं । यथा व्यासस्य अपत्यम् यहाँ व्यास अकच्
इम् वैयामकि । वेदान् व्यस्तार्त्त = व्यास कर्म में अण्प्रत्यय है वि अच् अण् उपधावृद्धि यण्
व्यास । यहाँ वेदव्यास में पूर्वपद का जोष है, देव, दत्त, सरथा, आमा की तरह, 'विनाजपि प्रत्यये'
से । वरह अकच् इम् वारुडकि ।

११०१ गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्चफल् ४।१।९।८।

गोत्र में षष्ठ्यन्त कुञ्जादि शब्दों से अफल् होता है । यह इम् का वाचक है ।
प्रत्यय में यकार, नकार इत्सङ्ग है । अन्तोदात्तार्थं यकार है । नकार वृद्धि के लिए है
फ को आयन् होता है ।

११०२ ज्ञातृचफलोस्त्रियाम् ५।३।११३।

ज्ञातृवाचिभ्यश्चफल् अन्तेभ्यश्च स्वार्थे ङ्य स्यान्न तु स्त्रियाम् । कौञ्जायन्य ।
बहुत्वे तदूरानत्यान्तुगु वक्ष्यते । प्राध्यायन्य । स्त्रिया कौञ्जायनी । गोत्रत्वेन
जातित्वाङ्गीप् । अनन्तरापत्ये कौञ्जि ।

अपत्ययान्त ज्ञातृवाचि शब्दों से पर स्वार्थ में ङ्य प्रत्यय होता है, किन्तु कौञ्जि में नहीं ।
कुञ्जस्य गोत्रापत्यन् इत् विग्रह में कौञ्जायन्य । गोत्रापत्यकृतबहुत्वे विवक्षित होने पर 'तदूरानत्यान्तुगु'
से लुक् । इस गग सूत्र को आगे कहेमें । ज्ञप्रस्थापत्यम् इत् विग्रह में प्राध्यायन्य । स्वाधिक 'ङ्य'
कौञ्जि में नहीं यथा कौञ्जायनी यहाँ 'गोत्रज चरणे' से जातित्व तन्निमित्तक जीव है । अनन्तर
अपत्य में कौञ्जि ।

११०३ नडादिभ्यः फल् ४।१।९।९।

गोत्र इत्येव । नाढायण । अनन्तरो नाढि ।

षष्ठ्यन्त नडादि शब्दों से गोत्रापत्य में फल् होता है । नडस्य गोत्रापत्यन् इत् विग्रह में
नाढायण । चरस्य गोत्रापत्यम् — चारायण । नड का पुत्र अर्थ में अतइन् से इत् प्रत्यय से नाढि ।

११०४ हरितादिभ्योऽजः ४।१।११०।

एभ्योऽनन्तेभ्यो शूनि फल् । हारितायन । इह गोत्राधिकारेऽपि सामर्थ्याद्
यून्ययम् । न हि गोत्राङ्गपरो गोत्रप्रत्यय । बिदाद्यन्तर्गणो हरितादि ।

अन प्रत्ययान्त हरितादि से पर सुवार्थक फल् प्रत्यय होता है । हरितस्य सुवार्थयन् इत्
विग्रह में हारितायन । यहाँ गोत्रका अधिकार है अन फल् गोत्र में होना चाहिये, किन्तु गोत्रार्थक

विदादित्व से अच् प्रत्यय हो चुका है अतः गोत्र में एक ही अपत्य प्रत्यय होता है । इत्त सूत्रारम्भ सामर्थ्य से युवा अर्थ में ही फक् हुआ । विदादिगण का अन्तर्गण हरितादि है ।

११०५ यजिजोश्च ४।१।१०१।

गोत्रे यां यजिजो तदन्तात् फक् स्यात् । अनातीत्युक्तेरापत्यस्येति यलोपो न ।
गार्ग्यायणः । दाक्षायणः ।

गोत्र अर्थ में विहित नो यच् एवं इच् तदन्त से फक् होता है । 'आपत्यस्य' सूत्र यकार का लोप आकार पर रहते नहीं करता है । अतः यहाँ यकार का लोप न हुआ । यथा गार्गस्य गोत्रापत्यम् गार्ग्यः तस्य युवापत्यम्-गार्ग्यायणः यहाँ आकार परक यकारका लोप न हुआ । दाक्षयापत्यम्-दाक्षिः तस्य युवापत्यम्-दाक्षायणः ।

११०६ शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु ४।१।११२।

गोत्रे फक् । अश्विनोरपवादः । आद्यौ विदादी । शारद्वत्तायनो भार्गवश्चेत् ।
शारद्वतोऽन्यः । शौनकायनो वात्स्यश्चेत् । शौनकोऽन्यः । दार्भायण आग्राय-
णश्चेत् । दार्भिरन्यः ।

गोत्रार्थ में मार्गवार्थ होने पर पष्ठ्यन्त शरद्वत् से पर, वात्स्य अर्थ में शुनक से पर, आग्रायण अर्थ में दर्भ से पर फक् प्रत्यय होता है । यह फक् अच् एवं इच् इनका बाधक है । शरद्वत् एवं शुनक इनका विदादिगण में पाठ है अतः अच् प्राप्त था । दर्भ से 'अत इच्' से इच् प्राप्त था उसका इस फक् ने निषेध किया । शारद्वत्तायनः = मार्गवः । अन्यत्र अच् से शारद्वत्तः । शौनकायनः = वात्स्यः, अन्यत्र अच् से शौनकः । दार्भायणः = आग्रहायणः । अन्यत्र इच् से दार्भिः ।

११०७ द्रोणपर्वतजीवन्तादन्यतरस्याम् ४।१।११३।

एभ्यो गोत्रे फक् वा । द्रौणायनः । द्रौणिः । पार्वतायनः । पार्वतिः । जैव-
न्तायनः । जैवन्तिः । अनादिरिह द्रोणः । अश्वन्थाम्न्यनन्तरे तूपचारात् ।

गोत्रार्थ में पष्ठ्यन्त, द्रोण, पर्वत, जीवन्त से फक् प्रत्यय विकल्प से होता है । यह इच् का बाधक है । द्रौणायनः । पक्ष में अत इच् से इच् द्रोणिः । पार्वतायनः पक्ष में इच् पार्वतिः । जैवन्तायनः पक्ष में इच् जैवन्तिः । इस सूत्र में द्रोण अनादि है सादि नहीं । महाभारत में प्रसिद्ध द्रोण सादि है । अश्वथामा रूप अनन्तरापत्य में द्रोणायनः पद का प्रयोग जो हुआ है वह लाक्षणिक है ।

११०८ अनुण्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् ४।१।११४।

एभ्योऽञ् गोत्रे ये त्वत्रानृपयस्तेभ्य आनन्तर्ये । सूत्रे स्वार्थं प्यञ् । विद-
स्य गोत्रापत्यं वैदः । अनन्तरो वैदिः । बाह्यादेराकृतिगणत्वादिञ् । पुत्रस्याप-
त्यं पौत्रः । दौहित्रः ।

ऋषिवाचक जो विदादिशब्द उनसे गोत्रापत्य अर्थ में अच् प्रत्यय होता है, किन्तु ऋषि वाचक भिन्न जो दादिदि शब्द उनसे अनन्तरापत्य में अच् प्रत्यय होता है । सूत्र में अनन्तरे कहना था किन्तु स्वार्थं = प्रकृत्यर्थ में प्यञ् प्रत्यय किया है । विदस्य गोत्रापत्यम् इस विग्रह में वैदः । अनन्तरापत्य में वैदिः । बाह्वादि आकृतिगण है अतः यहाँ वससे इच् प्रत्यय हुआ है । पुत्रस्य अपत्यम् अर्थ में अच् पौत्रः । दूहितुरपत्यम् विग्रह में दौहित्रः ।

११०९ गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५।

गोत्र इत्येव । गार्ग्यं । वात्स्यं ।

गोत्रापत्य अर्थ में षष्ठ्यन्त गर्गादिगणपठित शब्दों से यञ् प्रत्यय होता है । गर्गस्य गोत्रापत्यम् पुमान् गार्ग्यं । एव वात्स्य ।

१११० यजजोश्च २।४।६४ ।

गोत्रे यद् यञन्तम् अञन्तश्च तदव्ययिनोरेतयो लुङ् स्यात् तदर्थकृते बहुत्व न सु खियाम् । गर्गा । वत्सा । बिदा । ऊर्वा । तत्कृते इति किम्, प्रियगार्ग्यो । खियान्तु गार्ग्यं खिय । गोत्रे किप्, द्वैत्याः । औत्साः । प्रथमाध्यायप्रसिद्धमिह गोत्रम्, तेनेह न, पौत्राः । दौहित्राः ।

अपत्यकृत बहुत्व होने पर गोत्र अर्थ में विहित जो यञ् या अञ् तदन्त शब्द का अव्यय यञ् या अञ् उसका छुट् होता है किन्तु कौशिक में लुक् नहीं होता है गर्गस्य गोत्रापत्यानि पुमांस इस विग्रह में गर्गा । वत्सा । बिदा । ऊर्वा । यहाँ पूर्वदो में यञ् का लुक्, उत्तर में अञ् का लुक् है । प्रियो गार्ग्यो येनन्ते इस विग्रह में बहुव्रीहि समास में अन्यपदार्थगण बहुत्व है अतः यञ् का लुक् है । गर्ग की गोत्रापत्य कन्वा में गार्ग्यं । गोत्रार्थक अञ् जहाँ नहीं वहाँ लुक् नहीं दीये मवा द्वैत्याः । उत्से मवा औत्साः । यहाँ प्रथमाध्याय प्रसिद्ध दौहित्रा गोत्र का ग्रहण है, अतः 'पौत्रा' आदि में लुक् न हुआ । यद् "लौकिकस्य गोत्रस्य ग्रहणम्" इस भाष्य पर कैपटोक्ति है ।

११११ मधुमन्त्रयोर्ब्राह्मणकौशिकयोः ४।१।१०६।

गोत्रे यञ् । माधव्यो ब्राह्मण । माधवोऽन्य । ब्राह्मण्य कौशिक ऋषिः । ब्राह्मणोऽन्यः । ब्राह्मणशब्दस्य गर्गादिपाठात् सिद्धेऽपि नियमार्थमिदम् । गर्गादिपाठफलान्तु लोहितादिकार्यार्थम् । ब्राह्मण्यायणी ।

मधु एव बहु समर्थ्युबन्त से कमशः ब्राह्मण एव कौशिक अर्थ में गोत्रापत्य में यञ् प्रत्यय होता है । मधो गोत्रापत्यम् ब्राह्मण इस विग्रह में माधव्य । बुद्धिगुण अवादेश । अन्यत्र अण् माधव । ब्राह्मो अपत्यम् कौशिक इस विग्रह में ब्राह्मण्य । अन्यत्र ब्राह्मव । मधु को कौशिक अर्थ में हो यञ् प्रत्यय होता है, अन्यत्र नहीं यह नियमार्थ ही सूत्र में अणु ग्रहण है, अतः गर्गादिसूत्र नियम्य = व्याख्य्य = बाध्य हुआ ।

गर्गादि में इसका पाठ इस लिए किया कि "सर्वत्र लोहितादिभ्य" से व्यत्यय होता है यहाँ स्त्रीत्वरूपार्थ उक्त है तो भी पितृसामर्थ्य से जीय् होकर 'ब्राह्मण्यायणी' ।

१११२ कपिनोधादाङ्गिरसे ४।१।१०७।

गोत्रे यञ् स्यात् । काप्यं । कौष्यं । आङ्गिरसे किम्, कापेयं । कौषिः ।

गोत्र अर्थ में आङ्गिरस अर्थ में कपि एव नोय षष्ठ्यन्त समर्थ से यञ् प्रत्यय होता है । कपे गोत्रापत्यम् आङ्गिरस = काप्यं । इसी प्रकार कौष्यं । अन्यत्र 'इत्यथानिज' से ठक् कापेय । अनुपित्वात्, वाङ्मादित्वाद्वा इन् कौषि ।

१११३ वतण्डाच्च ४।१।१०८।

आङ्गिरस इत्येव । वातण्ड्यः । अनाङ्गिरसे तु गर्गादीं शिवादीं च पाठाद् यञ्अणौ । वातण्ड्यः । वातण्डः ।

वतण्ड समर्थपठ्यन्तसे आङ्गिरश्च अर्थ में यञ् प्रत्यय होता है । यथा वातण्ड्यः । अन्यत्र गर्गादित्व एवं शिवादित्व प्रयुक्त यञ् एवं अण् से वातण्ड्यः । वातण्डः ।

१११४ लुक् स्त्रियाम् ४।१।१०९।

वतण्डाच्चेति विहितस्य लुक् स्यात् स्त्रियाम् । शार्ङ्गरवादित्वात् ङीन् । वतण्डी । अनाङ्गिरसे तु वातण्ड्यायनी । लोहितादित्वात् ण्फः । अणि तु वातण्डी । ऋषित्वाद् वक्ष्यमाणः प्यञ्च न ।

स्त्रीलिङ्ग में वतण्डाच् से विहित आङ्गिरस अर्थ में जो यञ् उक्तका लुक् होता है । वतण्ड यञ् लुक् ङीन् वितण्डी । आङ्गिरसमित्र में यञन्त से ण्फ से 'वातण्ड्यायनी । अण् में वातण्डी । 'अणिजोः' से प्यञ् यहाँ ऋषित्व के कारण न हुआ ।

१११५ अश्वादिभ्यः फञ् ४।१।११०।

गोत्रे । अश्वायनः । क्षिपुंसि जातेक्षि । पुंसीति प्रकृतिविशेषणम् । जातस्य गोत्रापत्यं जातायनः । पुंसि इति किम् , जाताया अपत्यं जातेयः ।

गोत्र में अश्वादि शब्दों में फञ् होता है । गणपठित शब्दों के अर्थ में पुंसि पुंस्त्वं रूप लिङ्ग विशेषण है अर्थात् पुंसवविशिष्ट पठ्यन्त समर्थ अश्वादि से फञ् प्रत्यय गोत्र अर्थ में होता है । जातायनः । जातायाः अपत्यम् में जातेयः । स्त्रीभ्यो ढक् ।

१११६ भर्गात् त्रैगर्ते ४।१।१११।

गोत्रे फञ् । भार्गायणः = त्रैगर्तः । भार्गिरन्यः ।

त्रैगर्त अर्थ से गोमविषय में गोत्र में भर्ग से फञ् प्रत्यय होता है ।

१११७ शिवादिभ्योऽण् ४।१।११२।

गोत्रे इति निवृत्तम् । शिवस्यापत्यं शैवः । गाङ्गः । पक्षे तिकादित्वात् फिञ् । गाङ्गायनिः । शुभ्रादित्वाद् ढक् । गाङ्गेयः ।

यहाँ 'गोत्रे' की निवृत्ति हुई है । शिवादिगण पठित समर्थपठ्यन्त से अण् प्रत्यय अपत्य अर्थ में होता है, शैवः = गणपतिः कार्तिकेयश्च । गाङ्गाया अपत्यम् गाङ्गः । पक्ष में फिञ् गाङ्गायनिः । ढक् में गाङ्गेयः ।

१११८ अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः ४।१।११३।

अवृद्धेभ्यो नदीमानुषीनामभ्योऽण् स्यात् । ढकोऽपवादः । यामुनः । नार्मदः चिन्तिताया अपत्यं चैन्तितः । अवृद्धाभ्यः किम् , वासवदत्तेयः । नदी इत्यादि किम् , वैनतेयः । तन्नामिकाभ्यः किम् , शोभनाया अपत्यं शोभनेयः ।

वृद्धसंशक से मित्र नदी एवं मानुषी नामक शब्दों से अण् प्रत्यय होता है ।

यह ढक् अपवाद है । यमुनाया अपत्यं यामुनः । नार्मदः । चैन्तितः । वासवदत्ताया अपत्यम् यहाँ वृद्धसंशक होने से स्त्रीभ्यो ढक् से वासवदत्तेयः । विनता नदी संशक नहीं अतः उसके

अपत्य में वेततय = गरुड । सुन्दर स्त्री का पुत्र यदा नाम वाचक न होने से टक शौमनेय ।

१११९ ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुम्यश्च ४।१।१३४।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टार । वैश्वामित्र । अन्धकेभ्य — स्वाफलक । वृष्णिभ्य — वासुदेव । आनिरुद्ध । 'शौरि' इति तु बाह्यादित्वादिन् । कुरुभ्य — नाकुल । साहदेव । इव एवायमपवाद, मध्येऽपवादन्यायात् । अत्रिशब्दात् परत्वाद् ढक् । आत्रेय ।

ऋषिवाचक अन्धवाचक, वृष्णिवाचक, कुरुवाचक इनसे अण् प्रत्यय होता है । मन्त्रों के दृष्टा को ऋषि कहते हैं । प्रथम दो उदाहरण ऋषि के हैं । स्वाफलक यह अन्धक का उदाहरण है । वासुदेव एवं आनिरुद्ध वृष्णि का उ० । शौरि न होकर इन् से शौरि है । नाकुल साहदेव यह यह कुरु के उ० है । यह इन का ही अपवाद है मध्येऽपवाद पूर्वान् विधोन् वाचने नीतिरान् इस न्याय से । अत्रि शब्द से परत्वं के कारण ढक् से आत्रेय यही रूप युगा ।

११२० मातुरुत्संख्यासम्मद्रपूर्वायाः ४।१।११५।

संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्योदादेशः स्यादण् प्रत्ययश्च । द्वैमातुर । पाण्मातुर । साम्मातुर । माद्रमातुर । आदेशार्थं वचनम् । प्रत्ययस्तूत्सर्गेण सिद्ध । स्त्रीलिङ्गनिर्देशोऽर्थोपेक्ष । तेन धान्यमाहर्न । सख्येति किम्, सीमात्र । शुभादित्वाद् द्वैमात्रेय ।

संख्यापूर्वक, सम्पूर्वक मद्रपूर्वक मातृशब्द के अन्त्य अल को उदाहरण होता है एवं अपत्य अर्थ में अण् भी होता है । यह केवल आदेश विधानार्थ है, अण् प्रत्यय 'तस्यापरत्यम्' से सिद्ध ही है । इसी मानी अपत्यम् — द्वैमातुर । षष्ठा मातृणाम् अपत्यम् = पाण्मातुर । सम्मातुरपत्यम् सम्मातुर । मद्रा चासी माता तस्या अपत्यम् माद्रमातुर । पूवपद में पुत्रवर्त्मधारय से पुत्रव्याप है । स्त्रीत्वविशिष्टार्थक मातृशब्द अननीवाचक रहे वहाँ ही इसकी प्रवृत्ति है । धान्य का नापने वाला = परिच्छेदक जहाँ पुरुष वहा इसकी प्रवृत्ति नहीं है । टक में द्वैमात्रेय ।

११२१ कन्यायाः कनीन च ४।१।११६।

ढकोऽपवादोऽण् । तत्सन्नियोगेन कनीनादेशश्च । कनीनो व्यास, कर्णश्च । अनूदाया एवापत्यमित्यथ ।

कन्या से अण् प्रत्यय एवं कनीनादेश कन्या के स्थान में होता है, यह सूत्र स्त्रीन्यो टक का अपवाद है । अविवाहिता कन्या उसका पुत्र कर्ण एवं व्यास अथ में कनीन ।

११२२ विकर्णशुक्लच्छगलाद् वत्सभरद्वाजात्रिषु ४।१।११७।

अपत्येऽण् । विकर्णो वात्स्य । विकर्णिरन्य । शौक्ले भारद्वाज । शौक्लिरन्य । छागल आत्रेय । छागलिरन्य । केचित् शुक्लेत्याबन्त पठन्ति । तेषा ढक् प्रत्युदाहरणम् । शौक्लेय ।

विकर्ण शुक्ल, छागल, इन शब्दों से वत्स वत्स, भरद्वाज अत्रि अर्थ में अपत्य में अण् प्रत्यय होता है । वहा कोई 'शुक्ल' आबन्त पठता है । इस पक्ष में प्रत्युदाहरण में शौक्लेय ।

११२३ पीलाया वा ४।१।११८।

तन्नामिकाणं बाधित्वा द्वयच इति ढकि प्राप्ते पक्षेऽण् विधीयते । पीलाया अपत्यं पैलः । पैलेयः ।

पील से विकल्प अण् होता है । 'अष्टद्वाभ्यो नदीमानुपीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः' से प्राप्त अण् को बाधकर यहां द्वयचः से ढक् प्राप्त था उसको विकल्प से यद् अण् बाध करता है, पक्षमें 'द्वयचः' से ढक् होता है ।

११२४ ढक् च मण्डूकात् ४।१।११९।

चादण् । पक्षे इव् । माण्डूकेयः । माण्डूकः । माण्डूकिः ।

समर्थ पष्ठयन्त मण्डुक से ढक् प्रत्यय एवं अण् प्रत्यय होता है विकल्प से पक्ष में इव् प्रत्यय ।
तीन रूप हुए ।

११२५ स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०।

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् स्यात् । वैनतेयः । भाषादित्वात् सौमित्रिः । शिवा-
दित्वात्सापत्नः ।

सूत्र में बहुवचन निर्देश से स्वरूप का या स्त्रीवाचक का ग्रहण नहीं है किन्तु स्त्रीप्रत्ययान्त का हो ग्रहण है । स्त्रीप्रत्ययान्त समर्थ पष्ठयन्त से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है । विनताया अपत्यम् इति विग्रह में ढक् ण्य् आदि वृद्धि आकारकोप वैनतेयः । सुमित्राया अपत्यम् इति ण्य् प्रत्यय से सौमित्रिः । सपत्न्या अपत्यम् यहां शिवादित्व प्रयुक्त अण् से सापत्नः ।

११२६ द्वयचः ४।१।१२१।

द्वयचः स्त्रीप्रत्यान्तादपत्ये ढक् । तन्नामिकाणोऽपवादः । दात्तेयः । पार्थ इति तु तस्येदमित्यण् ।

दो अच् युक्त जो स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द उससे अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है । यद् अण् का बाधक है ।

पृथाया अपत्यम् यहां इदमर्थ में अण् प्रत्ययान्त है ।

११२७ इतश्चानिजः ४।१।१२२।

इकारान्ताद् द्वयचोऽपत्ये ढक् स्यात् न त्विगन्तात् । दौलेयः । नैवेयः ।

दो अर्चो से युक्त जो इकारान्त शब्द उससे अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है, किन्तु इव् प्रत्ययान्त से नहीं होता ।

११२८ शुभ्रादिभ्यश्च ४।१।१२३।

ढक् स्यात् । शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः ।

अपत्य अर्थ में पष्ठयन्त समर्थ शुभ्रादि गणपठित शब्दों से ढक् प्रत्यय होता है ।

११२९ विकर्णकुपितकात् काश्यपे ४।१।१२४।

अपत्ये ढक् । वैकर्णेयः । कौपितकेयः । अन्यो वैकर्णिः । कौपितकिः ।

कादयप अथ में विकर्ण धन कुषितक से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है।

विकर्णस्यापत्यम् वैकण्येय । कुषितस्यापत्यम् = वौषितकेय । कादयप मित्र में इन् प्रत्ययान्त का ही प्रयोग होता है।

११३० भ्रुवो वुक् च ४।१।१२५।

चात् ढक् । औवेय ।

षष्ठ्यन्त समर्थ भ्रु शब्द से अपत्य में ढक् प्रत्यय होता है एक भ्रु को वुक् आगम होता है।

११३१ प्रवाहणस्य ढे ७।३।१२९।

प्रवाहणशब्दस्योत्तरपदस्याचामदेरचो वृद्धि पूर्वपदस्य तु वा ढे परे । प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणेयः । प्रवाहणेय ।

ढ प्रत्यय पर रहते प्रवाहण शब्द के उत्तरपद के आदि अच् की नित्य वृद्धि होती है, = पूर्वपद के आदि अच् की विकल्प से वृद्धि होती है। शुभ्रादि गण में प्रवाहण का पाठ है।

११३२ तत्प्रत्ययस्य च ७।३।१२०।

ढान्तस्य प्रवाहणस्योत्तरपदस्यादेरचो वृद्धि पूर्वपदस्य तु वा । प्रवाहणे-
यस्यापत्यं प्रावाहणेयः । बाह्यतद्धितनिमित्ता वृद्धि ढात्रयेण विकल्पेन आचितुं
न शक्यत इति सूत्रारम्भ ।

ढ प्रत्ययान्त प्रवाहण शब्द के उत्तरपद का आदि अच् की वृद्धि होती है, पूर्वपद के आदि अच् की विकल्प से वृद्धि होती है। ढ प्रत्ययान्त से बहिर्भूत को इन् उसके निमित्तक जो प्राप्त वृद्धि नित्य है उसको 'प्रवाहणस्य ढे' से ढनिमित्तक वृद्धि अवबद्ध नहीं कर सकती अतः इस सूत्र का प्रारम्भ किया है। ढात्रय विकल्प वृद्धि से इन् निमित्तक नित्य वृद्धि को रोकने के लिए यह सूत्र है, यही सारांश हमका है,

११३३ कल्याण्यादीनामिनङ् ४।१।१२६।

पपामिनङादेशः स्यात् ढक् च । कान्याणिनेयः । बान्धकिनेयः ।

कल्याणी आदि शब्दों को इनङ् आदेश होता है, यव ढक् प्रत्यय भी होता है। यहाँ ढक् तो पूर्व सूत्र से प्राप्त हो या अनुवाद मात्र है अपूर्व निषेध इनङ् मात्र ही है। कल्याण इनङ् ढक् यद् कान्याणिनेय ।

११३४ कुलटाया वा ४।१।१२७।

इनङ् मात्र विकल्प्यते, ढक् तु नित्य पूर्वणैव । कौलटिनेयः । कौलटेयः ।
सती मिश्रक्यत्र कुलटा । या तु व्यभिचारार्थं कुलान्यटति तस्याः क्षुद्राभ्यो
वेति पक्षे ढक् कौलटेयः ।

षष्ठ्यन्त समर्थ कुलटा शब्द को इनङ् मात्र आदेश विकल्प होता है, ढक् प्रत्यय तो पूर्वसूत्र से प्राप्त ही है। कुलटाया अपत्यम् इस विग्रह में कौलटिनेयः । इनङ् के अभाव में ढक् से कौलटेयः । यहाँ साध्वी सतीत्ववती मिश्रार्थं वृत्तों में अमण करने वाली ही कुलटा शब्द है।

अभिप्रेत है जो दुराचारिणी है उसको तो शीघ्र हीनत्व के कारण 'सुद्राम्यो वा' से ढक् प्रत्यय कर कौलटेरः ।

११३५ हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च ७।३।१९।

हृदाद्यन्ते पूर्वोत्तरपदयोरधामादेरचो वृद्धि विन्ति णिति किति च । सुहृदोऽपत्यं सौहार्दः । सुभगाया अपत्यं सौभागिनेयः । सक्तुप्रधानाः सिन्धवः सक्तु-सिन्धवः तेषु भवः साक्तुसैन्धवः ।

जित्, णित्, कित्, प्रत्यय पर रहते हृद्, भग, सिन्ध्वन्त प्रातिपदिक में पूर्वपद एवं उत्तरपद इनके आदि अच् को वृद्धि होती है । सुहृद् अण् सौहार्द अ सौहार्दः । सुभगा ङक् एय् उभयपद वृद्धि सौभागिनेयः । सक्तुसिन्धु अण् उभयपद वृद्धिः साक्तुसैन्धवः ।

११३६ चटकाया ऐरक् ४।१।१२८।

ॐ चटकस्येति वाच्यम् ॐ । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्त्रिया अपि । चटकस्य चटकाया वा अपत्यं चाटकेरः । ॐ स्त्रियामपत्ये लुक् वक्तव्यः ॐ । तयोरेव स्यपत्यं चटका, अजादित्वाद्वाप् ।

चटका शब्दको ऐरक् प्रत्यय होता है । वातिक कार 'चटकस्य' कहते हैं । पुंलिङ्ग चटके ऐरक् प्रत्यय होता है । लिङ्ग विशिष्ट परिभाषा से चटका का भी ग्रहण होता है । स्त्रीवाचक पुंवाचक चटक या चटका का 'चाटकेरः' रूप हुआ है । सन्तान यदि खोलिङ्ग है तो ऐरक् का लुक् होता है एवं अजादित्व से टाप् चटका ।

११३७ गोधाया ढूक् ४।१।१२९।

गौधेरः । शुभ्रादित्वात्पक्षे ढक्, गौधेयः ।

पठयन्त समर्थगोधा शब्द से अपत्य में ढूक् प्रत्यय होता है । गोधाया अपत्यम् गौधेरः । गोधा शब्द का शुभ्रादि में पाठ है अतः ढक् से गौधेरः ।

११३८ आरगुदीचाम् ४।१।१३०।

गौधारः । रका सिद्धे आकारोच्चारणमन्यतो विधानार्थम् । जटस्यापत्यं जाडारः । पण्डस्यापत्यं पाण्डारः ।

उत्तरदेशस्थ विद्वानों के मत से पठयन्त समर्थ गोधाशब्द से अपत्य अर्थ में आरक् प्रत्यय होता है । गौधारः । यहां रक्मात्र विधान से पूर्व प्रयोग की सिद्धि होती पुनः आरक् में आकारोच्चारण व्यर्थ होकर शापन करता है कि गोधा से अतिरिक्त शब्द को भी आरक् होता है यथा—जटस्यापत्यम् इत्स विग्रह में जट से आरक् होकर 'जाडारः' प्रयोगसिद्धि हुई । पण्डस्यापत्यम् पाण्डारः ।

११३९ सुद्राम्यो वा ४।१।१३१।

अङ्गहीनाः शीलहीनाश्च सुद्रास्ताम्यो वा ढक्, पक्षे ढक् । काणेरः । काणेयः । दासेरः । दासेयः ।

शुद्धा वह स्त्री है जो अङ्गरहित अर्थात् विकृताङ्गलुका या शील सदाचार से हीन । शुद्धा से विकल्प ढक् प्रत्यय होता है पद्य में ढक् प्रत्यय भी होता है । वर्धयत स्त्रीत्व शब्द में आरोप कर सूत्र में स्त्रीलिङ्ग निर्देश किया है । अङ्गहीन का उदाहरण—काणर । काणेर । शीलहीन का उदाहरण दासेर । दासेय ।

११४० पितृष्वसुष्ठुष्ण् ४।१।१३।

अणोऽपवाद. । पैतृष्वस्त्रीय ।

पितृष्वस्त्व शब्द से छण प्रत्यय अपत्य अर्थ में होता है । अपत्यार्थक अण् का यह वाचक है । पितृष्वसुरपत्यम् = पुमान् पैतृष्वस्त्रीय ।

१६४१ ढकि लोपः ४।१।१३३।

पितृष्वसुरन्तलोप स्याद् ढकि । अत एव ज्ञापनात् ढक् । पैतृष्वसेय. ।

ढक प्रत्यय पर रहते पितृष्वस्त्व शब्द के अन्त वर्ण का लोप होता है ।

यहां यह विचारणीय विषय है कि इसको ढक् करने वाला कोई सूत्र या वचन नहीं है अतः ढक प्रत्यय नहीं होगा यह लोप ढक् पर में रहते लोपन करना ही अर्थ है । अतः इस लोप विधायक शास्त्र ब्रह्म होकर ज्ञापन करता है कि पितृष्वस्त्व से ढक् प्रत्यय की उत्पत्ति होती है ज्ञापनोपर ढक् कर अकार लोप से 'पैतृष्वसेय' की सिद्धि हुई है ।

११४२ मातृष्वसुश्च ४।१।१३४।

पितृष्वसु यंदुक्त तदस्यापि स्यात् । मातृष्वस्त्रीय । मातृष्वसेय. ।

जो कार्य पितृष्वस्त्व को लोपन किया वह सभी कार्य मातृष्वस्त्व को भी होता है । अर्थात् अन्यलोप एव लोप विधान सामर्थ्य के कारण ढक् प्रत्यय वे दोनों कार्यरूप ।

११४३ चतुष्पादभ्यो ढञ् ४।१।१३५।

चतुष्पाद जातिवाचक समर्थ पष्ठचन्त से ढञ् प्रत्यय होता है ।

११४४ ढे लोपोऽकट्वाः ६।४।१४७।

कट्प्रभिरन्त्योवर्णान्तस्य अस्य लोपः स्यात् ढे परे । कामण्डलेय. । कामण्डलुशब्दश्चतुष्पादजातिविशेषे ।

कट्प्रभिरन्त्योवर्णान्त मसङ्ग को शब्द उसका ढपर रहते लोप होता है । अलोऽन्त्यस्य परिभाषा से अन्त्य का लोप है । चतुष्पाद जातिविशेष वाचक से ढ अन्त्यलोप—कामण्डलेय ।

११४५ गृष्ट्यादिभ्यश्च ४।१।१३६।

एभ्यो ढञ् स्यात् । अण्ढकोऽपवाद । गार्ष्ट्य । मित्रयोरपत्यम्, श्रुत्यणि प्राप्ते ढञ् ।

गृष्टि आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है । अगस्ति एव मित्रयु से ऋषित्व कारण अण् प्राप्त है, अन्य को 'इतश्चानिभ' से ढक् प्राप्त है । उनका यह वाचक है । गृष्टरपत्यम् गार्ष्ट्य । मित्रयु से अपत्य में अण् प्राप्त था उसको वाचकर ढञ् ।

११४६ केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः ।

एषां यकारादेरिय् आदेशः स्यात् ऋिति णिति ऋक्ति च तद्धिते परे । इति इयादेशो प्राप्ते ।

नित् णित् कित् तद्धित पर रहने केकय, मित्रयु, प्रलय इनके यकारादि को इय् आदेश होता है । इस सूत्र से इयादेश की प्राप्ति होने पर ।

११४७ दाण्डिनायनहास्तिनायनार्थवर्णिकजैह्याशिनेयवाशिना-
यनिभ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्यमानि ६।४।१७४।

एतानि निपात्यन्ते । इति युलोपः । मैत्रेयः, मैत्रेयौ ।

दाण्डिन्, हास्तिन् से नटादित्व के कारण फक् प्रत्यय हुआ एवं निपातन से टिलोप का अभाव यहाँ है । दाण्डिनायनः, हास्तिनायनः । वसन्तादि में अथर्वण का पाठ है । अथर्व से प्रोक्त ग्रन्थ भी लक्षणा से अथर्वा है, उसका अध्ययन कर्ता अर्थ में आपर्वणिकः । शुभ्रादि में जिह्वाशिन् का पाठ है, उसका अपत्य अर्थ में जैह्याशिनेयः । वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनिः । यहाँ उदीर्चा वृद्धात् से फिन् प्रत्यय है । भ्रूणहन्, धौबन् से प्यन् एवं तकार ङन्तादेश निपातन है । भ्रूणघ्नो मावो भ्रौणहत्यन् धैवत्यन् 'एनस्त' से तत्त्वसिद्ध या पुनःतकार आदेश निपातन व्यर्थ होकर शापन करता है कि "धातोर्गन्धमानं कार्यं तद् धातु विहिते प्रत्यये भवति" । इस परिभाषा से 'वारघ्नः' यहाँ तत्त्व न हुआ । सरयू से अण् यादि को वकार निपातित है । सरय्वां भवं सारवम् = उदकम् । इक्ष्वाकोरपत्यम् ऐक्ष्वाकः, "जनपदं शब्दात् क्षत्रियाद्य अण्", उकारलोप निपातन से । इक्ष्वाकपु जनपदेषु भवः । कोपधादण् । ऐक्ष्वाकः । यहाँ भी उकारलोप निपातन लभ्य है । हिरण्यस्य विकार अर्थ में मयट् यादि लोप निपातन से । सूत्रादिक से अप्राप्त कार्य को शिष्ट प्रयोगानुसार सूत्र के अभाव में भी करना उसको निपातन कहते हैं ।

११४८ यस्कादिभ्यो गोत्रे २।४।६३।

एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक्, तत्कृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम् ।

गोत्र अर्थ में यस्कादि गणपठित शब्दों से पर गोत्रार्थक प्रत्यय का लुक् होता है, अपत्यकृत बहुत्व रहने पर किन्तु स्त्रीरूप अपत्य रहे वहाँ लुक् नहीं होता है मित्रयोरपत्यानि पुंमासः इस विग्रह में ऋषित्वात् विहित अण् प्रत्यय का लुक् हुआ, गुण अवादेश मित्रयवः । अपत्याधिकार से अन्यत्र लौकिक गोत्र है अतः यहाँ गोत्रप्रत्ययस्य कहा है । यास्कः यहाँ बहुत्व के अभाव से लुक् न हुआ । कार्णटः ।

११४९ अत्रिभृगुकुत्सवसिष्टगौतमाङ्गिरोभ्यश्च २।४।६५।

एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक् स्यात् तत्कृते बहुत्वे न तु स्त्रियाम् ।

अपत्य प्रयुक्त बहुत्व होने पर अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ट, गौतम, अङ्गिरस् इनसे पर गोत्रप्रत्यय का लुक् होता है, किन्तु स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर । अत्रेरपत्यानि पुंमासः इस विग्रह में 'स्तश्चानिजः' से विहित ठक् का लुक् 'अत्रयः' । अन्य शब्दों में ऋषित्व प्रयुक्त जो अण् उसका लुक् है ।

११५० बह्वचः इजः प्राच्यभरतेषु २।४।६६।

बह्वचः परो ऽ इन् प्राच्यगोत्रे भरतगोत्रे च वर्तमानस्तस्य लुक् स्यात् ।
पन्नागाराः । युधिष्ठिराः ।

प्राच्यगोत्र एव भरतगोत्र से विद्यमान अनेक स्वरों से युक्त शब्द से पर अपत्यार्थक इन् प्रत्यय का लुक् होता है । पन्नागरस्य अपत्यानि पुमास इन् वा लुक् । पन्नागराः । बाह्यादि-त्वात् इन् । युधिष्ठिराः । एवं को नाथकर ईन् उसका लुक् शक्यवन में यौधिष्ठिरि । यहाँ भरत का प्राच्य ग्रहण से ही यथार्थता थी पुन भरतग्रहण व्यर्थ होकर स्थापन करता है कि प्राच्यग्रहण से भरत का ग्रहण नहीं होता है । स्थापन फल अन्यत्र है यहाँ नहीं, यहाँ वो भरतग्रहण लुघ में किया ही है । शाप्यशरीर में अन्यत्र का वरकात्वेन प्रवेश न करना चाहिए ।

११५१ न गोपवनादिभ्यः २।४।६७

एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक् न स्यात् । विदाद्यन्तर्गणोऽयम् । गोपवनाः ।
शौमकाः ।

विदाद्यन्तर्गणं गोपवनादिभ्यः है । गोत्रार्थक प्रत्ययका यहाँ लुक् नहीं होता है ।

११५२ तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे २।४।६८

एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य बहुत्वे लुक् स्यात् द्वन्द्वे । तैकायनयश्च कैतवायनयश्च ।
तिकादिभ्यः फिब् तस्य लुक् तिककितयाः ।

इत विग्रह में तिकादिभ्यश्च से जात फिब् का लुक् से तिककितया ।

११५३ उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे २।४।६९।

एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य बहुत्वे लुग्वा स्यात् द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च । औपकायनाश्च
लामकायनारश्च नडादिभ्यः फक् तस्य लुक्, उपकलमकाः । औपकायनलाम-
कायनाः । आपृक्कपिपुला । आपृकिकापिपुलयः । लमकाः ।
लामकायनाः ।

इन्द्र में वा अद्वन्द्व में उपकादि गणपठित शब्दों से अपत्यकृत बहुत्व में गोत्र प्रत्यय का लुक् विकल्प से होता है । इन्द्र में नडादित्वप्रयुक्त फक् का विकल्प एव अत इन् से द्वि० उ० में इन् का लुक् विकल्प से हुआ है । अद्वन्द्व में फक् का विकल्प एव अत इन् से द्वि० उ० में इन् का लुक् विकल्प से हुआ है । अद्वन्द्व में फक् का लुक् विकल्प से ।

११५४ आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् २।४।७०।

एतयोरवयवस्य गोत्रप्रत्ययस्याणो दभश्च बहुषु लुक् स्यादवशिष्टस्य प्रकृति-
भागस्य यप्पसङ्ख्यप्रगस्ति कुण्डिनच् एतत्प्रदेशो स्तः । आगस्त्यः ।
कुण्डिनः ।

आगस्त्य एव कौण्डिन्य इन शब्दों का अवयव गोत्रार्थक अण् एव यन् का लुक् होता है, अपत्यकृत बहुत्व में, एव अवशिष्ट प्रकृतिभाग को क्रमशः अगस्ति एव कुण्डिनच् आदेश होते हैं । आगस्त्यस्य ग आपत्यम् में ऋषित्वप्रयुक्त अण् प्रत्यय वरके उसका आगस्त्यस्य गोत्रप्रत्यय पुमास-

अर्थ में अण् का लुक् एवं प्रकृतिभाग को अगस्ति आदेश से बहुवचन में अगस्तयः । गर्गादित्व प्रयुक्त यच् प्रत्ययान्त कौण्टिन्य का यच् का लुक् प्रकृति को कुण्टिनच् आदेश बहुवचन में कुण्टिनाः ।

११५५ राजश्वसुराद्यत् ४।१।१३७।

ॐ राज्ञो जातावेवेति वाच्यम् ॐ ।

पठ्यन्त समर्थ राजन् एवं श्वसुर इनसे यत् प्रत्यय होता है, राजन् से जाति अर्थ में ही यत् प्रत्यय होता है, अर्थात् क्षत्रिय राजा से क्षत्रिया पत्नी में उत्पन्न सन्तान में क्षत्रियत्व जाति की प्रतीति होती है वहां यत् प्रत्यय । अन्यथा नहीं ।

११५६ ये चाभावकर्मणोः ६।४।१६८।

यादौ तद्धिते परे अन् प्रकृत्या स्यात्, न तु भावकर्मणोः । राजन्यः । श्वसुर्यः । जातिग्रहणाच्छूद्रायामुत्पन्नो राजनः ।

भाव एवं कर्म अर्थ वाच्य न होने पर यकारादि तद्धित प्रत्यय पर में रहते अन् का प्रकृतिभाव होता है अर्थात् 'नस्तद्धिते' से टिलोप नहीं होता है । राज्ञः क्षत्रियत्वविशिष्ट अपत्यम् पुमान् राजन्यः । पत्युः पत्या वा जनकत्वन् = श्वसुरत्वन् । श्वसुरस्य अपत्यम्—श्वसुर्यः = श्यालकः । प्रकृतिप्रत्यय समुदाय से नहीं जातिवाच्य नहीं वहां राजनः । यहां अण् प्रत्यय एवं 'अन्' से प्रकृतिभाव । राजा से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र को 'राजनः' कहते हैं ।

११५७ अन् ६।४।२६७।

अणि अन् प्रकृत्या स्यात् । इति टिलोपो न । अभावकर्मणोः किम्, राज्ञः कर्म भावो वा राज्यम् ।

अण् प्रत्यय पर रहते अन् का लोप नहीं होता है अर्थात् प्रकृतिभाव होता है, किन्तु भावार्थक या कर्मार्थक तद्धित प्रत्यय में टिलोप होता ही है । राज्यन् में राज्ञो भावः कर्म वा अर्थ में टिलोप नस्तद्धिते से हुआ है ।

११५८ संयोगादिभ्यश्च ६।४।२६६।

अन् प्रकृत्या स्यादर्ण परे । चक्रिणोऽपत्यं चाक्रिणः ।

अण् प्रत्यय पर रहते संयोगादित्वविशिष्ट इन् का प्रकृतिभाव होता है । चक्रिणः अपत्यम् अण् टिलोपभावः । चाक्रिणः ।

११५९ न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः ६।४।५७०।

मपूर्वोऽन् प्रकृत्या न स्यादपत्येऽणि । भाद्रसामः । मपूर्वेति किम्, सौत्वनः । अपत्ये किम्, चर्मणा परिवृत्तश्चार्मणो रथः । अवर्मणः किम् । चक्रवर्मणोऽपत्यं चाक्रवर्मणः । ॐ वा हितनाम्न इति वाच्यम् ॐ । हितनाम्नोऽपत्यं हैतनामः । हैतनामानः ।

अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय पर रहते वर्मन् से भिन्न मपूर्वक अन् का प्रकृतिभाव नहीं होता है, अर्थात् वहां नस्तद्धिते से टिलोप होता है । यथा भाद्रसाम्नः अपत्यम् इस विग्रह में अपत्यार्थक अण् कर अन् से प्राप्त प्रकृतिभाव का इसने निषेध किया—भाद्रसामः । सौत्वनः में मपूर्वक नहीं

प्रकृतिभाव हुआ। चार्मण यदा परिपृत्तार्थक अण् होने से प्रकृतिभाव हुआ। चाक्रवर्मण यदा वर्मन् के मकारोत्तर अन् का प्रकृतिभाव हुआ है। इतिनामन् शब्द के मपूर्वक अन् का निषेध प्रकृतिभाव का विकल्प से होगा है। टिलोपभाव। एव टिलोप से रूपद्वय हुए।

११६० ब्राह्मौ जातौ ६।४।१७१।

योगविभागोऽत्र कर्तव्य । 'ब्राह्म' इति निपात्यतेऽनपत्येऽणि । ब्राह्म हवि । ततो (अ)जातौ । अपत्ये जातावपि ब्रह्मण्टिलोपो न स्यात् । ब्रह्मणोऽपत्य ब्राह्मण । अपत्ये किम् , ब्राह्मौ औपधि ।

यदा एक सूत्र में योग विभाग से दो अशों का पृथक् पृथक् सूत्र करना एक मात्र सूत्र है इसमें अपत्ये का सम्बन्ध नहीं है। यदि अपत्ये का सम्बन्ध यहाँ करेंगे तो यह विभक्त ब्राह्म सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा क्योंकि यह टिलोप का निपातन करता है, वह तो अपत्यार्थक अण् में 'अन्' से प्राप्त प्रकृतिभाव का निषेध 'न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मण' कर देगा नस्तद्विधे से टिलोप होकर 'माह' प्रयोग की सिद्धि होगी।

१ ब्राह्म का अर्थ अनपत्यार्थक अण् पर रहते ब्रह्मन् शब्द की टिका लोप होता है। ब्रह्मण अय माह = मुहूर्त । माह = स्थायीपाक । ब्राह्मन् = हवि ।

२ जातौ । अपत्य में आतिवाच्य रहते ब्रह्मन् शब्द की टिलोप का अभाव होता है अण् प्रत्यय पर रहते। यथा ब्रह्मण अपत्यम् ब्राह्मण औपधि अर्थ में यथा ब्रह्मण इयम् यदा अण् टिलोप लोप 'ब्राह्मौ'। जाति नहीं प्रतीयमान है, यहाँ टिलोप से माह = नारद ।

यहाँ कोई 'जातौ' न मानकर पूर्व रूप से 'अजातौ' ऐसा मानता है। इस मत ने इसमें न की अनुपस्थिति न करनी पड़ेगी। जाति में नहीं टिलोप होता है यह अर्थ इस पद में होगा।

११६१ औक्षमनपत्ये

अणि टिलोपो निपात्यते । औक्ष पदम् । अनपत्ये किम् , उक्ष्णोपत्यम् ।

अपत्यार्थक से मिन्न अण् पर रहते उक्षन् शब्द की टिका लोप होता है। उक्ष्ण इदम् यहाँ तस्येदम् से इदन्त्वेन पदरूप अर्थ बोधक अण् है टिलोप से औक्षम् । यहाँ अपत्यार्थक अण् उक्षन् से होता है यहाँ अकार मात्र का लोप होता है।

११६२ पपूर्वहन् घृतराज्ञामणि ६।४।१३५।

एपूर्वो यो अन् तस्य हनादेशच भस्यातो लोपोऽणि । औक्ष्ण । ताद्यः । औपधन् । घृतराज्ञोऽपत्य धावराज्ञ । पपूर्वेति किम् , साम्नोऽय सामनः । अणि किम् , ताम्रण्य ।

अण् प्रत्यय पर रहते भ सञ्ज्ञक जो षकारपूर्वक अन् एव हन् आदि शब्द उनके अकार का लोप होता है। उक्ष्ण अपत्यम्, तक्ष्ण अपत्यम्, अग्नन् अपत्यम्, घृतराज्ञ अपत्यम् यहाँ अण् पर में पूर्व की भ सञ्ज्ञा अकार का लोप हुआ औक्ष्ण आदि। सामन = यहाँ प पूर्व नहीं अण् 'अन्' प्रकृतिभाव से। तक्ष्ण अपत्य में कारि लक्ष्ण ण्यप्रत्यय है 'तेना दि सूत्र से। यहाँ प्रकृतिभाव है यादि प्रत्यय पर में होने से।

११६३ क्षत्राद् घः ४।१।१३८।

क्षत्रियः । जातावित्येव । क्षात्रिरन्यः ।

जाति की प्रतीति होने पर पठ्यन्त समर्थ क्षत्र से घप्रत्यय होता है । यहाँ शिष्टोक्त व्याख्यान से तत्पत्तम् का घ से ग्रहण नहीं है किन्तु स्वरूपप्रत्यायकमात्र 'घ' है । क्षत्रिया में उत्पन्न सन्तान में क्षत्रियः रूप । अन्यत्र क्षात्रिः—इज् प्रत्यय है ।

११६४ कुलात् खः १४।१।१३९।

कुलीनः । तदन्तादपि, उत्तरसूत्रेऽपूर्वपदादिति लिङ्गात् । आढ्यकुलीनः ।

पठ्यन्त समर्थ कुल शब्द से अपत्यार्थक खप्रत्यय होता है । उत्तर सूत्र में अपूर्वपद अर्थात् जिसके पूर्व में कोई पद न रहे ऐसे कुल शब्द से ख प्रत्यय विधान सामर्थ्यरूप प्रमाण से यहाँ तदन्त विधि से कुलान्त से भी ख प्रत्यय होता है । अन्यथा “ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति” इस परिभाषा से केवल कुल से ही प्राप्त था । कुलान्त से ख प्रत्यय ही न था अपूर्वपद का वैयर्थ्य स्पष्ट ही होता । ‘ग्रहणवता’ यह परिभाषा प्रत्यविधिविषया है उसकी प्राप्ति यहाँ है । अपूर्वपद ग्रहण से उसकी यहाँ प्रवृत्ति न हुई है । आढ्यञ्च तत् कुलम् आढ्यकुलं तत्र भवः आढ्यकुलीनः यहाँ आढ्यकुल से ख प्रत्यय हुआ है । यदि तदन्तविधि न कर कुलीन बनाकर आढ्यचासी कुलीनश्च आढ्यकुलीनः की सिद्धि करेंगे तो आढ्यकुलीन के अर्थ का विशेषण होगा । कुलगत आढ्यत्व की प्रतीति न होगी । एवं इकार को उदात्तत्व इस प्रकार स्वर में भी विशेषता । अतः तदन्तविधि से आढ्यकुल से ख प्रत्यय है ।

११६५ अपूर्वपदादन्यतरस्यां यङ्ङकञौ ४।१।१४०।

कुलादित्येव । पक्षे खः । कुल्यः । कौलोयकः । कुलीनः । पदग्रहणं किम्, बहुकुल्यः । बहुकौलोयकः । बहुकुलीनः ।

यदि कुलशब्द के पूर्व में कोई पूर्वपद न हो तो कुल से यत् एवं ङकञ् प्रत्यय विकल्प से होते हैं । पक्ष में यत् प्रत्यय होता है । तीन रूप हुए । यथा कुल्यः यहाँ यत् प्रत्यय है । कौलोयकः यहाँ ङकञ् प्रत्यय है । खपक्ष में कुलीनः । सूत्र में ‘अपूर्वात्’ कहते पूर्व में कोई रहे उसके बाद स्थित कुल को ख ङकञ् नहीं होगा पुनः सूत्र में पदघटित अपूर्वपदात् क्यों किया ? अर्थात् ‘पद’ की क्या आवश्यकता है ? उत्तर—सुबन्त कुल में ‘विभाषा सुपो ङङ्ङ् पुरस्तात्’ सूत्र में पुरस्त ग्रहण से प्रत्ययः परश्च की ङङ्ङ् प्रत्यय में प्रवृत्ति नहीं अतः ङङ्ङ् प्रत्यय प्रकृति के पूर्व में कर बहुकुल बना उससे ख ङकञ् एवं यत् होकर रूप त्रय रह है वे रूप अपूर्वात् से सिद्ध न होते क्योंकि पूर्व में स्थित ङङ्ङ् है, अपूर्वपदात् कहा तो पूर्व में स्थित पूर्वपद नहीं ङङ्ङ् पद नहीं । अतः पूर्वपदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावरूप अपूर्वपदत्व के होने से ख आदि प्रत्ययोत्पत्ति हुई है । यह अप्राप्त विभाषा है ।

११६६ महाकुलादङ्ङखञौ ४।१।१४१।

अन्यतरस्यामित्यनुवर्तते । पक्षे खः । माहाकुलः । माहाकुलीनः । महाकुलीनः ।

महाकुल समर्थ के उत्तर अज् एवं अज् प्रत्यय होते हैं विकल्प से । पक्ष से ख प्रत्यय होता है । महाकुलः यहाँ महश्च तत् कुलम् कर्मधारय ‘आन्महत्’ से महत् के तकार को आकारदेश दीर्घ महाकुल से भवार्थ में अज् प्रत्यय आदि वृद्धि अकार लोप महाकुलः । खञ् में माहाकुलीनः । ख मे महाकुलीनः ।

११६७ दुष्कुलाङ्कः ४।१।१४२।

पूर्ववत् पक्षे स । दौष्कलेय । दुष्कुलीन ।

दुष्कुल शब्द से उत्तर दक्ष् प्रत्यय विकल्प से होता है, पक्ष में ॥ प्रत्यय दुष्कूल = दुष्कुल वसने उत्पन्न अपत्य अर्थ में दक्ष् पक्ष स्व प्रत्यय से रूपद्वय ।

११६८ स्वसुच्छः ४।१।१४२।

स्वस्त्रीय ।

स्वसु शब्द से छ प्रत्यय होता है, स्वसु अपत्यम् = स्वस्त्रीय ।

११६९ भ्रातृव्यञ्च ४।१।१४४।

चाच्छ । अणोऽपवादः । भ्रातृव्य । भ्रात्रीय ।

अपत्यार्थ में वञ्चपन्त भ्रातृ शब्द से यच् प्रत्यय एवं चकार से छ प्रत्यय बोधित होता है । यह अपत्यार्थक अण का वाचक है ।

भ्रातृ पुत्र भ्रातृव्य । ॥ पक्ष में भ्रात्रीय ।

११७० व्यन्सपत्ने ४।१।१३५।

भ्रातृव्यन् स्यादपत्ये प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन शत्री वाच्ये । भ्रातृव्य शत्रु । पत्न्या भ्रातृव्येणेति तूपचारात् ।

यदि प्रकृति एवं प्रत्यय दोनों मिलकर शत्रु वाचक हो तो अपत्यरूप अर्थ में भ्रातृ शब्द से व्यन् प्रत्यय होता है । भ्रातृ अपत्यम् शत्रु है तो भ्रातृव्य । शत्रु अर्थ में व्यन् ही होता है, व्यन् एवं छ दोनों नहीं होते हैं । यहाँ भ्रातृव्य वटक-व्यन् यहाँ शत्रुरूप अपत्यार्थक है । अर्थात् शत्रु अर्थ का वाचक है । शत्रु रूप एवं वाच्य है । समुदाय में अवयव द्वारा तदर्थ वाचकत्व है अवयव समुदाय अवयवी है । स्मृतिकृत भ्रातृव्यशब्द के शानोपाय प्रदर्शित करते हैं । पाप्मा शब्द पुलिङ्ग पाप वाचक है । "अस्मी पञ्च पुमान् पाप्मा पाप विस्मिन् कश्मरम्" यह कोशोक्ति है । ज्ञाना का पुत्र मनीषा तो पाप नहीं हो सकता है ऐसी परिस्थिति में पाप्मना भ्रातृव्येन यह प्रयोग करना अनुचित है उस शब्द के निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं कि मातृपुत्र में पारस्व्य बन्ध आरोपित है अर्थात् साक्षात् पाप ही भ्रातृपुत्रत्वेन प्रकट हुआ है, पाप ही पुत्र रूप से मूर्ति धारी है । उपचार = लक्षणा से बोधन को कहते हैं ।

११७१ रेवत्यादिभ्यष्टक् ४।१।१४६।

रेवत्यादिगण पठित शब्द से अपत्य अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

११७२ ठस्येकः ७।३।५०।

अङ्गान् परस्य ठस्येकदेश स्यात् । रैवतिकः ।

अङ्ग से पर ठकार को इकादेश होता है । स्थानी एवं आदेश में व्यञ्जन ट्को व्यञ्जनात् इक आदेश होता है । रेवत्या अपत्यम् रैवतिक । अणपात्स्या अपत्यम् अणपात्तिक । माणि पात्तिक । द्वारपात्तिक ।

११७३ गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च ४।१।१४७।

गोत्रे या स्त्री तद्वाचकाच्छब्दात् णठकौ स्तः कुत्सायाम् । सामर्थ्याच्चूनि ।
गार्ग्या अपत्यं गार्ग्यो गार्गिको वा जात्मः । 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्-
भावाद् गार्ग्यशब्दाण्णठकौ । यस्येति लोपः । आपत्यस्येति यलोपः ।

निन्दा अर्थ की प्रतीति में गोत्रार्थक प्रत्ययान्त स्त्रीवाचक से ण एवं ठक् प्रत्यय होते हैं ।
यहां गोत्राधिकार है किन्तु 'एको गोत्रे' नियम से गोत्रार्थक प्रत्यय कर तदन्त से अपर गोत्रार्थक
प्रत्यय नहीं होता है ऐसी परिस्थिति में यह ण एवं ठक् का विधायक व्यर्थ होकर स्थापन करता
है कि युवापत्य में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । गर्गस्य गोत्रापत्यं कन्या (स्त्री) यहां गार्गो होता है,
किन्तु ढभिन्न तद्धित प्रत्यय विवक्षित होने पर पुंवद्भाव होकर गार्ग्य से णप्रत्यय एवं ठक् प्रत्यय
गार्ग्या अपत्यं गार्ग्यो गार्गिको वा जात्मः इस विग्रह में पूर्व पुंवद्भाव होकर ण एवं ठक् है । यस्येति
से अकार का लोप, आपत्यस्य से यकार का लोप । जात्म का अर्थ है असमीक्ष्यकारी = अविचा-
रितकार्यकर्ता, अतः यहां निन्दा की प्रतीति है ।

११७४ वृद्धाटठक् सौवीरेषु बहुलम् ४।१।१४८।

सुवीरदेशोद्भवाः सौवीराः । वृद्धात्सौवीरगोत्राद् यूनि बहुलं ठक् स्यात्
कुत्सायाम् । भागवित्ते भागवित्तिकः । पक्षे फक् भागवित्तायनः ।

सुवीर देशोद्भव मनुष्य को सौवीर कहते हैं । निन्दा अर्थ की प्रतीति होने पर युवापत्य
अर्थ गोत्रवाचक जो सौवीर वृद्ध संज्ञक है उससे पर बहुल करके ठक् प्रत्यय होता है । यथा
भागवित्तस्य गोत्रापत्यम् इन् भागवित्तिः तस्य युवापत्यन् ठक् भागवित्तिकः । पक्ष में फक् आयन्
भागवित्तायनः ।

११७५ फेच्छ च ४।१।१४९।

फिञ्न्तात्सौवीरगोत्रादपत्ये छः, ठक् च कुत्सने गम्ये । यमुन्द्रस्यापत्यं
यामुन्दायानिः । तिकादित्वात् फिञ् । तस्यापत्यं यामुन्दायनीयः । यामुन्दा-
यनिकः । कुत्सनेति किम्, यामुन्दायनिः । औत्सर्गिकस्याणो ण्यक्षत्रियेति
लुक् । सौवीरति किम्, तैकायनिः ।

कुत्सा गम्यमान होने पर अपत्य अर्थ में फिञ् प्रत्ययान्त गोत्र वाचक सौवीर से छ प्रत्यय
एवं ठक् प्रत्यय होता है । तिकादित्व प्रयुक्त फिञ् प्रत्ययान्त यमुन्द्रस्य गोत्रापत्यम् अर्थ में
यामुन्दायनिः । उसका अपत्य अर्थ में इससे छ एवं ठक् प्रत्यय से यामुन्दायनीयः । एवं यामुन्दा-
यनिकः । कुत्सा अर्थ न होने पर यामुन्दायनिः । यहां 'ण्यक्षत्रिय' से अण् प्रत्यय का लुक् है ।
सौवीर से भिन्न अर्थ में छ एवं ठक् नहीं होता है । यथा तैकायनिः ।

११७६ फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिणौ ४।१।१५०।

सौवीरेषु । नेह यथासङ्ख्यम्, अल्पाचत्तरस्य परनिपाताल् लिङ्गादिति
वृत्तिकारः । अन्ये तु यथासङ्ख्यमेवेति स्थितम् । फाण्टाहृतः । फाण्टाहृ-
तायनिः । मैमतः । मैमतायनिः ।

सौवीर अर्थ में फाण्टाहृति एवं मिमन से ण एवं फिञ् प्रत्यय होता है यहां 'कुत्सने' की
निवृत्ति है । यहां ण प्रत्यय के शित्व का फल 'मैमतः' है । फाण्टाहृतः' में नहीं है । फाण्टाहृता-
भार्यः यहां 'वृद्धिनिमित्तस्य' से पुंवद्भावनियमरूप फल शित्व का नहीं है, एको गोत्रे से फिञ्

के बाद अपत्याधिकार प्रत्यय नहीं होता है, युवार्थक तो होगा ही नहीं कौटिल्य में युवसवा होती ही नहीं है। अतः फाण्टास्मिता रूप का ही अभाव प्रयुक्त 'फाण्टास्मितामार्थ' यह प्रयोग भी सम्भव नहीं है। सूत्र में इन्द्र निर्देश है भिमत अस्वाच् है उसका पूर्वनिपात होना चाहिए 'अस्वाचतत्परम्' से वह न कर भिमत क्त परनिपातत्वरूप प्रमाण से यदा यथासङ्ग नही दोनों से दोनों प्रत्यय होते हैं। यह वृद्धिकार का मत है। माध्यकार पूर्वनिपात प्रकरण को अनित्य मान कर यथासङ्ग को ही यहाँ स्वीकार करते हैं, अनित्य में 'इ' को गुण वृद्धि निर्देश है अथवा 'वृद्धिगुणो' होना।

११७७ कुर्वादिभ्यो ण्यः ४।१।१५१।

अपत्ये । कौरव्या प्राक्षणा । वावदूक्या । कंसमाज क्षत्रियेक्ष । साम्राज्य । साम्राजोऽन्य ।

अपत्य अर्थ से कुल आदि से ण्य प्रत्यय होता है कुरो अपत्यानि पुमास कौरव्य कुव+ण्य आदिवृद्धि ओगुण से गुण अवादेश । वद धातु से वल् प्रत्यय वलन्तसे वल् प्रत्यय से वावदूक से ण्य अकार ओप वावदूक्या । सप्ताड् शब्द से ण्य प्रत्यय होता है क्षत्रिय में । साम्राज्य क्षत्रिय । अन्यत्र साम्राज्य ।

११७८ सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च ४।१।१५२।

एभ्यो ण्य । एति सहायामिति सस्य च । हरियेण्य । साक्षण्य । कारि' = शिल्पी तस्मात् तान्तुवाच्य' । कौम्भकार्य्य' । नापित्य ।

सेनान्त शब्द, लक्षण शब्द, शिल्पिवाचक कारिशब्द उनसे ण्य प्रत्यय होता है। एति सहायान् सूत्र से सकार को षकारादेश होता है। हरिवेणस्यापत्यम् हरिवेभ्य यदा जात एव इसकी वृद्धि में असिद्ध है, अतः सेनान्त है। तान्तुवाच्यस्यापत्यम् इस विग्रह में तान्तुवाच्य । कृष्ण कारस्यापत्यम् कौम्भकार्य्य' । नापितस्यापत्यम्—नापित्य ।

११७९ उदीचामिन् ४।१।१५३।

हारियेणि । साक्षणि । तान्तुवायि । कौम्भकारिः । नापितास्तु परत्वात् फिन्वे । नापितायनि । कृतदणोऽण उपसङ्ख्यानम् । साक्षण । पक्षे साक्षण्य ।

सेना त लक्षण, कारिवाचक शब्द से उत्तरदेशस्थ विद्वानों के मत से इन् प्रत्यय होता है। लक्षण शब्द से अण् प्रत्यय होता है। 'पूत' से अकार ओप होता है।

११८० तिकादिभ्यः फिन् ४।१।१५४।

तैकायनि ।

तिकादि शब्द से अपत्यार्थ में फिन् प्रत्यय होता है।

११८१ कौशल्यकार्मार्याभ्यां च ४।१।१५५।

अपत्ये फिन् । इवोऽपवाद । कृपरमप्रकृतेरेवायमिष्यतेक्ष । प्रत्ययसन्नि योगेन प्रकृतिरूप निपात्यते । कोसलस्यापत्य कौसल्यायनि । कर्मारस्यापत्य कार्मार्यायणि । कृष्णगवृषयोरपि । छाग्यायनि । वाप्योयणि ।

कौशल्य एवं कार्मार्य शब्द से अपत्य्य अर्थ में फिन् प्रत्यय होता है। यह अपत्य्यार्थक इज् का अपवाद है। यह फिन् प्रत्यय कोसल एवं कार्मार के उत्तर होता है। फिन् प्रत्यय के सन्निधान में कौशल्य एवं कार्मार्य का निपातन होता है। यदि 'वृद्धेकोसल' से विहित व्युत्पन्न से यह फिन् करते तो युवार्थक ही होता, इज् गोत्रार्थक वह है सो न होता क्योंकि गोत्रापत्य्य से पुनः गोत्रार्थकपत्य्य नहीं होता है 'एको गोत्रे' नियमार्थ है। एवं सेनान्त' सूत्र विहित प्य प्रत्ययान्त कार्मार्य स फिन् में युवा अर्थ में होता जो इज् नहीं है अत मूल प्रकृति से ही फिन् का विधान एवं निपातन पक्ष ही उचित हैं। कुशलस्य अपत्य्यम्—कौशल्यानिः। कार्मार्यायणिः। छाग वृष से भी फिन् प्रत्यय अपत्य्य में होता है। एवं फको आयन् आदेश को युद् आगम होता है। छाग्यायनिः। वाप्यायणिः। दाग्यायनिः।

११८२ अणो द्व्यचः ४।१।१५६।

अपत्य्ये फिन्। इज्कोऽपवादः। कार्त्रायणिः। अण इति किम्, दाक्षायणः। द्व्यचः किम्, औपगविः। कृत्यदादीनां फिन् वा वाच्यः। त्यादायनिः। त्यादः।

दो स्वरयुक्त अणन्त शब्द से फिन् प्रत्यय होता है। यह इज् का वाचक है। कर्तुः अपत्य्यम् कार्त्रः। तस्य अपत्य्यम् इति विग्रहमें कार्त्रायणिः। दक्षस्यापत्य्यम् दाक्षिः तस्य अपत्य्यम् यदा अणन्त न होने से फक् दाक्षायणः। त्यदादि से फिन् प्रत्यय विकल्प से होता है। त्यादायनिः। त्यादः।

११८३ उदीचां वृद्धादगोत्रात् ४।१।१५७।

आम्रगुप्तायनिः। प्राचान्तु आम्रगुप्तिः। वृद्धात् किम्, दाक्षिः। अगोत्रात् किम्, औपगविः।

गोत्र प्रत्ययान्त भिन्न जो वृद्ध संशक शब्द उससे फिन् प्रत्यय उत्तरदेशीय जाचार्यों के मत से होता है।

११८४ वाकिनादीनां कुक् च ४।१।१५८।

अपत्य्ये फिन् वा। वाकिनस्यापत्य्यम्—वाकिनायनिः। वाकिनिः।

अपत्य्य में वाकिनादि से फिन् एवं कुक् का आगम विकल्प से होता है।

११८५ पुत्रान्तादन्यतरस्याम् ४।१।१५९।

अस्माद् वा फिन् सिद्धस्तस्मिन् परे पुत्रान्तस्य वा कुक् विधीयते। गार्गी-पुत्रकायणिः। गार्गीपुत्रिः।

पुत्रान्त शब्द से उत्तर विकल्प से फिन् प्रत्यय तो सिद्ध हो है। केवल विकल्प से कुक् आगम होता है।

११८६ प्राचामवृद्धान् फिन् बहुलम् ४।१।१६१।

ग्लुचुकायनिः।

प्राचीनों के मतमें अवृद्धसंशक से फिन् प्रत्यय बहुल होता है।

११८७ मनोज्ञातावज्यतो पुक् च ४।१।१६१।

समुदायार्थो जातिः । मनुषः । मनुष्यः ।

यहा करवय श्रुति की पत्नी मनु का ग्रहण है, प्रकृति एवं जायमान प्रत्यय इन से मनुष्यत्व जाति की प्रतीति दीती हो वहां बहवना समर्थ मनुसे जन् प्रत्यय एवं यप्रत्यय है । एवं पुक् भागम होता है । मनो अरदम्, मानव । मनुष्यः ।

११८८ जनपदशब्दात् क्षत्रियादब् ४।१।१६८।

जनपदक्षत्रिययोर्वाचकादब् स्यादपत्ये ।

दाण्डिनायनेति सूत्रे निपातनाद्विज्ञोपः । ऐच्वाकः । ऐच्वाकौ । ॐ क्षत्रिय-
समानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यप्रत्ययवत् ॐ । तद्वराजमाचक्ष्माणस्तद्राज
इत्यन्यर्थसज्ञासामर्थ्यात् । पञ्चालानां राजा पाञ्चालः । ॐ पूरोरब् वक्तव्यः ॐ ।
पौरवः । ॐ पाण्डो ङण् । पाण्ड्यः ।

जनपद एवं क्षत्रियवाचक से उत्तर अपत्य में अम् प्रत्यय होता है । 'दाण्डिनायन' से निपा-
तन प्रयुक्त टि का लोप होता है । इच्वाको अपत्यम् इस विग्रहमें अम् प्रत्यय एवं ककार का लोप
आदि वृद्धि से ऐच्वाक क्षत्रियेण समान शब्दो यस्य जनपदस्य सोऽय क्षत्रियसमानशब्दो जनपदः ।
क्षत्रियेण समान शब्द, क्षत्रियसमानशब्दस्त्वस्मात् क्षत्रियसमानशब्दात् = एकवर्णमात्रा से देश एवं
उस देश क शासक राजा को जो शब्द कहना है । ऐसा समानानुपूर्विक शब्दसे राजरूप अर्थ बाध्य
रहने पर अपत्यार्थक, जो प्रत्यय उसके समान प्रत्यय होते ॥ । अर्थात् क्षत्रिय तुल्य जनपद वाचक
शब्द से उत्तर वस्तुका राजा इस अर्थ अपत्य समान प्रत्यय करना चाहिए । अन्यर्थ = सार्थक
तद्वराज इति सहाकरण से तद्वराज सहा करण सामर्थ्य से यह अर्थ लब्ध हुआ है । यहाँ 'अवृद्धा-
दपि बहुवचनविषयात् से प्राप्त वुम् को बाध करके अम् प्रत्यय से पाञ्चाल - पञ्चालानां राजा ।
पूरुशब्द से अण् प्रत्यय होता है । पौरव । पाण्डुशब्द से उत्तर ङण् प्रत्यय होता है । तथा
पाण्ड्यः ।

११८९ सान्त्वेयगान्धारिभ्याश्च ४।१।१६९।

आभ्यामपत्येऽब्, 'वृद्धेत्' इति व्यङ्गोऽपवादः । सान्त्वेयः । गान्धारः ।
तस्य राजन्यप्येवम् ।

सान्त्वेय एवं गान्धारि शब्द से उत्तर अपत्यरूप अर्थमें अण् प्रत्यय होता है यह व्दब् का
निषेधक है । सान्त्वेयानामपत्यम् सान्त्वेय । गान्धार । इनके राजा इस अर्थमें मा अपत्यार्थ-
समान ही प्रत्यय होकर बहा भी सान्त्वेय । गान्धारः प्रयोग करना चाहिए ।

११९० द्वयज्मगधकलिङ्गसूरमसादण् ४।१।१७०।

अत्रोऽपवादः । द्वयच्—आङ्गः । वाङ्गः । सौङ्गः । मागधः । कालिङ्गः ।
सौरमत्तः । तस्य राजन्यप्येवम् ।

दो स्वरयुक्त शब्द, मगध, वज्जि, सूरसम इनसे अण् प्रत्यय अण् को बाध कर होता है ।
अपत्य में प्रत्यय निम्न प्रकार उत्ती प्रकार ज्ञ देशों के राजा में भी प्रत्यय होता है ।

११९१ वृद्धेत्कोसलाजादान् व्यह् ४।१।१७१।

वृद्धात्—आम्बपृथः । सीवीर्य्यः । इत्—आवन्त्यः । कौसल्यः । अजाद-
स्यापत्यम्—आजायः ।

वृद्ध संज्ञक शब्द, इकारान्त शब्द, कौसल, अजाद इनसे पर व्युत् प्रत्यय होता है वृद्धसंज्ञक का उदाहरण—आम्बपृथान् अपत्यम् तेषां राजा वा इत् अर्थ में व्युत् आम्बपृथः । सीवीर्य्यः । इकारान्तोदाहरण—अवन्तीनाम् अपत्यं राजा वा आवन्त्यः । कौसकानाम् अपत्यन् तेषां राजा वा कौसल्यः । अजादस्य अपत्यन् अजायः ।

११९२ कुरुनादिभ्यो ण्यः ४।१।१७२।

कौरव्यः । नैपथ्यः । सनैषघस्यार्थपतेरित्यादौ तु शोपिकोऽण् ।

कुरु पर्व नकारादिशब्द के उत्तर ण्यप्रत्यय होता है । यथा कुरुणाम् अपत्यम् तेषां राजा वा कौरव्यः । निषथानाम् अपत्यं तेषां राजा वा नैपथ्यः । 'शेषे' से अण् प्रत्यय करके नैपथ प्रयोग भी होता है ।

११९३ साल्वावयवप्रत्यग्रन्थकालकूटाश्मकादिब् ४।१।१७३।

साल्वो जनपदस्तदवयवा उदुम्बरादयस्तेभ्यः प्रत्यग्रन्थादिभ्यस्त्रिभ्यश्च इब् । अवोऽपवादः । औदुम्बरिः । प्रात्यग्रथिः । कालकूटिः । आश्मकिः । राज-
न्ययवेवम् ।

यहां साल्व से साल्व नामक देश विशेष जानना चाहिए । उस जनपद का अवयव जो उदु-
म्बरादि शब्द, प्रत्यग्रन्थ, कालकूट, अश्मक इनसे इन् प्रत्यय अन् को बाध कर होता है । अपत्य एवं राजा में समान रूप है । उसका शान प्रकरणादि से होता है ।

११९४ ते तद्राजाः ४।१।१८४।

अन्वादय एतत्संज्ञाः स्युः ।

जनपद सूत्र से आरम्भ कर यहां तक विधीयमान प्रत्ययों की तद्राज संज्ञा होती है । यह महती संज्ञा सार्थक है ।

११९५ तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् २।४।६२।

बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक् स्यात् तदर्थकृते बहुत्वे, न तु त्रियाम् ।
इक्ष्वाकवः । पञ्चाला इत्यादि । कथं तर्हि कौरव्याः पशवः, तस्यामेव रघोः
पाण्ड्या इति च. कौरव्ये पाण्ड्ये च साधव इति समाधेयम् । रघूणा-
मन्ययं वक्ष्ये, निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चिदिति तु रघुयदुशब्दयो-
स्तदपत्ये लक्षणया ।

तद्राज संज्ञक जो प्रत्यय उसका जो अर्थ तदगत जो बहुत्व अर्थ जहां गन्यमान रहे वहां तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है, + स्त्रीलिङ्ग में लुक् नहीं होता है । ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकौ इक्ष्वाकवः । यहां बहुवचन में तद्राज संज्ञक अन् का लुक् । 'कुरवः' होना चाहिये 'कौरव्याः' यह रूप कैसे हुआ ? एवम् 'पाण्डवः' होना चाहिए कथं पाण्ड्याः । उत्तर—कौरव्ये पाण्ड्ये च साधव अर्थ में तत्र साधु से यत् प्रत्यय है । रघु यदु वी उनके अपत्य में लक्षणा है यहां तद्राज संज्ञक

प्रत्यय न होने से लुक् न होकर राषवाणान्, यादवानान् रूप होता है। अतः लक्षणा ही है प्रत्यय अपत्यार्थक नहीं उत्पन्न हुआ है 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इस न्याय से।

११९६ कम्बोजाल् लुक् ४।१।१७५।

अस्मात् तद्वराजस्य लुक् । कम्बोजः । कम्बोजौ । ॐ कम्बोजादिभ्य इति घक्त्यम् ॐ । चोलः । शकः । द्वयजलक्षणस्याणो लुक् । केरलः । यवनः । अणो लुक् कम्बोजाः समरे इति पाठः सुगमः । दीर्घपाठे तु कम्बोजोऽभिजनो येषामित्यर्थः । सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽण्भावित्यन् ।

कम्बाज शब्द से विहित तद्वराज सङ्गक प्रत्यय का लुक् होता है। यहाँ वातिककार कहते हैं कि कम्बोज भादि शब्दोत्तर तद्वराज प्रत्ययों का लुक् होता है। यथा चोलः । शकः । यहाँ द्वयच सूत्र से विहित अण् प्रत्यय का लुक् है । केरलः । यवनः, यहाँ अण् का लुक् है।

रघुपदा ने 'कम्बोजाः' यही पाठ है। दीर्घ पाठ यदि है तो प्रथमान्त से अभिजन अर्थ में अण् प्रत्यय करके वसुकी सिद्धि होती है। सिन्धुतक्ष से अण् है।

११९७ त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च ४।१।१७६।

तद्वराजस्य लुक् स्यात् । अवन्ती । कुन्ती । कुरुः ।

श्रीलिङ्ग में अवन्ति, कुन्ति, कुरु से तद्वराज सङ्गक प्रत्यय का लुक् होता है। अवन्तीना-मपत्यम् तेषां राजा वा अवन्ता, यहाँ 'वृद्धे' सूत्र से ण्यक् का लुक् कर 'इतो मनुष्यमातेः' से ङीप् है। इसी प्रकार कुन्ती । ण्यका लुक् से कुरुः + ङक् प्रत्यय है। सूत्र-ककुतः ।

११९८ अतश्च ४।१।१७७।

तद्वराजस्याकारस्य त्रियां लुक् स्यात् । शूरसेनी । शूदी । कथं मात्रीमुवा-र्वित । ह्रस्व पाठ इति हरदत्तः । भर्गादित्वं वा कल्प्यम् ।

श्रीलिङ्ग में तद्वराज सङ्गक प्रत्ययों का लुक् होता है। शूरसेनी यहाँ अण् का लुक् जाति लक्षण ङीप् है। अण का अकारलोप से ङीप् न हुआ। मन्त्रीशतौ यही पाठ है यह हरदत्तजी का मत है। दीर्घान्त पक्ष में भर्गादित्व मानना।

११९९ न प्राच्यमर्गादियौघेयादिभ्यः ४।१।१७८।

पञ्चस्तद्वराजस्य न लुक् । पाञ्चाली । वैदर्भी । आङ्गी । मागधी, एते प्राच्याः । मार्गी । कारुशी । कैकयी । केकयीत्यत्र तु अन्यजनकभावलक्षणे प्रयोगे ङीप् । युधा । शुक्रा । आभ्यां द्वयच इति ढक् । ततः स्वार्थे ण्वादि-यौघेयादिभ्योऽण्भावित्यन् । शार्ङ्गखाद्यन् इति ङीन् । अतश्चेति लुकि तु ठगन्तत्वात् ङीप्पुदाननिवृत्तिस्वरः स्यात् । यौघेयी । शौक्येयी ।

प्राच्य मङ्गक, भर्गादि एवं यौघेयादि से पर तद्वराज सङ्गक प्रत्यय का लुक् नहीं होता है। पाञ्चालस्य अपत्यम् कन्या राज्ञी वा पाञ्चाली । विदर्भस्यान्यम् राज्ञी वा वैदर्भी । आङ्गी इत्यादि । केकयस्य अपत्यम् कन्या अर्थ में पुंयोगात् सूत्र से ङीप् है। युधा ढक् यौघेय अत्र इसका लुक्

का अभाव होन् वहां चोपध होने से होप् की प्राप्ति नहीं है। यहां अनुदात्तस्य दप्रोदात्तयोः से होप् को तद्वराज संश्रुत का लोप होने से उदात्तत्व न हुआ किन्तु अन् के लुगमान से होन् प्रत्यय ही हुआ होन् उदात्त ही हुआ है। 'अनश्' सूत्र से जो विधीयमान लुक् है वह समीपवर्ती चातुरधिक का ही लुक् करेगा, इस पाश्चात्तिक का लुक् नहीं करेगा पुनः हममें दीध्यादि ग्रहण क्यों जिना ? वह शानन करना है कि व्याप्तिन्याय से पाश्चात्तिक का लुक् भी वह लुक् करना है। पाध्य सामान्य चिन्ता पक्ष से।

१२०० अणिञोरनार्पयोर्गुरुपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे ४।१।७८।

व्यादीनामन्त्यमुत्तमं तस्य नमीपमुपोत्तमम्। गोत्रे यावणिञौ विहिताव-
नार्पौ तदन्तयोर्गुरुपोत्तमयोः प्रातिपदिकयोः स्त्रियां ष्यङादेशः स्यात्। निर्दिश्य-
मानस्यादेशा भवन्तीत्यणिञोरेव। षड्वावितौ। यङश्चाप्। कुमुदगन्धेरपत्यं
स्त्री कौमुदगन्ध्या। वाराणा। अनार्पयोः किम्, यमिष्टी। वैश्यामित्री। गुरुपो-
त्तमयोः किम्, औपगवी। जातिलक्षणो ङीप्। गोत्रे किम्, अहिच्छत्री।
जाता आहिच्छत्री।

व्यादि का जो अन्त्य भाग उत्तमो उत्तम करने है। यद् उत्तम शब्द उत्तमक तरप् प्रत्य-
यान्त नहीं ही है किन्तु अयुतत्र प्रातिपदिक है, अनः आसु प्रत्यय होना चाहिए वर द्रष्टा
निरस्त हुए। उत्तम के समीप को उपोत्तम करने है। गोत्र अर्थ में विहित जो अनार्प = ऋषि-
वाचक शब्द से अतिरिक्त अन् प्रत्यय एवं इन् प्रत्यय तदन्त को गुरुपोत्तम प्रातिपदिक उनके
उत्तर स्त्रीलिङ्ग में ष्यङ् आदेश होना है। अन् एवं इन् कीं ही ष्यङ् आदेश निर्दिश्यमान परिभाषा
से होता है। षड्वावित्यन्यापमिष्टोन्वितिविपर्ययं निर्दिश्यमानतन् = जो शास्त्रान्तर के
असहयोग से षड्वा विभक्ति को प्रकृति से उपत्तिन होता है उसको निर्दिश्यमान करते हैं। वह
अर्थात् सामान्य लक्षण है। विशेष विवेचन कल्प्य है। इससे विहित ष्यङ् में पकार एवं टकार
की इत्संज्ञा है। 'षट्वाप्' से चाप् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग से होता है। कुमुदस्य गन्ध इव गन्धो यस्य इति
कुमुदगन्धिः। कुमुदगन्धेरपत्यम् स्त्री = कन्या कौमुदगन्ध्या। वाराणा इन् ष्यङ् चाप्। ऋषि
वाचक शब्द विहित अन् एवं इन् कीं ष्यङ् आदेश न हुआ। वया वासिष्ठो। वैश्यामित्री। ङीप्
प्रत्ययान्त औपगवी यहां उपोत्तम गुरु नहीं है। आहिच्छत्री में अनार्पक अन् है।

१२०१ गोत्रावयवात् ४।१।९९।

गोत्रावयवा गोत्राभिमतः कुलाख्यास्ततो गोत्रे विहितयोरणिञोः स्त्रियां ष्य-
ङादेशः स्यात्। अगुरुपोत्तमार्थमारम्भः। पौणिक्या। भौणिक्या।

गोत्रावयव = कुलनाम वाचक शब्द से पर गोत्रार्थ में विहित अन् एवं इन् प्रत्यय उनके
ष्यङ् आदेश स्त्रीलिङ्ग में होता है। वह गुरुपोत्तमार्थ भिन्न के लिए किया है। पुनिका वरं गोत्रेन
पुनिका वरं गोत्रेन। पुनिका का अपत्य पुनिका का अपत्य में पौनस्या, भौणस्या।

१२०२ क्रौड्यादिभ्यश्च ४।१।८०।

स्त्रियां ष्यङ् प्रत्ययः स्यात्। अगुरुपोत्तमार्थोऽनणिञर्थश्चार्थः। क्रौड्या।
व्याड्या। ऋसूत युवत्याम्। ऋसूत्या। ऋभोज क्षत्रियेऋ। भोज्या।

कौड्यादि से उत्तर व्यञ् प्रत्यय होता है। कौटिल्ल में। अगुरुपोत्तमार्थ एवं अण इन के अर्थ मित्रार्थ के लिए इसका आरम्भ है। कौटि, व्याटि से व्यञ् प्रत्यय, चाप्। सुवती अर्थ में सूत शब्द से व्यञ् होता है। सूत्या। छत्रिय वाच्य होनेपर भोब से व्यञ् होता है। मोन्या।

१२०३ दैवयज्ञिशौचिवृद्धिसात्यमुग्रिकाण्डेविद्विभ्योऽन्यतरस्याम्

४।१।८१।

एभ्यश्चतुर्भ्यः व्यञ् वा। अगोत्रार्थमिदं गोत्रेऽपि परत्यात्मयतते। पक्षे इतो मनुष्येति ङीप्। दैवयज्ञ्या। दैवयज्ञो।

इत्यपत्याधिकारः।

मूत्रोक्त चार शब्दों से विकल्प व्यञ् होता है। यह सूत्र अगोत्रार्थ है किन्तु गोत्र में भी परस्व के कारण प्रवृत्त होता है। विकल्प पक्ष में 'इतो मनुष्यभाते' से ङीप् होता है।

वे चारों शब्द इनन्त है। देवा यथा = यष्टभ्या यस्य स दैवयज्ञ। शुचि वृक्षो यस्य स शुचिर्दृष्ट। सत्यम् वज्रम् यस्य स सत्यमुग्र। मुग् आगम है। एव विशेष्य का पूर्वनिपात है। काण्डेन विद्व काण्डविद्व। एव निपातयते। इन सब से अपत्य में इन् प्रत्यय है। यह उभयपक्ष विभावा है।

५० श्रीवा० कृ० पञ्चोलिकिरचिण रत्नप्रभा में अपत्याधिकार प्रकरण समाप्त



अथ तद्धितेषु रक्ताद्यर्थकप्रकरणम् ॥ २७ ॥

१२०४ तेन रक्तं रागात् ४।२।१।

रज्यतेऽनेनेति रागः । कषायेन रक्तं वस्त्रं कापायम् । माञ्जिष्ठम् । रागात् किम्, देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम् ।

जिससे कोई वस्तु रङ्गी जाय उसको राग कहते हैं । तृतीयान्त समर्थ राग शब्द से रंगा हुआ अर्थात् रक्त अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । कषाय से रक्त वस्त्र अर्थ में कापायन् । माञ्जिष्ठ से रंगा हुआ वस्त्र को माञ्जिष्ठम् । तृतीयान्त रागवाचक नहीं वहाँ वाक्य है, यथा देवदत्तेन रक्तम् वस्त्रम् ।

१२०५ लाक्षारोचनाड्ठक् ४।२।२।

लाक्षिकः । रोचनिकः । क्लृप्तकलकर्ममाभ्यामुपसङ्ख्यानम् । शाकलिकः । कार्दमिकः । आभ्यामणपीति वृत्तिकारः । शाकलः । कार्दमः । क्लृणीत्या अन् । नील्या रक्तं नीलम् । क्लृपीतात् कन् । पीतकम् । क्लृहरिद्रामहाराजनाभ्यामन् । हरिद्रम् । माहारजनम् ।

तृतीयान्त रागवाचक लाक्षा एवं रोचना शब्द से 'रक्त' अर्थ में ठक् होता है । लाक्षया रक्तः पटः लाक्षिकः । रोचनयाः रक्तः पटः रोचनिकः । तृतीयान्त शकल एवं कर्म से रक्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । शकलेन रक्तः शाकलिकः । कर्मैव रक्तः कार्दमिकः । अण् प्रत्यय भी तृतीयान्त शकल एवं कर्म से रक्त अर्थ में होता है यह वृत्तिकारका मत है । माप्य में यह अनुक्त है ।

“शकलं त्वचि खण्डे च रागवस्तुनि वल्कले” यह विश्वकोष है । तृतीयान्त रागवाचक औपधि अर्थवाचक नीली से रक्त अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । नील्या रक्तम् नीलम् । तृतीयान्त पीत शब्द से रक्त अर्थ में कन् प्रत्यय होता है । पीतेन रक्तम् पीतकम् । तृतीयान्त हरिद्रा एवं महारजन से रक्त अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । हरिद्रया रक्तम् हरिद्रम् । महारचनया रक्तं माहारजनम् ।

१२०६ नक्षत्रेण युक्तः कालः ४।२।३।

पुण्येण युक्तं पौषम् अहः । पौषी रात्रिः ।

तृतीयान्त पुष्पनक्षत्र से युक्त अर्थ में अण् प्रत्यय होता है जो युक्त है वह काल रहें तब । योगार्थक युजिर् से कर्म में क्तप्रत्यय है । संयोजन क्रिया कर्म काल । खोलिङ्ग में लोप् पौषी । पुष्प शब्द अनेकार्थक है ।

पुष्प समीपस्थ चन्द्र से युक्त अर्थ में प्रत्यय । सभी दिवसों का पुष्प नक्षत्र से सदा योग है किन्तु चन्द्र से योग तो कभी कभी ही है । काल अर्थ नहीं यथा 'पुष्पेण युक्तः चन्द्रः' यहाँ वाक्य ही रहता है । पुष्पाति कार्याणि इति पुण्यः । कलियुग में भी पुण्य शब्द है । मास एवं नक्षत्र भेद में पुष्प शब्द है । पुष्प नक्षत्र में कृत कार्य अधिकांश फलयुक्त होता है । शुभकार्मारम्भ उसमें लोग करते हैं । प्राचीन लोग स्वर्ण खरीद कर इस नक्षत्र में रखते थे जो शुभ होता था ।

१२०७ लुवविशेषे ४।२।४।

पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात् । पष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यापान्तरविशेष-
श्चेन्न गम्यते । अद्य पुष्य । कथं तर्हि पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषीति । विभाषा
फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्य इति निर्देशेन पौर्णमास्यामय लुक् नेति ह्यापि
तत्वात् । श्रवणशब्दात् अत एव लुप् युक्तवद्भावाभावश्च । अबाधकान्यपि
निपातनानि । श्रावणी ।

यदि १० दण्ड स्वरूप समयरूप काल का अन्तर = मध्यस्थ काल विशेष की प्रतीति न
हो तो पूर्व सूत्र विहित जो प्रत्यय उसका लोप होता है ।

पुष्ये युक्त काल अद्य पुष्य । यद्यपि पुष्पनक्षत्र से युक्त जो चन्द्रमा उससे युक्त षष्ठ्यादि
बड़ी उठे से परिच्छिन्न काल परक पुष्य का अद्यमवस्था का सम्भव नहीं है, क्योंकि अनेक में
आधाराधेय भाव सम्भव नहीं है तो भी 'अद्यतनम् बहोरात्रम्' के सर्वत्र एव राहो शिर' की
तरह कश्चित्भेद को लेकर आधाररत्न की उपपत्ति समझनी चाहिये ।

सूत्र में नक्षत्र शब्द तत्र तत्र नक्षत्रों से युक्त शशि बोधक है । उन उन नक्षत्रों से युक्त शशि
युक्तकाल अर्थ में जो प्रत्यय उसका लुप् विधान होता है यहा 'अविशेषे सामीप्य' मूलक सम्बन्ध से
तत्र २ नक्षत्र युक्त शशि का यावत् कालावच्छेदेन सम्बन्ध है उसका व्याप्य काल या कालविशेष
उसकी विवक्षा न रहे यही सूत्रार्थ का रहस्य प्रतीयमान है ।

इस सूत्र के रहते हुए पौषी पौर्णमासी यह प्रयोग क्यों हुआ ? पुष्या पौर्णमासी होना चाहिए
समाधान—सूत्र निर्देश से पौर्णमासी अर्थ में यह सूत्र लुप् नहीं करता है अत एव विभाषा
फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्य २ यह निर्देश उपपन्न हुआ । श्रवण नक्षत्र युक्त शशि युक्त
काल में श्रवणा पौर्णमासी में सूत्र निर्देश में 'श्रवणा है अत यहा लुक् होता है निपातन के
विषय में दो मत प्राप्त इससे हुए—

१ निपातनानि अबाधकानि २ निपातनानि बाधकानि । युक्तवद्भावात् मूल प्रकृतिगत किञ्च
एव वचन का निपातन (श्रवणा) से अभाव हुआ है । प्रकृति यत् किञ्च वचन नहीं हुआ है ।
श्रावणी यहा निपातन अबाधक है, यहा प्रत्यय का लुप् नहीं हुआ है ।

१२०८ संज्ञायां श्रवणाश्चत्थाभ्याम् ४।२।५।

विशेषार्थोऽयमारम्भ । श्रवणा रात्रि । अश्वत्थो मुहूर्त । संज्ञाया किम्
श्रावणी । आश्वत्थी ।

संज्ञा अर्थ गम्यमान रहते श्रवण एव अश्वत्थ से विहित प्रत्यय का लुक् होता है । विशेष के
निमित्त इस सूत्र का आरम्भ है । श्रवणा रात्रि । यहा युक्तवद्भावात् नहीं हुआ है । अश्वत्थो
मुहूर्त । दोनों स्थलों में विशेष अर्थ की प्रतीति है ।

१२०९ द्वन्द्वाच्छः ४।२।६।

नक्षत्रद्वन्द्वाद् युक्ते काले छ स्यात्, विशेषे सति असति च । तिप्यपुनर्व-
सीयमह । राधानुराधीया रात्रि ।

नक्षत्रवाचक शब्दों का द्वन्द्व समास से उदयुक्त काल में छप्रत्यय होता है विशेष रहे या नहीं ।
विशेष में उदाहरण यह है । अविशेष में उदाहरण अद्य राधानुराधीयम् । मध्येऽपवादस्याव से

अण् का ही 'लुग्विशेषे' से लुप् होता है, छप्रत्ययका नहीं। युगपत् प्राप्ति के अभाव से लुप् को छ परत्वात् बाध करेगा यह तो नहीं कह सकते हैं।

१२१० दृष्टं साम ।४।२।७।

तेनेत्येव । वसिष्टेन दृष्टं वासिष्टं साम । ऋअस्मिन्नर्थेऽण् डिद्वद्वावक्तव्यः ।
उशनसा दृष्टम् औशनम् । औशनसम् ।

तृतीयान्त समर्थ से दृष्ट अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं। जो दृष्ट वस्तु वह साम वेद हो तो। दृष्ट अर्थ में अण् प्रत्यय विकल्प से द्वित्व होता है। औशनम् । औशनसम् । यहाँ इकोक्वातर्किकारने कहा है कि—

दृष्टं सामनि जाते चाप्यण् टित् द्विर्वा विधीयते ।

तीयादीकल् न विधाया गोत्रादङ्गवदित्येते ॥

जात अर्थ में विधीयमान द्विरण् = द्विर्वाण् उच्चारित अण् विकल्प से द्वित्व होता है। यथा शातमिपः । शातमिपजः । यहाँ प्रगृहीतव्यतः से प्राप्त अण् को बाधकार कालात् ठञ् प्राप्त था उसको 'सन्धिवेला' से अण् बाध करता है। द्विः मुच् प्रत्ययान्त है। तीय से स्वाथ में ईयल् । द्वितीयकः । विधावाचक तीयन्त से ङक् नहीं होता है। यथा द्वितीया विधा । गोत्रप्रत्ययान्त से अङ्ग में जो प्रत्यय विहित है वे दृष्टं साम में होते हैं। औपगवेन दृष्टं साम औपगवकन्, गोत्रचरणाद् हुञ् ।

१२११ कलेट्क् ।४।२।८।

कलिना दृष्टं कालेयं साम ।

तृतीयान्त समर्थ कलि से दृष्ट अर्थ में टक् प्रत्यय होता है। यद्यपि क्रमविषय साम नित्य है वह कलि से दृष्ट नहीं हो सकता है किन्तु जिस साम का विशिष्ट कार्य विषयक जो विनियोग अतिशय जो ज्ञान रूपी सम्पत्ति से कलि ने ज्ञान किया था वह कलि से दृष्ट है।

१२१२ वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ ।४।२।९।

वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम् ।

सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थं ययतौ डितौ ।

ग्रहणं मा तदर्थेऽभूद् वामदेव्यस्य नवस्वरे ॥

दृष्ट अर्थ में यदि दृष्ट वस्तु साम है तो तृतीयान्त समर्थ वामदेव से ट्यत् एवं ट्यप्रत्यय होता है। जैसे वामदेवेन दृष्टं साम इस अर्थ में ट्यत् या ट्य कर द्वित्व के कारण टिलोप से वामदेव्यन् । यहाँ शङ्का करते हैं कि 'यस्येति च' सूत्र से अकार लोप से इष्ट प्रयोग सिद्ध होता पुनः ट्य में टित् ग्रहण क्यों किया प्रत्यय का ही विधान करना उचित था, वह टित्ग्रहण व्यर्थ हो कर स्थापन करता है कि "निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्" यह परिभाषा सिद्ध हुई। एवं ट्यत् न कर यत् करने पर भी 'यस्येति च' से अलोप हो कर 'वामदेव्यन्' की सिद्धि होती ट्यत् में टित् करण व्यर्थ हो कर स्थापन करता है कि "तदनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्" यह परिभाषा सिद्ध हुई। इन दोनों परिभाषाओं से "ययतौश्चातदर्थं" से विहित नञाश्रित स्वर में ट्य ट्यत् का ग्रहण न हुआ, अर्थात् 'ययतौः' से विधीयमान नञ् से पर य एवं यत् प्रत्यय तदन्त जो उत्तरपद उसको अन्तोदान्तत्व वामदेव्यम् नञ् पूर्वक में न हुआ।

१२१३ परिवृतो रथः ४।२।१०।

वस्त्रे परिवृतो वास्त्रो रथ । रथ किम्, वस्त्रेण परिवृत काय । सम-
न्ताद् वेष्टित परिवृत उच्यते । तेनेह न, छत्रे परिवृतो रथ ।

सुतीयान्त समर्थ से चारो ओर घिरा हुआ अर्थात् परिचूत अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं ।
किन्तु वह परिवृत रथ रहने पर । वास्त्रो रथ । वस्त्रेण परिवृत काय । यहाँ वाक्य ही रहता है ।
चारो तरफ से वस्त्र से घिरा हुआ शरीर है, रथ नहीं है । छत्रों से घिरा हुआ रथ यहाँ परिवृत
नहीं अतः वाक्य ही रहता है ।

१२१४ पाण्डुकम्बलादिनिः ४।२।११।

पाण्डुकम्बलेन परिवृत पाण्डुकम्बली । पाण्डुकम्बलशब्दो राजास्तरण-
वर्णकम्बलस्य वाचक । मत्वर्थीयेनैव सिद्धे वचनमणो निवृत्त्यर्थम् ।

राजभवन में बिछाने का गलीचा को पाण्डुकम्बल कहते हैं । मनुष्य के अर्थ में इन् प्रत्यय से
ही रूप की सिद्धि होती है । पुन इन् प्रत्यय का विधान होता पुन वह सून अण की निवृत्ति
के लिए है ।

१२१५ द्वैपवैयाघ्रादज् ४।२।१२।

द्वीपनो विकारो द्वैपम् । तेन परिवृतो द्वैपो रथ । एव वैयाघ्र ।

परिवृत अर्थ में परिवृत जो वस्तु वह रथ हो तो वदन्त समर्थ द्वैप एव वैयाघ्र से अज् प्रत्यय
होता है । द्वीपिन विकार इस अर्थ में 'माणिरजतादिभ्योऽज्' से अज् प्रत्यय किया परिवृत अर्थ में
द्वैप स अण को बाध कर इसने अण प्रत्यय का विधान किया । अज् में अनिट् अन्तोदात्त होता ।
अज् से इट् आधुदात्त हुआ है ।

उस प्रकार वैयाघ्र में भी अज् कर इस से परिवृत में अज् आधुदात्त ।

१२१६ कौमारापूर्ववचने ४।२।१३।

कौमारेत्यविभक्तिको निर्देश । अपूर्वत्वे निपातनमिदम् । अपूर्वपति
कुमारी पतिरुपपन्न कौमार पतिः । यद्वा अपूर्वपतिः कुमारी पतिमुपप-
न्ना कौमारी भार्या ।

जिस प्रवृत्तिनिमित्त से अपूर्व कहा गया हो उस अपूर्ववचन कहते हैं । उस प्रवृत्तिनिमित्त में
इसकी प्रवृत्ति होती है । यद्वा अपूर्वशब्द भाग साधन है । वह कुमार शब्दार्थ गत ही लेना
पति गत नहीं ग्रहण करना, पुरुष अपूर्व भार्या युक्त रहे या न रहे । यहाँ योग्यतावत् से द्विती-
यात् से या प्रथमान्त से प्रत्यय होता है । द्वितीयात् से प्रत्यय पक्ष में उपपत्ति अर्थ में प्रत्यय होता है ।
अर्थात् अपूर्व है पति जिसका ऐसी जो कुमारी उसको प्राप्त करने वाला 'कौमार पति' । प्रथमात् से
प्रत्यय स्वीकार पक्ष में उपपन्न विशिष्ट स्वार्थ में प्रत्यय होता है । यह निपातन सामर्थ्य से लब्ध है ।
यद्वा उपपन्न विशिष्ट कहने से विवाद के पूर्व में ऐसा प्रयोग नहीं होता है । अपूर्वपतिसम्बन्ध
यद्वा खीनिष्ठ है ।

सूत्रार्थ — जिसका किसी पुरुष के साथ विवाद सम्बन्ध न हुआ हो ऐसे कुमार शब्द से
अज् प्रत्यय होता है । सूत्र में कौमार उक्त विभक्त्यन्त है । अपूर्वत्व में यह निपातन है । नास्ति

पूर्व पतिः यस्या सा तां पतिः उपपन्नः कौमारः पतिः । अथवा अपूर्वपतिः कुमारी पतिमुपपन्ना कौमारी भार्या ।

१२१७ तत्रोद्धृतममन्त्रेभ्यः ४।२।१४।

शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः । उद्धरतिरिहोद्धरणपूर्वके निधाने वर्तते । तेन सप्तमी । उद्धृत्य निहित इत्यर्थः ।

सप्तम्यन्त पात्राचक से उद्धृत अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं । यहाँ उद्धृत का अर्थ उद्धरण पूर्वक स्थापन रूप अर्थ है । अतः निधान निरूपित अधिकारणत्व से सप्तमी हुई है । उद्धरण में स्थाली भवधि है । निकाल कर रक्खा हुआ ओदन 'शारावः' । साऽस्मिन् ४।२।१४। सूत्र के पूर्व तक 'तत्र' का अधिकार है ।

१२१८ स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते ४।२।१५।

तत्रेत्येव । समुदायेन चेद् व्रतं गम्यते । स्थण्डिले शेते स्थाण्डिलो भिक्षुः । शयन कर्ता अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ स्थण्डिल शब्द से अण् आदि प्रत्यय होता है प्रकृति-प्रत्यय रूप समुदाय से व्रत रूप अर्थ की प्रतीति होने पर । यथा स्थाण्डिलो भिक्षुः । व्रतन् = "शास्त्रेण विहितो नियमः" शास्त्रसे विहित नियम को व्रत कहते हैं । अकृत्रिम भूमि को स्थण्डिल कहते हैं ।

१२१९ संस्कृतं भक्षाः ४।२।१६।

सप्तम्यन्तादण् स्यात् संस्कृतेऽर्थे यत्संस्कृतं भक्ष्याश्चेत् ते स्युः । भ्राष्ट्रे संस्कृता भ्राष्ट्रा यवाः । अष्टसु कपालेषु संस्कृतोऽष्टाकपालः पुरोडाशः ।

संस्कृत अर्थ में संस्कृत द्रव्य भक्ष्य वस्तु हो तो सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से पर अण् प्रत्यय होता है । यहाँ भोजनादिरूप फल है उपयोग जिसका ऐसी क्रिया को संस्कार करते हैं, गुणाधान को नहीं । भ्राष्ट्राः । अष्टाकपालः । द्विगु में 'द्विगोः' से अण् का लुक् । पुरोडाश अर्थमें अष्टाकपालः ।

१२२० शूलोखाद् यत् ४।२।१७।

अणोऽपवादः । शूले संस्कृतं शून्यम् = मांसम् । उखा = पात्रविशेषः । तस्यां संस्कृतम् उख्यम् ।

संस्कृत अर्थ होने पर संस्कृत वस्तु भक्ष्य द्रव्य हो तो सप्तम्यन्त शूल एवं उखा से यत् प्रत्यय होता है । यह अण् का निषेधक है । जहाँ मक्ष नहीं वहाँ यत् नहीं होता है 'उख्यः अग्निः' यह प्रयोग कैसे हुआ ? यहाँ दिगादिष्व प्रयुक्त भवार्थ में यत् प्रत्यय है ।

१२२१ दध्नष्टक् ४।२।१८।

दध्नि संस्कृतं दाधिकम् ।

संस्कृत अर्थ में सप्तम्यन्त दधि-से ठक् प्रत्यय होता है । संस्कार यहाँ लवण आदि प्रयुक्त है । दीर्घ यहाँ अधिकरण मात्र है । 'प्राग्वद्भतेः' से वहाँ संस्कृत अर्थ में ठन् तृतीयान्त से विहित है । दध्ना संस्कृतम् दाधिकम्—वही होता है ।

१२२२ उद्विषितोऽन्यतरस्याम् ४।२।१९।

ठक् पक्षेऽण् ।

संस्कृत अर्थ में सप्तम्यन्त उद्धित शब्द से ठक् प्रात्यय विकल्प से होता है । एवं पक्ष में अण् प्रात्यय भी होता है ।

१२२३ इसुसुक्तान्तात्कः ७।३।५१।

इस् वस् ठक् त एतदन्तात्परस्य ठस्य कः स्यात् । उदकेन श्रयति = वर्द्धते इत्युदश्रित् तत्र संस्कृत औदश्रित्क । औदश्रित । इसुसोः प्रतिपदोक्तयोगु-
हणान्नेह—आशिषा चरति आशिषिकः । उषा चरति औषिकः । क्लृदोष उप-
सखयानमृक् । दोष्यो चरति दौष्कः ।

इस वस् ठक् त इन अन्त में रहे ऐसे सप्तम्यन्त समर्थ से पर ठको कादेश होता है । यह 'ठस्यैक' का बोधक है । मट्ठा का नाम उद्धित है वस्त्वं संस्कृत मध्य 'औदश्रित्क' है ।

प्रतिपदोक्त इस् वस् कादेश में उद्देश्यतया ग्रहण है अत आशिषा चरति अर्थ में ठको कादेश न हुआ आशिषिक । औषिक । दोष शब्द पर ठको कादेश न बोधन होता है यथा—
दौष्कः ।

१२२४ क्षीराह् ठक् ४।२।२०।

अत्र सस्त्वसमित्येष सम्बध्यते, न तु भक्षा इति । तेन यथायामपि भवति क्षैरेयी ।

यहां केवल 'संस्कृतम्' का ही सम्बन्ध है, भक्ष का नहीं है । संस्कृत अर्थ में सप्तम्यन्त क्षीर से वज्र प्रत्यय होता है । भक्ष का सम्बन्ध न होने से यवागु अर्थ में भी क्षीरे सस्त्वना 'क्षैरेयी' यह प्रयोग हुआ ।

१२२५ साऽस्मिन् पौर्णमासीति ४।२।२१।

इतिशब्दात् सज्ञायामिति तभ्यते । पौषी पौर्णमासी अस्मिन् पौषो मासः ।

सज्ञा में सप्तम्यन्तार्थ में प्रथमान्त पौर्णमासी वाचक शब्द से अण् प्रात्यय होता है । यद्वा निपात इति शब्द से 'सज्ञायाम्' का लाम हुआ । पुष्य नक्षत्र युक्त चन्द्र सयोग विष्टि को पौषी कहते हैं । वह है त्रितमं ऐसा मास को पौष मास । यद्वा ज्योतिष विभिन्न प्रकार का है । यद्वा पौषादि पद योगरूढ है । यद्वा पुष्यपद न केवल पुष्यनक्षत्रमात्र बोधक अण् प्रात्यय की प्रवृत्ति परक है । पौषमास को पूणिमा को अवश्य पुष्यनक्षत्र चन्द्र से योग है यह नियम नहीं है । अतः पुष्यपद पुष्य एव पुनर्वसु अन्यतर बोधक है ।

अन्त्योपान्त्यो त्रिभौ क्षेयी फान्गुनश्च त्रिभौ मतः ।

क्षेया मासा दिमा क्षेया कुक्षिकादिन्यवस्थाः ।

फान्गुनी में फान्गुनी पद पूर्वा फान्गुनी, उत्तरा फान्गुनी इति इन तीन का बोधक है । किसी आचार्य का मत है कि पौषी का अर्थ अनुस्य रन्यारम्भ पौर्णमासी वदितत्त्वोवच्छिन्न परक है । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना ।

१२२६ आग्रहायण्यश्चत्थाद् ठक् ४।२।२२।

अग्रे हायनं यस्या इत्याग्रहायणी । प्रज्ञादेराकृतिगणत्वादण् । पूर्वपदात् संज्ञाग्रामिति णत्वम् । आग्रहायणी पौर्णमासी अस्मिन्—आग्रहायणिको मासः । अश्वत्थेन युक्ता पौर्णमासी अश्वत्थः । निपातनात् पौर्णमास्यामपि लुप् । आश्वत्थिकः ।

सप्तम्यन्तार्थ में प्रथमान्त आग्रहायणी एवं अश्वत्थ से ठक् प्रत्यय होता है । जो प्रथमान्त है वह पौर्णमासी होता हायन शब्द वर्ष वाचक है । अग्रे हायनम् अस्याः इस वाक्य में आग्रहायणी से प्रज्ञादि आकृति गण है अतः 'प्रज्ञादेः' से अण् प्रत्यय यहां 'पूर्वपदात्' सूत्र से णकार हुआ । अस्मिन् अर्थ में ठक् से आग्रहायणिको मासः । अश्वत्थेन युक्ता पौर्णमासी अण् का लुक् = अश्वत्थः पौर्णमासी तदयुक्त मास में आश्वत्थिकः ।

१२२७ विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः ४।३।२३।

एभ्यष्टग्वा । पक्षेऽण् । फाल्गुनिकः । फाल्गुनो मासः । श्रावणिकः । श्रावणः । कार्तिकिकः । कार्तिकः । चैत्रिकः । चैत्रः ।

अस्मिन् इस सप्तम्यन्तार्थ में फाल्गुनी, श्रवणा, कार्तिकी चैत्री इन प्रथमान्त से ठक् प्रत्यय विकल्प से होता है । पक्ष में अण् प्रत्यय है । फाल्गुनीनक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी सा फाल्गुनी सा अस्ति अस्मिन् इति ठक् फाल्गुनिकः । पक्ष में फाल्गुनः यहां अण् प्रत्यय हुआ । श्रवणेन युक्ता में अण् का लुक् टाप् श्रवणा से ठक् पक्ष में अण् । इतिका नक्षत्र युक्ता पौर्णमासी ठक् पक्ष में अण् । चित्रा नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी युक्तमास अर्थ में ठक् पक्ष में ।

१२२८ सास्य देवता ४।३।२४।

इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः । पाशुपतम् । बार्हस्पत्यम् । त्यज्यमान-द्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता, मन्त्रस्तुत्या च । ऐन्द्रो मन्त्रः । आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतयेति तु शैषिकेऽर्थे सर्वत्राग्नीति ढक् ।

अरथ इस पष्ठयर्थ में प्रथमान्त देवतोपाधिक प्रातिपदिक से अण् आदि प्रत्यय होते हैं । सम्बन्धित्वेन प्रदेय एवं मन्त्र यह प्रत्ययार्थ हैं । प्रत्ययार्थ कचित् प्रदेय है । कचित् मन्त्र है । प्रकृत्यर्थ में देवतात्व वृत्ति स्वभाव के सामर्थ्य से ही लब्ध है । वैध एवम कुण्डादि में हवनीय द्रव्य का जो उद्देश्य उसको देवता कहते हैं । अथवा मन्त्रों द्वारा अग्नि की स्तुति की जाय उसको देवता कहते हैं । इन्द्र देवता का मन्त्र वा इन्द्र की उद्देश्य कर दत्त हविः में ऐन्द्रः । 'आग्नेः' होना चाहिये 'आग्नेयः' ऐसा प्रयोग कैसे हुआ ?, शैषिक अर्थ में 'अग्निकल्पिन्यान्' से ठक् प्रत्यय हुआ है । अग्नेः अयं मन्त्रः ।

१२२९ कस्येत् ४।३।२५।

कशब्दस्य इडादेशः स्यात्प्रत्ययसन्नियोगेन । यस्येति लोपात् परत्वा-दादिवृद्धिः । को ब्रह्मा देवताऽस्य कायं हविः । श्री देवताऽस्य आयम् ।

प्रत्यय के सन्नियोग से क शब्द को इव आदेश होता है । यस्येति लोप से परत्व के कारण आदि वृद्धि होती । यथा कः = ब्रह्मा देवता अस्य इस विग्रह में अण् प्रत्यय इडादेश यहां आदि वृद्धि एवं यस्येति च से इकार का लोप प्राप्त है वृद्धि परत्व से हुप् आय् आदेश 'कायम्' =

मन्त्रा को उद्देश्य कर दत्त हवि । त्रायम् = लक्ष्मी को उद्देश्य कर दत्त हवि । यहाँ क शब्द नद्धा में रुढ का हो ग्रहण करना उचित है ।

क शब्द अनेकार्थ है—ब्रह्मा, आत्मा, अनिल, जल, शमन, सर्वनाम पावक, मयूर मुख, शीर्ष जल । कार्यानुगृहि इत्येव प्रेष' यह कल्पसूत्रोक्त आर्थ प्रयोग है । अथवा इस सूत्र में विमलत्वत किम् का भी तत्र से निर्देश है । शब्द परक भी किम् को कादेश है यथा 'क्षिय' इत्यादि में क्षयादि । किम् शब्दोऽपि प्रजापति वाची है, अतः 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' इस श्रुति में कस्मै = प्रजापतये' यह अर्थ है । विष्णु सहस्र नाम में भी 'एकोऽनेक सव क किम् यह भी प्रजापति वाचकत्व में प्रमाण है । सञ्ज्ञात्व प्रयुक्त सर्वनाम निषेध की शङ्का न करना आधुनिक सञ्ज्ञा का वह निषेधक है, प्राचीन का नहीं अतः 'कस्मै' की असिद्धि की आशङ्का न करना । श्रीदेवताकहवि में आयम् ।

१२३० शुक्राद् घन् १।२।२६।

शुक्रायम् ।

अस्य इस षष्ठ्यर्थ में शुक्रप्रथमान्त से हविरादि अर्थ में घन् प्रत्यय होता है ।

शुक्र देवता अस्य हविष शुक्रियम् । यको इपावज्ज है ।

१२३१ अपोनप्त्रपात्रपुत्र्यां घः १।२।२७।

अपोनप्त्रियम् । अपान्नप्त्रियम् । अपोनपात् अपानपात्र देवता । प्रत्यय-सन्धियोगशिष्टेन तूक्त रूप निपात्यते । अत एव अपोनपाते अपान्नपातेऽ-नुब्रूहीति प्रेष ।

अपोनपात् एव अपानपात् समर्थ प्रथमान्त इनसे व प्रत्यय षष्ठ्यर्थ में होता है । एव व प्रत्यय प्रकृति अपोनपात् को अपोनप्त् । एव अपानपात् को अपानप्त् आदेश होता है । अपोनपात् देवताऽस्य अर्थ में घ इयादेश । अहा घ प्रत्यय नहीं है वहाँ अपोनपाते चतुर्थ्येक वचन में रूप है ।

१२३२ छ च १।२।२८।

योगविभागो यथासख्यनिवृत्त्यर्थ । अपोनप्त्रीयम् । अपानप्त्रीयम् । छ शतरुद्राद् घञ्छ । चाच्छ । शत रुद्रा देवता अस्य शतरुद्रियम् । शतरु द्रीयम् । घञ्छयोऽपि विधानसामर्थ्याद् 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति न लुक् ।

अपोनपात्, अपानपात् जो प्रथमान्त समर्थ इनसे षष्ठ्यर्थ में छ प्रत्यय एव प्रत्यय की प्रकृति जो उभय इनकी क्रम से अपोनप्त् एव अपानप्त् आदेश होते हैं । पूर्व सूत्र से पृथक् करण इस छिप किया है कि यथा सख्य न हो जाय । उभय से उभय प्रत्यय विधान रह है ।

शतरुद्र प्र० स० से घ एव छ होता है । व एव छ इनका विधान के सामर्थ्य से 'द्विगो सूत्र से लुक् नहीं होता है ।

१२३३ महेन्द्राद् घाणौ च १।२।२९।

चाच्छ । महेन्द्रिय हवि । माहेन्द्रम् । महेन्द्रीयम् ।

प्रथमान्त महेन्द्र शब्द से षष्ठ्यर्थ में घ एव अण तथा छ प्रत्यय होता है मद्वाध्यासौ इन्द्रश्च महेन्द्र । महेन्द्र, देवताऽस्य हविष महेन्द्रियम्, माहेन्द्रम् महेन्द्रीयम् ।

१२३४ सोमाट् ट्यण् ४।२।३०।

सौम्यम् । टित्त्वात् ङीप्—सौमी ऋक् ।

प्रथमान्त समर्थ सोम से अस्य = पष्ठयर्थ में ट्यण् प्रत्यय होता है । 'हलस्तद्धितरय' से यकार लोप ङीप् से सौमी । इविः अर्थ में सौम्यम् ।

१२३५ वाय्वृत्पित्रुपसो यत् ४।२।३१।

वायव्यम् । ऋतव्यम् ।

वायु, ऋतु, पितृ, उपस् इन प्रथमान्त शब्दों से पष्ठयर्थमें यस् होता है ।

१२३६ रीढृतः ७।४।२७।

अकृद् यकारेऽसार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः स्यात् । यस्येति च । पित्र्यम् । उपस्यम् ।

कृत से मित्र एवं सार्वधातुक से मित्र यकार एवं च्विप्रत्यय पर रहते ऋकारान्त अङ्ग को रीट् आदेश होता है । यस्येति च से ईकार का लोप होकर पित्र्यम् ।

१२३७ द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधा-

च्छ च ४।२।३२।

चाद्यत् । द्यावापृथिवीयम् । द्यावापृथिव्यम् । शुनासीरीयम् । शुनासीर्यम् ।

द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वन्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति, गृहमेध इन प्रथमान्त से पष्ठयर्थ में छ एवं यत् होता है । यथा द्यावापृथिव्यौ देवते अस्य द्यावापृथिवीयम् । द्यावापृथिव्यम् । शुनासीरीयम् । शुनासीर्यम् । शुनो वायुः । सीरः = आदित्यः । आनङ् ।

१२३८ अग्नेर्दक् ४।२।३३।

आग्नेयम् ।

देवतार्थक प्रथमान्त अग्निशब्द से पष्ठयर्थ में दक् होता है । अग्निः देवता अस्य इविपः आग्नेयम् ।

१२३९ कालेभ्यो भववत् ४।२।३४।

मासिकम् । प्रावृषेण्यम् ।

कालवाचक शब्दों से भव अर्थ में विहित प्रत्यय 'साऽस्य देवता' अर्थ में होते हैं । कालात् ठञ् एवं प्रावृष ण्य, यहां भी हुए । यथा मासिकम् = मासः देवताऽस्य । मासिकम् । प्रावृट् देवता अस्य प्रावृषेण्यम् ।

१२४० महाराजप्रोष्ठपदाट् ठञ् ४।२।३५।

माहाराजिकम् । प्रौष्ठपदिकम् ।

महाराज एवं प्रोष्ठपद से ठञ् प्रत्यय होता है । महाराजो देवता अस्य माहाराजिकम् ।

१२४१ देवताद्वन्द्वे च ७।३।२१।

अत्र पूर्वोत्तरपदयोराद्यचो वृद्धिः स्यात् विति, णिति, किति च परे । आप्ति-
मारुतम् ।

अत्र णित् कित् प्रत्यय पर रहते देवता वाचक इन्द्र के पूर्वपद एवं उत्तर पद के आदि अच् की
वृद्धि होती है ।

१२४२ नेन्द्रस्य परस्य ७।३।२२।

परस्येन्द्रस्य वृद्धिर्न स्यात् । सोमेन्द्र । परस्य किम्, ऐन्द्राग्न ।

देवता इन्द्र में उत्तरपद में स्थित इन्द्र के आदि अच् की वृद्धि नहीं होती है । सोमेन्द्री देवते
अस्य अण् समयपद वृद्धि को वाचकर सोमेन्द्र । पूर्वपदस्थ इन्द्र के आद्य की वृद्धि होती ही है ।
ऐन्द्राग्न पूर्वोत्तरपद सम्बन्धी वर्णद्वय निमित्तक अन्तरङ्ग भी गुण बहिरङ्ग वृद्धि निषेध के पूर्व
में नहीं होता है । अन्यथा अण निमित्तक यस्त्वैति से अकार लोप एवं गुण से इकार का अपहरण से
न्द्र अनन्त होने से वृद्धि प्राप्त हो नहीं निषेध बोधन व्यर्थ होगा

१२४३ दीर्घाच्च वरुणस्य ७।३।२३।

दीर्घाः परस्य वरुणस्य न वृद्धिः । ऐन्द्रावारुणम् । दीर्घात् किम्, आग्निवा-
रुणीमनङ्घ्याहीमालभेत् । ऋतदस्मिन् वर्तते इति नवयज्ञादिभ्य उपसङ्ख्यानम् ।
नावयज्ञिक काल । पाकयज्ञिकः । ऋपूर्णमासादण् वक्तव्य ऋ । पूर्णो मासोऽस्या
वर्तते इति पौर्णमासी तिथि ।

दीर्घ से पर वरुण के आद्य की वृद्धि नहीं होती है । अण प्रत्यय वहां है । इन्द्र वरुण का इन्द्र
कर 'देवताइन्द्रे' से आनछ वरुण के आदि अच् की वृद्धि का निषेध दीर्घ से पर अस्थित ओ
वरुण वसकी वृद्धि होती ही है ।

वर्तने = वह इसमें वतता है अर्थ में नवयज्ञादि शब्द से ठक होता है । नवयज्ञो वर्तते अस्मिन्
काले नावयज्ञिक काल । वर्तने अर्थ में पूर्णमास से अण प्रत्यय हाता है । पूर्ण मास अस्या वर्तते
पौर्णमासी तिथि ।

१२४४ पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः १।२।३६।

एते निपात्यन्ते । ऋपितुभ्रातरि व्यन् । पितुभ्राता पितृव्य । मातुर्हुलच ।
मातुर्भ्राता मातुल । मातृपितृभ्या पितरि ढामहच । मातु पिता मातामह ।
पितु पिता = पितामहः । मातरि पच । मातामही । पितामही । ऋअपेर्दुग्धे
सोढदूममरीसचो वक्तव्य ऋ । सकारपाठसामर्थ्यात् प । अविसोढम् । अविदूसम् ।
अविमरीसम् । ऋतिलान्निष्फलात् पिष्टपेजौ । तिलपिष्ट । तिलपेच । वन्ध्य-
स्तिल इत्यर्थ । ऋपिष्टरछन्दसि ढिच । तिलपिष्ट ।

पितृव्य मातुल मातामह, पितामह वे शब्द निपातन से सिद्ध होने हैं ।

पिता के माहे अर्थ में पठ्यन्त पितृ शब्द से व्यन् प्रत्यय से पितृव्य । मातृ शब्द पठ्यन्त से
भ्राता अर्थ में हुलच टिलोच मामा = मातुल । माता के पिता एवं पिता के पिता अर्थ में ढामहच
प्रत्यय होता है ।

१२ सि० द्वि०

माता की माता एवं पिता की माता अर्थ में डामद्च् पित होता है, पितृका आरोप प्रयुक्त लोप् मातामहो । नानी एवं दादी । दुग्ध अर्थ में अवि से मोह दुस मरोसच् प्रत्यय होते हैं । प्रत्यय के अवयव होते हुए यहां दन्त्य सकार के उच्चारण सामर्थ्य प्रयुक्त पत्व नहीं हुआ । अवे दुग्धन् अविसोडम् इत्यादि । वन्ध्यतिल अर्थ में तिल से पिज एवं पेज प्रत्यय होते हैं । वेद में तिल से उत्तर पिज प्रत्यय दित माना गया है टिलोप से त्रिलपिजः ।

१२४५ तस्य समूहः १।२।३७।

काकानां समूहः काकम् । वाकम् ।

समर्थ पठ्यन्तप्रातिपदिक से अणादि प्रत्यय होते हैं । यथा काकमित्यादि ।

१२४६ भिक्षादिभ्योऽण् १।२।३८।

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहो गर्भिणम् । इह 'भस्याडे' इति पुंवद्भावे कृते—

पठ्यन्त भिक्षा आदि शब्दों से समूह अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । भिक्षा समुदाय में भैक्षम् । गर्भवती स्त्रियों का समुदाय अर्थ में अण् प्रत्यय पुंवद्भाव के बाद प्राप्त टिलोप निवारणार्थ सूत्र कहते हैं—

१२४७ इनप्यनपत्ये ६।१।१६१।

अनपत्यार्थेऽणि परे इन् प्रकृत्या स्यात् । तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न । युवतीनां समूहो यौवनम् । शत्रन्तादनुदात्तादेरणि यौवतम् ।

अनपत्यार्थ में विहित अण् परक इन् का प्रकृतिभाव होता है । नस्तद्धिते से टिलोप न हुआ । गर्भिणम् । यौवनम् । 'अन्' सूत्रसे प्रकृतिभाव है अण् प्रत्ययान्त अनुदात्तादि अग्रन्त का यौवतम् ।

१२४८ गोत्रोक्षोप्पौरश्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद् वुञ् १।२।३९।

एभ्यः समूहे वुञ् स्यात् । लौकिकमिह गोत्रम् । तच्चापत्यमात्रम् ।

गोत्र प्रत्ययान्त, उक्ष, उष्ट्र, उभ्र, राजन्, राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य, अज, शब्द के उत्तर समूह अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है ।

१२४९ युवोरनाकौ ७।१।१।

युव एतयोरनुनासिकयोः क्रमादन अक एतावादेशौ स्तः । ग्लुचुआयनीनां समूहो ग्लौचुकायनकम् । औक्षकमित्यादि । आपत्यस्य चेति यलोपे कृते ऋप्रकृत्या अके राजन्यमनुष्ययुवानः ऋ । राजन्यकम् । मानुष्यकम् । ऋवृद्धाच्चेति वक्तव्यम् ऋ । वार्द्धकम् ।

अनुनासिक यु एवं वु इनके स्थान में क्रम से अन एवं अक आदेश होते हैं । 'आपत्यस्य' से चकार लोप होने पर अक प्रत्यय पर रहते राजन्य, मनुष्य एवं युवन् शब्द को प्रकृतिभाव होता है । वार्द्धकम् । वृद्ध शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है ।

१२५० केदाराद्यञ्च ४।२।४०।

चाद् वुब् । केदार्यम् । कैदारकम् । ॐ गणिकाया यन्विति वक्तव्यम् ॐ ।
गाणिक्यम् ।

समूह अर्थ में केदार शब्द से यन् प्रत्यय होता है एवं वुब् प्रत्यय भी होता है । गणिका शब्द वृथयन्त से यन् प्रत्यय समूह अर्थ में होता है ।

१२५१ ठञ् कवचिनश्च ४।२।४१।

चात् केदाराद्यपि । कवचिना समूहः कावचिनम् । कैदारिकम् ।

समूह अर्थ में वृथयन्त कवचिन् शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है ।

१२५२ ब्राह्मणमाणववाडवाद्यन् ४।२।४२।

ब्राह्मण्यम् । माणव्यम् । वाडव्यम् । ॐ वृष्टादुपसंख्यानम् ॐ । वृष्टयम् ।

वृथयन्त ब्राह्मण, माणव, वाडव से वृष्ट समूह अर्थ में वन् प्रत्यय होता है । ब्राह्मणानां समूह ब्राह्मण्यम् आदि । वृष्ट स भी इसी अर्थ में वन् प्रत्यय होता है ।

१२५३ ग्रामजननन्धुम्यस्तल् ४।२।४३।

ग्रामता । जनता । नन्धुता । ॐ गजसहायाभ्या चेति वक्तव्यम् ॐ ।

गजता । सहायता । ॐ अह स्त्र क्रतौ ॐ । अहीन । अहर्गणसाध्यसुत्पाकं क्रतुरित्यर्थ । क्रतौ किम्, आह । इह खण्डिकादित्वाद् । अहृष्टरावेति नियमाद्विलोपो न । ॐ पश्चा नस् वक्तव्य ॐ ।

वृथयन्त ग्राम, जन, नन्धु से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय होता है । ग्रामों का समूह ग्रामता । वृथयन्त गज एवं सहाय से समूह में तल् प्रत्यय । वृथ वाच्य होने पर अहन् से स्त्र प्रत्यय होता है । अहना समूह अहीन । दिवस समुदाय से निष्पन्न होने वाला सुत्पाक नामका वृथ । क्रतु मित्र में अन् प्रत्ययान्त आह । वहा 'अह स्त्रकृत्' नियम से टिकोप का अभाव । वृथयन्त पशु से समूह अर्थ में नस् होता है ।

१२५४ सिति च १।४।१६।

सिति परे पूर्व पदसह स्यात् । अमत्वादोर्गुणो न, पशूना समूह पार्श्वम् ।

१२५५ अनुदात्तादेरञ् ४।२।४४।

कापोतम् । मायूरम् ।

वृथयन्त अनुदात्तादि शब्दों ॥ वृष्ट समूह अर्थ में अन् प्रत्यय होता है । कापोतम् । मायूरम् । 'लाघावन' ने यह दोनों मन्वोदात्त है । आदि अन् शेषनिघात से अनुदात्त है ।

१२५६ खण्डिकादिम्यश्च ४।२।४५।

अञ् स्यात् । खण्डिकाना समूह खण्डिकम् ।

वृथयन्त खण्डिकादि शब्दों से समूह में अन् प्रत्यय होता है ।

खण्डिकानां समूह इय विग्रह में खण्डिकम् ।

१२५७ चरणेभ्यो धर्मवत् ४।२।४६।

काठकम् । छान्दोग्यम् ।

चरण वाचक शब्दों में से जिस प्रकृति के उत्तर जो प्रत्यय धर्म अर्थ में विधान करेंगे वे प्रत्यय उस प्रकृति से उत्तर पष्ठयन्त से समूह में अर्थ में होता है । गोत्रचरणाद् वुञ् एवं 'छान्दोगी' से व्य प्रत्यय समूह में होकर काठकम् । छान्दोग्यम् ।

१२५८ अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ४।२।४७।

सात्तुकम् । हास्तिकम् । धेनुकम् ।

समूह अर्थ में अचेतन वाचक शब्द, हस्ति शब्द, धेनु शब्द से समूह में ठक् प्रत्यय होता है । सत्तु समूह में ठक् कर उसको कादेश इकादेश को बाध कर हुआ । सात्तुकम् । धेनुकम् यहाँ भी ठक् कादेश हुआ ।

१२५९ केशाश्वाम्यां यच्छावन्यतस्याम् ४।२।४८।

पक्षे ठगणों । कैश्यम् । कैशिकम् । अश्वीयम् । आश्वन् ।

समूह अर्थ में पष्ठयन्त केश एवं अश्व से यञ् एवं छ होता है विकल्प से । पक्ष में ठक् एवं अण् भी होता है ।

१२६० पाशादिभ्यो यः ४।२।४९।

पाश्या । तृण्या । धूम्या । वन्या । वात्या ।

समूह अर्थ में पाशादि से य प्रत्यय होता है । पाशसमूह, तृणसमूह, धूमसमूह, वनसमूह, वातसमूह ।

१२६१ खलगोरथात् ४।२।५०।

खल्या । गव्या । रथ्या ।

समूह अर्थ में खल, गो रथ इन पष्ठयन्त से य प्रत्यय होता है ।

१२६२ इनित्रकट्यचश्च ४।२।५१।

खलादिभ्यः क्रमात् स्युः । खलिनी । गोत्रा । रथकट्या । ❀ खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः ❀ । डाकिनी । कुटुम्बिनी । आकृतिगणोऽयम् ।

खल, गो, रथ, इनके उत्तर क्रम से इनि, घ, कट्यच्, प्रत्यय होता है । खल्वादि से इनि होता है । यह आकृतिगण है ।

१२६३ विपयो देशे ४।२।५२।

पष्ठयन्तादणादय स्युरत्यन्तपरिशीलितेऽर्थे स चेद् देशः । शिवीनां विपयो देशः शैवः । देशे किम्, देवदत्तस्य विपयोऽनुवाकः ।

अत्यन्त परिशील अर्थ में वह देश रहें तब पष्ठयन्त से अणादि प्रत्यय होते हैं । देश मित्र में इसकी प्रवृत्ति नहीं यथा देवदत्त का विषय अनुवाक है वहाँ वाक्य की ही स्थिति रहती है ।

१२६४ राजन्यादिभ्यो वुञ् ४।२।५३।

राजन्यक* ।

अ यन् परिशीलित अर्थ में जो परिशीलित है वह देश रहने पर वच्छन्त राजन्यादि से वुञ् होता है ।

१२६५ भौरिक्याद्यैपुकार्यादिभ्यो निघल्मक्तलौ ४।२।५४।

भौरिकीणा विषयो देशो भौरिकिविघम् । भौलिकिविघम् । ऐपुकारि-
भक्तम् । सारसायनभक्तम् ।

पूर्वोक्त अर्थ में भौरिकि आदि शब्द से एव ऐपुकारि शब्द से क्रमशः विषल् तथा मक्तल् प्राप्य होते हैं ।

१२६६ सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु ४।२।५५।

अण् । पङ्क्तिरादिरस्येति पाङ्क्त प्रगाथ । छिस्वार्थे उपसख्यानम् छि
त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभम् ।

प्रगाथ अर्थ में पङ्क्त्यर्थ में अप्रतिभूत प्रथमान्तार्थ में जो छन्दोवाचक शब्द उसके उत्तर अण् प्रत्यय होता है । स्वार्थ में भी अण् प्रत्यय का उपसख्यान है ।

१२६७ संग्रामे प्रयोजनयोद्धृभ्यः ४।२।५६।

सास्येत्यनुवर्तते । सुभद्रा प्रयोजनमस्य समामस्येति सौभद्र । भरता यो-
द्धारोऽस्य समामस्य भारत ।

पङ्क्त्यन्तार्थ में प्रथमात् प्रयोजन एव योद्धृवाचक शब्द के उत्तर अण् प्रत्यय होता है ।

१२६८ तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः ४।२।५७।

दण्ड प्रहरणमस्या क्रीडाया दाण्डा । मौष्टा ।

सप्तम्यन्तार्थ में प्रथमान्त प्रहरण वाचक शब्द से ण प्रत्यय होता है यदि सप्तम्यन्तार्थ क्रीडा हो तो ।

१२६९ घञः सास्यां क्रियेति ञः ४।२।५८।

घञन्तात् क्रियावाचिन प्रथमान्तादस्यामिति सप्तम्यर्थे स्त्रीलिङ्गे च प्रत्यय*
स्यात् । घञ इति कृद्रग्रहणाद् गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ।

सप्तम्यन्तार्थ में प्रथमात् घञन्त क्रिया वाचक प्रातिपदिक स्त्रीलिङ्ग में च प्रत्यय होता है । घञ् कृद्रविशेष प्रत्यय है अतः 'गतिरनन्तर' सूत्रस्थ अनन्तर ग्रहण से घापित परिभाषा "कृद्रग्रहण गतिकारकस्यापि ग्रहणम्" अर्थात् कृत् सामान्य ग्रहण में या कृद्रविशेष ग्रहण में गति विशिष्ट एव कारक विशिष्ट में कृदन्त तदादित्य या कृदन्ततदादि च व्याप्य धर्म का आरोप है । गति विशिष्ट घञन्त का कारक विशिष्ट घञन्त का ग्रहण वहाँ घञ् से होता है ।

१२७० ज्येनतिलस्य पाते जे ६।३।७१।

श्येन, तिल, एतयोर्मुमागमः स्यात् अप्रत्यये पातशब्दे उत्तरपदे । श्येन-
पातोऽस्यां वर्तते श्यैनम्पाता मृगया । तिलपातोऽस्यां वर्तते तैलम्पाता स्वधा ।
श्येनतिलस्य किम् , दण्डपातोऽस्यां तिथौ वर्तते दाण्डपाता तिथिः ।

पात शब्द घञ् प्रत्ययान्त है । घञन्ततदादित्व पातशब्द निष्ठ वास्तविक है किन्तु उस घञन्त-
तदादित्वका कारक श्येन तद्विशिष्ट श्येनपात में कृद्ग्रहण परिभाषा ने आरोप किया आरोप
का फल श्येन के एकार की आदि वृद्धि है । अप्रत्यय पर रहते एवं पात शब्द उत्तरपद मे रहते
श्येन एवं तल को मुन् आगम होता है । पतनं पातः श्येनस्य पातः श्येनपातः स अस्यां मृगया-
रूपायां क्रियायां वर्तते मुमागम से श्यैनम्पाता मृगया=आखेटनम् । पितरों का उद्देश्य कर
तर्पणादिक में तिलों का पात होता है उस स्वधा को तैलम्पाता कहते हैं ।

१२७१ तदधीते तद्वेद ४।२।५९।

व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः ।

द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से अध्ययन कर्ता या ज्ञानकर्ता अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं ।
वि एवं आ पूर्वक कृञ् धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय कर युक्तो अनादेश समास यण् शत्व
व्याकरण से द्वितीया विनक्ति से व्याकरणम् अधीते या वेद अर्थ में अण् प्रत्यय 'न व्याभ्यान्' से
ऐच् आगम अकार लोप वैयाकरणः ।

१२७२ क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ४।२।६०।

क्रतुविशेषवाचिनामेव ग्रहणम् । तेभ्यो मुख्यार्थेभ्यो वेदतरि, तत्प्रतिपादक-
ग्रन्थपरेभ्यस्त्वध्येतरि । आग्निष्टोमिकः । दाजपेयिकः । उक्थम्=सामविशेष-
स्तल्लक्षणपरो ग्रन्थविशेषो लक्षणयोक्थम् । तदधीते तद् वेद वा औक्थिकः ।
ॐमुख्यार्थात्तूक्यशब्दाट्ठगणौ नेष्येतेॐ । न्यायम् नैयायिकः । वृत्तिम् वार्तिकः ।
लौकायतम् लौकायतिक इत्यादि । ॐसूत्रान्तात्त्वकल्पादेरेवेष्प्यते । सांग्रहसूत्रिकः ।
अकल्पादेः किम् , काल्पसूत्रः । ॐविद्यालक्षणकल्पान्ताच्चेति वक्तव्यम् ॐ । वा-
यसविद्यिकः । गौलक्षणिकः । आश्वलक्षणिकः । पाराशरकल्पिकः । ॐअङ्गश्रधर्म-
त्रिपूर्वाद् विद्यान्तान्नेति वक्तव्यम् ॐ । आङ्गविद्यः । क्षात्रविद्यः । धर्मविद्यः ।
त्रिविद्या विद्या त्रिविद्या ताम् अधीते वेद वा त्रैविद्यः । ॐआख्यानाख्यायिके-
तिहासपुराणेभ्यश्च ॐ । यवक्रीतमधिकृत्य कृतमाख्यानम् उपचाराद् यवक्रीतं
तदधीते वेत्ति वा यावक्रीतिकः । वासवदत्तामधिकृत्य कृता आख्यायिका वासव-
दत्ता, अधिकृत्य कृते ग्रन्थे इत्यर्थे वृद्धाच्छः, तस्य लुवाख्यायिभ्यो बहुलमिति
लुप् , ततोऽनेन ठक् वासवदत्तिकः । ऐतिहासिकः । पौराणिकः । ॐसर्वादेः
सादेश्च लुग् वक्तव्यः ॐ । सर्ववेदान् अधीते सर्ववेदः । सर्वतन्त्रः । सवार्तिकः ।
द्विगोलुगिति लुक् । द्वितन्त्रः । ॐइकन् पदोत्तरपदात् ॐ । ॐशतपठेः पिकन्
पथः ॐ । पूर्वपदिकः । उत्तरपदिकः । शतपथिकः । शतपथिकी । पष्ठिपथिकः ।
पष्ठिपथिकी ।

कतु विशेष वाचक उक्थादि एव सूत्रान्त प्रातिपदिक से ठक होता है। यहाँ सामान्यकतु वाचक का ग्रहण नहीं है। प्रधानार्थक कतुवाचक शब्द से ज्ञाता = वेत्ता अर्थ में प्रत्यय होता है। लक्षणा वृत्ति से तद प्रतिपादक अथपरक कतुवाचक शब्द से अध्येता अर्थ में ठक प्रत्यय होता है। अग्निष्टोमम् अभीते वेद वा अग्निष्टोमिका। वाग्भेयिक। सामविशेष को उक्त कहने हैं। लक्षणा से तदपरक अन्य को भी उक्त कहते हैं। मुख्यार्थक उक्त से ठक् एव अण् शाब्दिको को इष्ट नहीं है। न्याय को अव्ययन करे वा ज्ञाने नैयायिकः। वृत्तिम् अभीते वेद वा वातिर। लोकायतनम् अभीते वेद वा लोकायतनिक। स्वयंशब्द आदि में न हो तो ऐसे सूत्रान्त प्रातिपदिक से ठक प्रत्यय होता है। सप्रश्नसूत्रम् अभीते वेद वा सप्रश्नसूचिक। अकल्पादि कहने में वाचपमूत्र। विद्या, लक्षण, करण इलमें से कोर अन्त में रहे ऐसे प्रातिपदिक से ठक् प्रत्यय होता है। यथा वायसविधिक। गोलकुणिक वायस्युक्त। पाराशरकशिवक. अङ्ग, क्षत्र, एव त्रि एन शब्दों में से कोर एक पूर्व में रहे ऐसे विधान्त प्रातिपदिक से ठक् नहीं होता है। यथा आङ्गविध। आस्थान, आस्थायिक, पुराण से ठक् प्रत्यय होता है। यथा यवक्रौत्वा का अधिकार करके कृत को आस्थान उसको लक्षणा से यवक्रौत्वा कहते हैं। उससे यवक्रौत्वा अभीते वेद वा यावक्रौत्वा। वासवदन्ता को उद्देश्य करके को गयी नाटिक ग्रन्थ उसका लक्षणा से वासवदन्ता कहते हैं उससे अभीते वेद में 'अविहृत्य कृते ग्रन्थे' में बृहद् छ' से छ प्रत्यय करके उसका 'बृहत्पाठ्याथम्' से जुग हुआ। तत ठक् वासवदन्तिक। ऐतिहासिक। पौराणिक। सर्वशब्द है आदि में किमका ऐसा को प्रातिपदिक एव सकार है आदि में जिसको ऐसा प्रातिपदिक स उचर अण का लुक् होता है। दितन्त्र में दिगोर्लुक् से लुक् है। पदशब्द है अन्त में जिसको ऐसे प्रातिपदिक से हकन् होता है। लुत एव षट् शब्द से उचर में स्थित पथिन् को पिन् होता है। पूर्वपदिक। लुतपथिक, आदि। लौल्लि में लोप् पठो पथिकी।

१२७३ क्रमादिभ्यो वुन् ४।२।६१।

क्रमक। क्रम, पद, शिक्षा, मीमांसा क्रमादिः।

द्वितीयान्त क्रमादि शब्दों से अभीते वेद अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है। क्रममयीते वेद वा क्रमक। वुन् को अकादेश है। पदक। शिक्षक। मीमांसक।

१२७४ अनुब्राह्मणादिभिः ४।२।६२।

तदधीते तद्वेदेत्यर्थे। ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनुब्राह्मण सदधीते अनुब्राह्मणी। मत्वर्यायेनैव सिद्धे अण्वाधनार्थमिदम्।

अनुब्राह्मणादि शब्दों से अभीते वेद अर्थ में इति प्रत्यय होता है। ब्राह्मणग्रन्थ समान ग्रन्थ को अनुब्राह्मण कहते हैं उससे द्वितीयान्त से इतिप्रत्यय से अनुब्राह्मणी। यह सूत्र अण् वाधनार्थ केवल है।

१२७५ वसन्तादिभ्यश्च ४।२।६२।

वासन्तिक। अथर्वानमधीते आथर्वणिक। दाण्डिनायनेति निपातना-ट्टिलोपो न।

पूर्वोक्त अर्थों में द्वितीयान्त वसन्तादिभ्यश्चित शब्दों से ठकप्रत्यय होता है। निपातन से टिलोप का समाव है।

१२७६ प्रोक्ताल्लुक् ४।२।६४।

प्रोक्तार्थकप्रत्ययात्परस्याध्येतृवेदितृप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । पणनं पणः ।
घञर्थे कविधानमिति कः । सोऽस्यास्तीति पणी, तस्य गोत्रापत्यं पाणिनः ।

प्रोक्तार्थकप्रत्यय से पर अध्येतृ या वेदितृ प्रत्यय का लुक् होता है । स्तुति अर्थ अधिक पणधातु से भावार्थक घञ् प्रत्यय के अर्थ में कप्रत्यय हुआ । स्तुति है जिसकी इस अर्थ में इन् प्रत्यय से पणिन् का प्रथमा एकवचन में पणी । पणिनो गोत्रापत्य अर्थ में अण् प्रत्यय से पाणिनः ।

१२७७ गार्थिविदधिकेशिगणपणिनश्च ६।४।१६५।

एतेऽणि प्रकृत्या स्युः । इति टिलोपो न । ततो यूनि इञ् पाणिनिः ।

अण् प्रत्यय पर रहते गणिन्, विदधिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन् इनका प्रकृतिभाव होना है । पाणिन् अण् यहाँ नस्तद्धिते' से प्राप्त टिलोप न हुआ, अणन्तपाणिनः से युवापत्य में इञ् प्रत्यय हुआ पाणिनिः ।

१२७८ ण्यक्षत्रियार्पणितो यूनि लुगणिनोः २।४।५८।

ण्यप्रत्ययान्तात् क्षत्रियगोत्रप्रत्ययान्ताद् ऋष्याभिधायिनो गोत्रप्रत्ययान्तात्
चित्तश्च परयोयुवाभिधायिनोरणिनो लुक् स्यात् । कौरव्यः पिता । कौरव्यः पुत्रः ।
श्वाफल्कः पिता । श्वाफल्कः पुत्रः । वासिष्ठः पिता । वासिष्ठः पुत्रः । तैकायनिः
पिता । तैकायनिः पुत्रः । एभ्यः किम्, शिवाद्यण् । कौहडः पिता तत इञ्
कौहडिः पुत्रः । यूनि किम्, वामरथ्यस्य च्छात्रा वामरथाः । इति अणो लुक्
तु न भवति आप्रग्रहणेन प्रतिपदोक्तस्य ऋष्यण एव ग्रहणात् । पाणिनिना
प्रोक्तं पाणिनीयम्, वृद्धाच्छः । इञश्चेति अण् तु न, गोत्रे य इञ् तदन्ता-
दिति वक्ष्यमाणत्वात् ततोऽध्येतृवेदित्रणो लुक् । स्वरे स्त्रियाश्च विशेषः ।

पाणिनीयः । पाणिनीया ।

ण्यप्रत्ययान्त, क्षत्रियवाचो गोत्रप्रत्ययान्त, ऋषिवाचक गोत्रप्रत्ययान्त प्रातिपदिक से पर,
यवं चित् प्रत्यय से पर युवापत्य अर्थ में विहित अण् प्रत्यय एवं इञ् प्रत्यय उनका लुक् होता है ।
कुर्वादिभ्यो ण्यः से ण्यप्रत्यय कर उससे इन् प्रत्यय कर उसका लुक् कौरव्यः पिता पुत्रश्च । श्वाफल्क
यहाँ ऋषिष्व प्रयुक्त अण् प्रयुक्त अण् ऋष्यन्धक सूत्रसे, उससे इञ् उसका लुक् । वासिष्ठः — ऋष्यण् इञ्
उसका लुक् तैकायनिः । तिकादिभ्यः से फिन् उसका लुक् । इनसे भिन्न शब्द के उत्तरप्रत्यय का
लुक् नहीं होता है । कौहडः यहाँ शिवादित्व से अण् उसके युवापत्य में इञ् उसका लुक् न हुआ
पिता एवं पुत्रमें भिन्न रूप हुए । युवापत्य से भिन्न रूप हुए । युवापत्य से भिन्न अर्थ में विहित
प्रत्यय का लुक् नहीं होता है यथा वामरथ से कुर्वादित्व के कारण उससे वृद्धात् से प्राप्त छ को
वाचकर कण्वादिभ्यो गोत्रे' शैषिक अण् का लुक् न हुआ । वामरथाः । यहाँ आप्रग्रहण है । अर्थात्
ऋषिवाचक शब्द से विहित जो अण् प्रत्यय उसका ग्रहण है । अर्थात् ऋषि वाचक शब्द से विहित
जो अण् प्रत्यय आने पर जो इञ् प्रत्यय उसका ग्रहण है । इस कारण अण् से पर स्थित इञ् का
का लुक् न हुआ । पाणिनीयम् । वृद्धाच्छः से छप्रत्यय हुआ है । यहाँ इञश्च से अण् प्रत्यय
न हुआ क्योंकि गोत्रार्थक में जो इञ् तदन्त प्रातिपदिक से ही अण् प्रत्यय होता है । पश्चात् अध्येतृ
वेदितृ अर्थ में विहित प्रत्यय का लुक् । लुगन्त के स्वर एवं स्त्रीलिङ्ग के टाप् यह विशेष है ।

१२७९ सूत्राच्च कोषघात् ४।२६५।

सूत्रवाचिनः ककारोपघाद् अध्येतृवेदितृप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । अप्रो-
क्तार्थ आरम्भः । अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य अष्टकं पाणिनेः सूत्रम् । तद-
धीयते विदन्ति वा अष्टकाः ।

ककारोपघ सूत्रवाचक से उत्तर अध्येतृ एवं वेदितृ प्रत्यय का लुक् होता है । अप्रोक्तार्थक प्रत्ययो का लुक् के लिए आरम्भ है । अष्टन् से 'सख्याया' सूत्र से कन् प्रत्यय है । आठ अध्याय रूप परिमाण से अष्ट सूत्र कहा जाता है । उसका अध्ययन कर्ता या श्रोता इसमें प्रत्यय का लुक् होता है ।

१२८० छन्दोब्राह्मणानि तद्विषयाणि ४।२।६६।

छन्दासि ब्राह्मणानि च प्रोक्तप्रत्ययान्तानि तद्विषयाणि स्युः । अध्येतृ-
वेदितृप्रत्ययं विना न प्रयोज्यानि इत्यर्थः । कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः ।
वैशम्पायनान्तेषासित्वाणिनिः । तस्य कठचरकाललुक्, ततोऽण् तस्य
प्रोक्ताल्लुक् ।

इति रक्षाधर्मकप्रकरणम् ।

प्रोक्त प्रत्ययान्त छन्दोवाचक एवं ब्राह्मणवाचक शब्द अध्येतृ वेदितृ विषयक होता है । अप्रोक्त अध्येतृ एवं वेदितृ अर्थ में विहित प्रत्यय के विना इसका प्रयोग नहीं होता है । णिनिप्रत्ययान्त कठ है, णिनि का लुक् उससे अण् उसका प्रोक्ताल्लुक् ।

प० मीमा० ह० पञ्चोक्तिविरचित रत्नप्रभा में रक्षाधर्मक प्रकरण समाप्त ।



अथ चातुरर्थिकप्रकरणम् ।

१२८१ तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४।२।६७।

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे औदुम्बरः ।

तद्धित शब्द योगरूढ है तस्मै = प्रकृत्यर्थ के लिए हिताः = उपकारक तद्धित प्रत्यय है । वर्तमान कालिक सत्त्वरूप अर्थ विशिष्ट प्रथमान्त से सप्तम्यन्तार्थ में यथा विहित प्रत्यय होते हैं, प्रत्ययान्त से देश रूप अर्थ की प्रतीति होने पर । औदुम्बरः यहाँ अण् प्रत्यय हुआ है ।

१२८२ तेन निर्वृत्तम् ४।२।६८।

कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी ।

निर्वृत्त का अर्थ है सम्पादित । तृतीयान्त प्रातिपदिक से अणादि प्रत्यय होते हैं । खीलिङ्ग में ङीप् से कुशाम्ब से सम्पादित = निष्पन्न नगरी कौशाम्बी ।

१२८३ तस्य निवासः ४।२।६९।

शिचीनां निवासो देशः शैपः ।

पष्ठयन्त प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं । निवास अर्थ में अण् शैवो निवासः ।

१२८४ अदूरभवश्च ४।२।७०।

विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम् । चकारेण प्रागुक्तास्त्रयोऽर्था सन्निधाप्यन्ते । तेन वक्ष्यमाणप्रत्ययानां चातुरर्थिकत्वं सिध्यति ।

अदूरभव अर्थ में पष्ठयन्त प्रातिपदिक से यथा विहित प्रत्यय होते हैं अदूरन् = अन्तिकम् तत्र भवति यद्वा सप्तमी समास निपातन लभ्य है समीप में उत्पन्नत्वविशिष्ट । अण् प्रत्यय से वैदिशन् = नगरम् । यहाँ चकार से देश, निर्वृत्त, निवास इन तीन का सन्निधान से इस प्रकरण के के जो प्रत्यय कहे जायेंगे उनका चातुरर्थिकत्व है । अर्थात् चार अर्थ में वे प्रत्यय होंगे । चार अर्थों का समाहार को चतुरर्थी कहते हैं उसमें उत्पन्न प्रत्ययों का चातुरर्थिक कहते हैं । यहाँ अध्यात्मादित्व प्रयुक्त ठञ् प्रत्यय चतुरर्थी से हुआ 'द्विगोर्लुगनपत्ये' से लुक् प्रत्ययोत्पत्ति के पूर्व तद्धितार्थ में समास है । 'चतुर्षु अर्थेषु भवाः यद्वा लौकिक विग्रह है ।

१२८५ ओरञ् ४।२।७१।

अणोऽपवादः । कक्षतु-काक्षतवम् । नद्यान्तु परत्वान्मतुप् इक्षुमती ।

उवर्णान्त प्रातिपदिक से अण् को वाचकर अञ् प्रत्यय होता है । कक्षतुरस्ति अस्मिन् काक्षतवम् । नदी वाच्य होने पर 'नद्या मतुप्' से अञ् को परत्व के कारण वाच कर मतुप् से इक्षुमती यहाँ लङितश्च से ङीप् प्रत्यय है ।

१२८६ मतोश्च बह्वजङ्गात् ४।२।७२।

बह्वज् अङ्गं यस्य मतुपस्तदन्तादञ् नाण् । सैध्रकावतम् । बह्वजिति किम् , आहिमतम् । अङ्गग्रहणं बह्वजिति तद्विशेषणं यथा स्यान् मत्वन्तविशेषणं मा भूत् ।

मिसका अङ्ग बहुत अर्धों से युक्त रहे ऐसा जो मनुप् तदन्त प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है। अण् प्रत्यय यहाँ नहीं होता। सैमकावतम्। आदिमतम् यहाँ अण् प्रत्यय हुआ है। यहाँ मनुप् की प्रकृतिभूत अङ्ग द्रव्यम् है अनेकाच नहीं है। इस सूत्र में अङ्ग ग्रहण इस लिए किया है कि बह्वच अङ्ग अर्थ हो। अन्यथा मनुबन्त जो बहुञ् अर्थ होता अहिमतम् में अण् प्रत्यय उत्पत्तिरूप आपत्ति आती। बहव् अङ्ग का ही विशेषण हो जाय यही अङ्ग का प्रधान फल है।

१२८७ बह्वचः कूपेषु ४।३।७३।

अणोऽपवादः। दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तो दीर्घवरत्र. कूपः।

बहुत अर्धों से युक्त जो प्रतिपदिक वह स्त्रीयान्त रहे सो निर्वृत्त अर्थ में अण् प्रत्यय वसते होता है।

१२८८ उदक् च विपाशः ४।२।७४।

अणोऽपवादः। विपाश उत्तरे कूले ये कूपा स्तेष्वन्। अक्षय्यार्थ आरम्भः।

दत्तेन निर्वृत्तो दात्तः कूपः। उदक् किम्, दक्षिणतः कूपेष्वनेष्व।

विपाशा के उत्तर जो कुल उसमें स्थित जो कूप वह वाच्य रहते स्त्रीयान्त प्रातिपदिक से से निर्वृत्त अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। यह बहुत अच युक्त जो शब्द नहीं है उसके लिए है। दात्त कूप। दक्षिण कुल में स्थित होने पर अण् हो होता है।

१२८९ सङ्कलादिभ्यश्च ४।२।७५।

कूपेभ्यति निवृत्तम्। सङ्कलेन निवृत्त सङ्कलम्।

स्त्रीयान्त सकल आदि प्रातिपदिक से निवृत्त अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। यहाँ 'कूपेषु' का सम्बन्ध नहीं है।

१२९० स्त्रीषु सौवीरसाल्वप्राक्षु ४।२।७६।

स्त्रीलिङ्गेषु एषु देशेषु वाच्येषु अण्। सौवीरे—दत्तामित्रेण निर्वृत्ता दात्तामित्री

नगरी। साल्वे—वैधूमावती। प्राचि—माकन्दी।

स्त्रीलिङ्ग में सौवीर, साल्व प्राच्य देश वाच्य रहने पर स्त्रीयान्त से निर्वृत्त अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

१२४१ सुवास्त्वादिभ्योऽण् ४।२।७७।

अणोऽपवादः। सुवास्तोरदूरमत्र सौवास्तवम्। वर्णु—वार्णवम्। अण्

ग्रहण मनुपो बाधनार्थम्। सौवास्तवी।

षष्ठ्यन्त सुवास्तु आदि से अदूरमत्र अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। मनुप् को बाधनार्थ सूत्र में अण् ग्रहण है।

१२९२ रोणी ४।२।७८।

रोणीशब्दात् तदन्ताच्चाण्। कूपाणोऽपवादः। रौणः। आजकरीणः।

रोणी एवं रोणी शब्दान्त प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है। यह अण् कूर्पार्थक अण् का बोधक है।

सौत्रत्व के कारण पञ्चमी का सूत्र में लाये हैं। येन विधि सूत्रस्थ माध्य विशेष वचन से यहाँ 'अहणवता' परिभाषा से तदन्त विधि निषेध न हुआ है।

१२९३ कोपधाच्च ४।२।७९।

अण्। अवोऽपवादः। काणच्छिद्रकः कृपः। कार्कवाकवम्। त्रैशङ्कवम्।

कोपध प्रातिपादक से निर्वृत्त आदि अर्थ में अण् प्रत्यय होता है अण् का निषेधक है। कर्ण-च्छिद्रकेन निर्वृत्तः कृपः।

१२९४ वुञ्छण्कठजिलसेनिरदृज्ययफक्फिञ्ज्ज्यककठकोऽ-
रीहणकृशाश्वर्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसङ्काशवलपक्षकर्णसुतङ्गम-
प्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः ४।२।८०।

सप्तदशभ्यः सप्तदश क्रमात्सुश्चातुरर्थ्याम्। अरीहणादिभ्यो वुञ् अरोहणेन निर्वृत्तम् आरीहणकम्। कृशाश्वादिभ्यश्छण्—कार्शाश्वीयम्। ऋष्यादिभ्यः कः—ऋष्यकम्। कुमुदादिभ्यष्टच्—कौमुदिकम्। काशादिभ्य इलः—कार्शिलः। तृणादिभ्यः सः—तृणसम्। प्रेक्षादिभ्य इनिः—प्रेक्षी। अश्मादिभ्यो रः—अश्मरः। सख्यादिभ्यो ढञ्—साखेयम्। संकाश्यादिभ्यो ण्यः—सांकाश्यम्। बलादिभ्यो यः—बल्यम्। पक्षादिभ्यो फक्—पाक्षायणः। पथः पन्थ च पान्थायनः। कर्णादिभ्यः फिञ् कार्णायनिः। सुतङ्गमादिभ्य इव्—सौतङ्गभिः। प्रगद्यादिभ्यो ज्यः प्रागद्यः। वराहादिभ्यः कक् वाराहकः। कुमुदादिभ्यष्टक् कौमुदिकः।

अरीहणादि सतरह तत् तत् विभक्त्यन्त से देश, निर्वृत्त, निवास एवं अदूरमव इन चारों अर्थों में सप्तदश प्रत्यय होते हैं। प्रत्यय क्रम एवं प्रकृति क्रम मूल में ही स्पष्ट है। आरीहणकन् से कौमुदिकः तक उदाहरण क्रम है।

१२९५ जनपदे लुप् ४।२।८१।

जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप् स्यात्।

जनपद (देश) वाच्य होने पर चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् = अदर्शन होता है।

१२९६ लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने १।२।५१।

लुपि सति प्रकृतिगतलिङ्गवचने स्तः। पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः। कुरवः। अङ्गाः। वङ्गाः। कलिङ्गाः।

विशेष्य के अधीन विशेषण का लिङ्ग वचन विशेष अवस्था को छोड़कर होता है यह सामान्य नियम है। किन्तु यहाँ उस नियम का परिहार कर प्रत्यय का लुप् होने पर प्रकृति के समान लिङ्ग एवं वचन होता है। तात्पर्य यह है कि विशेष्य के अधीन लिङ्ग एवं वचन का त्याग होता है। यथा—पञ्चालानां निवासः जनपदः पञ्चालाः। इसी प्रकार कुरवः। अङ्गाः। वङ्गाः। कलिङ्गाः।

१२९७ तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३।

युक्तवद्वचनं न कर्तव्यम्, संज्ञानां प्रमाणत्वात् ।

यह पूर्व सूत्र पूर्वाचार्यों के अनुरोध प्रयुक्त किया गया है वास्तव में 'तुपि युक्तवद' सूत्र की आवश्यकता नहीं है। लोक में व्यवहृत संज्ञा के प्रामाण्य होने से जिस प्रकार लोक में संज्ञा व्यवहृत होगी उसी का उसी प्रकार साधुत्व है देशवाचक अङ्ग आदि शब्द बहुवचनान् ही है। इस लिए प्रकृतिवत् लिङ्ग एवं वचन करना उचित नहीं है। जिस प्रकार 'आपो दाराः' यहाँ लिङ्ग वचन का विधान नहीं किया।

१२९८ लुप्योगाऽप्रख्यानात् १।२।५४।

लुपि न कर्तव्योऽवयवार्थस्येहाप्रतीतिः ।

उपजीवक युक्तवदभाव का प्रत्याख्यान कर उपजीव्य प्रत्यय लुक् का भी प्रत्याख्यान है। चातुरथिक प्रत्यय का लुप् न करना क्योंकि वहा यौगिकार्थ की प्रतीति नहीं होती है। पाश्चाणादि शब्द द्वितीय में रुढ है वैसे ही जनपद में रुढ है। अतः यहाँ संक्षिप्त प्रत्यय का विधान ही असम्भव है। अब प्रत्यय नहीं तब उसका लुक् विधान करना व्यर्थ ही है।

१२९९ योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् १।२।५५।

यदि हि योगस्यावयवार्थस्येदं घोषक स्यात्तदा तदभावे न दृश्यते ।

यदि प्रत्यय का लौकार कर अवयवार्थ की प्रतीति कर दी जाय तो वहा प्रत्यय का लुप् है वहा योगार्थ का बोध नहीं होगा। पञ्चाल शब्द से द्वितीय निवासार्थ का बोध नहीं होगा।

१३०० प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् १।२।५६।

प्रत्ययार्थः प्रधानमित्येव रूपं वचनमप्यशिष्यम्, कुतः, अर्थस्य लोकेत एव सिद्धेः ।

प्रकृति का अर्थ एवं प्रत्ययार्थ इनमें प्रधान प्रत्ययार्थ ही होता है इसके लिए वचन निर्माण व्यर्थ है। प्रत्ययार्थ प्राधान्य निषेधक बोध लावेन-लोक से ही सिद्ध है।

१३०१ कालोपसर्जने च तुल्यम् १।२।५७।

अतीताया रात्रिः पञ्चाद्वेनागामिन्याः पूर्वोद्वेन च सहितो द्विसोऽद्यतनः । विशेषणम् च उपसर्जनम् इत्यादि पूर्वाचार्यः परिभाषितं तत्राप्यशिष्यत्व समानम्, लोकसिद्धेः ।

बीती हुई रात्रि के १२ बजे बाद से आगामी रात्रि के १२ बजे तक का काल को अद्यतन कहते हैं। एवं विशेषण की उपसर्जन संज्ञा होती है वे दोनों वचनों की अनावश्यकता है। यह लोक से ही शात है।

१३०२ विशेषणानां चाजातेः १।२।५८।

लुपर्थस्य विशेषणानामपि तद्वल्लिङ्गवचने स्तो जाति वर्जयित्वा । पञ्चाला रमणीयाः । गोदौ रमणीयी । अजातेः किम्, पञ्चाला जनपदः । गोदौ ग्रामः ।

हरीतक्यादिषु व्यक्तिः । हरीतक्याः फलानि हारीतक्यः । खलतिकादिषु वचनम् । खलतिफस्य पर्वतस्यादूरभवानि खलतिकं वनानि । मनुष्यलुपि प्रतिषेधः । मनुष्यलक्षणे लुचर्थे विशेषणानां न लुघन्तस्य तु भवतीत्यर्थः । चञ्चा अभिरूपः ।

जिस प्रत्यय का लुक् हुआ है तदर्थभूत विशेष्य पद उसका जो विशेषण उससे भी विशेष्य समान लिङ्ग एवं वचन होता है किन्तु भातिवाचक शब्द को नहीं ।

हरीतकी आदि शब्दों में प्रकृतिवत् वचन होता है । विशेष्यापीन वचन नहीं होता है । खलतिकादि शब्दों में प्रकृति के समान वचन होता है । विशेष्यापीन नहीं । लुचर्थ मनुष्य होने पर विशेष्य के समास विशेषण का लिङ्ग एवं वचन नहीं होता है किन्तु लुचर्थ के प्रकृतिवत् लिङ्ग एवं वचन होता है । चञ्चा अभिरूपः । कन् का लुप् है ।

१३०३ वरणादिभ्यश्च ४।२।८२।

अजनपदार्थ आरम्भः । वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः ।

वरणादि शब्द से पर चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है । यह सूत्र जनपद भिन्न के लिए किया है ।

१३०४ शर्कराया वा ४।२।८३।

अस्माच्चातुरथिकस्य वा लुप् स्यात् ।

शर्करा शब्द से पर चातुरर्थिक के प्रत्यय का लुप् होता है ।

१३०५ ठक्लौ च ४।२।८४।

शर्कराया एतौ स्तः । कुमुदादौ वराहादौ च पाठसामर्थ्यात् ठक्कौ । वाग्रहणसामर्थ्यात् पक्षे औत्सर्गिकोऽण्, तस्य लुप् विकल्पः । पङ् रूपाणि—१ शर्करा २ शार्करम् ३ शार्करिकम् ४ शर्करीयम् ५ शार्करिकम् ६ शार्करकम् ।

समर्थ लुघन्त शर्करा से ठक् एवं छ प्रत्यय होता है—कुमुदादि में शर्करा का पाठ है । अतः ठक् प्रत्यय होता है । वराहादि में पाठ होने से ठक् प्रत्यय होता है । 'शर्कराया वा' में वाग्रहण से पक्ष में औत्सर्गिक अण् भी होता है । लुप् विकल्प से होता है । लोप पक्ष में शर्करा । लोपाभाव पक्ष से अणन्त शार्करम् । टक् पक्ष में शार्करिकम् । ठक् पक्ष में शार्करिकम् कक् पक्ष में शार्करम् । छः रूप है । वे रूप विशेषरूप से समझने चाहिए ।

१३०६ नद्यां मतुप् ४।२।८५।

चातुरर्थिकः । इक्षुमती ।

नदी अर्थ की प्रतीति होने पर चातुरर्थिक मतुप् होता है ।

१३०७ मध्वादिभ्यश्च ४।२।८६।

मत्तुप् स्याच्चातुरर्थिकः । अनयर्थ आरम्भः । मधुमान् ।

मधु आदि शब्द से पर चातुर्यिक मतुप होता है। नदी नावक से मित्र स्थल के लिख यह आरम्भ है। यथा मधुमान् ।

१३०८ कुमुदनडवेतसेम्पो ड्मतुप् ४।२।८७।

कुमुदवान्, नड्वान्, वेतस्वान्, आद्ययोर्ज्ञेय इति अन्त्ये मादुपधाया इति वक्ष्यमाणेन च । ॐ महिषाच्येति वक्तव्यम् ॐ । महिष्मान् नाम देश ।

कुमु, नड वेतस से ड्मतुप प्रत्यय होता है। पूर्व उदाहरण द्वय में मतुप् के मकार को वकारादेश क्षय' सूत्र से होता है अन्त में मको व 'मादुपधाया' से हुआ है। उकार ग्रहण टिलोपार्थ है।

१३०९ नडशादाड्ड्वलच् ४।२।८८।

नड्वल । शादो जम्बालचासयो । शाड्वल ।

नड एव शाद से ड्वलच् होता है शाद से जम्बाल एव शास अर्थ गम्य है।

१३१० शिखाया वलच् ४।२।८९।

शिखावलम् ।

शिखा शब्द से वलच् प्रत्यय होता है। वह अण का वाचक है।

१३११ उत्करादिभ्यश्छ ४।२।९०।

उत्करीय ।

उत्करादिभ्य पठित शब्द से छ प्रत्यय होता है उत्करीय । छ को रंसादेश है।

१३१२ नडादीनां कुक् च ४।२।९१।

नडकीयम् । ॐ कुञ्चा इस्त्वञ्च । कुञ्चकीय । ॐ तक्षमलोपश्च ॐ । तक्षकीय ।

नडादि शब्दों से छ प्रत्यय एव कुक् का आगम नडादि की होता है। नड कुक् छ नडकीयम् कुञ्चा से छ प्रत्यय प्रकृति को कुञ्च एव इस्त्व । तसन् को छ एव नकार का लोप होता है तक्षकीय ।

१३१३ त्रिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक् ६।४।१५३।

नद्याद्यन्तर्गता त्रिल्वकादयस्तेभ्यश्छस्य लुक् तद्धिते परे । त्रिल्वका सन्ति यस्या सा त्रिल्वकीया तस्या मवा त्रिल्वका । त्रिल्वकीया । त्रिल्वका । छस्य किम्, छमात्रस्य लुक् यथा स्यात्, कुक्को निवृत्तिर्मा भूत् । अन्यथा सन्निभयोगशिष्टानामिति कुणपि निवर्तेत । लुग्ग्रहण सर्वलोपार्थम् । लोपोऽपि यमात्रस्य स्यात् ।

इति चातुर्यिकप्रकरणम् ।

नटादि के अन्तर्गत जो विल्वक आदि शब्द, उसके उत्तर तद्धित प्रत्यय पर रहते छ प्रत्यय का लुक् होता है। यथा विल्वाः सन्ति यस्यां सा छ प्रत्यय से खीलिङ्ग में विल्वकीया, तस्यां भवा अण् छ का लुक्। वैल्वकाः। मूल शब्द विल्व कुक् आगम एवं छ प्रत्यय उससे अण् है

सूत्र में केवल लुक् ही कहते प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् संज्ञा होती है छकार प्रत्यय है उसकी निवृत्ति छ ग्रहण न करने पर भी हो जाती। पुनः छ ग्रहण सूत्र में क्यों किया यह शङ्का हुई है उसका समाधान—छ प्रत्यय एवं कुक् आगम इन दोनों का एक साथ अर्थात् सद् विधान है। छ ग्रहण लुक् विधायक में न करते तो कुक् एवं प्रत्यय दोनों की निवृत्ति होकर कुक् का श्रवण जो इष्ट है बंद न रहना क्योंकि एक साथ कार्य में निवृत्तों की साथ प्रवृत्ति एवं एक साथ निवृत्ति होती है परिभाषा है “सन्नियोगशिष्टानां सदैव प्रवृत्तिः सदैव निवृत्तिः”।

विमर्श—सारांश यह हुआ कि छ ग्रहण से केवल छ का ही लुक् होता है वह परिभाषा अनित्य है यहां नहीं लगती लोप की अनुवृत्ति से ही कार्य निवाह होता सूत्र में लुक् ग्रहण क्यों किया ?, समाधान—लोप अलोऽन्त्य परिभाषा से ईय के यकार को होता, छको ईयादेश हुआ है उसमें स्थानिवद्भाव से छत्व का आनयन होकर। ईकार का श्रवण न हो एतदर्थ लुक् ग्रहण किया है, लुक् ग्रहण से प्रत्ययादर्शन रूप संज्ञा यहां उपस्थित होकर सम्पूर्ण प्रत्यय की (ईय) निवृत्ति हुई। यद्यपि प्रत्ययावयव में भी प्रत्ययत्व व्यवहार है। पुनः लुक् ग्रहण करने पर भी यकार को लुक् क्यों नहीं हुआ ? यह शङ्का का यहां अनवसर है, लुक् ग्रहण सामर्थ्य से प्रत्ययत्व पर्याप्ति सम्बन्ध से जहां रहे उसका लुक् होता है।

पं० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में चातुर्यिक प्रकरण समाप्त ।



अथ शैषिकप्रकरणम् ।

१३१४ शेषे ४।२।९।

अपत्यादिचतुर्थ्यन्तादन्योऽर्थः = शेषस्तत्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुष रूपम् । आवण शब्दः । औपनिषद्-पुरुषः । एषदि पिष्टा दार्पदा सक्तम् । उल्लखने क्षुण्ण औल्लखलो यावकः । अभ्यैरुह्यते आभ्यो रथः । चतुर्भिरुह्यते चातुर शकटम् । चतुर्दश्या हरयते चातुर्दश रक्षः । 'शेषे' इति लक्षणं चाधिकारश्च । तस्य विकार इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः ।

तद्विहित में अपत्यादि चतुर्थ्यन्त को अर्थ है उस अर्थों से जो अन्य = मित्र अर्थ उसको शेष कहते हैं । उस शेष अर्थ में अणादि प्रत्यय होव है । रूप विषयक ज्ञान में चक्षु करण है अतः सूत्रिया चाक्षुषा गृह्यते चाक्षुष रूपम् । अन्तेन्द्रिय से ज्ञातशब्द अर्थ में आवण शब्दः । ईश्वर उपनिषद् आगम से प्रतिपादन करने योग्य है औपनिषद्-पुरुष पत्थर चक्री में पिसा गया सत्तुवा में दार्पदा । उल्लख म कुटा हुआ यावक को औल्लखल कहा है । अभ से बहन कर्म रथ अर्थ में आभ । चार बैलों से बहन कर्म गाड़ी चातुरम् । राक्षसों का प्रधान रूप से दर्शन कर्मेता चातुर्दशों को हाती है चातुर्दशम् रक्ष रक्षस नपुंसक है ।

विमर्श— 'शेषे' यह सूत्र अण् प्रत्यय विधायक विधिसूत्र है । एवं आहृति से उत्तर सूत्रों में सन्तन्त्रार्थ अधिकार भी है । 'सङ्गदुष्करित' शब्द सङ्गदेवार्थ समवाय न्याय से एक 'शेषे' समवायिक नहीं अतः आहृति है 'शेषे' 'शेषे' इति । यह पङ्क्ति अतीव प्रसिद्ध है ।

चपुष इदम् इस अर्थ में 'तस्येदम्' से अण् प्रत्यय होकर 'चाक्षुषम्' आदि प्रयोग सिद्धि होगी । एवं सत्सक्त मन्त्रा' से 'दार्पदा' आदि की सिद्धि होती है । पुनः 'शेषे' यह अण् प्रत्यय विधानार्थ विधिसूत्र-व्यर्थ है । अर्थात् प्रयोगसिद्धिरूप प्रयोजनार्थ नहीं है । अधिकार के लिए जो इसकी आवश्यकता नहीं है । यदि अधिकार सूत्र 'शेषे' को न मानेंगे तो अपत्यादि चतुर्दशिक अर्थ में बहुवचन प्रत्यय होने लगेंगे यह कथन भी उचित नहीं है ।

आर्द्रा एव शाला आदि का उत्करादि में पाठ करण सामर्थ्य से स्थापन होता है कि 'इत' प्राचीन जो अर्थ उनमें पादय = धादि प्रत्ययों की प्रवृत्ति नहीं होती है । अन्यथा 'वृद्धाच्छ' से छ प्रत्यय की उत्पत्ति होती पुनः छ प्रत्यय के लिए उत्करादिराग में पाठ आर्द्रादि का वर्ण होना । अतः धादि ट्युय्युल्पर्यन्त प्रत्यय निवृत्ति अपत्यादि में यह अधिकार प्रयोजन नहीं है । एवं यह कहेंगे जान आदि भाकत्य अर्थ प्रयोजन अधिकार का है । वह भी नहीं है इसका प्रयोजन । क्योंकि आतादि के अधिकार पूर्व इसका अधिकार है, पूर्वपाठ करण सामर्थ्य से ।

यदि अनिहित जातादि अर्थ में ही धादि प्रत्यय होते तो उसके उत्तर भवादि अर्थों में 'प्रान्दीन्यत' यह विशिष्ट अवधि परिच्छिन्न अर्थों में विधीयमान अणादि ही होंगे, तब जाताधिकार के पश्चात् ही 'प्रान्दीन्यत' इत्यादि के साथ 'राशवारपार' इत्यादि को वहाँ पड़ेंगे । इस विवेचन से अधिकारत्व भी व्यर्थ है । 'शेषे' व्यर्थ होकर 'स्यालोपुलक' न्याय से या एकदेशानुमत्या इस कारिका के स्थापनार्थ है ।

शैषिकात् शैषिको न भवति = शैषिक प्रत्यय विधान के अनन्तर सरूपशैषिक प्रत्यय नहीं होता है आदि अर्थ बोधक कारिका का सन् विधायक प्रकरणान्त में वित्तृत व्याख्या होगी। “आद्रकादिन्यः छ प्रत्ययः स्यात् तदि चातुरर्थाभेव” इस पक्ष में अपत्यादि अर्थ में चादि प्रत्यय निवृत्त्यर्थ अधिकार की आवश्यकता है। एवं चाधुपन् से गृहमाणार्थ प्रकारक शाब्द-बोधनार्थ विधि की भी आवश्यकता है। चधुरिन्द्रय अन्य गृहमाणत्व प्रकारक रूप अर्थ विशेष्यक शाब्दबोध सूत्र सत्त्वे एवं विधित्व पक्ष में ही सम्भव है। अन्यथा नहीं। यह कट्टिका शास्त्रार्थ एवं परीक्षापयोगिनी भी है। इस प्रकरण के प्रत्यय शेष अर्थ में ही होते हैं।

१३१५ राष्ट्रावारपाराद् वखौ ४।२।९३।

आभ्यां क्रमाद् घखौ स्तः शेषे। राष्ट्रियः। अवारपारीणः। अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम् छ। अवारिणः। पारीणः। पाराव-रीणः। इह प्रकृतिविशेषाद् चादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जातादयोऽयंविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वच्यन्ते।

शेषार्थ में राष्ट्र शब्द से ष प्रत्यय होता है एवं अवारपार शब्द से ख प्रत्यय होता है। राष्ट्रे भवः राष्ट्रस्य कार्यन् आदि में राष्ट्रियः। राष्ट्रियन्। आरपार को अवारपार कहते हैं, भवादि अर्थ में ख अवारपारीणः। यहां अवार से पार से पारावार से भी ख प्रत्यय होता है यह वार्तिककार का मत भी आदरणीय है। अवारिणः। पारीणः। पारावारिणः।

इससे प्रकृति विशेष से चादि ट्युल प्रत्यय करे गये हैं एवं विशेष विभक्तयन्त से वे होते हैं, एवं जातादि विशेष अर्थ में यह सब व्यवस्था शृंग्र दिखाने जायगी।

१३१६ ग्रामाद् यखञौ ४।२।९४।

ग्राम्यः। ग्रामीणः।

ग्राम से य प्रत्यय एवं खञ् प्रत्यय शेषार्थ में होते हैं। ग्रामे भवः ग्राम्यः ग्रामीणः।

१३१७ कत्र्यादिभ्यो ढकञ् ४।१।९५।

कुत्सितान्त्रयः कत्रयः तत्र जातादिः कात्रेयकः। नागरेयकः। ग्रामादित्य-नुवृत्तेः ग्रामेयकः।

कर्त्रादि शब्दों से ढकञ् प्रत्यय होता है शेष ने। निन्दिन तीन को ‘कत्रयः’ कहते हैं। उनमें जातादि को कात्रेयकः कहते हैं। नगरे भवः नागरेयकः। ग्रामेयकः। यहां पूर्व सूत्र से ग्राम की भी अनुवृत्ति है। ढको एवादेश होता है।

१३३८ कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु ४।२।९६।

कौलेयकः श्वा। कौलोऽन्यः। कौक्षेयोकोऽसि। कौशोऽन्यः। ग्रैवेयकोऽ-लङ्कारः। ग्रीवोऽन्यः।

कुल से श्वा = कुत्ता अर्थ में, कुक्षि से असि = तलवार अर्थ में एवं ग्रीवा से अलङ्कार = आभूषण अर्थ में ढकञ् प्रत्यय होता है। अन्यार्थ में अण् प्रत्यय।

१३१९ नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।९७।

नादेयम् । मादेयम् । वाराणसेयम् ।

जातादि अर्थ में नदी आदि शब्दों से पर डक् प्रत्यय होता है । नर्णो भवन् नादेयम् । मर्णा भवं मादेयम् । वाराणस्या भवन्—वाराणसेयम् ।

१३२० दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ४।२।९८।

दक्षिणेत्याजन्तमव्ययम् । दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ।

दक्षिणा, पश्चात् एव पुरस् से त्यक् प्रत्यय होता है । यहाँ आवृत्त्ययान्त अव्यय दक्षिणा शब्द है ।

१३२१ कापिश्याः षक् ४।२।९९।

कापश्यां जातादि कापिशायन मधु । कापिशायनी ग्राश्वा ।

जातादि अर्थ में कापिशो से पर षक् प्रत्यय होता है । कापिशायन मधु । खीकृष्ण में षीप् ।

१३२२ रङ्गोरमनुष्येऽण् च ४।२।१००।

चात् षक् । राङ्गो गौः । राङ्गवायणः । अमनुष्येति किम्, राङ्गवको

मनुष्यः ।

मनुष्य से मित्र अर्थ होने पर रङ्ग शब्द से अण् एव षक् होता है ।

१३२३ द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ४।२।१०१।

दिच्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

जातादि अर्थ में दिच्, प्राच्, अपाच्, उदच्, प्रतीच् शब्द से उत्तर यत् प्रत्यय होना है । दिवि भवन्—दिच्यम् । प्राचि भवन् प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

१३२४ कन्थायाष्टक् ४।२।१०२।

कान्थिकः ।

जातादि अर्थ में कन्था से ठक् प्रत्यय होता है ।

१३२५ वर्णो वुक् ४।२।१०३।

वणुः = नदस्तस्य समीपदेशो वर्णुस्तद्विविधार्थवाचिकम्भाशब्दाद् वुक्

स्यात् । यथा हि जात हिमवत्सु कान्थिकम् ।

वर्णु का अर्थ है यहाँ नद उसके समीप देश में भी सामीप्य मूलक वर्णुत्वारीप है । तद्विविधार्थ वाचो कन्था शब्द से वुक् होता है । कान्थिकम् ।

१३२६ अव्ययात्त्यप् ४।२।१०४।

ॐ अमेहकतसित्रेभ्य एव ॐ । अमाऽन्तिकमहाययोः । अमात्यः । इहत्यः ।

कृत्य । ततस्त्यः । तत्रस्त्यः । परिगणन किम्, उपरिष्टाद्भव ओपरिष्ट' । ॐ

अव्ययानां भमात्रे टिलोपः । अनित्योऽयम्, बहिषष्टिलोपविधानात् । तेनेह न,

आरातोयः । ॐत्यब् नेष्टु इति वक्तव्यम् ॐ । नित्यः । ॐ निसो गते ॐ ।

अव्यय संज्ञक के उत्तर त्वप् होता है। सभी अव्ययों का यहाँ ग्रहण न हो जाय इस लिए परिगणन किया है। अमा, इह, क तस् प्रत्ययान्त प्रप्रत्ययान्त इन अव्ययों का ही यहाँ अव्ययपद से ग्रहण होता है।

अमा का अर्थ है समीप एवं सहायक अमा भवः अमात्यः = मन्त्री। अस्मिन्निति इह तत्र भवः इहृत्यः। कस्मिन् इति क तत्र भवः कृत्यः। तस्मात् ततः। तत्र भवः ततस्त्यः। तस्मिन् इति तत्र तत्र भवः। तत्रत्यः। उपरिष्ठात् भवः यहाँ परिगणित अव्यय से वृद्धिभूत होने से यहाँ त्वप् न हुआ किन्तु उपरिष्ठात् से भवार्थ अणप्रत्यय है।

अव्यय की म संज्ञा में टिलोप होता है। यह टिलोप अनित्य है यदि नित्य होता तो वृद्धि की टिलोप विधान वार्तिक द्वारा व्यर्थ होता। आरात् भवः छ प्रत्यय ईवादेश अनित्यत्व प्रयुक्त टिलोप का अभाव आरातीयः। ध्रुव = स्थिर = अनन्तर अर्थ से नि से त्वप् होता है। नित्यः = जिसका ध्वंस न हो। ध्वंसाप्रतियोगित्वम् = नित्यत्वम्। यस्याभावः स अभावप्रतियोगी, प्रमेयत्व, ज्ञेयत्व वाच्यत्व आकाशत्व परमाणुत्व ईश्वर आदि नित्यपदार्थ है। गतार्थक निस् से त्वप् होता है निस् + त्वप्।

१३२७ ह्रस्वात् तादौ तद्धिते ८।३।११०।

ह्रस्वादिणः परस्य सस्य पः स्यात् तादौ तद्धिते। निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्ठ्यञ्चाण्डालादिः। ऋ अरण्याणः ऋ। आरण्याः सुमनसः। दूरादेत्यः। दूरेत्यः। उत्तरादाहव् ऋ। औत्तराहः।

तकारादि तद्धित पर रहते छस्व इण से पर सभार को पकारादेश होता है। चार वर्ण पं चार आश्रय उनसे पृथक् की निस् + त्वप् पकार टुत्व से 'निष्ठ्यः' कहते हैं। अरण्य से णप्रत्यय होता है। अरण्ये भवाः आरण्याः सुमनसः = पुष्पाणि पुष्प वाचक केवल सुमनस् शब्द ही पुल्लिङ्ग है। अन्य नपुंसकलिङ्गक है।

उत्तरशब्द से आहव् प्रत्यय भवादि अर्थ में होता है। उत्तरं भवः औत्तराहः।

१३२८ ऐपमोह्यः श्वसोऽन्यतरस्याम् ४।२।१०५।

एभ्यस्त्यव् वा। पक्षे वक्ष्यमाणौ ट्युट्युलौ। ऐपमस्त्यम्। ऐपमस्तनम्। ह्यस्त्यम्। ह्यस्तनम्। श्वस्त्यम्। श्वस्तनम्। पक्षे शौवस्तिकम्।

ऐपमस् एत्स् श्वस् से भवादि अर्थ में त्यव् विकल्प से होता है। पक्ष में 'सायन्' सूत्र से ट्यु एवं ट्युल् होता है। ऐपमः भवः—ऐपमस्त्यन्। ट्यु एवं ट्युल् पक्ष में ऐपमस्तनन्। अनादेश यु की होता है उसके बाद यहाँ तुट् आगम होता है। 'अनघतने' निर्देश से। अतीते दिने भवम् एस्त्यन्। एस्तनन्। श्वस्त्यम् शौवस्तिकम् ठक् तुट्, द्वारादीनाञ्च से ऐजागम है।

१३२९ तीररूप्योत्तरपदादब्जौ ४।२।१०६।

यथासंख्येन। काकतीरम्। पाल्वलतीरम्। शैवरूप्यम्। तीररूप्यान्तादिति नोक्तम्, चाहुरूप्यम्।

तीर शब्द है उत्तरपदमें जिसको ऐसे प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है। एवं रूप्योत्तरपदक प्रातिपदिक से व प्रत्यय होता है। काकतीरं भवं काकतीरम्। उत्तरपद शब्द समास के चरमपद

को कहने हैं। बाहुरूप्यम् में बहुच् प्रत्ययपूर्व में है अतः यहा रूप्य उत्तरपद नहीं है न प्रत्यय न हुआ।

१३३० दिक्पूर्वपदादसंज्ञाया जः ४।२।१०७।

अणोऽपवाद । पौर्वशात् । असंज्ञाया किम्, सज्ञामूलाया प्रकृते मा भूत् । पूर्वेषु कामशब्दा भव पूर्वेषुकामशब्द । प्राचा प्रामनगराणामित्युत्तरपदवृद्धि ।

दिग्वाचक शब्द है पूर्वपद जिसका ऐसे प्रातिपदिक से उत्तर न प्रत्यय होता है असंज्ञा में । यह अण का वाचक है । पूर्वस्या शालाया भव तदित्यर्थ में समास विभक्ति लुक् पुंवद्भाव सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे से पूर्वदा ला न आदि वृद्धि आकार छोप पौर्वशात् । सूत्र में अस्मिन् ग्रहण में सज्ञामूल प्रकृति रहे वहाँ इस से न प्रत्यय नहीं होता है । यहा पूर्वेषु इषुकामशब्दा भव यहाँ उत्तरपद वृद्धि हुई एव अण्प्रत्यय है ।

१३३१ मद्रेभ्योऽम् ४।२।१०८ ।

दिक्पूर्वपदादित्येव । दिशोऽमद्राणामिति मद्रपर्युदासादादिबुद्धि । पौर्व मद्र आपरमद्र ।

जिसके पूर्व में दिग्वाचक शब्द रहे एव मद्रशब्द उत्तर में रहे वहाँ अण् प्रत्यय होता है । अमद्र पर्युदास से वहाँ आदि अच पूर्वपदत्व की वृद्धि से पौर्वमद्र । आपरमद्र ।

१३३२ उदीच्यग्रामाच्च बहुचोऽन्तोदात्तात् ४।२।१०९ ।

अम् स्यात् शैवपुरम् ।

इस सूत्र में दिक् पूर्वपदात् का सम्बन्ध नहीं है । बहुव स्वर से शुरू अन्तोदात्त उदीच्यग्राम वाचक प्रातिपदिक से अण् होता है । 'प्रत्यपुर में वृद्धाच्च की अनुवृत्ति से शिवपुर से छ प्रत्यय न हुआ शिवपुरे भवम् न प्राचय शैवपुरम् ।

१३३३ प्रस्थोत्तरपदपलघादिकोपधादण् ४।२।११०।

माहिकिप्रस्थ । पालद । नैलीनक ।

प्रस्थशब्द है उत्तर पद में जिसको ऐसे प्रातिपदिक से, एव पलघा आदि से, एव क्वार है वषा में जिसको ऐसे प्रातिपदिक से अवादि अर्थ में अण्प्रत्यय होता है ।

१३३४ कण्वादिभ्यो गोत्रे ४।२।१११।

एभ्यो गोत्रप्रत्ययान्तेभ्योऽण् स्यात् । कण्वो गर्गादि । काण्व्यस्य छात्रा काण्वा ।

गोत्र सञ्ज्ञक प्रत्यय है अतः में जिन को ऐसे कण्व आदि से अण् प्रत्यय होता है । यम प्रत्ययान्त काण्व्य से अण् हलत्वदित्यस्य से वकारछोप अण् प्रत्ययान्त काण्वा ।

१३३५ इजश्च ४।२।११२।

गोत्रे य इन् तदन्तादण् स्यात् । दाश्चा । गोत्रे किम् । सौतङ्गमेरिद् सौतङ्ग मीयम् । गोत्रमिह शास्त्रीय न तु लौकिकम् । तेनेह न, पाणिनीयम् ।

गोत्रार्थ में जो इञ् प्रत्यय तदन्त से अण् प्रत्यय होता है। अथा दक्षस्यापत्यम् दाक्षिः तस्य छात्राः दाक्षाः। चातुरर्थिक इञ् प्रत्यय गोत्रार्थक नहीं अतः सुतज्ञम से इञ् तस्य इदम् वृद्धत्व प्रयुक्तछ सौतज्ञमेरिदम् सौतज्ञमीयम्। 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्' यह शास्त्रीय गोत्र का यहाँ ग्रहण है न लौकिक का। अतः पाणिनीयम् यहाँ इत्सकी प्रभृति न हुई।

१३३६ न द्व्यचः प्राच्यभरतेषु ४।२।११३।

इन्वश्चेत्यणोऽपवादः। प्राप्तीयाः। काशीयाः। भरतानां प्राच्यत्वेऽपि पृथ-
गुपादानम् अन्यत्र प्राच्यग्रहणे भरतानामग्रहणस्य लिङ्गम्।

दो स्वरो से युक्त प्रातिपदिक से प्राच्य गोत्र या भरत गोत्र की प्रतीति हो तो गोत्रार्थक इञ् से उत्तर अण् प्रत्यय नहीं होता है। यह इञश्च से विहित अण् का बाधक है। प्राच्यगोत्र के भीतर भरत गोत्र गतार्थ ही है यहाँ केवल प्राच्य ग्रहण ही करना चाहता था पुनः सूत्र में उच्चरित जो भरत वह व्यर्थ होकर शापन करता है कि प्राच्यगोत्र प्रयुक्त कार्य भरत से नहीं होता ज्ञाप्यांश का फल अन्यत्र है एतावता मूल में अन्यत्र ग्रहण किया है वह शाप्य के शरीर के कुक्षि-प्रविष्ट कथमपि नहीं। "प्राच्यग्रहणेन भरतानां ग्रहणज्ञ" यह शाप्य स्वरूप है।

१३३७ वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् १।१।७३।

यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद्वृद्धसंज्ञं स्यात्।

जिस शब्द के अच् समुदाय में आदि अच् आ पे औ रहे उस शब्द की वृद्ध संज्ञा होती है।

१३३८ त्यदादीनि च १।१।७४।

वृद्धसंज्ञानि स्युः।

त्यदादि की भी वृद्ध संज्ञा होती है।

१३३९ वृद्धाच्छ ४।२।११४।

शालीयः। मालीयः। तदीयः।

वृद्धसंज्ञक शब्द से उत्तर छ प्रत्यय भवादि अर्थ में होता है। शालायां भवः, मालायां भवः, तस्य अयम् क्रमशः शालीयः। मालीयः। तदीयः।

१३४० एङ् प्राचां देशे १।१।७५।

एङ् यस्याचामादिस्तद्वृद्धसंज्ञं वा स्याद् देशाभिधाने। एणीपचनीयः। गोमर्दीयः। भोजकटीयः। पक्षे अणि ऐणीपचनः। गोमर्दः। भोजकटः। एङ् किम् आहिच्छत्त्रः। कान्यकुब्जः। क्लीं वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या क्लीं। देवदन्तीयः। देवदन्तः।

जिस शब्द के अवयव अचों में ए ओ आदि रहे देश अर्थ गण्यमान रहे वहाँ उस शब्द की वृद्ध संज्ञा होती है। पक्ष में अण् भी होता है। नामवाचक रहे वहाँ संज्ञा में वृद्ध संज्ञा होती है छ प्रत्यय एवं पक्ष में अण् होता है।

१३४१ भवतष्ठकृत्सौ ४।२।११५।

वृद्धाद् भवत एतौ स्तः । भावत्कः । जरत्यम्-भवदीयः । वृद्धादित्यनुवृत्तेः
शत्रन्तादणव । भावतः ।

वृद्धसंज्ञक भवत् से ठक् एव छम् प्रत्यय होते है । ठको प्राप्त इकादेश को बाधकर 'श्चसु' से
क आदेश आदि वृद्धिः भावत्कः । छम् में सकार की ह्रस्व सज्ञा से 'सिति' से पूर्व को पद सज्ञा दे
जश्व से भवदीयः । भूभातु से कट् शतृ से भवत् वद्वा आदि अन् वृद्धि सञ्चक नहीं अतः वृद्ध सज्ञा
भवत् को न ह्रस्व अतः ठक् शस न होकर अण् से भावतः ।

१३४२ काश्यादिभ्यष्ट्वन्निष्ठौ ४।२।११६।

इकार उच्चारणार्थः । काशिकी । काशिका । वैदिकी । वैदिका । आपदा-
दिपूर्वपदान् कालान्तान्छ । आपदादिराकृतिगणः । आपत्कालिकी । आप-
त्कालिका ।

काशी आदि शब्दों से पर ठन् एव निष्ठ प्रत्यय होता है । काश्या भवा काशिकी काशिका ।
आपदा आदि शब्द है पूर्वपद में जिसको एव काल शब्द है अन्त में जिसको ऐसे शब्दों से ठन्
एव निष्ठ प्रत्यय होता है । आपत्कालिकी । आपत्कालिका ।

१३४३ बाहिकग्रामेभ्यश्च ४।२।११७।

बाहिकग्रामवाचिभ्यो वृद्धेभ्यष्ट्वन्-निष्ठौ स्तः । छस्यापवादः । कास्तीरं नाम
बाहिकग्रामः—कास्तीरिकी । कास्तीरिका ।

बाहिक ग्राम वाचक वृद्धसञ्चक प्रातिपदिक से पर ठन् एव निष्ठ होता है । छका अपवाद है ।

१३४४ विभापोशीनरेषु ४।२।११८।

एषु ये ग्रामास्तद्व्याचिभ्यो वृद्धेभ्यष्ट्वन्निष्ठौ वा स्तः । सौदर्शनिकी ।
सौदर्शनिका । सौदर्शनीया ।

वशीनर देश में जो ग्राम है उसका वाचक की वृद्ध सञ्चक प्रातिपदिक वससे ठन् प्रत्यय एवं
निष्ठ प्रत्यय होता है विकल्प से ।

१३४५ ओर्देशे ठन् ४।२।११९।

उवर्णान्ताद् देशवाचिनष्ट्वन् । निषादकपूरुः—नैषादकपूरुः । केऽण इति
ह्रस्वः । देशे किम्, पटोरक्षात्राः पाटवः । निष्ठं व्यावर्तयितुं ठन्प्रहणम् ।
वृद्धाच्छं परत्यादयं बाधते दाक्षिक्यपूरुः ।

उवर्णान्त देश वाचक शब्द से पर ठन् प्रत्यय होता है । उदाहरण में केऽणः से ककार का
ह्रस्व है । सत्रियोगशिष्ट न्याय से यहां निष्ठ को भी अनुवृत्ति आनी उसकी व्यावृत्ति के छिद्र
सूत्र में ठन् प्रहण किया है । ठ को कादेश है । यह छप्रत्यय को परत्वं के कारण बाध
करता है ।

१३४६ वृद्धात् प्राचाम् ४।२।१२०।

प्राग्देशवाचिनो वृद्धादेवेति नियमार्थं सूत्रम् । आढकजम्बुकः । शाक-
जम्बुकः । मझावास्तु मालवास्तवः ।

वृद्ध संज्ञक ही प्राग्देशवाचि प्रातिपदिक से ठग्न होता ही है, इस नियम के लिए यह सूत्र है। जो वृद्ध संज्ञक नहीं एवं प्राग्देशवाची है उससे अण् ओर्गुणः से गुण होकर मालवारतवः। वृद्ध से प्रत्यय ठक हो तो प्राग्देश वाची से ही यह विपरीत नियम नहीं है। अप्राग्देश वाची वृद्ध उवर्णान्त नहीं है।

१३४७ धन्वयोपधाद् वुञ् ४।२।१२१।

धन्वविशेषवाचिनो यकारोपधाच्च देशवाचिनो वृद्धाद् वुञ् स्यात्। ऐरावतं धन्व ऐरावतकः। सांकाश्यकाम्पिल्यशब्दो वुञ्छणादिसूत्रेण प्यान्ता। सांकाश्यकः। काम्पिल्यकः।

यहां धन्व से स्वरूप एवं पर्याय का ग्रहण नहीं है। उनमें वृद्धत्व असम्भव है अतः धन्वविशेष का यहां ग्रहण है।

धन्वविशेष वाचक शब्द एवं यकारोपध देशवाचक वृद्ध शब्द से वुञ् प्रत्यय होता है। ऐरावतं धन्व—ऐरावतकः। ण्यप्रत्ययान्त सांकाश्य से वुञ् सांकाश्यकः। “धन्वा तु नगदेशे ना क्लीवं चापे स्थलेऽपि च” यह मेदिनीकोशकार कहते हैं। जलरहित प्रदेश में भी धन्व का प्रयोग है। गत्यर्थक धिवि से कनिन् प्रत्यय है। “इन्वातो धन्वधन्विनोः” यह हर्मकोश है। धनुष् को संज्ञा।

१३४८ प्रस्थपुरवहान्ताच्च ४।२।१२२।

एतदन्ताद् वृद्धाद् देशवाचिनो वुञ् स्यात्। छत्यापवादः। नालाप्रस्थकः। नान्दीपुरकः। पैलुवहकः। पुरान्तग्रहणमप्रागर्थम्। प्राग्देशे वृत्तरेण सिद्धम्।

प्रस्थ, पुर, वह वे हैं अन्त में जित्तको ऐसा देशवाचक वृद्ध संज्ञक प्रतिपदिक से वुञ् होता है। छत्याच्छ का निषेधक है। प्राग् देशवाची जो पुरान्त शब्द नहीं वहां वुञ् प्रत्यय पुर ग्रहण है। एवं प्राग् देशवाची में तो वृत्त सूत्र ही वुञ् करेगा।

यद्यपि जनपदत्वं से हो सिद्ध था अवधि ग्रहण व्यर्थ होकर बुज् ही हो अन्य प्रत्यय न हो पदार्थ नियमार्थ है। विगर्ते से छत्रत्वय नहीं हुआ किन्तु तुज हो हुआ “वृद्धादपि बहुवचन-विपदात्” से त्रैगर्भकः। ‘वर्तोंत्तरपदात्’ से नहीं। इयमायनकः। वृद्ध का उदाहरण है।

१३५१ अष्टादपि बहुवचनविपयात् ४।२।१२५।

अष्टाद्व वृद्धाश्च जनपदसद्वधिवाचिनो बहुवचनविपयात् प्रातिप-
दिकाद् बुच् स्याद् अष्टादणो वृद्धाच्छस्यापवादः। अष्टाज्जनपदात् आङ्गकः।
अष्टाज्जनपदावधेः आजमीढकः। वृद्धाज्जनपदात् दार्यकः। वृद्धाज्जनपदावधेः
कालञ्जररकः। विषयग्रहणं किम्, एकशेषेण बहुत्वे मा भूत्। वर्तनी च
वर्तनी च वर्तनी च वर्तन्यस्तासु भवो वर्तनः।

अष्टद सङ्क या वृद्ध सङ्क जनपद वा उसकी सोनाकर अवधिवचक बहुवचन विषयक
प्रातिपदिक से जुन् होता है। अष्टद सङ्क से प्राप्त अङ्ग का यह वाचक है। एव वृद्धसङ्क से
प्राप्त छ प्रत्यय का यह निषेधक है। देश एव उसकी अवधि में स्वामयिक बहुवचनान्ता रहे
वहाँ यह जुन् होता है हम लिए विषय ग्रहण दिया है। एकशेष से बहुत्व में जुन् नहीं वहाँ
अङ्ग वर्तन ।

१३५३ कच्छाग्निवक्त्रवर्तोत्तरपदात् ४।२।१२६।

देशवाचिनो वृद्धाद्वृद्धाश्च बुच् स्यात्। दारुकच्छकः। काण्डाप्रकः।
सैन्धुवक्त्रकः। बाहुवर्तकः।

कच्छ, अग्नि, वक्त्र, वर्त है उत्तर पद में जिसकी ऐसे देशवाचक वृद्ध सङ्क या अष्टद सङ्क
वससे जुन् होता है।

१३५३ धूमादिभ्यश्च ४।२।१२७।

देशवाचिभ्यो बुच्। घौमकः। तैर्यकः।
देशरूप अर्थ का प्रत्यापक ओ धूमादिगण पठित शब्द उससे मत्तादि अर्थ में जुन् प्रत्यय
होता है। तौर्ये मव. तैर्यकः।

१३५४ नगरात् कुत्सनप्रावीण्ययोः ४।२।१२८।

नगरशब्दाद् बुच् स्यात् कुत्सने प्रावीण्ये च गम्ये। नागरकञ्चौरः, शिल्पी
वा। कुत्सनेति किम्, नागरा ब्राह्मणाः।

कुत्सन एव प्रावीण्य अर्थ गम्यमान होने पर नगर शब्द से बुच् प्रत्यय होता है। नगर में
वर्तन होकर उत्तरवृत्तिकर्ता यहाँ निन्दा गम्यमान है। नगर का निपुण कार्य करने वाला
कारीगर यहाँ प्रशंसा गम्य है नागरिक। वहाँ कुत्सन या निपुणता की प्रशंसा नहीं वहाँ नगरे
मवा नगरा = ब्राह्मणा यहाँ अन्वर्थक अङ्ग हो होता है।

१३५५ अरण्यान्मनुष्ये ४।२।१२९।

बुच्। अरण्याण इत्यस्यापवादः। ॐ पच्यध्यायभ्यायविहारमनुष्यहस्ति-
ध्विति वाच्यम् ॐ। आरण्यकं पन्या अध्यायो म्यायो विहारो मनुष्यो हस्ती
वा। ॐ वा गोमयेषु ॐ। आरण्यका आरण्या वा गोमयाः।

मनुष्य अर्थ गन्ध्य रहे वहां अरण्य से बुञ् प्रत्यय होता है । यह सूत्र ण का बाधक है । अरण्य से बुञ् होता है मार्ग, अध्याय, न्याय, विहार, मनुष्य एवं इति इन अर्थों में । गोवर रूप गोमय अर्थ में बुञ् विकल्प से होता है । पक्ष में णप्रत्यय । आरण्यकाः—अरण्याः—वा गोमयाः ।

१३५६ विभाषा कुरुयुगन्धराभ्याम् ४।२।१३०।

बुञ् । कौरवकः । कौरवः । यौगन्धरकः । यौगन्धरः ।

कुरु एवं युगन्धर से बुञ् विकल्प से होता है । बुञ् को अकादेश आदि वृद्धि ओ गुण से गुण अकादेशः कौरवकः । पक्षमे अण् कौरवः । कच्छादित्व प्रयुक्त अण् कुरु का उस गणमे पाठ है । कुरु से बुञ् अण् सिद्ध था पुनः विभाषा ग्रहण युगन्धर के लिए हो है । अवृद्धात् से प्राप्त नित्य बुञ् को यह विकल्प से बाध करता है पक्ष में अणर्थ है ।

१३५७ मद्रवृज्योः कन् ४।२।१३१।

जनपदबुञ्चोऽपवादः । मद्रेषु जातो मद्रकः । वृजिकः ।

मद्र एवं वृजि में जातादि अर्थ में कन् प्रत्यय होता है ।

१३५८ कोपधादण् ४।२।१३२।

माहिपिकः ।

ककार है उपधा में जिसको ऐसे शब्द से जातादि अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

१३५९ कच्छादिभ्यश्च ४।२।१३३।

देशवाचिभ्योऽण् । बुञ्चादेरपवादः । काच्छः । सन्धवः ।

देशवाचक कच्छादि शब्दों से बुञ्चादि जो प्राप्त हैं उनको बाधकर अण् प्रत्यय होता है । काच्छः । सन्धवः ।

१३६० मनुष्यतत्स्थयोर्युञ् ४।२।१३४।

कच्छाद्यणोऽपवादः । कच्छे जातादि काच्छको मनुष्यः । काच्छकं हसितम् । मनुष्येति किम् , काच्छो गौः ।

मनुष्य एवं मनुष्य स्थित पदार्थ वाच्य रहे तो कच्छशब्द से जाताद्यर्थ में युञ् होता है । यह सूत्र कच्छादि से विहित अण् का बाधक है । कच्छे जातः काच्छकः, यहाँ मनुष्य रूपार्थ प्रतीति है कच्छे जातम् हसितम् यहाँ मनुष्य स्थिति दास्य की प्रतीति है—काच्छकं हसितम् । काच्छो गौः यहाँ अण् प्रत्यय है ।

१३६१ अपदातौ साल्वात् ४।२।१३५।

साल्वशब्दस्य कच्छादित्वाद् बुञ् सिद्धे नियमार्थमिदम् । अपदातावेवेति । साल्वको ब्राह्मणः । अपदातौ किम् , साल्वः पदाति र्व्रजति ।

पाद से गमन कर्ता को पदाति करते है । तद्धिग्न अर्थ में साल्व से बुञ् होता है । साल्व का पाठ कच्छादिगण में है कच्छादित्वप्रयुक्त बुञ् सिद्ध हो था पुनः यह सूत्र व्यर्थ होकर नियमार्थ है नियमाकार यह है । यदि कच्छ से बुञ् हो तो अपदाति अर्थ में हो, अन्यत्र नही इस का फल यह हुआ की जहाँ पैर से गमन कर्ता है वहाँ साल्व यही होगा कच्छादि प्रयुक्त बुञ् नही हुआ । किन्तु अण् ।

१३६२ गोयवाग्वोश्च ४।२।१३६।

साल्वाद् युञ् । कच्छ्राद्यणोऽपवादः । साल्वको गौः । साल्विका यवागूः ।
साल्वमन्यत् ।

गो ॥ यवागू अर्ध की प्रतीति होने पर साल्व से युञ् होता है । यह युञ् अणु का निषेधक है ।

१३६३ गर्तोत्तरपदाच्छः ४।२।१३७।

देशे । अणोऽपवादः । वृक्तगर्तीयम् । उत्तरपदग्रहण बहुच्पूर्वनिरासार्थम् ।

गर्तशब्द है उत्तर पद में जिसको ऐसे समर्थ प्रातिपदिक से जातादि अर्थ में छप्रत्यय होता है देश रूप अर्थ की प्रतीति होने पर । यह अणु का बाधक है । गर्तान्तात् कहते तो बहुगर्त से भी छप्रत्यय होता उत्तरपद कहने से यहाँ पूर्व में बहुच् प्रत्यय है समास नहीं है, समास वरभावयव-रूप उत्तरपद का अभाव में छ न हुआ, किन्तु अणु 'बहुगर्त' ।

१३६४ गहादिभ्यश्च ४।२।१३८।

छ स्यात् । गहीयः । छ मुखपाश्वतसोलोपश्च छ । मुखतीयम् । पार्श्व-
तीयम् । अन्ययाना भमात्रे टिलोपस्यानित्यता ज्ञापयितुमिदम् । छ कुक्
जनस्य परस्य च छ । जनकीयम् । परकीयम् । छ देवस्य च छ देवकीयम् ।
छ स्वस्य च छ । स्वकीयम् । छ वेणुकादिभ्यश्छण् वाच्यः छ । वेणुकीयम् ।
वैत्रकीयम् । औत्तरपदकीयम् ।

गहादि शब्द क उत्तर छप्रत्यय होता है तसिल प्रत्ययान्त मुख ॥ पाश्व से छप्रत्यय होता है एव तस के अन्यवर्ण सकार का छोप होता है मुखतीयम् । पार्श्वतीयम् । यहाँ शङ्का होती है कि अन्यर्थों की टि का छोप विधायक "अन्ययाना भमात्रे टिलोप" है पुनः यह छोप विधान व्यर्थ है गणसूत्र से वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अन्यर्थों की भसता में टिलोप विधायक वचन अनिरप है । तेन आरातीव यहाँ अनिरप का फल यह हुआ कि टिलोप न हुआ । जन एव पर को छप्रत्यय होता है तत्सवियोगे शिष्ट एव दोनों को कुक् भागम भी होता है, जनकीयम् । परकीयम् । देव को भी छ एव कुक्, देवकीयम् । स्वको भी छ एव कुक् स्वकीयम् । वेणुकादि से छण् प्रत्यय होता है ।

१३६५ प्राचा कटादेः ४।२।१३९।

प्राग्देशवाचिनः कटादेश्च छः स्यात् । अणोऽपवादः । कटनगरीयम् ।
कटघोषीयम् । कटपल्वलीयम् ।

पूर्वदेशवाचक कटादि से पर छप्रत्यय होता है । यह अणु का बाधक है ।

१३६६ राज्ञः क च ४।२।१४०।

वृद्धत्वाच्छे सिद्धे तत्सन्नियोगेन कदेशमात्र विधीयते । राजकीयम् ।

राजन् शब्द को क आदेश होता है एव राजन् से उत्तर छ प्रत्यय होता है । राज शब्द कार्यन् राजकीयम् ।

१३६७ वृद्धादकेकान्तखोपघात् ४।२।१४१।

अक इक एतदन्तात् खोपधाच्च वृद्धादेशवाचिनश्छः स्यात् । ब्राह्मणको नाम जनपदो यत्र ब्राह्मणा आयुधजीविनस्तत्र जातो ब्राह्मणकीयः । शाल्मलि-
कीयः । अयोमुखीयः ।

अक एवं इक वे ई अन्त में जिनको ऐसे शब्दों से खोपय देशवाचक वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से छप्रत्यय होता है । वृद्ध एवं देशवाचक का सर्वत्र अन्वय है जहां ब्राह्मण शास्त्रधारण से जीवन निर्वाह करते हैं वहां उत्पन्न अर्थ में ब्राह्मणकीयः । यहां कोपधादण् से अण् प्राप्त था । अयोमुखी यः यहां बाहीक ग्राम लक्षण ठञ् मिठ प्राप्त था उसको छ ने बाध किया ।

१३६८ कन्थापलदनगरग्रामहृदोत्तरपदात् ४।२।१४२।

कन्थादिपञ्चकोत्तरपदाद् देशवाचिनो वृद्धाच्छः स्यात् । ठञ्ब्रविठा-
देरपवादः दाक्षिकन्थीयम् । दाक्षिपलदीयम् । दाक्षिनगरीयम् दाक्षिप्रामीयम् ।
दाक्षिहृदीयम् ।

कन्था, पलद, नगर, ग्राम, हृद इनके उत्तरपद में रहते देशवाचक एवं वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से छ प्रत्यय होता है । बाहीक ग्रामत्वेन ठञ् एवं मिठ तथा रोपधतोः से जुन् इनका यह अपवाद है ।

१३६९ पर्वताच्च ४।२।१४३।

पर्वतीयः ।

पर्वतशब्द से जातादि अर्थ में छप्रत्यय होता है । पर्वते भवः— पर्वतीयः ।

१३७० विभाषाऽमनुष्ये ४।२।१४४।

मनुष्यभिन्नेऽर्थे पर्वताच्छो वा स्यात् । पक्षेऽण् । पार्वतीयानि पार्वतानि
वा फलानि । अमनुष्येति किम् , पर्वतीयो मनुष्यः ।

मनुष्य भिन्न अर्थ में पर्वत से जातादि अर्थ से छ विकल्प से होता है । पक्ष में अण् फल अर्थ दो रूप । मनुष्य अर्थ में छप्रत्ययान्त एक रूप है ।

१३७१ कृकर्णपर्णाद् भारद्वाजे ४।२।१४५।

भारद्वाजदेशवाचिभ्यां छः । कृकर्णीयम् । पर्णीयम् । भारद्वाजेति
किम् कार्कणम् । पार्णम् ।

भारद्वाज देशवाचक कृकर्ण एवं पर्ण इन से छप्रत्यय होता है । अन्यत्र अण् यहां भारद्वाज शब्द देश परक है प्रत्ययार्थ नहीं वह प्रकृत्यर्थ में विशेषण है ।

१३७२ युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च ४।३।१।

चाच्छः । पक्षेऽण् । युत्रयो र्थुष्माकं वा अयं युष्मदीयः । अस्मदीयः ।

युष्मद् अस्मद् शब्द से खञ् विकल्प से होता है । चकार से छप्रत्यय भी होता है । पक्ष में अण् प्रत्यय होता है । खञ् एवं अण् में विशेष कार्य वक्ष्यमाण है अतः छ प्रत्यय के रूप प्रथम यहाँ निर्दिष्ट किये हैं सूचिकृताह न्याय से अल्प समय साध्य कार्य प्रथम एवं अधिक समय साध्य कार्य पश्चात् होता है । लोहकार के पास जाकर एक ने कहा कि 'सूचि कुरु' अन्य ने कहा

'कटाह कुरु' तथैव प्रकृत में युष्मदीय, अस्मदीय । छप्रत्यय यथा है 'त्वदादीनि च' से वृद्धसङ्गा कर वृद्धाच्छ से छप्रत्यय हुआ । नित्य छप्रत्यय प्राप्त था किन्तु खन् अण् ने उसको विकल्प किया ।

१३७३ तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ४।३।२।

युग्मदस्मदोरेतावादेशौ स्त खनि अणि च । यौष्माकीण । आस्माकीण यौष्माक । आस्माक ।

खन एव अण प्रत्यय पर रहते युष्मद् एव अस्मद् के स्थान में कर्मण युष्माक एव अस्माक आदेश होता है । खन पक्ष में आ को ईनादेश आदि वृद्धि युष्माक एव अस्माक आदेश आदि वृद्धि से यौष्माकीण । आस्माकीण । अण पक्ष में यौष्माक आस्माक युवयो युष्मावम् वा अयम् आषया अस्माकम् वा यदा द्विवचनात् या बहुवचनान्त में पूर्वोक्त रूप है ।

१३७४ तवकममकावेकवचने ४।३।२।

एकार्थवाचिनो युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खक्यणि च । तावकीन । तावक । मामकीन । मामक । छे तु ।

खन या अण् पर में रहते एकत्व विशिष्टार्थक युष्मद् एव अस्मद् स्थान में कर्मण तवक एव ममक आदेश होता है । तव अथ तावकीन खन पक्ष में अण् में तावक । ममादम् मामकीन । मामक । छप्रत्यय में तो ।

१३७५ प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७।२।९।

मपर्यन्तयोरेकार्थयोस्त्वमी स्त प्रत्यये उत्तरपदे च । त्वदीय । मदीय ।

प्रत्यय या उत्तरपद पर में रहते एकत्व विशिष्टार्थक युष्मद् एव अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को त्व एव म आदेश क्रमश होता है । तव अथ त्वदीय ममावम् मदीय । त्व अद् अतो गुण त पररूप हुआ ।

१३७६ अर्धाद् यत् ४।३।४।

अर्धम् ।

अध शब्द से उत्तर यत् प्रत्यय होता है ।

१३७७ परावराधमोत्तमपूर्वाच्च ४।३।५।

पराद्धर्मम् । अपराद्धर्मम् । अधमाद्धर्मम् । उत्तमाद्धर्मम् ।

पर अवर, अधम, उत्तम इनके पूर्व से रहते अर्थ से यत् प्रत्यय होता है ।

१३७८ दिक्पूर्वपदाट्श्च ४।३।६।

चाद् यत् । पौवाद्धिकम् । पूर्वाद्धर्मम् ।

निक वाचक शब्द पूर्व में रहते अर्थ से ठञ एव चकार से यत् प्रत्यय होता है ।

१३७९ ग्रामजनपदैरुदेशादञ्ठौ ४।३।७।

ग्रामैकदेशवाचिनो जनपदैकदेशवाचिनश्च दिक् पूर्वपदाद् अर्द्धाङ्ताद् अञ्ठौ स्त । इमेऽस्माक ग्रामस्य जनपदस्य वा पौर्वाद्धा । पौर्वाद्धिका । ग्रामस्य

पूर्वस्मिन् देशे भवा इति तद्धितार्थं समासः । ठञ् ग्रहणं स्पष्टार्थम् । अञ् चेत्युक्तेर्यतोऽनुकर्षः सम्भाव्येत ।

ग्रामका एक अंश का वाचक एवं देश का एक अंश वाचक जो दिग् वाचक शब्द पूर्वक अर्धान्त प्रातिपदिक उससे अञ् एवं ठञ् प्रत्यय होता है । यहाँ ठञ् ग्रहण स्पष्टार्थ है । 'अञ् च' कहने से यत् का भी अनुकर्षण की सम्भावना होती उसकी व्यावृत्ति व्याख्यान से होती किन्तु स्पष्ट-ज्ञानार्थ ठञ् किया है ।

१३८० मध्यान्मः ४।३।८।

मध्यमः ।

मध्यशब्द से उत्तर मप्रत्यय होता है । मध्ये मद्-मध्यमः ।

१३८१ अ साम्प्रतिके ४।३।९।

मध्यशब्दान् अकारप्रत्ययः स्यात् साम्प्रतिकेऽर्थे । उत्कर्षापकर्षहीनो मध्यो वैयाकरणः । मध्यं दारु । नातिह्रस्वं नातिदीर्घमित्यर्थः ।

साम्प्रतिक अर्थ में मध्य शब्द से अकार प्रत्यय होता है । साम्प्रतिक = न्याय्य । साधारण वैयाकरण अर्थ में अप्रत्यय से मध्यः । न बहुत छोटा न बहुत बड़ा काठ अर्थ में मध्यं दारु ।

१३८२ द्वीपादनुसमुद्रं यञ् ४।३।१०।

समुद्रस्य समीपे यो द्वीपस्तद्विषयाद् द्वीपशब्दाद् यञ् स्यात् । द्वैष्यम् । द्वैष्या ।

समुद्र के समीप में जो द्वीप तद् विषयीभूत द्वीप से यञ् प्रत्यय होता है । द्वैष्यन् । द्वैष्या यहाँ यञ्श्च से ङोप् न हुआ अपत्याधिकारस्थ यञ् का उसमें ग्रहण है । समुद्रन् समया 'अनुसमुद्रन्' अनुयत्समया से अव्ययीभावः । विद्यमानक्रियाद्वारा अधिकरणत्वेन समी । समीपे विद्यमान-मित्यर्थः ।

१३८३ कालाट्ठञ् ४।३।११।

कालवाचिभ्यष्टञ् स्यात् । मासिकम् । सांवत्सरिकम् । सायम्प्रातिकः । पौनःपुनिकः । कथं तर्हि 'शार्वरस्य तमसो निषिद्धये' इति कालिदासः । अनुद्वितीपसरान्गात् भारविः । समानकालीनं प्राक्कालीनमित्यादि च । अपभ्रंशा एवैत इति प्रामाणिकाः । तत्र जात इति यावत्कालाधिकारः ।

कालवाचक शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है भवाद्वि अर्थ में । मासे जातन् = मासिकम् । संवत्सरं जातन् सांवत्सरिकम् । सायम्प्रातः जातन् सायम्प्रातिकः । अव्ययनां भेदात् से टिलोप शार्धेरिकान् होना चाहिये औपधिकः एवं समानकालिकः होना चाहिये शार्वर आदि न होना चाहिये । वे सूत्रमर्वादाविरुद्ध होने से अप्रामाणिक ही है । 'तत्र जातः' तक काल का अधिकार है । यहाँ काल पद से कालबोधक का ग्रहण है अतः कालबोधक 'सायम्प्रातः' है । यहाँ काल से काल-स्वरूप का ग्रहण न करना, ठञ् वाचनार्थ 'सन्धिबेला' सूत्र से अण्विधान से । कालबोधक मासा-दिवस काल भी है अतः कालिकः आदि प्रयोग सिद्धिः । कालिकी—व्याप्तिः ।

१३८४ आद्वे शारदः ४।३।१२।

ठञ् स्यात् । ऋत्वणोऽपवादः । शारदिक आह्नम् ।

आह्न अर्थ में मवादि अर्थ में समर्थ शारद से ठञ् प्रत्यय होता है । यह अणु का बाधक है । पितरों के लिए भक्ति से जो कर्म शास्त्रानुमोदित किया जाय उसको आह्न कहते हैं । 'प्रशाश्रद्धा' आदि से अणु प्रत्ययान्त श्रद्धानुत्पत्त्युक्त का आह्न से यहाँ ग्रहण नहीं है, अनभिधान के कारण ।

१३८५ विभाषा रोगातपयोः ४।३।१३ ।

शारदिक. शारदो वा रोग आतपो वा । एतयोः किम् , शारद दधि ।

रोग एव आतप अर्थ में शारद से विकर ठञ् होता है । अन्यत्र अणु ।

१३८६ निशाप्रदोषाम्याश्च ४।३।१५।

वा ठञ् स्यात् । नैशिकम् । नैशम् । प्रादोषिकम् । प्रादोषम् ।

निशा एवं प्रदोष से विकर ठञ् होता है । प्रदोष = रजनीमुखम् ।

१३८७ श्वसस्तुद् च ४।३।१५ ।

श्वस् शब्दात् ठञ् वा स्यात्तस्य तुडागमश्च ।

श्वस् से विकर ठञ् होता है एवं उसको तुद् का आगम होता है ।

१३८८ द्वारादीनां च ७।३।४।

द्वार. स्वर, व्यल्कश, स्वस्ति, स्वर, स्फ्युठत्, स्वाहु, मृदु. श्वस्, श्वन्, श्व, एषा न वृद्धिरैजागमश्च । शौषस्तिकम् ।

द्वारादिगण पठित शब्दों के आदि अणु की शक्ति नहीं होती है किन्तु पदान्त वकार वकार को ऐञ् (ऐ औ) आगम होता है ।

१३८९ सन्धिवेलाद्यतुनक्षत्रेभ्योऽणं ४।३।१६।

सन्धिवेलादिभ्य ऋतुभ्यो नक्षत्रेभ्यश्च कालवृत्तिभ्योऽण् स्यात् । सन्धि-वेलायां भवं सान्धिवेलम् । प्रैधम् । तैषम् । सन्धिवेला-सन्ध्या, अमावास्या, प्रयोदशी चतुर्दशी । पौर्णमासी । प्रतिपद् । छिन्नमत्सरान् कलपर्णो । सां-वत्सर फल पर्व वा । सांवत्सरिकम् अन्यत् ।

कालवृत्ति सन्धिवेलादि शब्दों में ऋतु वाचक शब्दों से नक्षत्र वाचक शब्दों से अणु प्राप्य होता है । फल एवं पर्व अर्थ में सवत्सर में अणु प्रत्यय होता है । छप्रत्यय को बाधनापं सूत्र में अणु ग्रहण किया है । अन्यथा यथा विहित प्रत्यय से अणु हो ही जाता । पौर्णमासी से वृद्धस् प्रयुक्त छ प्रत्यय न हुआ । तैषम् नैषम् सवत्सरिकस्थाने वकार लगे है ।

१३९० प्रावृष एण्यः ४।३।१७।

प्रावृषेण्यः ।

प्रकर्षेण मेघो वर्षति यस्याम् ऋतौ सा प्रावृत् । तत्र भव अर्थ में प्रावृष से एण्य प्रत्यय होता है । वर्षा ऋतु में होने वाला पदार्थ ।

१३९१ वर्षाभ्यष्टक् ४।३।१८।

वर्षासु साधु वार्षिकं वासः । कालात् साधुपुण्यतपच्यमानेभ्यिति साध्वर्थे ।
साधु अर्थ में वर्षा से ठक् प्रत्यय होता है । ठको इकादेश आदि वृद्धि आकार का लोप । काल-
वाचक से साधु अर्थ में पुष्पत में एवं पच्यमान अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

१३९२ सर्वत्राण् तलोपश्च ४।३।२२।

हेमन्तादण् स्यात् तकारलोपश्च वेदलोकयोः । चकारात् पच्चे ऋत्वण्—
हैमनम् हैमन्तम् ।

लोक एवं वेद में हेमन्त शब्द से अण् प्रत्यय एवं तकार का लोप होता है । सूत्र में चकार ग्रहण
से पक्ष में ऋतु वाचक से विहित अण् होता है 'सन्धिवेला ऋतु' से इस अण् में तलोप नहीं ।

१३९३ सायंचिरं प्राह्नेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युत्तुलौ तुट् च ४।३।२३।

सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युत्तुलौ स्तस्तयोस्तुट्
च । तुटः प्रागनादेशः, 'अनद्यतने' इत्यादिनिर्देशात् । सायन्तनम् । चिर-
न्तनम् । प्राह्नप्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते । प्राह्नेतनम् । प्रगेतनम् । दोपातनम् ।
दिवातनम् । ❀ चिरपरुत्परारिभ्यस्तनो वक्तव्य. ❀ । चिरत्नम् । परुत्तनम् ।
परारित्नम् । अग्रादिपश्चाद्भिमच❀ । अग्रिमम् । आदिमम् । पश्चिमम् ।
❀ अन्ताच्च ❀ । अन्तिमम् ।

मायम्, चिरम्, प्राह्ने, प्रगे इन अव्यय से एवं कालवाचक अन्य अव्ययों से ट्यु एवं
ट्युल् प्रत्यय होता है एवं इन दोनों प्रत्ययों को तुट् आगम होता है ।

अनद्यतन इस निर्देश से तुट् आगम के पूर्व ही युवोरनाको से अनादेश होता है । निर्देश
का अनाश्रयण करते तो अन्तरङ्गत्व के कारण तुट् आगम से ट्यु की तरह ट्यु प्रत्यय होने से
अद्वसंश निमित्त जो यु उसको विधीयमान अनादेश न होकर अनद्यतु के 'अनद्यतौ'
निर्देश होता एवं सायन्तनम् आदि प्रयोगों को असिद्धि होती । अनादेश को पूर्व प्रवृत्ति में 'चकाल-
तनेपु' यह भी प्रमाण है । अन्तरङ्ग परिभाषा अनित्य है अतः पूर्व तुट् न हुआ । अनित्य में
निर्देश ही प्रमाण है । सायन् भवं सायन्तनम् । पो अन्तकर्मणि से घञ् दिन के अवसान में
सायन् लृट् है प्रत्यय सन्नियोग में मान्तत्व निपातित है ।

भाष्यकार ने 'सायन्' को अव्यय मान कर मूत्र में सायम् का यहाँ प्रत्याख्यान कर दिया
है । कालवाचक साय शब्द नहीं है अतः टन् नहीं अनिट रूप की असम्भावना ही है । अथवा
ऐसे रूपों का ठक् प्रत्ययान्त का अनभिधान ही है । चिरन्तनम् । यहाँ भी प्रत्यय सन्नियोगशिट्
चरको नान्तत्व निपातन है । स्वरादि में पठित मान्त चिरम् अव्यय है पुनः चिर का ग्रहण यहाँ
नहीं करना । प्राह्नेतनम् । प्राह्नेः सोढोऽभ्य प्राह्नेतनम् । प्राह्ण एवं प्रग इनको प्रकारान्तत्व का
निपातन है ।

समझी होने पर 'चकालतनेपु' से अलृक् होकर रूपसिद्धि होती पुनः प्रकार निपातन न
करना यह भी किसी का मत विचारणीय है । चिरत्नम् । यहाँ ट्यु एवं ट्युल् भी होता है सूत्र
में चिरग्रहण से यह कथन ठीक नहीं है मान्त चिरम् से ही ट्युट् ट्युल् का विधान है, चिरम्

अन्वय है नह भी न करना । चिर, परव पररि से त्व प्रत्यय होता है * । चिरत्नम् । पूर्ववर्ध को परव नहते है । पूर्ववर्ध को पररि वहते है । अग्र आदि शब्द से एव पश्चात् से ङिम्ब प्रत्यय होता है । अन्त शब्द से भी ङिम्ब होता है । दित्प्र प्रयुक्त टिलोप होता है । अन्तिमम् = अन्ते मवम् ।

१३९४ विभाषा पूर्वाह्वापराह्वाभ्याम् ४।३।२४।

आभ्याद्युद्युलौ वा स्तस्तयोस्तुद् च । पक्षे ठन् । पूर्वाह्वितनम् । अपराह्वितनम् । घकालतनेध्वत्यलुक । पूर्वाह्व सोढोऽस्येति विप्रहे तु पूर्वाह्वितनम् । अपराह्वणतनम् । पौर्वाह्विकम् । आपराह्विकम् ।

पूर्वाह्व एव अपराह्व के उत्तर द्यु एव द्युल् प्रत्यय होता है । एव प्रत्यय को तुद् का आगम होता है । यहा सप्तमी का अन्तु है । अह पूर्व पूर्वाह्व छ सोढ. अत्य इस विप्रहे में पूर्वाह्वितनम् ।

१३९५ तत्र जातः ४।३।२५।

सप्तमीसमर्थाजात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्यु । सुप्ते जातः सौधनः । औत्सः । राष्ट्रिय । अवारपारीणः । इत्यादि ।

सप्तमी विभाषा है अन्त में जिसको ऐसा को समर्थ प्रतिपादिक उससे जात अर्थ में अणादि प्रत्यय एव वादि प्रत्यय होते है । अथे' सूत्र विभाषक है उससे अण् यहा जान अर्थ में सिद्ध ही है । एव वादि प्रत्ययों के अधिकार से वे भी सिद्ध ही है पुन यह सूत्र क्यों किया । जात अर्थ में ही अणादि एव वादि प्रत्यय होते है इस नियम के लिए तो यह नहीं है । बहुधा गृहणे आदि में बाधुषम् आदि रूपों की असिद्धि का प्रसङ्ग होगा । समर्थ विमक्ति निर्देशार्थ भी नहीं । आक्षेप स ही लम्ब हो जागी है । सूत्र यह किस प्रयोजन के लिए है, समाधान—'प्रावृषष्ठप्' इत्यादि के बाधमार्थ इसकी आवश्यकता है । सुप्ते जातः अण् सौधन । औत्स यहा अण् प्रत्यय है । राष्ट्रिय यहा च प्रत्यय है । अवारपारीण यहा छ प्रत्यय है ।

१३९६ प्रावृषष्ठप् ६।३।२६।

एण्यस्यापरादः । प्रावृषि जातः प्रावृषिकः ।

जात अर्थ में सप्तम्यन्त प्रावृष् से ठप् होता है । यह एण्य का वाचक है ।

१।३।९७ संज्ञायां शरदो बुन् ४।३।२७।

श्रुत्वणोऽपरादः । शारदकाः = दर्भविशेषा मुद्गविशेषाश्च ।

श्रुता अर्थ में सप्तम्यन्त शरद् से जात अर्थ में बुन् प्रत्यय होता है । यह अण् का वाचक है । शरदि जाता शारदका = कुशा या मूव ।

१३९८ उत्तरपदस्य ७।३।१०।

अधिकारोऽयम् । हनस्त इत्यस्मान् प्राक् ।

हनस्त सूत्र के पूर्व तक उत्तरपद का अधिकार है । सूत्र की उद्देश्यकर यहा अधिकारत्व विधेय है । अधिकार पुष्टि है तदगत पुरस्व से 'अधिकारोऽयम्' कहा है उद्देश्य पूर्व विधेय का ऐश्व

सम्पादक सर्वनाम कचित् उद्देश्यगत लिङ्ग का बोधक होता है । कचित् विधेयगत लिङ्ग का बोधक होता है यथा यहाँ सूत्र नपुंसक है उसका लिङ्ग को बोधन न किया । यथा शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य ।

१३९९ अवयवाद् ऋतोः ७।३।११।

अवयववाचिनः पूर्वपदाद् ऋतुवाचिनोऽचामादेरचो वृद्धिः स्यान् त्रिति णिति किति च तद्धिते परे । पूर्ववार्पिकः । अपरहैमनः । अवयवात् किम्, पूर्वासु वर्षासु भवः पौर्ववर्पिकः । ऋनोवृद्धिमद् विधात्रयवानामिति तदन्तविधिः पूर्वत्र, इह तु न, अवयवत्वाभावात् ।

त्रित्, णित्, कित् तद्धितप्रत्यय पर रहने अवयव वाचक पूर्वपद से पर ऋतु वाचक जो शब्द उसके अवयव जो अच् समूह उमका जां आदि अच् उसकी वृद्धि होती है । वर्षाणां पूर्वः, हेमन्तस्य अपरः इस विग्रह में पूर्वापराधरोत्तरम् से यह एकदेशिसमास है । पूर्ववार्पिकः । वर्षाम्यष्टक् से ठक् प्रत्यय है । वर्षा के आदि अच् अकार को वृद्धि न हुई, उत्तरपदवृद्धि से उसका वाध हुआ है । अपरहैमनः । सर्वघ्राण् तलोपश्च से अण् तलोप उत्तर पद के आदि अच् की वृद्धि है । जहां पूर्वपद अवयव वाचक नहीं इससे उत्तर पद के आदि अच् की वृद्धि नहीं हुई ।

पूर्वासु वर्षासु यहां पूर्वपदार्थ एवं उत्तर पदार्थ का एकार्थ बोधकत्व रूप सामानाधिकरण्य है यहां पूर्वा शब्द अवयव वाचक नहीं है । यथा—पूर्वासु वर्षासु भवः यहां तद्धितार्थ में समास है । ठक् प्रत्यय पूर्वपद के आदि अच् की वृद्धि से पौर्ववर्पिकः । 'वर्षाम्यष्टक्' से केवल वर्षा से ही ठक् प्रत्यय होता है तदन्त से नहीं अतः तदन्त विधि का उपाय करते हैं—

ऋतु वाचक शब्द से वृद्धि के निमित्तक प्रत्यय विधान में तदन्तविधि होती है, वह ऋतु वाचक शब्द अवयव वाचक शब्द से पर में रहने पर । यथा पूर्ववार्पिकः । अपरहैमनः । पौर्ववर्पिकः यहां पूर्व शब्द अवयव वाचक नहीं है अतः तदन्त विधि नहीं है वर्षाम्यष्टक् से यहां ठक् नहीं हुआ किन्तु सामान्य सूत्र जो 'कालाव ठन्' से ठक् प्रत्यय हुआ है । एवं 'अवयवाद् ऋतोः' से वृद्धि भी नहीं हुई है ।

१४०० सुसर्वाद्धाज्जनपदस्य ७।३।१२।

उत्तरपदस्य वृद्धिः । सुपाञ्चालकः । सर्वपाञ्चालकः । अर्धपाञ्चालकः जनपदतदवध्योरिति बुञ् । सुसर्वाद्धादिकशब्देभ्यो जनपदस्येति तदन्तविधिः ।

सु सर्व अर्थ इनसे उत्तर जनपद वाचक जो शब्द उसके अवयव जो अच् समूह उनमें जो आदि अच् उसकी वृद्धि होती है । 'सुपाञ्चालकः' यहां बुञ् प्रत्यय है उत्तरपद के आपच् की इससे वृद्धि है । यहां सुसर्वार्थ वार्तिक से तदन्तविधि है । इस लिए पूर्वोक्त प्रयोगों में बुञ् प्रत्यय हुआ है ।

१४०१ दिशोऽमद्राणाम् ७।३।१३।

दिग्वाचकाज्जनपदवाचिनो वृद्धिः । पूर्वपाञ्चालकः । दिशः किम्, पूर्वपाञ्चालानाम् अयं पौर्वपञ्चालः । अमद्राणां किम्, पौर्वमद्रः । योगविभाग उत्तरार्थः ।

दिग् वाचक शब्द से उत्तर मद्रमित्र जनपद वाचक जो शब्द उसके आदि अच् की वृद्धि होती है। यथा पूर्वपात्रालव । जहा पूर्वशब्द दिक् वाचक नहीं है। वहा पूर्व पद के आदि अच् की 'तदित्तेपु' सूत्र से होती है। पूर्वपञ्चालानाम् अवयम् पौर्वपञ्चाल । उत्तरपद वाचक मद्र होने से पौर्वमद्र । उत्तर सूत्र में दिग् वाचक की अनुवृत्ति के लिए योगविभाग किया है।

१४०२ प्राचां ग्रामनगराणाम् ७।३।१४।

दिश परेपा ग्रामवाचिना नगरवाचिना त्रज्ज्ञानामवयवस्य च वृद्धि । पूर्वेषु कामशम्या भव पूर्वेषुकामशम । नगरे-पूर्वपाटलिपुत्रक ।

दिग् वाचक शब्द से परेपा ग्राम वाचक एवं प्राच्य नगर वाचक जो शब्द वे है अन्त में जिसको ऐसा जो अङ्ग उसका अवयव जो उत्तर पद उसके अवयव जो अच् समुदाय उसका अवयव जो आदि अच् उसकी वृद्धि होती है। यथा—पूर्वा चासी इषुकामशमी तत्र भव अणु उत्तरपद के आदि अच् की इससे वृद्धि पुर्वमात्र पूर्वेषुकामशम । यह ग्राम का उदाहरण है। नगर में पूर्वपाटलिपुत्रक ।

विमर्श—सूत्र में ग्राम से प्रथक नगर ग्रहण क्यों किया ?, ग्राम से ही नगर का ग्रहण होता, मनुष्य जहाँ निवास करत हैं वह ग्राम है नगर पदार्थ भी वही है। ग्राम में जो कार्य रह नहीं है वह नगर में भी नहीं किया जाता है। यथा—अमर्यो ग्रामवृत्कुट' इति छत्रा नागरोऽपि न भक्ष्यते 'ग्रामे नाप्येभ्यम्' इति साधीयो नगरोऽपि नाधीयते। इससे सिद्ध हुआ कि नगर भी ग्राम ही है।

शास्त्र में भी "उदीच्यग्रामाच्च बह्वोऽनोदात्तात्' एवं "वाहीकग्रामेभ्यश्च' तथा दिक् शब्दा ग्रामजनपदाख्यानानराटपु' यहा ग्राम से नगर का ग्रहण होया ही है। इस शब्दा का समाधान इस प्रकार है—उभय का उपादान 'सम्बन्ध भेद प्रतिपत्त्यर्थे है' इसका आशय यह है—दिक् पूर्वपदो हि समुदाय —पूर्वेषु कामशम्या' ग्रामनामभेद है। पाटलिपुत्रादि' पुनरुत्तरपदमेव नगरमाह—'तत्र ग्रामवाचिनामज्ञानामवयवस्य दिक्पूर्वपदादुत्तरस्य च नगरवाचिनामुत्तर पशानामवयवस्य वृद्धिर्भवति इत्येवमभिसम्बन्ध कियत। इतरत्र तु दिश उत्तरार्णा नगराणामित्येव । यह संक्षेप यहाँ है।

श्रीहरदत्तमित्र कुत्र पदमञ्जरी एवं श्रीजिनेन्द्र मुद्रिपाद् विरचित 'यास जो श्रीग्रामनाचार्यकुत्र व्या० 'काशिका' पर है उसकी देखिए। वैयाकरण गण इन ग्रन्थ रत्नों की व्याख्याओं की अपेक्षा न करें महान् शम्भराशि एवं वैकुण्ठ वर्धक शास्त्रीय विषय इनमें है। यह कवि की उक्ति सार्थक है।

अनुसूत्रपदम्यामा सद्बृत्ति सन्निधन्वना ।

शब्दविशेषो नो भाति रासनीतिरपस्पृशा च

शास्त्रार्थ बाद प्रधान व्याकरणाध्ययन से प्रमेय शब्दस्य इस आर्षज्ञान भण्डार की उपक्षा से शब्द विधा का महान् हास हुआ है।

अनेक वैयाकरणों ने काजीवन इन ग्रंथ रत्नों का दर्शन ही नहीं किया होगी यह महान् कष्ट का विषय है। पाठयक्रम में जा विषय नहीं उसकी अपेक्षा प्रायः स्नानक भी करते हैं।

श्रीपञ्चोक्ति विरचित अभिनव प्रभा समस्त सूत्रपाठ पर है उसे देखिए। जिनमें समस्त सूत्र की सस्कृत में व्याख्या एवं प्रत्येक के अनेक उदाहरण एवं स्थल विशेष में ग्रन्थ रत्नस्य प्रकाशन है। वैदिक मन्त्रों का उदाहरणों से सज्ज है। वैयाकरणों की प्रशंसा में यह उक्ति है।

रूपान्तरेण ये देवा विचरन्ति महीतले ।

ये व्याकरणमन्त्राण्यविप्रितस्तुवा नराः ॥

यद् पथ पदमञ्जरीकार श्रीहरदत्तोक्ति वा ई ।

१४०३ पूर्वाह्णपराह्णार्द्रमूलकप्रदोषावस्कराद् बुन् ४।३।२८।

पूर्वाह्णकः । अपराह्णकः । आर्द्रकः । मूलकः । प्रदोषकः । अवस्करकः ।

पूर्वाह्ण, अपराह्ण, आर्द्र, मूल, प्रदोष, अवस्कर इन सप्तम्यन्त से जातादि अर्थ में बुन् होता है । 'विभाषा पूर्वाह्ण' को बाधकर बुन् = पूर्वाह्णकः । इसी प्रकार अपराह्णकः । आर्द्रकः । मूलकः । इन दो स्थलों में नक्षत्रत्वेन प्राप्त अण् का बाधक है । प्रदोषकः में निशाप्रदोषाभ्यान् को बाधकर बुन् । अवस्करकः औत्सर्गिक अण् का बाधक है ।

१४०४ पथः पन्थः च ४।३।२९।

पथि जातः पन्थकः ।

सप्तम्यन्त पथिन् शब्द से जान अर्थ में बुन् होता है एवं पथिन् को पन्थ आदेश होता है । पन्थकः ।

१४०५ अमावास्याया वा ४।३।३०।

अमावास्याकः । आमावास्यः ।

सप्तम्यन्त अमावास्या से जान अर्थ में बुन् प्रत्यय होता है । यह मूय 'मन्धिबेला' ने प्राप्त अण् का बाधक है । यहाँ एन्वमध्य अमावस्या का भी ग्रहण है । अमा उपपदपूर्वक वस् से प्यत् उपधावृद्धि कर एन्व होकर अमावस्या, एन्व विरत्य से पक्ष में अमावास्या मूय 'अमावास्याद्वय-तरस्यान्' । प्रवृत्ति ग्रहण से विकृति का भी ग्रहण होता है । अमावस्याकः । बुन् अमावास्याकः । अण् में आमावास्यः ।

१४०६ अ च ४।३।३१।

अमावास्याकः ।

अमावास्या शब्द से जात अर्थ में अकार प्रत्यय होता है । अमावास्यायां जातः अमावास्याकः ।

१४०७ सिन्ध्वपकराभ्यां कन् ४।३।३२।

सिन्धुकः । कच्छाद्यणि मनुष्यवृत्ति च प्राप्ते । अपकरकः । औत्सर्गिकसिन्धुकेऽणि प्राप्ते ।

सप्तम्यन्त सिन्धु एवं अपकर से जान अर्थ में कन् प्रत्यय होता है । इस कन् ने अण् एवं बुन् का बाध किया है । यथा सिन्धुकः यदा कच्छादि के कारण अण् प्रत्यय प्राप्त है । एवं मनुष्यार्थक में बुन् प्राप्त है सूत्र—मनुष्यत्वरथयोर्बुन् । अपकरकः में औत्सर्गिक अण् प्रत्यय की प्राप्ति होती है । कन् प्रत्यय हुआ ।

१४०८ अणञौ च । ४।३।३३।

कमान् स्तः । सैन्धवः । आपकरः ।

सप्तम्यन्तं सिन्धु एव अपकार से जात अर्थ में अण् एव अन् प्रत्यय क्रमशः हाता है।
यथासत्यार्थं योगविभागः । मैत्र्यव -अण् । आपकार -अज ।

१४०९ अत्रिष्टाफल्गुन्यनुराधास्नातितितिव्यपुनर्वसुहस्तविशाखा-
पादाबहुलाल्लुक् ४।३।३४ ।

एभ्यो नक्षत्रयाचिभ्य परस्य जातार्यप्रत्ययस्य लुक् स्यात् ।

अत्रिष्टा, फल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिव्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा, आपाठा बहुला इन नक्षत्र
वाचक शब्दों से पर जातार्यक प्रत्यय का लुक् = अदर्शन होता है ।

१४१० लुक् तद्धितलुकि १।२।४९।

तद्धितलुकि सत्युपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । अत्रिष्टासु जातः अत्रिष्टः ।
फल्गुनइत्यादि, ❀ चित्रारेवतीरोहिणीभ्य स्त्रियामुपसङ्ख्यामम् ❀ । चित्रायां
जाता । चित्रा । रेवती रोहिणी आभ्या लुक् तद्धितलुकीति लुकि कृते पिप्पल्यादेरा-
कृतिगणत्वात् पुन ङीप् । ❀ फल्गुन्यपादाभ्या टातो वक्तव्यौ ❀ । स्त्रियामित्येष ।
फल्गुनी । अपाठा ❀ अत्रिष्टापादाभ्या छण् वक्तव्यः ❀ । अस्त्रियामपि । अत्रि-
ष्टीय । आपाठीय ।

तद्धित प्रत्यय का लुक् होने पर उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् होता है। अत्रिष्टा =
अत्रिष्टा तासु जात अण् छण् टाप् का लुक् अत्रिष्ट । अपाठान् उपसर्जन का यहाँ ग्रहण है। शास्त्रीय
असम्भव है। 'गो स्त्रियो' में शास्त्रीय उपसर्जन गृहीत है इसलिए हारीतक्या फलानि हारीतक्य यहाँ
हृस्व न हुआ। अवन्ती। कुन्ती, तुरू यहाँ उपसर्जन नहीं अण् स्त्रीप्रत्ययों का इससे लुक्
नहीं हुआ।

चित्रा रेवती रोहिणी से स्त्रीलिङ्ग में जातार्य अर्थ में विहित प्रत्यय का लुक् होता है। यथा
चित्राया जाता चित्रा अण् का छण् । रेवती एवं रोहिणी के वचर तद्धित लुक् उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय का
लुक् कर के पिप्पल्यादि आकृति गण होने से पुन ङीप् हुआ है। स्त्रीलिङ्ग में फल्गुनी, अपाठा शब्द
से ट एवं अन् प्रत्यय होता है। फल्गुनी यहाँ टित्वात् ङीप् । अपाठा यहाँ अन् टाप् । यह स्त्रीलिङ्ग
में ही कार्य होता है अत्रिष्टा एवं आपाठा से छण् प्रत्यय स्त्रीलिङ्गविशेष में भी। अत्रिष्टीयः ।
आपाठीय पुत्रः ।

१४११ जे प्रोष्ठपदानाम् ७।३।१८।

प्रोष्ठपदानामुत्तरपदस्याचामादेरचो वृद्धिः स्याज्जातार्येति णिति णिति किति
च । प्रोष्ठपदासु जात प्रोष्ठपादो माणवकः । जे इति किम्, प्रोष्ठपदासु भवः
प्रोष्ठपदः । बहुवचननिर्देशात्पदार्थोऽपि गृह्यते । भद्रवादः ।

जातार्य में विधीयमान अित्, णित्, कित् प्रत्यय पर रहते प्रोष्ठपद के परवर्ती आदि अच् को
वृद्धि होती है। 'तद्धितेषु' का अपवाद है। जातार्य में इस की प्रवृत्ति है मन्वाधक प्रत्यय में यह
उत्तरपद को वृद्धि नहीं करता है। यदा सूत्र में बहुवचन निर्देश से प्रोष्ठपदा का समानार्थक
का भी ग्रहण है भद्रपदासु जात भद्रवाद ।

१४१२ स्थानान्तगोशालखरशालाच्च ४।३।३५।

एभ्यो जातार्थप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । गोस्थानः । गोशालः । खरशालः । विभाषा सेनेति ह्रस्वत्वम् ।

सेनान्त, गोशाल, खरशाल शब्द से विहित जातार्थक प्रत्यय का लुक् होता है । गोस्थाने जातः । गोस्थानः । गोशाले जातः । खरशाले जातः । यहाँ शाला का आकार का 'विभाषा सेना' से एस्व हुआ है ।

१४१३ वत्सशालाभिजिदश्वयुक् शतभिषजो वा ४।३।३६।

एभ्यो जातार्थस्य लुक् वा स्यात् । वत्सशाले जातो वत्सशालः । वात्सशाल इत्यादि । ऋ जातार्थं प्रतिप्रसूतोऽण वा ङिन् वक्तव्यः ऋ । शतभिषः । शतभिषजः । शतभिषक् ।

वत्सशाल, अभिजित्, अश्वयुक्, शतभिषज् से विहित जो जातार्थक प्रत्यय उसका विकल्प से लुक् होता है । कालाव ठन् से निवृत्त जो आरम्भिक अण् सन्धिवन्त्यादि सूत्र में पुन अनुशात है वह जातार्थक अण् विकल्प से टित्व होना है । प्रत्यय का विकल्प से ऋप । दो विकल्प में तीन रूप हुए । जहाँ टित्व वहाँ टिलोप—शतभिषः । टित्व के अभाव में शतभिषजः । लुक् शतभिषक् ।

१४१४ नक्षत्रेभ्यो बहुलम् ४।३।३७।

जातार्थप्रत्ययस्य बहुलं लुक् स्यात् । रोहिणः । रोहिणः ।

नक्षत्र वाचक शब्द से विहित जातार्थक प्रत्यय का बहुल करके लुक् होता है । रोहिण्यां जातः रोहिणः प्रत्यय जो अण् उसका लुक् कर लुक्त्वादि से स्त्री प्रत्यय का भी लुक् से रोहिणः । लुगभावपक्ष में रोहिणः ।

१४१५ कृतलब्धक्रीतकुशलोः ४।३।३८।

तत्रेत्येव । सृष्टे कृतो लब्धः क्रीतः कुशलो वा सौन्दः ।

सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से कृत, लब्ध, क्रीत, कुशल अर्थ में अणादि एवं वादि प्रत्यय होते हैं । कृतत्व एवं क्रीतत्व वे दोनों क्रमशः कृतार्थ एवं लब्धार्थ का व्याप्य है ऐसी अवस्था में इनका ग्रहण क्यों किया ? कृतत्व एवं क्रीतत्व प्रकारक बोधार्थ उनका ग्रहण किया है । इसी लिए जातार्थक में विहित प्रत्यय का लोप होनेपर भी कृतार्थ में लुक् नहीं होता है । सृष्टे कृतः लब्धः जातः कुशलो वा सौन्दः ।

१४१६ प्रायभवः ४।३।३९।

तत्रेत्येव । सृष्टे प्रायेण बाहुल्येन भवति सौन्दः ।

सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से 'प्रायः होता है' इस अर्थ में अणादि एवं वादि प्रत्यय होते हैं । प्रायः = बाहुल्यम् ।

१४१७ उपजानूपकर्णोपनीविष्ठक् ४।३।४०।

औपजानुकः । औपकणिकः । औपनीविकः ।

उपजानू, उपकर्ण, उपनीवि शब्द से जातादि अर्थ में टक् प्रत्यय होता है । यह तीनों का सामीप्य अर्थ में अव्ययीभाव है । सौत्रत्व के कारण पुंलिङ्ग है ।

१४१८ सम्भृते ४।३।४१।

सुधने सम्भवति स्त्रीध्नः ।

सम्भवाथ में सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से अगादि प्रत्यय होते हैं ।

१४१९ कोशाड्डम् ४।३।४२।

कीरोय वस्त्रम् ।

सप्तम्यन्त कोश से सम्भवार्थ में टप् प्रत्यय होना है । कोशे भवन् = कीरोयम् । यह वस्त्रविशेष में योग्य है । सदेव सौम्य ? इदमग्रे आसीत् । यह सत्कार्य वाद है । यह समस्त पदार्थ समूह अनादि परम्परया विद्यमान है केवल आविर्भाव एवं तिरोभाव होने से उत्पत्ति नाश की कल्पनाभाव है न कोश पदार्थ, उत्पन्न होना है न नष्ट हो जाता है । यह सत्कार्यवाद साध्यसम्मत एवं वैयकरण सम्मत है ।

“आविर्भावतिरोभावो भावानां सैव नास्तिना ।

लब्धक्रमे तिरोभावे नश्यतीति व्यपदिश्यते ॥”

यह शास्त्रपरीक्षक काटिका में प्रष्ट है । प्रष्ट में कोश में सम्पन्न इसी सिद्धान्त से सम्भव है । मतान्तर में विकारार्थक वन् प्रत्यय होता है— कीरोयन् ।

१४२० कालात् साधुपुष्यत्पञ्चमानेषु ४।३।४३।

हेमन्ते साधुर्हेमन्तः = प्राकारः । वसन्ते पुष्यन्ति वासन्त्यः = कुन्दलताः । शरदि पच्यन्ते शारदाः = शालयः ।

कालवाचक शब्द से साधु, प्रकुटन, पच्यमान अर्थ में अगादि प्रत्यय होते हैं । वहां पुष्यत् श्रुतम् है । दिवादिगणपठित पुष् दण्ड् विकरण है ।

साधु अर्थ में हेमन्तः = प्राकारः । पुष्यत् में वासन्त्यः । पच्यमान में शारदाः ।

१४२१ उप्ते च ४।३।४४।

हेमन्ते उष्यन्ते हेमन्ता यथाः ।

कालवाचक शब्द से उत्तर वपनकर्म = उष अर्थ में अगादि प्रत्यय होते हैं । अर् हेमन्त में बोधे जाते हैं ।

१४२२ आश्वयुज्या बुब् ४।३।४५।

ढवोऽपवादः । आश्वयुज्याम् उप्ता आश्वयुजका मापाः ।

सप्तम्यन्त आश्वयुजी से बुब् प्रत्यय होता है । अथिनी नसत्र का पथ्यायवाचक अश्वयुक् उसने युक्ता पीर्णमासी आश्वयुजी तत्र उप्ता = यवा आश्वयुजका ।

१४२३ ग्रीष्मवसन्तादन्यतरस्याम् ४।३।४६।

पक्षे ऋत्वण् । ग्रीष्मकम् । ग्रीष्मम् । वासन्तकम् । वासन्तम् ।

सप्तम्यन्त ग्रीष्म एवं वसन्त से विकल्प बुब् होता है । पक्ष में अण् ।

१४२४ देयमृणे ४।३।४७।

कालादित्येव । मासे देयम् ऋणं मासिकम् ।

दानकर्म को देय कहते हैं । दा धातुसे कर्म में यच् ईषति से ईकार गुण से देयन् । कालवाचक सप्तम्यन्त से देय ऋण अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । मासे देयम् ऋणम् मासिकम् ।

१४२५ कलाप्यश्वत्थयववुसाद् वुन् ४।३।४८।

यस्मिन् काले मयूराः कलापिनो भवन्ति स उपचारात्कलापी तत्र देयम् ऋणं कलापकम् । अश्वत्थस्य फलमश्वत्थस्तद्व्युक्तः कालोऽश्वत्थः । यस्मिन् कालेऽश्वत्थाः फलन्ति तत्र देयम् अश्वत्थकम् । यस्मिन् यववुसमुत्पद्यते तत्र देयं यववुसकम् ।

कलापिन्, अश्वत्थ, यववुस, इन काल वाचक शब्द से देय ऋण अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है । जिस समय मोर पिच्छ युक्त हो उस समय में लक्षगरूपा वृत्ति का अवलम्बन करने के कारण कलापी से समय प्रसिद्ध होता है उस समय में देय ऋण अर्थ में वुन् प्रत्यय से कलापकम् ।

अश्वत्थ के फल अर्थ में लक्षणया अश्वत्थ फल युक्त समय भी उपचार = लक्षणा से अश्वत्थ है जिस काल में अश्वत्थ फल युक्त होता है उस काल में देय ऋण में अश्वत्थकम् ।

विमर्श—जिस समय यव का भूसा उत्पन्न होता है उस समय देय ऋण अर्थ में यववुसकम् । भारत को सामाजिक व्यवस्था उस काल का इस से प्रतीति होती है कि पशुपालक एवं कृषक वर्ग उधार कर्ज लेकर जीवन निर्वाह करते थे एवं उनकी आर्थिक स्थिति जिस समय कुछ सुधरती थी तब कर्ज को वे चुकाते हैं उसमें आनाकानी या समय अनावश्यक व्यतीत नहीं करने थे एवं ऋण समय कृत प्रतिज्ञा का पालन वे सत्यनिष्ठा से करते थे । सम्प्रति भी ग्रेतिदरों को कृषि का उन्नति के लिए राज्य सरकार (सर्वकार) कर्ज देती है ।

१४२६ ग्रीष्मावरसमाद् वुन् ४।३।४९।

ग्रीष्मे देयम् ऋणं ग्रीष्मकम् । आवरसमकम् ।

सप्तम्यन्त ग्रीष्म एवं आवरसम से वुन् होता है देय ऋण अर्थ में । सूत्र में समाहारद्वन्द्व है । अवरशब्द यहाँ दिग् वाचक नहीं है अतः दिक्संख्ये संज्ञायान् नियम की अप्राप्ति से असेजा में समास से कर्मधारय हो गया है । अवरसम का अर्थ = आगामि वर्षों में प्रथम वर्ष है । अवरसम में देयम् ऋणम् आवरसमकम् ।

१४२७ संवत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ्च ४।३।५०।

चाद् वुच् । सांवत्सारकम् । सांवत्सरकम् । आप्रहायणिकम् । आप्रहायणकम् ।

सप्तम्यन्त संवत्सर एवं आप्रहायणी शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है । चकार से पक्ष में वुच् होता है । ठञ् एवं वुच् से दो दो रूप हुए । वहाँ 'ठञ्च' न कहकर 'वा' कहकर 'वा' कहना ही उचित है ।

१४२८ व्याहरति मृगः ४।३।५१।

कालवाचिनः सप्तम्यन्ताच्छब्दाद्यत इत्यर्थे अणादयः स्युः, यो व्याहरति स मृगश्चेत् । निशायां व्यवहरति नैशो मृगः । नैशिकः ।

शब्द का उच्चारण कर्ता मृग रहने पर काल वाचक सप्तम्यन् प्रातिपदिक से शब्दायते अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं। निशाया व्याहरति नैश. अण्प्रत्यय। नैशिक. में ठञ् प्रत्यय हुआ है। 'निशाप्रदोषाम्याह' से।

१४२९ तदस्य सोढम् ४।३।४२।

कालादित्येव । निशासहचरितमध्ययन निशा तत् सोढमस्य नैशः । नैशिकः ।

प्रथमान्न से 'अस्य सोढम्' अर्थ में अणादि प्रत्यय होता है। इससे कालवाचक शब्द से पर प्रत्यय होता है। रात्रि में अध्ययन को उपचार से निशा करते हैं। वह सहन कर्म हो इसको वह नैश अण्। नैशिक ठञ् होता है। सह+क कर्म में सहन कर्म सोढम्। 'न लोका-दय' से निवेध ने अस्य में कर्मणि षष्ठी का सम्भव नहीं है अतः क्रियाकारकभाव सम्बन्ध की विवक्षा में द्वे षष्ठी है। सोढम् = अध्यस्तम्। अन्यस उक्त दुर्बलन सङ्गनरूप क्षमारूप नहीं है किन्तु पुन पुन परिशीलन में क्रिया तत्परक है। अतः सोढम् = अध्यस्तम् कहा है। काल का स्वरूपन सहन का अयोग है अतः सहचरित क्रिया में यहाँ लक्षणा है।

१४३० तत्र भवः ४।३।५३।

स्रुते भवः स्रीधनः । राष्ट्रियः ।

भव अर्थ में सप्तम्यन् प्रातिपदिक से अण् आदि प्रत्यय होते हैं। अण् स्रीधनः। यप्रत्यय राष्ट्रिय ।

१४३१ दिगादिभ्यो यत् ४।३।५४।

दिश्यम् । धर्म्यम् ।

पुश्यम् । पश्यम् । धी-यम्, मिथ्यम् । मेध्यम् । वश्यम् । अनुवश्यम् । वेश्यम् । काश्यम् । मुख एव अपन मे भी यत् मुख्यम् । अग्न्यम् । नेनायाः मुखे भवन् मुञ्च्यम् । यहा मुख शब्द शरीरावयव नहीं है। सेनाया अवयव भवन् = अय-यम् ।

१४३२ शरीरावयवाच्च ४।३।५५।

दन्त्यम् । कर्ण्यम् ।

शरीर के अवयव वाचक सप्तम्यन् से अणादि अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। दन्ते भवन्-दन्त्यम् । कर्णे भवन् कर्ण्यम् ।

१४३३ प्राचां नगरान्ते ७।३।२४।

प्राचा देशो नगरान्तेऽङ्गे पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाचाभादेरचो वृद्धिर्भिति णिति किति च । सुह्यनगरे भवः सौह्यनागरः । पौर्वनागरः । प्राचा किम्, मद्रनगरम् उदङ्मु तत्र भवो माद्रनगरः ।

नित् निव किं तद्वि पर रहते प्राचीन देशीय नगरान्त अङ्ग के पूर्वपद एव उत्तरपद के आद्य की वृद्धि होती है। यहा षष्ठ्यन् 'मद्रत्वं' अर्थवश सप्तम्यन्तत्वं से परिणत हुआ है। उदङ्मुभव में माद्रनगर यही होता है।

१४३४ जङ्गलधेनुवलजान्तस्य विभाषितमुत्तरम् ७।३।२५।

जङ्गलाद्यन्तस्याङ्गस्य पूर्वपदस्याचामादेरचो वृद्धिरुत्तरपदस्य वा विति णिति किति च । कुरुजङ्गले भवं कौरुजाङ्गलम् । कौरुजङ्गलम् । वैश्वधेनवम् । वैश्वधेनवम् । सौवर्णवालजम् । सौवर्णवलजम् ।

अति णित् कित् तद्धित प्रत्यय पर रहते जंगल है आदि में जिन शब्दों के उनके अन्त में रहने पर पूर्वपद के आदि अच् की वृद्धि नित्य होती है उत्तरपद के आदि अच् की विकल्प से वृद्धि होती है । कुरुदेश का अरण्य में उत्पन्न अर्थ में अण्, उभयपद वृद्धि से कौरुजाङ्गलम् । संसार के धेनु में उत्पन्न अर्थ में वैश्वधेनवम् । यहां उकार का 'ओ' गुणः से गुण अवादेश है ।

१४३५ दृतिकुक्षिकलशिब्रस्त्यस्त्यहेर्दृज् ७।३।२६।

दार्तयम् । कौक्षेयम् । कलशिः = घटः तत्र भवं कालशेयम् ।

दृति, कुक्षि, कलशि, वस्ति, अस्ति, अदि इन सप्तम्यन्त ने भवादि अर्थ में दम् प्रत्यय होता है । चर्मविकार को दृति कहते हैं । अथवा शरीरावयवविशेष दृति वाच्य है । कुक्षि शब्द का धूमादि में पाठ से युज् प्राप्त था उसको दज् ने बाध किया है । मन्थपात्र को कलशि कहते हैं । नाभि के नीचे के भाग को वास्ति कहते हैं । अग्नि निलम्नप्रतिरूपक अव्यय है । वह तिष्ठन्त समानार्थ एवं भिन्नार्थक है । अस्तिक्षीरा गौः यहां समानार्थक है । अस्तिनान् = धनवान् यहां भिन्नार्थक है । सर्पार्थक अदि से विष अर्थ में प्रत्यय होना है । दार्तयम् । कौक्षयम् । कालशेयम् । वास्तेयम् । आस्तेयम् । आह्वेयम् ।

१४३६ ग्रीवाभ्योऽण् ७।३।२७।

चान् ढञ् । ग्रैवम् । ग्रैवेयम् ।

सप्तम्यन्त ग्रीवादि शब्दों से उत्तर भवादि अर्थ में अण् प्रत्यय एवं चकार से ढञ् प्रत्यय होता है । यह 'शरीरावयवाद् यव' का निषेधक है । धमनीभ्यात को ग्रीवा कहते हैं । अवयवगत संख्या उद्भूत होने से बहुवचन है । तिरोहित अवयव गत संख्यायुक्त से भी एकवचनान्त से प्रत्यय द्वय होते ही हैं ।

ग्रीवासु ग्रीवायां वा भवं ग्रैवम् । ग्रैवेयम् ।

१४३७ गम्भीरान्ज्यः ७।३।२८।

गम्भीरे भवं गाम्भीर्यम् ।

सप्तम्यन्त गम्भीरशब्द से भवार्थ में ज्यप्रत्यय होता है । गाम्भीर्यम् ।

१४३८ अव्ययीभावाच्च ७।३।२९।

परिमुखं भवं पारिमुख्यम् । क्लृपरिमुखादिभ्य एवेत्येतेः । नेह-ओपकुतः ।

अव्ययीभाव संज्ञक से ज्यप्रत्यय होता है । वह केवल सभी अव्ययीभाव संज्ञक से नहीं किन्तु परिमुखादि से ही अतः कुलभ्य समीपग उपकुलम् तत्र भव यहां अण् ही हुआ, व्य न हुआ । यह परिगणन का फल है । समान्य शास्त्र में परि आदि से अतिरिक्त में संकोच बोधन करना है ।

१४३९ अन्तः पूर्वपदाङ् ठञ् ७।३।३०।

अन्ययीभावादित्येव । देशमनि इति अन्तर्वेशमन्, तत्र भवम् आन्तर्वेशमिकम् ऋ आन्तर्गणिकम् । अध्यात्मादेष्ट्विष्यते ऋ । अध्यात्म भवमाध्यात्मिकम् ।

अन्त २०२ है पूर्व में जिसको ऐसे अन्ययीभावसङ्क से ठज प्रत्यय होता है । विभक्त्यर्थ में अन्ययीभाव कर सप्तम्यर्थ प्रतीति में भव अर्थ में ठज हुआ है । अध्यात्मादि शब्दों से भी ठज होता है आत्मनि इति अध्यात्मम् तत्र भवम् अनर्थ से टच प्रत्यय है आध्यात्मिकम् प्रातिशारयन् । 'आन्तर्वेशमिकम्' नपुंसकात् से टच है ।

१४४० अनुशतिकादीनाञ्च ७।३।२०।

एषामुभयपदवृद्धि स्यान् निति निति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । अध्यात्मादिरावृत्तिगण ।

जित् गित् कित् तद्विप्रत्यय पर रहते अचो के मध्य में ओ आदि अच उनकी वृद्धि उभय पद की होती है । अध्यात्मादिरावृत्तिगण है ।

१४४१ देनिकाशिशपादित्यत्रादीर्घसत्रश्रेयसामात् ७।३।१।

एषा पञ्चाना वृद्धिप्रानावादेरच आत् निति निति किति च । दारिकम् । देविकाकूले भवा दारिकाकूला = शालय । शिशपाया विकार शाशपश्चमस । पलाशादिभ्यो वेत्यञ् । दित्यौह इद दित्यौहम् । दीर्घसत्र भव दार्घसत्रम् । श्रेयसि भव श्रायसम् ।

जित् गित् कित् तद्विप्र पर रहते देविका, शिशपा, दित्यत्राद, दीर्घसत्र श्रेयस इनके आदि अच् को प्राप्त वृद्धि को बाध करके आत्व होता है देविकाया भवन् दारिकम् अण् आकारदेश अनया कार वा लोप है । नदी विशेष वाचक देविका शब्द है देविकाया कूलम् तत्र जाता शालय पक्षी तरपुष्प कर जातार्थक अण् आकारदेश दारिकाकूला शालय । शिशपाया विकार अर्थ में अण् आत्व शाशप = चमस । दित्यत्राद् से पक्षी ये दित्यौह इद दित्यौहम् । दार्घसत्रम् । प्रशस्य ईयसुन् आदेश प्रकृति भाव गुण श्रेयस् तत्र भव श्रायसम् ।

१४४२ ग्रामात् पर्यनुपूर्वात् ४।३।६१।

ठञ् स्यात् । अन्ययीभावादित्येव । पारिग्रामिक । आनुग्रामिक । परि एव अनुपूर्वक ग्रामान्त अन्ययीभाव रुक्क से आवादि अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ।

१४४३ जिह्वामूलाहुलेश्च ४।३।६२।

जिह्वामूलीयम् । अहुलीयम् ।

जिह्वामूल एव अहुलि से छप्रत्यय होता है । जिह्वामूलीयम् । अहुलीयम् ।

सप्तम्यन्त जिह्वामूल एव अहुलीय से मावार्थ में छप्रत्यय होता है ।

जिह्वाया मूल तत्र भव । शरीरावयवावत् स प्राप्ति यद् वा बाधक यह है ।

१४४४ वर्गान्ताच्च ४।३।६३।

कवर्गीयम् ।

सप्तम्यन्त वर्गान्त प्रातिपदिक से छप्रत्यय होता है । कवर्गे भवम्-कवर्गीयम् ।

१४४५ अशब्दे यत्थावन्यरस्याम् ४।३।६४।

पक्षे पूर्व्वेण छः । मद्बर्ग्यः । मद्बर्गीणः । मद्बर्गीयः । अशब्दे किम् , कवर्गीयो वर्णः ।

अशब्द अर्थ में वर्गान्त सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से भावार्थ में यत् न्व एवं छप्रत्यय होता है । यत् मद्बर्ग्यः । ख-मद्बर्गीणः । छ-मद्बर्गीयः । कवर्ग में उत्पन्न वर्ण अर्थ में केवल पूर्व से छप्रत्यय होकर कवर्गीयः = वर्णः ।

१४४६ कर्णललाटात्कन् अलङ्कारे ४।३।६५।

कर्णिका । ललाटिका ।

सप्तम्यन्त कर्ण एवं ललाट से अलङ्कार अर्थ में कन् प्रत्यय होता है । भानूपग विशेष स्त्रीलिङ्ग में कर्णिका । ललाटिका ।

१४४७ तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः ४।३।६६।

सुपां व्याख्यानः सौपो ग्रन्थः । कर्तः । सुप्सु भवम् सौपम् ।

व्याख्यातव्य ग्रन्थ के प्रतिपादक पष्ठम्यन्त से व्याख्यान अर्थ में तादृश सप्तम्यन्त से भावार्थ में सौपो प्रत्यय होता है । सुपान् तिष्ठान् , कृतां व्याख्यानः सौपः । तैटः । कर्तः सप्तम्यन्त से भावार्थ में सुप्सु भवं सौपम् । व्याख्यान का कर्म विषय होता है । कर्ता आचार्य एवं कथन रूपा क्रिया है ।

१४४८ बहुचोऽन्तोदात्ताद् ठञ् ४।३।६७।

पत्वणत्वयोर्विधायकं शास्त्रं पत्वणत्वं तस्य व्याख्यानः, तत्र भवो वा पात्वणत्विकः ।

पूर्व प्रदर्शित अर्थ में बहुत अर्थों से युक्त अन्तोदात्त शब्द से पर ठञ् प्रत्यय होता है । पत्व (पकार) णत्व (णकार) उसका विधायक जो शास्त्र उसका पत्व णत्व कहने है उसका व्याख्यान या उसमें भव में पात्वणत्विकः ।

१४४९ क्रतुयज्ञेभ्यश्च ४।३।६८।

सोमसाध्येषु यागेष्वेतौ प्रसिद्धौ । तत्रान्यतरोपादानेन सिद्धे उभयोरुपादानसामर्थ्यादसोमका अपोहं गृह्यन्ते । अग्निष्टोमस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा आग्निष्टोमिकः वाजपेयिकः । पाकयज्ञिकः । नाचयज्ञिकः । बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम् । अनन्तोदात्तार्थ आरम्भः ।

व्याख्यातव्य ग्रन्थ के प्रतिपादक पष्ठम्यन्त से व्याख्यान अर्थ में एवं तादृश सप्तम्यन्त से भावार्थ में क्रतु एवं यज्ञ वाचक शब्द से ठञ् प्रत्यय होता सोम साध्य याग में वे दोनों प्रसिद्ध हैं ।

इनमें एक के कथन मात्र से कार्य निर्वाह होता पुन सूत्र में दोनों का ग्रहण क्यों किया ? वह व्यर्थ होकर बोधन करता है कि सोमसाध्य में मित्र अर्थात् अमोमक का भी यहाँ ग्रहण होता है यथा आग्निष्टोमिक । स्वरूप विधि निरास के लिए सूत्र में बहुवचन निर्देश है । अन-नोदात्तार्थ इम सूत्र का प्रारम्भ है । पात्रयश्च - अल्पयश्च, वैश्वदेव होम । नवयश्च = आप्रयणम् । वात्रपेयिक वात्रे = यवागूमि सम्पादनीय वात्रपेय मध्योदात्त पेयशब्द 'यताऽनाव' से आशुदात्त है ।

१४५० अध्यायेऽप्येतेः ४।३।६९।

ऋषिवाक्येभ्यो लक्ष्णया व्याख्येयग्रन्थवृत्तिभ्यो भवे व्याख्यानं चाध्याये ठक् स्यात् । वसिष्ठेन दृष्टो मन्त्रो वसिष्ठस्तस्य व्याख्यानस्तत्र भग्नो वा वासिष्टि-कोऽध्याय । अध्यायेषु किम्, वासिष्टी ऋक ।

लक्षणा से व्याख्येय ग्रन्थवृत्ति ऋषिवाचक शब्द से मन्त्रों में एव व्याख्यानाथ में अध्यायरूप अर्थ वाक्य रहते ठक् प्रत्यय होता है । वसिष्ठेन दृष्टा ऋक् वासिष्ठो भवार्थ में अण् लोप ।

१४५१ पौरोडाशपुरोडाशात् एन् ४।३।७०।

पुरोडाशसहचरितो मन्त्र पुरोडाश स एव पौरोडाश सतः एन् पौरो-डाशिक । पुरोडाशिक ।

पुरो दाश्यते पुरोडाश, दाश्व दाने कर्मणि घञ निपातनात् दकार को दकार । पुरोडाशसह चरितमन्त्र में लक्षणावृत्ति से पुरोडाशत्व का आरोप है । स्वार्थ में अण् से पौरोडाश उससे एन् प्रत्यय पौरोडाशिक । पुरोडाशिक ।

१४५२ छन्दसो यदनौ ४।३।७१।

छन्दस्य । छान्दस ।

छन्दस् शब्द से भव एव व्याख्यान अर्थ में यत् एव अण् होता है । यह द्वयल्लक्षण ठक का अपवाद है । यहाँ दो अर्थ एव दो प्रत्यय में अस्वरितत्व के कारण यथा सत्य नहीं है ।

१४५३ द्वयज्जूद्ब्राह्मणर्कप्रथमाधरपुरश्चरणनामाख्यातदूठक्

४।३।७२।

द्वयच — ऐपिक । पाशुक । ऋत्-चातुर्होतृक । ब्राह्मणिक । आचिक इत्यादि ।

दो अत्र युक्त ऋक रा त, ब्राह्मण, ऋच्, प्रथम अध्वर, पुरश्चरण, आमन्, आरुषात इन शब्द ॥ उत्तर ठक् प्रत्यय होता है ।

१४५४ अण् ऋगयनादिभ्यः ४।३।७३

ठक् आदेरपवाद । आर्गयन । औपनिषद् । वेयाकरण ।

ऋगयन आदि शब्दों के पर अण् प्रत्यय होता है । यद् ठक् आदि प्रत्ययों का वाचक है । ठक् छ प्रत्यय भी वाध्य इसका है । ऋक् अयन का समास है । अयन शब्द भाव साधन है, 'अनो भाव कर्मवचन' से ऋगयन अन्तोदात्त है । अभेद का उपचार से अय में भी यह है । यहाँ 'इदोऽन्तो

दत्तात्' से ठञ् प्राप्त था उसका अग्ने वाध किया। औपनिषदः यहाँ भी पूर्ववत् ज्ञान करना। विद्या, न्याय, शिक्षा से द्वयञ् लक्षण ठक् प्राप्त है। व्याकरण से 'वृद्धाच्छः' से छ प्राप्त है।

१४५५ तत आगतः ४।३।७४।

स्रुध्नादागतः स्रोध्नः ।

पञ्चम्यन्त से आया = आगन् अर्थ में अगादि प्रत्यय होने है।

१४५६ ठनायस्थानेभ्यः ४।३।७५।

शुल्कशान्ताया आगतः शौल्कशालिकः ।

आय स्थान का अर्थ - पति = गच्छति एनं स्वामी, अथवा स्वामिनन् अयन् पति आयः = स्वामिप्राप्तो मागः। स यस्मिन् उत्पद्यते तन् आयस्थानन्। जिसको लेने के लिए स्वामी जाय, या स्वामी को प्राप्त होनेवाला राजादि से ग्रहण कर्म अशु = देन्त यहाँ जहाँ प्राप्त हो वह स्थान विशेष आयस्थान है। यहाँ स्वरूप निरासार्थ सूत्र में बहुवचन निर्देश है। शुल्कशाला से प्राप्त आय को शौल्कशालिकः कहते हैं। आयस्थानवाचक पञ्चम्यन्त से आगत अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है वह सूत्रार्थ है।

१४५७ शुण्डिकादिभ्योऽण् ४।३।७६।

आयस्थानठकश्छादीनां चापवादः। शुण्डिकादागतः शौण्डिकः। कार्कणः। तैर्यः।

पञ्चम्यन्त शुण्डिक आदि से आगत अर्थ में अण् होता है। यह अण् आयस्थान वाचक से प्राप्त ठक् एवं छ आदि प्रत्ययों का वाधक है। 'कार्कणः' में कृकणपणात् से छ प्राप्त था। तैर्यमे धूमादित्व-प्रयुक्त बुञ् प्राप्त था। आदेशवाची में आयस्थान से ठक् प्राप्त था।

१४५८ विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो बुञ् ४।३।७७।

ओपाध्यायकः। पैतामहकः।

विद्या एवं योनिसम्बन्ध वाचक शब्द यदि पञ्चम्यन्त हो तो आगत अर्थ में बुञ् प्रत्यय होता है। उपाध्यायात् आगतः पितामहात् आगतः उभयत्र बुञ्।

१४५८ ऋतृष्टञ् ४।३।७८।

बुजोऽपवादः। हौतृकम्। भ्रातृकम्।

पञ्चम्यन्त ऋकारान्त शब्द से आगत अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। हौतुः, भ्रातुः, आगतम् हौतृकम्, भ्रातृकम् यहाँ ठको कादेश है।

१४६० पितुर्यच्च ४।३।७९।

चाटठञ्। रीङ् ऋतः। यस्येति लोपः। पित्र्यम्। पैतृकम्।

पञ्चम्यन्त पितृ शब्द से आगत अर्थ में यत् प्रत्यय चकार से ठञ् प्रत्यय होता है। पितृ + यत् रीङादेश ईकार लोप पित्र्यम्। ठक् को कादेश वृद्धि पैतृकम्।

१४६१ गोत्रादङ्कवत् ४।३।८०।

बिदेभ्य आगतं वैदम्। गार्गम्। दाक्षम्। औपगवकम्।

पञ्चम्य से आगत अर्थ में गोत्रप्रत्ययान्त से पर अङ्क अर्थ में विहित प्रत्यय होने हैं । सप्ताङ्क से अङ्काय में अण्विदिन है । उधको गोत्रान्त से आगत अर्थ में करवा । औपगवकम् में गोत्रवरणात् स युज्य है । अपत्याधिकार से अन्यत्र लौकिकगोत्र का ग्रहण है । अङ्क में दृष्ट सम प्रत्ययों का यहाँ अतिदेश करता है । विशेष विहित का ही नहीं अतिदेश करता है । 'तत्त्वेदम्' सामान्य विहित प्रत्यय भी अङ्क में दृष्ट है उसका भी अतिदेश हुआ ।

१४६२ नमः शुचीधरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम् ७।३।३०।

नञ् परेषा शुन्यादि पञ्चानामादेरचो वृद्धि पूर्वपदस्य तु वा त्रिदादौ परे । आशौचम् अशौचम् । आनैश्वर्यम् । अनैश्वर्यम् । आश्वैत्रहम् । अश्वैत्रहम् । आकौशलम् । अकौशलम् । आनैपुण्यम् । अनैपुण्यम् ।

नञ् से पर शुचि ईश्वर, क्षेत्रज्ञ, कुशल, निपुण इनके आदि अच् की वृद्धि होती है, पूर्वपद के आदि अच् की विकल्प से वृद्धि होती है, निज चित्त किय तद्धिन प्रत्यय पर रहते ।

१४६३ हेतुमनुष्येभ्योऽन्यत्तरस्यां रूप्यः ४।३।८१।

समादागतं समरूप्यम् । विषमरूप्यम् । पक्षे गहादित्यालङ् । समीयम् । विषमीयम् । देवदत्तरूप्यम् । दैवदत्तम् ।

हेतु एव मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त से आगत अर्थ में रूप्य प्रत्यय विकल्प से होता है । सम एव विषम का पाठ गहादि में है अतः छप्रत्यय भी होता है ।

सम विषम हेतुवाचक एव देवदत्त मनुष्य वाचक है । अहेत्वर्थं मनुष्यग्रहण किया है । बहुवचन स्वरूप निरासार्थ है । समरूप्यम् । विभावा गुणे में योगविभाग से अगुण वाचक ने भी पञ्चमी होती है समाद आगतम् = समरूप्यम् । योग विभाग में भाष्यीक प्रयोग प्रमाण है "बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टे" इति ।

१४६४ मयट् च ४।३।८२।

सममयम् । विषममयम् । देवदत्तमयम् ।

पञ्चम्यन्त हेतुवाचक एव मनुष्यवाचक से आगत अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है ।

१४६५ प्रभवति ४ ३।८३।

तत इत्येव । हिमवतः प्रभवति हिमवती गङ्गा ।

पञ्चम्यन्त से उत्पन्न उसमे होता है अर्थ में अणादि प्रत्यय होने हैं । प्रभवति का अर्थ प्रथम प्रकाश है । उत्पत्त्यर्थक प्रभवति का यहाँ ग्रहण नहीं है । 'तत्र ज्ञान' से इसका भेद से निर्देश है । हिमालय से मागिरि की गङ्गा का प्रथम प्रकाशन है ।

१४६६ विदूरान् व्यः ४।३।८४।

विदूरान् प्रभवति वैदूर्यो मणिः ।

प्रभवति = प्रथम प्रकाशन अर्थ में पञ्चम्यन्त विदूर से व्यप्रत्यय होता है ।

विदूर शब्द पर्वत एव नगर का वाचक है पर्वत में मणि उत्पन्न होकर विदूर नामक नगर में उसका स्फुरार होता है । बाल्वाय पर्वत से यह मणि उत्पन्न होता है । बाल्वाय की विदूर

प्रकृत्यन्तर है । यहाँ अनेक मत हैं । नानेशाचार्यगत में बाल्वाय एवं विदूर शब्द पर्याय वाचक हैं व्यप्रत्ययरूप तद्धित वृत्तिविषय विदूर शब्द ही है । अतः बाल्वाय से व्यप्रत्यय विदूरादेश प्रकृति को यह व्याख्यान अनावश्यक गौरवग्रस्त है उपेक्ष्य है । यह श्रीपञ्चोलि मत है ।

१४६७ तद्गच्छति पथिदूतयोः ४।३।८५।

सूचने गच्छति स्त्रोक्तः पन्था दूतो वा ।

द्वितीयान्त समर्थ प्रतिपादिक से 'गच्छति' अर्थ में मार्ग या दूत वाच्य रहने पर अणादि प्रत्यय होते हैं ।

१४६८ अभिनिष्क्रामति द्वारम् ४।३।८६।

तदित्येव । सूचनमभिनिष्क्रामति स्त्रोक्तम् = कान्यकुब्जद्वारम् ।

द्वितीयान्त समर्थ प्रतिपादिकसे 'अभिनिष्क्रामति' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । जो अभिनिष्क्रामति वह द्वार ही रहे सूचन के अभिसुख निष्क्रमण से वह करण भूत है । पूर्व की तरह करण को यो यहाँ कर्तृत्व है ।

१४६९ अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।३।८७।

तदित्येव शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः । शारीरकं भाष्यमिति त्वभेदोपचारात् ।

पूर्वकालिक अधिकार कृपा जो क्रिया नञिरूपित कर्मत्वं प्रयुक्त द्वितीया होकर तत् = द्वितीयान्त यह अर्थ लब्ध है ।

तदित्यधिकृत्य 'कृते ग्रन्थे' इत्का अधिकार करके कृत ग्रन्थ इस अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक से अणादि प्रत्यय होते हैं । कुत्सितं शरीरम् = शरीरकम्, तत्सम्बन्धो शारीरकः = जीवात्मा उत्तको अधिकृत्य = प्रस्तुत्य कृत = ग्रन्थ शारीरकीयः = चतुर्लक्षनीमूयसन्दर्भः, 'वृद्धाच्छः' से छप्रत्यय है ।

शारीरकम् = जीवम् यह अर्थ है । शरीरस्य इदम् अर्थ में 'तस्येदम्' से अण् प्रत्यय कर स्वार्थ में शारीरमेव शारीरकम् प्रत्यय प्रतिपाद्य जीव प्रतिपादक भाष्य यहाँ दोनों का लक्षणा से अनेकारोप से शारीरकं भाष्यम् यह प्रयोग यथा कथञ्चित् सिद्ध हुआ ।

१४७० शिशुकन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्च ४।३।८८।

शिशूनां क्रदनं शिशुकन्दस्तमाधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुकन्दीयः । यमस्य सभा यमसभम्, क्लीबत्वं निपातनान् । यमसभीयः । किरातार्जुनीयम् । इन्द्रजननादिराकृतिगणः । इन्द्रजननीयम् । विरुद्धभोजनीयम् ।

शिशुकन्द, यमसभ, इन्द्रसमाप्त युक्त शब्द, इन्द्रजननादि 'कृते ग्रन्थे' अर्थ में छप्रत्यय होता है । समा में सूच निर्देश से नपुंसकत्व निमित्तक एत्वं है । किरातः = मिथिलेश्वारी भगवान् शङ्करः अर्जुनः = मध्यमपाण्डुपुत्रः इति इन्द्र से किरातार्जुनी तो अधिकृत्य कृते कठि कर्म रूपं कान्यन् तत् किरातार्जुनीयम् । इन्द्रजननादि आकृतिगण है । विरुद्धञ्च तत् भोजनम् तद् अधिकृत्य कृतम् आख्यानम् विरुद्धभोजनीयम् । इन्द्र में देवासुरादि में छप्रत्यय का प्रतिषेध है देवासुरम् । राक्षोच्चरम् ।

१४७१ सोऽस्य निवासः ४।३।८९।

सुध्नो निवासोऽस्य सौध्नः ।

प्रथमान्त समर्थे प्रतिपादिक से 'अस्य निवासः' अर्थ में अणादि होते हैं जो प्रथमान्तार्थ है वह निवास रहने पर ।

१४७२ अभिजनश्च ४।३।९०।

सुध्नोऽभिजनोऽस्य सौध्नः । यत्र स्वयं वसति स निवासः । यत्र पूर्वैरुचितं सोऽभिजन इति विवेकः ।

प्रथमान्त समर्थे प्रतिपादिक से 'अस्य अभिजन' अर्थ में अणादि प्रत्यय होता है । जिस स्थान में स्वयं कार्य विशेषार्थ रहता है वह निवास है । अभिजनाः = पूर्वबान्धवाः पित्रादयः अर्थात् पूर्व-पुत्रवो ने जिस स्थान में वास किया है वह स्वयंविशेष अभिजन है । निवास एवं अभिजन का यह भेद है निपूर्वक 'वस निवास' से अधिकरण में धन् प्रत्यय से वासक्रिया का अधिकरणस्थान=वास-क्रिया का कर्ता या कर्म वस्तु आधारभूत स्थान है अधिकरणकारक कर्तुं या कर्म द्वारा क्रिया का आधार है । साक्षात् नहीं है । सुध्नाधिकरणकालसक्तार्थ वह अर्थ सिद्ध हुआ । पूर्वबान्धव वाचो अभिजनशब्द लक्षणा से देख में दिग्मान यहाँ है । 'अस्य' वह वही कर्ता की शेषत्व विवक्षा में है ।

१४७३ आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते ४।३।९१।

पर्वतवाचिनः प्रथमान्ताद् अभिजनशब्दाद् अस्येत्यर्थे छः स्यात् । हृद्-गोलः पर्वतोऽभिजनो चेपान्ते हृद्गोलीयाः । आयुचेति क्रिप्, ऋशोदः पर्वतो-ऽभिजनो चेपान्ते आक्षोषा द्विजाः ।

पर्वतवाचक प्रथमान्त अभिजनवाचक शब्द से पदार्थ में (अस्य) छप्रत्यय होता है । जिन आयुधजीवियों से मित्रार्थ में अण् आक्षोषा द्विजः । 'आयुधजीविभ्यः' में तादर्थ्य में चतुर्थी है । 'क्रियाधीनपदस्य' से चतुर्थी यह होती है ।

१४७४ शण्डिकादिभ्यो ऽयः ४।३।९२।

शण्डिकोऽभिजनोऽस्य शण्डिकयः ।

प्रथमान्त अभिजनवाचक से अस्य अर्थ में ऽयप्रत्यय होता है । सर्वसैन्य । शाक्यः यह भी उदाहरण है ।

१४७५ सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽण्वौ ४।३।९३।

सिन्धादिभ्योऽण् स्यादुत्तेऽर्थे । सैन्धवः । तक्षशिला नारी अभिजनोऽस्य ताक्षशिलः ।

प्रथमान्त अभिजनवाचक से अस्य यह पदार्थ में सिन्धु आदि से अण् प्रत्यय एवं तक्षशिलादि से अण् प्रत्यय होता है ।

१४७६ तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड्टकूळण्डन्यकः ४।३।९४।

तूदी अभिजनोऽस्य तैदेयः । शालातुरीयः । चार्मतेयः । कौचवार्यः ।

प्रथमान्त समर्थ अमिजनवाचक तुदी, शालातुर, वर्मन्ती, कुचवार इन चारों प्रातिपदिक से अस्य यह पष्ठयर्थ में। क्रमशः ढक्, छण्, ढञ्, यक् प्रत्यय होता है ढक्-तीदेयः। छण्—शालातुरीयः। ढञ् - वर्मन्तेयः। यक् = कौचवार्यः।

१४७७ भक्तिः ४।३।९५।

सोऽस्येत्यनुवर्तते । भज्यते = सेव्यते इति भक्तिः । स्रुघ्नो भक्तिरस्य स्रौघ्नः ।

इसकी भक्ति इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से अणादि प्रत्यय होते हैं। कर्म में क्तिन् प्रत्ययान्त भक्ति शब्द सेवन क्रिया कर्माव्ययक है। स्रुघ्न देश है सेवन क्रिया कर्म जिसका उसको स्रौघ्न कहते हैं।

१४७८ अचित्ताद् अदेशकालाट्ठक् ४।३।९६।

अपूपा भक्तिरस्य आपूपिकः । पायसिकः । अचित्तात् किम्, दैवदत्तः । अदेशात् किम्, स्रौघ्नः । अकालात् किम्, ग्रैष्मः ।

चेतन भिन्न देश एवं काल से भिन्न प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य भक्ति' अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। अपूप = पूंवा = मालपूंवा है सेवन कर्म जिसका वह आपूपिकः। पयः भक्तिः अस्य पायसिकः। देवदत्तः भक्तिरस्य यहाँ चेतन देवदत्त है अण् प्रत्यय दैवदत्तः। स्रौघ्नः यहाँ देश है अतः अण्। ग्रैष्मः यहाँ कालवाचक प्रकृति से अण्। यहाँ 'अचित्त' स्वरूप ग्रहण नहीं है, अदेश काल का स्वरूप ग्रहण में वैयर्थ्य प्रसङ्ग के कारण।

१४७९ महाराजाट् ठञ् ४।३।९७।

माहाराजिकः ।

प्रथमान्त समर्थ महाराज शब्द में 'अस्य भक्तिः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है।

१४७० वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ४।३।९८।

वासुदेवकः । अर्जुनकः ।

प्रथमान्त समर्थ वासुदेव एवं अर्जुन से 'अस्य भक्तिः' अर्थ में वुन् होता है।

वासुदेवो भक्तिरस्य वासुदेवकः । अर्जुनो भक्तिरस्य अर्जुनकः । 'अजायदन्तम्' 'अत्पाचतरम्' इन दो मूर्तों से यहाँ द्वन्द्व में अर्जुन का पूर्व निपात प्राप्त है किन्तु आचार्य द्वारा पूर्व निपात का अकरण शापन करता है कि सर्वथा अभ्यर्हित = पूज्य का ही पूर्व निपात अन्य योग में होता है।

विमर्श—वासुदेव के अपत्य अर्थ में ऋष्यन्धक से अण् प्रत्ययान्त वासुदेव शब्द है उससे 'गोत्र-क्षत्रियाख्येभ्यः' से वुन् होकर रूप सिद्ध होता वुन् विधान इसको क्यों किया?, वृद्धि प्रयुक्त विशेष भी नहीं है प्रथम से ही वा का आकार वृद्धि युक्त है। 'वृद्धि निमित्तस्य' पुंवद्भाव निषेधरूप प्रयोजन भी नहीं वुन् को करने पर भी 'न कोपधायाः' से पुंवद्भाव निषेध होता ही है।

वुन् वुन् में स्वरप्रयुक्त विशेष भी नहीं आयुदात्तत्व 'ग्नित्यादेः' से है। 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' यह शापनार्थ भी वासुदेव ग्रहण यहाँ नहीं है पूर्वनिपात प्रकरण में 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' पठित ही है। वह भी अनित्य है 'श्वयुवमघोनाम्' इस निर्देश से पुनः यहाँ वासुदेव ग्रहण का प्रयोजन चिन्त्य है। वस्तुतः वासुदेव यह भगवान् की संज्ञा है—सर्वत्र इनकी स्थिति है समस्त संसार जिनमें स्थित है इस लिए विद्वद्गण इनको वासुदेव कहते हैं।

“सर्वनामो समस्तञ्च वसत्यत्रेति वै यत् ।

ततोऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिकीर्त्यते” ॥

इस स्मृति में परमात्मा वासुदेव है । वासु श्वाप्तौ देवश्च वासुदेव ।

वासु षण्णादि षण् प्रत्ययान्त है । यहाँ गोत्रारवा या क्षत्रियारवा नहीं है । अतः तुञ् अप्राप्त है । तुञ् प्रत्ययार्थं सूत्र में वासुदेव ग्रहण उचित ही है । इति श्री पञ्चोक्तिः ।

१४८१ गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं तुञ् ४।३।९९।

अणोऽपवादः । परत्वाद् वृद्धाच्छ् बाधते । श्लुचुकायनि भक्तिरस्य श्लौचु-
कायनकः । नाकुलकः । बहुलग्रहणान्तेह—यणिनो भक्तिरस्य पाणिनीयः ।

गोत्रप्रत्ययान्त एव क्षत्रिय वाचक समर्थ प्रथमान्त प्रतिपादिक से ‘अस्य भक्ति’ अर्थ में तुञ्प्रत्यय होता है । यहाँ कौनिक गोत्र है । यह अण् वा वाचक होते हुए परत्व के कारण जहाँ वृद्धाच्छ् प्राप्त है उसका भी वाचक है यथा ‘आरगवकः’ । किन् प्रत्ययान्त श्लुचुकायनि से तुञ् श्लौचुकायनकः । बहुलग्रहण से सर्वत्र तुञ् नहीं होता है । पाणिनो भक्तिरस्य पाणिनीयः । यहाँ आख्या ग्रहण है ‘क्षत्रिय एव यहाँ एव से तुञ् न हुआ । ‘पाणिन’ यहाँ प्रवराध्यायप्रसिद्धत्व रूप कौनिकगोत्रत्व के अभाव से तुञ् की इस सूत्र से प्राप्ति नहीं है पुनः यह बहुलग्रहण का प्रयोजन नहीं है । वह प्रयोजन खोजने योग्य है । क्षत्रियादि में बहुल का प्रयोजन ‘पौरवीय’ यह है ।

१४८१ जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने ४।३।१००।

जनपदस्वामिवाचिना बहुवचने जनपदवाचिनां समानश्रुतीना जनपद-
वत् सर्वं स्यात् प्रत्ययः प्रकृतिश्च । जनपदवद्वभ्योरचेति प्रकरणे ये प्रत्यया
उक्तास्तेऽत्रातिदिश्यन्ते । अङ्गा जनपदो भक्तिरस्याङ्गकः । अङ्गाः=क्षत्रिया भक्ति-
रस्याङ्गकः । जनपदिना किम्, पञ्चाला प्राक्षणा भक्तिरस्य पाञ्चालाः ।
जनपदेनेति किन्, पौरवो राजा भक्तिरस्य पौरवीयः ।

बहुवचन में जनपद वाचक शब्द के समान श्री जनपद स्वामिवाचक शब्द उससे जनपद
वाचक शब्द के समान प्रकृति एवं प्रत्यय होता है । ‘जनपदवद्वभ्योरचेति’ इस सूत्र के प्रकरण में
श्री प्रत्यय उक्त है उन सत्रका यहाँ अतिदेश होता है । सारांश यह हुआ कि जनपद स्वामि
वाचक बहुवचनान् अङ्गादि शब्दोत्तर इस सूत्र से अण् प्रत्यय को बाधकर तुञ् प्रत्यय अतिदेश
हुआ—यथा अङ्गा जनपद भक्ति अस्य आङ्गकः । अङ्गा क्षत्रिया भक्ति अस्य आङ्गकः ।
जनपद स्वामी न होने पर पाञ्चाल । जनपद के असमान न होने पर पौरवो राजा भक्तिरस्य
पौरवीयः । बहुल ग्रहण से पूर्व सूत्रकी यहाँ प्रवृत्ति न हुई । यह सूत्र स्वस्वामिभाव रूप मत्वर्धीय
में प्रत्यय विधायक है । सर्वपदार्थः=प्रकृति एवं प्रत्यय है । इसका फल ‘मद्रक’ है । मद्राणां
राजा इत्यच् लक्षणं अण् माद्र स भक्ति अस्य मद्रक ‘मद्रवृज्यो कन्’ ।

१४८३ तेन प्रोक्तम् ४।३।१०२।

पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् ।

प्रकर्ष से उक्त न कृत अन्यथा 'कृते ग्रन्थे से गतार्थ यह हो जायगा । तृतीयान्त समर्थ से प्रकर्ष कथनार्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं ।

स्वयं या अन्य कृत व्याकरण को अध्यापन क्रिया से या अर्थ व्याख्यान से प्रकाशित यह अर्थ है पाणिनिना प्रोक्त व्याकरणम् पाणिनीयम् ।

१४८४ तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ४।३।१०२।

‘छन्दोब्राह्मणानि’ इति तद्विषयतः । तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते तैत्तिरीयाः ।

पूर्व छन्दोब्राह्मणानि सु० १३७९ इस सूत्र प्रोक्त सं प्रत्ययान्त छन्दोवाचक, ब्राह्मणवाचक, ब्राह्मणवाचक शब्द को अध्येतृ वेदितृ प्रत्यय विषयत्व है, तृतीयान्त तित्तिरि, वरतन्तु खण्डिक उख, शब्द के उत्तर प्रोक्तार्थक छण् प्रत्यय होता है । इस सूत्र से लेकर ‘तैत्तिरीय’ सूत्र तक वक्ष्यमाण प्रत्यय छन्दः वाच्य होने पर होते हैं । यह नियमार्थ है । दो नियम करता है—१ तित्तिरि आदि शब्दों से छण् हो होता है । २ छन्द में हो । यहां छन्दः शब्द मन्त्र मात्र परक है । अतः कल्प सूत्र का भी छन्दः पद से ग्रहण हुआ है ।

प्रोक्तार्थक प्रत्यय का लुक् अध्येतृ प्रत्यय का लुक् छण् तैत्तिरीयाः ।

१४८५ काश्यपकौशिकाभ्याम् ऋषिभ्यां णिनिः ४।३।१०३।

काश्येन प्रोक्तमधीयते काश्यपिनः ।

काश्यप एवं कौशिक इन ऋषि वाचक तृतीयान्त शब्दों से प्रोक्त अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है । काश्यपिनः प्रत्यय में णकार का प्रयोजन नहीं उत्तरय अनुवृत्ति होकर वृद्धि के लिए है अध्येतृ आदि में णिनि प्रत्ययान्त का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग नहीं अतः वृद्धि निमित्तस्य से पुंवद्भाव निषेध रूप यहां प्रयोजन णकार का नहीं है । अथवा चरणत्व के कारण जातित्व कारण ‘जातिश्च’ से पुंवद्भाव का निषेधसिद्ध हो है । यह छप्रत्यय का वाधक है । ऋषिवाचक नहीं आधुनिक संज्ञावाचक में काश्यपीयन् यहां हुआ ।

१४८६ कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च ४।३।१०४।

कलाप्यन्तेवासिभ्यः—हरिद्रुणा प्रोक्तमधीयते हारिद्रविणः । वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः—आलम्बिनः ।

कलापी एवं वैशम्पायन ऋषि के अन्ते वासी = छात्र में अर्थ में तृतीयान्त प्रोक्त अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है । यह अण् का निषेधक है । यह छप्रत्यय को भी परत्व के कारण बाध करता है । चार कलापिन् के अन्तेवासी हैं—‘हरिद्रुः, छगली, तुम्बुरुः, उपल । वैशम्पायन के अन्तेवासी नव हैं—आलम्बिनः, कलिङ्गः, कमलः, ऋचामः, आरुणः, ताण्ड्यः, श्यामायनः, कठः, कलापी ।

१४८७ पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४।३।१०५।

तृतीयान्तात् प्रोक्तार्थे णिनिः स्यात्, यत्प्रोक्तं पुराणप्रोक्ताश्चेद् ब्राह्मण-कल्पास्ते भवन्ति । पुराणेन चिरन्तेन मुनिना प्रोक्ताः । भल्लुः—भाल्लविनः । शाट्यायनः—शाट्यायनिनः । कल्पे-पिङ्गेन प्रोक्तः पैङ्गी कल्पः । पुराणेति

किम्, याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि । आश्विन कल्प । अणि आपत्यस्येति यलोप ।

तृतीयान्न समर्थ में गिनि प्राप्त अर्थ में होता है, जो प्रोक्त हो वह यदि पुराणप्रोक्त माहान एव कल्प हो । पुराण = चिरन्तन । पुराण प्रोक्त कहा नहीं कहा गिनि का अभाव होता है । याज्ञवल्क्य आश्विन कल्पदि है अतः यन् प्रत्ययान्त से आ है । आपत्यस्य से यलोप । यहाँ छप्र त्यय नहीं होता है । यन् अविरक्तान्तेन है पुराण नहीं है । मङ्गलामारत में चिरन्तनमुनि में इन का ग्रहण नहीं है । वे पाणि-वपुष्मा आधुनिक है यह अभिमान से युक्ति है । भाष्यकार ने तो गिनि प्रतिषेधार्थ यहाँ विशेषवचन किया है वे भी पुराण मुनि है । शाट्यायन पुत्र्य काशोक्त होने से 'याज्ञवल्क्यादिभ्य प्रतिषेधस्तद्विवक्षया न' इति ।

१४८८ शौनकादिभ्यश्छन्दसि ४।३।१०६।

छन्दस्यभिधेये ण्यो गिनि । शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिन ।

वेद वाच्य होने पर तृतीयान्न शौनकादि से 'प्रोक्तमधीयते' अर्थ में गिनिप्रत्यय होता है । शौनकिन । वेदमित्र में शौनकीया शिक्षा ।

१४८९ कठचरकाल्लुक् ४।३।१०७।

आभ्या प्रोक्तप्रत्ययस्य लुक् स्यात् । कठेन प्रोक्तमधीयते कठा । चरका ।

तृतीयान्न कठ पञ्च चरक से प्रोक्तार्थक प्रत्यय का लुक् होता है । कठ से गिनि पञ्च चरक से अण् इनको लुक् । वेदमित्र में लुक् का अभाव है । चरका श्लोका ।

१४९० कलापिनोऽण् ४।३।१०८।

कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापा ।

तृतीयान्न कलापिन् से 'प्रोक्तमधीयते' अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

वेदशास्त्र के छात्र होने से गिनि की वाच्यता अण् हुआ । यहाँ 'इत्यण्यपत्ये' सूत्र से प्रकृति भाव प्राप्त है नस्तदिते से टिलोप न होना चाहिए अतः प्रकृति भाववाचनार्थ वक्ष्यमाण वचन है ।

ॐ नान्तस्य टिलोपे सत्रह्यचारिणीठसपिकलापिकंधुमितैत्तिलिजानलिलान्न-लिशिलाक्षिशिखण्डिसूकरसदृममुपवर्णानुपसदृख्यानम् ॐ इत्युपसदृख्यानान्-टिलोप ॐ ।

अण पर रहते इन शब्दों की टिकालोप होता है । सत्र नात है ।

१४९१ छगलिनो ङिणुक् ४।३।१०९।

छगलिना प्रोक्तमधीयते छागलेयिन ।

तृतीयान्न छगलिन् में 'प्रोक्तमधीयते' में ङिणुक् प्रत्यय होता है विधुस्व का सम्पादक सूत्र को मिथुसूत्र रहते हैं । यथा नटसूत्र के ज्ञान से नटत्व की सम्पत्ति-प्राप्ति होती है । इसी प्रकार वन सूत्रों के ज्ञान से व्यावहारिक कर्मों में अनादरपूर्वक अज्ञान में प्रवृत्ति "तमेत ब्राह्मणा वेदानुवचने न विविदिषन्ति यशेन दानेन तपसाऽनाज्ञादेन" इति ।

"वेदान्तान् विधिवच्छ्रुत्वा सन्धसेदनृणे द्विज " ।

इदृन्धरत्वमन्तव्यं श्रोतव्यम्वदिनातिमि ॥

वेदान्त के समस्त ज्ञानप्रदसिद्धान्तों को आचार्य द्वारा श्रवण कर मनुष्य ऋण देवऋण एवं पितृ-ऋण से मुक्त होकर सर्वकर्मत्यागपूर्वक संन्यासाश्रम में द्विज को स्थित रहना चाहिये। पुनः भव-सागर के बन्धन में न आना पड़े एवं मोक्षप्राप्त हो जाय। “नमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” यह श्रुतिवचन है।

१४९२ पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४।३।११०।

पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते पाराशरिणो भिक्षवः। शैलालिनो नटाः। पूर्वप्रदर्शित अर्थ में भिक्षुवाच्य होने पर णिनि प्रत्यय एवं नटसूत्र अर्थवाच्य होने पर शिलालिन् से णिनि प्रत्यय होता है। शिलालिना प्रोक्तम् नटसूत्रमधीयते — शैलालिनो नटाः।

१४९३ कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ४।३।१११।

भिक्षुनटसूत्रयोरित्येव। कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनो भिक्षवः। कृशाश्विनो नटाः।

भिक्षु अर्थ में तृतीयान्त समर्थ कर्मन्द से एवं नटसूत्र अर्थवाच्य रहते कृशाश्व से इनि प्रत्यय प्रोक्तमधीयते अर्थ में होता है।

१४९४ तेनैकदिक् ४।३।११२।

सुदाम्ना अद्रिणा एकदिक् सौदामनी।

समानदिक् अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से अणादि प्रत्यय होते हैं। छन्द का अधिकार निवृत्त्यर्थ ‘तेन’ का पुनः उपादान किया है। ‘सौदामिनी’ ‘अन्’ से प्रकृति भाव होने से टिलोप का अभाव है। ‘तटित् सौदामनी विद्युत्’ यह कोश है।

१४९५ तसिश्च ४।३।११३।

स्वरादिपाठादव्ययत्वम्। पीलुमूलेन एकदिक् पीलुमूलतः।

समान दिक् अर्थ में तृतीयान्त से तसि प्रत्यय होता है। तसिप्रत्ययान्त स्वरादि होने से अव्यय संज्ञा हुई। पीलुमूलतः। तत्प्रत्ययान्त स्वामाविक अधिकरण शक्ति प्रधान अव्यय है। तृतीयान्त की भी प्राधान्य से प्रतीति होती है यह कृन्मेगन्त के भाव्य से बोध होता है।

१४९६ उरसो यच्च ४।३।११४।

चात् तसिः। अणोऽपवादः। उरसा एकदिक् उरस्यः। उरस्तः।

तृतीयान्त उरस् से समाना दिक् अर्थ में अण् को बाधकर यच् एवं तसिप्रत्यय होता है।

१४९७ उपज्ञाते ४।३।११५।

तेनेत्येव। पाणिनिना उपज्ञातं पाणिनीयम्।

विना उपदेश ज्ञात अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है।

१४९८ कृते ग्रन्थे ४।३।११६।

वररुचिना कृतो ग्रन्थो वारुरुचः।

को किया गया वह ग्रन्थ रहे तब तृतीयान्त से कृत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।

१४९९ सज्ञायाम् ४।३।११७।

तेनेत्येय । अग्रन्थार्थमिदम् । मक्षिकाभि कृतं माक्षिक मधु ।

तृतीयान्त प्रातिपदिक से सज्ञा गन्धमान रहते कृत अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

१५०० कुलालादिभ्यो जुञ् ४।३।११८।

‘तेन कृते सज्ञायाम्’ । कुलालेन कृत कौलालकम् । बाढकम् ।

तृतीयान्त से कृत अर्थ में सज्ञा की प्रतीति होने पर जुञ् प्रत्यय होता है ।

१५०१ क्षुद्राभ्रमखटरपादपाद् अञ् ४।३।११९।

तेन कृते सज्ञायाम् । क्षुद्राभि कृत क्षौद्रम् । भ्रामरम् । वाटरम् । पादपम् ।

तृतीयान्त क्षुद्रा, भ्रामर, वटर, पादप से सज्ञा में कृत अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है ।

१५०१ तस्येदम् ४।३।१२०।

उपगोरिदम् औपगवम् । ऋ षहेस्तुरणित च ऋ सयोदु स्व सावहित्रम् ।
ऋ अग्नीव शरणे रण भ च ऋ । अग्निम् इन्वे अग्नीत् तस्य स्थानम् आग्नी-
धम् । तात्स्यात्सोऽप्याग्नीध्र । ऋ समिधामाधाने पेय्यणऋ । सामिधेन्यो मन्त्र ।
सामिधेनी ऋक् ।

यद्वा ‘शप का सम्बध है । अत अपत्यादि अर्थों में यह प्रवृत्त नहीं होता है । पञ्चमन्त से इदम् अर्थ ‘वसका यह’ में समर्थ प्रातिपदिक से शैथिक प्रकरणेक अणादि प्रत्यय होते हैं ।
उपगता गार वरय स उपगु तरय इदम् में अण् औपगवम् यद्वा ‘ओर्गुण’ से गुण । तुन् एव
एव तुच् प्रत्ययान्त वह पातु से अण् प्रत्यय का एव इद् का आगम होता है । सावहित्रम् ।

अग्नीध्र शब्द से गृह अर्थ में रण् प्रत्यय होता है । एव अग्नीध्र की भ सज्ञा होती है । अग्नि
को दीप्त करने वाला होता आग्नीध्र है । अग्नि जिस स्थान में प्रकट किया जाय वस गृह
आग्नीध्र है । आधान अर्थ में वष्टयन्त समिध् शब्द से पेय्यण् प्रत्यय होता है । समिधाम् यह
यह कर्म में पड़ी है । करणव्युत्पन्न आधारशब्द है । कर्मवष्टयन्त से आधान में पेय्यण से सामि
धेन्य । ऋलिङ्ग में पितृवाय कीय एव इकस्तद्वितस्य से वकार लोपकर सामिधेनी ऋक् ।

१५०३ रथाद्यत् ४।३।१२१।

रथ्यम् = चक्रम् ।

वष्टयन्त रथ से इदमर्थ में यत् प्रत्यय होता है । यह अण् का वाचक है । रथ से रथाङ्ग में यत्
रथ्यम् = चक्रम् । “रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ तदन्तविधि” से रथान्त स भी यत् होता है ।
परमरथ्यम् । द्विरथम् यद्वा यत् का ‘दिगो’ से लुक् है । रथाङ्ग मित्र में ‘तद्वहति’ सूत्र से यत् रथ्यो-
ऽथ । तद्वहति में रथग्रहण हलादि यत् का लुक् दिगु में होता है उसमें जायक है ।

१४०४ पत्रपूर्वादिञ् ४।३।१२२।

पत्र्यम् = वाहनम् । अश्वरथस्येदम् आश्वरथम् ।

वाहन वाचक शब्द पूर्वक जो रथ शब्द तदन्त प्रातिपदिक से ‘इदम्’ अर्थ में अण् प्रत्यय
होता है । यह रथात् में प्रवृत्त होता है । पत्र्य में अर्थ ग्रहण है ।

१५०५ पत्राध्वर्युपरिपदश्च ४।३।१२३।

अञ् । ऋ पत्राद् वाद्ये ऋ । अध्वस्येदं वहनीयम् आश्वम् । आध्वर्यवम् ।
पारिपदम् ।

पत्र वाचक, अध्वर्यु, परिपद इन पष्ठयन्त से अञ् प्रत्यय होता है । इदमर्थ में पत्र से वहनीय अर्थ में प्रत्यय होता है । पत्र में अर्थ ग्रहण है । यद् भी रथाद्ग में लगता है ।

१५०६ हलसीराट्ठक् ४।३।१२४।

हालिकम् । सौरिकम् ।

पष्ठयन्त हल् एवं सीर से इदमर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ।

१५०७ द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयोः ४।३।१२५।

काकोल्लिका । कुत्सकुशिकिका । ऋ वैरे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः ऋ ।
दैवासुरम् ।

यद् अण् का वाचक है छप्रत्यय को भी विकल्प से वाध करता है । काक एवं उल्लूक का वैर प्रसिद्ध है । वुन् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग है । मैथुनिका का अर्थ विवाह सम्बन्ध है । मिथुनन् = दम्पती उनका कर्म = क्रियानिष्पादनरूपम् । मनीषादित्व प्रयुक्त वुञ् प्रत्ययान्त है स्त्रीलिङ्ग है ।

सूत्रार्थ—वैरमें एवं स्त्री पुरुष कर्म रूप मैथुनिका में द्वन्द्व समास निष्पन्न शब्द से पर वुन् प्रत्यय होता है । काकोल्लिका । कुत्साश्च काशिकाश्च तेषां मैथुनिका 'कुत्सकुशिकिका' । द्वन्द्व-समास संज्ञक देवसुरादि से वुन् नहीं होता है । इदमर्थ में अण् हुआ—दैवासुरम् ।

१५०७ गोत्रचरणाद् वुञ् ४।३।१२६।

औपगवकम् । ऋ चरणाद् धर्मस्नाययोरिति वक्तव्यम् ऋ । काठकम् ।

गोत्रप्रत्ययान्त एवं चरणवाचक से 'तस्येदम्' अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है । औपगवरयेदम् औपगवकम् । चरण से धर्म एवं आम्नाय अर्थ में वुञ् । आम्नायः = सम्प्रदायः = शास्त्रम् । प्रवराध्यायसिद्ध लौकिक गोत्र का ग्रहण यहाँ है । काठकम् ।

१५०९ सङ्घोऽङ्गलक्षणेष्वञ्ज्यञ्ज्यजिजामण् ४।३।१२७।

घोषग्रहणमाप कर्तव्यम् ऋ । अञ्—वैदः सङ्घोऽङ्घो घोषो वा, वैदं लक्षणम् । यञ्—गार्गः । गार्गम् । इञ्—दाक्षः । दाक्षम् । परम्परासम्बन्धोऽङ्गः । साक्षात् तु लक्षणम् ।

सङ्घ, अङ्ग, लक्षण एवं वार्तिकमत से घोष इन अर्थों में अञ्, यञ् इञ् प्रत्ययान्त से अण् प्रत्यय है । यहाँ यथासंख्य नहीं है । सूत्र में निदिष्ट तीन अर्थ एवं प्रत्यय चार हैं । लक्षण में नपुंसक है अन्यत्र पुंस्त्व है । वैदः अञ् प्रत्ययान्त से अण् है । गार्गः यञ् प्रत्ययान्त से अण् । आपत्यस्य से यलोप है । इञ् प्रत्ययान्त दाक्षि से अण् । परम्परासम्बन्ध को अङ्ग कहते हैं, यथा—“गवादिनिष्ठः स्वामिना गोदारा सम्बन्धः” । साक्षात् सम्बन्ध को लक्षण कहते हैं यथा विद्वानां विद्या तद्वान् ।

१५१० शाकलाद् वा ४।३।१२८।

अण्वोक्तार्थे । पक्षे चरणत्वाद् बुम् । शकलेन प्रोक्तमधीयते शाकला-
स्तेषा सहोऽहो धोपो वा शाकलः । शाकलकं । लक्षणे क्लीबता ।

पूर्वं वर्णित अर्थों में शाकल तुनीवात से 'प्रोक्तमधीयते' अर्थ में अण विकल्प से होता है ।
पक्ष में बुम् ।

१५११ छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकवह्वृचनटाञ्ज्यः ४।३।१२९।

छन्दोगानां घर्म आम्नायो वा छन्दोग्यम् । औक्थिक्यम् । याज्ञिक्यम् ।
वाह्वृच्यम् । नाष्ट्यम् । चरणाद् घर्माम्नाययोरित्युक्तं तत् साहचर्यान्मद-
शब्दादपि तयोरेव ।

छन्दोग औक्थिक, याज्ञिक, वह्वृच, नट, इन वष्टयन्त से ज्य प्रत्यय होता है । घर्म या
आम्नाय अर्थ में छान्दोग्यम् ।

चरणवाचक से घर्म एव आम्नाय = सम्प्रदाय = शास्त्र अर्थ में प्रत्यय होता है । इनके भावार्थ
से नट से भी इन दो अर्थ में प्रत्यय होता है ।

१५१२ न दण्डमाणवान्तेवासिषु ४।३।१३०।

दण्डप्रधाना माणवा दण्डमाणवास्तेषु शिष्येषु च बुम् न स्यात् । दाक्षा
दण्डमाणवा शिष्या वा ।

यहां 'तस्येदम्' की अनुवृत्ति है । दण्डप्रधान माणव को दण्डमाणव कहते हैं । दण्डमाणव
एव उनके शिष्य अर्थ में बुम् नहीं होता है । इन् प्रत्ययान्तदादिष्वयन्त से 'इनश्' से अण् दाक्षा ।

१५१३ रेवतिकादिभ्यश्छः ४।३।१३१।

तस्येदमित्यर्थे । बुम्नोऽपवाद । रेवतिकीय । वैजवापीय ।

यह उक्त है इस अर्थ में वष्टयन्त रेवतिकादिभ्यो से छप्रत्यय होता है । यह बुम् का
वापक है ।

(क) कौपिञ्जलहास्तिपदादण् ४।३।१३२।

कुपिञ्जलस्यापत्यम् । इहैव निपातनादण् तदन्तात्पुनरण् कौपिञ्जल ।
गोत्रबुम्नोऽपवाद । हस्तिपादस्यापत्य हस्तिपदस्त्वस्याय हस्तिपदः ।

कौपिञ्जल एव हस्तिपाद से 'तस्येदम्' में अण् प्रत्यय होता है । कुपिञ्जलस्यापत्यम् यहाँ
निपातनाय अण् पुन कौपिञ्जल से अण् । गोत्रार्थक बुम् का वापक यह है । हस्तिपादस्यायम्
हस्तिपद तस्यायम् हस्तिपद । 'रेवतिकादिभ्यः' सूत्र पर कौपिञ्जलादि वचन वार्तिक रूप में
हो पठित है । वैयटाचार्य भी इसको वार्तिक ही मानते हैं । सूत्रत्वेन इसका पाठ उचित नहीं है ।
प्राचीन पुस्तकों में सूत्रत्वेन उपन्यास भी मिलता है जब वृत्तर वचन सूत्रत्वेन उपन्यस्त है तो
इसका सूत्रत्वेन उप यास क्यों नहीं । यह भवेषणा का विषय है । वृत्तर सूत्रत्वेन उपन्यस्त वार्तिक है
देसा भी मत है ।

(ख) आथर्वणिकस्येकलोपश्च ४।३।१३३

चादण् । आथर्वणिकस्यायम् आथर्वणो घर्म आम्नायो वा । चरणात्वाद्
बुञ्चोऽपवादः ।

समाप्ताः शैषिकाः ।

पठ्यन्त आथर्वणिक् से अण् एवं इक् का लोप होता है । यह चरण वाचक से विदित् बुञ् का
वाधक है । अथर्वणा प्रोक्तो वेदः स उपचार से अथर्वा तमधीते वसन्तादित्वेन टक् 'दाण्टनायन' इति
निपातन से टिलोपामाव इससे अण् इक् का लोप आथर्वणः । प्रदीप एवं उद्घोषकार के मत में
यह सूत्र है । वार्तिक नहीं है । प्रदीप में कहा है कि "अण् च वक्तव्यम्" कौपिञ्जल द्वाहितपदे-
त्यस्यापाणिनीयत्वात् । हरदत्ताचार्य इसका वार्तिक ही मानते हैं ।

पं० श्री बा. कृ. पञ्चोलि विरचितरत्नप्रभा में शैषिक प्रकरण समाप्त ।



अथ प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्

१५१४ तस्य विकारः ४।३।१३४।

ॐ अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्य ॐ । अश्मनो विकार आश्म । आश्मनः ।
मार्तिक ।

वक्ष्यन्त प्रातिपदिक से विकार अर्थ अणादि प्रत्यय होते हैं । चादि सम्बद्ध तस्य की निवृत्ति के लिए सूत्र में तस्य ग्रहण किया है । नियत अवधि प्रथम उद्घोषित है अतः अणादि की निवृत्ति नहीं है । 'प्राग्दीव्यत प्राग्भवनात्' यह अवधिनिश्चित बननी है । इसके अपवाद प्रत्यय वक्ष्यमाण हैं वन अपवादों के विषय अहाँ नहीं है ऐसा इसका उदाहरण प्रदर्शन करते हैं यथा अश्मनो विकार आश्म । विकारार्थ प्रत्यय परक अश्मन् की टिलोप होता है । आश्मः । मभिन् प्रत्ययान्त अश्मन् एव मत्मान् दोनों हैं । आश्मनः । यह टिलोप विधायक वचन नहीं है । वृत्तिरूपा विकारो मार्तिक ।

१५१५ अन्यथे च प्राण्योषधितृक्षेभ्यः ४।३।१३५।

चाद् विकारे । मयूरस्यावयवो विकारो वा मायूरः । मौर्व काण्ड भरुम वा ।
पैप्पलम् ।

वक्ष्यन्तप्राणी, ओषधि, वृक्ष वाचक से अवयव एव विकार अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं । मायूर यहाँ 'प्रागिरज्जादिभ्योऽम्' से अज प्रत्यय विकार एव अवयव में हुआ । मौर्वम् । 'पुष्पाभ्यानाम्' से आपुदासमूर्त्ता शब्द है यह ओषधि का उदाहरण है । वृक्ष का उदाहरण है — पैप्पलम् । वृक्षावली से यह आपुदास है ।

१५१६ विल्वादिभ्योऽण् ४।३।१३६।

वैत्वम् ।

वक्ष्यन्त विल्वादि से विकार एव अवयव अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । वैत्वम्-विल्व का विकार वा अवयव । यह अण् एव मयट् का वाचक है । त्रैहम् आदि अनेक उदाहरण हैं ।

१५१७ कोषघाश ४।३।१३७।

अण् । अवोऽपवादः । तर्कु तार्कवम् । तैत्तिह्रीकम् ।

वक्ष्यन्त कोष से विकार एव अवयव में अण् होता है । यह 'ओरञ्' का वाचक है । एव अनुदासादेश का भी यह वाचक है, तैत्तिह्रीयन् ।

१५१८ त्रपुजतुनो पुक् ४।३।१३८।

आभ्याम् अण् स्याद् विकारे एतयोः पुगागमश्च । त्रापुषम् । जातुपम् ।

वक्ष्यन्त त्रपु एव जतु हैं विकार अर्थ में अण् एव इन दोनों को पुक् आगम होता है । त्रापुषम् ।
जातुपम् ।

१५१९ ओरञ् ४।३।१३८।

दैवदारवम् । भाद्रदारवम् ।

पष्ठ्यन्त उवर्णान्त प्रातिपदिक से विकार में अन् प्रत्यय होता है । दैवदारवन् भाद्रदारवन् वे दोनों आद्युदात्त हैं ।

१५२० अनुदात्तादेश्च ४।३।१४०।

दाधित्थम् । कापित्थम् ।

अनुदात्तादिपष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से विकार अर्थ में अन् प्रत्यय होता है । दाधित्थन् । दध्नि तिष्ठति दधित्थः 'ज्ञापि स्थः' सूत्र से कप्रत्यय आकारलोप उपपद समास पृषोदरादित्व-प्रयुक्त सकार को तकारादेश, ह्रस्वत्तरपदप्रकृति स्वर से अन्तोदात्त है । शेषनिघात से आदि अच् अनुदात्त है अच् आदि वृद्धि अकारलोप नपुंसकत्वमयुक्त सुभो अन् पूर्वरूप दाधित्थन् । यही कम कापित्थन् में है ।

१५२१ पलाशादिभ्यो वा ४।३।१४१।

पालाशम् । कारीरम् ।

अवयव एवं विकार अर्थ में पष्ठ्यन्त पलाशादि से अन् प्रत्यय विकल्प से होता है । पलाश शब्द अन्तोदात्त है घृतादित्व प्रयुक्त आदि अच् अनुदात्त है । किर धातु से ईरन् कारीन् निव स्वर से आद्युदात्त है ।

१५२२ श्म्याः प्लञ् ४।३।४१।

शामीलं भस्म । पिच्छान्छीप् शामीली सूक् ।

पष्ठ्यन्तश्मी से विकार अर्थ में प्लञ् होता है । ग्रीलिङ्ग में पित्त के कारण छीप होना है । श्म्या विकारभूतं भस्म शामीलम् ।

१५२३ मयङ्वैतयो र्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ४।३।१४३।

प्रकृतिमात्रान्मयङ् वा स्याद् विकारावयवयोः । अश्ममयम् । आश्मनम् । अभक्ष्येत्यादि किम्, मौद्गः सूपः । कार्पासमाच्छादनम् ।

लोक में विकार एवं अवयव अर्थ में प्रकृति मात्र से विकल्प मयङ् होता है, भक्ष्य एवं आच्छादन अर्थ छोड़कर । पक्ष में अण् । अश्मनो विकारोऽवयवो वा अश्ममयन् । अश्मनोऽवयवरूपन् आश्मनन् । 'अश्मनः टिलोपः' से टिलोप पापाण वाचक प्रसिद्ध अश्मन् में होता है । यहाँ तो अश्मभेद शब्द से अण् है भेद का 'विनापि प्रत्ययन्' से लोप है यह अप्रसिद्ध है । अथवा कल्पापाद में राजा को मदयुक्ता स्त्री में वसिष्ठ से उत्पन्न पुत्र का नाम वाचक अश्मन् शब्द यहाँ है, प्रसिद्ध पापाण वाचक नहीं है । मौद्गः घृतादित्वप्रयुक्त अन्तोदान्त है । आदि अनुदात्त है । यहाँ भक्ष्य है मयङ् न हुआ । कार्पासन्, 'कृजः पासे' गुण रपरत्व लीप् अनुदात्तादेश्च से प्राप्त अन् को वाधकर विन्वादित्व से अण् प्रत्यय है ।

१५२४ नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४।३।१४४।

आन्नमयम् । शरमयम् । ॐ एकाचो नित्यम् ॐ । त्वङ्मयम् । वाङ्मयम् । कथं तर्हि आत्थम् । अम्मयमिति । तस्येदमिति अणन्तात् स्वार्थे ण्यञ् ।

षष्ठ्यन्त वृद्धसंज्ञक एव शरादि से अमध्य एव अनाच्छादन अर्थ से मयट् होता है अवयव या विकार अर्थ में । आग्रस्य अवयवो विकारो वा आग्रमयम् । शरवा अवयव या विकार में शरमयम् । एकाच् से निरप मयट् होता है । अपमयम् होनी चाहिये आप्यम् क्यों हुआ ? तस्येदमिति अण् कर स्वार्थ में व्यञ्ज हुआ है ।

१५२५ गोश्च पुरीषे ङा३।१४५।

गोः पुरीष गोमयम् ।

षष्ठ्यन्त गो शब्द से विद्या अर्थ में मयट् होता है । गोमयम् । यहा भी विकारार्थ में मयट् गोमुक्त जो आहार विशेष उसका विकार में गोविकारत्व का आरोप यहा है । गोमुक्ताहारविकारे गोविकारत्वम् आरोप्यते इति विकारार्थक एव मयट् ।

१५२६ पिष्टाच्च ङा३।१४६।

मयट् स्यात् विकारे । पिष्टमय मस्म । कथ पैष्टी सुरेति, सामान्यविवक्षाया तस्येदमित्यण् ।

षष्ठ्य त पिष्ट से विकार अर्थ में मयट् होता है । पिष्टमयी सुरा न होकर पैष्टी रूप जो हुआ है यहा इदन्वन रूप से सामान्य अर्थ विवक्षा में तस्येदम् से अण् हुआ कर जीप पैष्टी सुरा ।

१५२७ संज्ञायां कन् ङा३।१४७।

पिष्टादित्येष । पिष्टस्य विकारविशेष पिष्टक । पूषोऽपूप पिष्टक स्यात् ।

षष्ठ्यन्त पिष्ट से विकार अर्थ में कन् प्रत्यय होता है रुधा में । पूषा इत्त सज्ञा में पिष्टक । पूषो अपूप पिष्टक पर्याय वाचक है ।

१५२८ ग्रीहेः पुरोडाशे ।

मयट् स्यात् । बिल्वाद्यणोऽपवाद । ग्रीहिमय पुरोडाशः । ग्रीहम् अन्यत् ।

पुरोडाश अर्थ में ग्रीहि षष्ठ्यन्त में मयट् प्रत्यय होता है । यह अण् का बाधक है । पुरोडाश भी ग्रीहि वा अवयव है अण् विकारार्थ यह मयट् है । अन्यत्र अण् ग्रीहम् ।

१५२९ असंज्ञायां तिलयवाम्याम् ङा३।१४९।

तिलमयम् । यममयम् । सन्नायान्तु तैलम् । यावक ।

अमज्ञा में षष्ठ्यन्त तिल एव यव से मयट् होता है । सज्ञा में अण् तैलम् । यावक यहा अणन्त याव से 'यावादिभ्य' सूत्र से स्वार्थ में कन् याव एव यावक ।

१५३० तालादिभ्योऽण् ङा३।१५२।

अन्मयटोरपवादः । ऋ तालाद् धनुषि ऋ । ताल धनु । अन्यत् तालमयम् । ऐन्द्रायुधम् ।

ताल से धनुष अर्थ में अण् होता है । यह प्राणिरजतादिभ्य ऋ अण् एव मयट् का बाधक है । अण् ग्रहण यहा बाधक बाधनार्थ है । विकारार्थक अण्, 'नित्य वृद्ध से मयट् न हुआ । सूत्ररूप वचनतो 'जितश्च तत्प्रत्ययाद्' सूत्र बाधक चरितार्थ है । धनुष से भिन्नार्थ में मयट् तालमयम् ।

१५३१ जातरूपेभ्यः परिमाणे ४।३।१५३।

अण् । बहुवचनात्पर्यायग्रहणम् । हाटकः तापनीयः । सौवर्णो वा निष्कः । परिणामे किम्, हाटकमयी यष्टिः ।

परिणाम अर्थ में सुवर्ण पर्याय वाचक पठ्यन्त शब्द से विकार एङ् अवयव अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । हाटकः । यहाँ वृद्धत्व प्रयुक्त मयट् प्राप्त था अण् हुआ । तपनीय से अनुदात्तादेश से अञ् प्राप्त था बाधकर अण् तापनीयः यह भी उदाहरण दी है । विवरण नहीं है । सुवर्णस्य अवयवो विकारो वा सौवर्णः = निष्कः । परिणाम मित्र में मयट् हाटकमयी सुवर्णयुक्ता यष्टिः । सुवर्ण से रचित छड़ी ।

१५३२ प्राणिरजतादिभ्योऽञ् ४।३।१५२।

शौकम् । चाकम् । राजतम् ।

पठ्यन्त प्राणिवाचक से एवं रजतादि से अवयव एवं विकार अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है । अनुदात्त शुक एवं बक है, अनुदात्तादेश से अप्राप्त अञ् का यह विधान कर्त्ता है । रजतादि शब्द रजत, सीस, लोह उदुम्बर अनुदात्तादि है अञ् सिद्ध था पुनः विधान मयट् बाधनार्थ है । राजतम् ।

१५३३ जितश्च तत्प्रत्ययात् ४।३।१५५।

चिद् यो विकारावयवप्रत्ययस्तदन्तादञ् स्यात् तयोरेवार्थयोः । मयटोऽपवादः । शामीलस्य शामीलम् । दाधित्थस्य दाधित्थम् । कापित्थम् । जितः किम्, वैत्वमयम् ।

विकार एवं अवयव अर्थ में जकार की इत संज्ञावाला विकारावयव प्रत्यय तदन्त के उत्तर अञ् प्रत्यय होता है । यह मयट् का अपवाद है । शमी से शलज् कह चुके हैं दधित्थ से अञ् पूर्व विहित है, शम्याश्लज्, अनुदात्तादेश । तदन्त से इस से अञ् यह मयट् का बाधक है । अणन्त वैल से मयट् वैत्वमयम् । यह गित है जित नहीं ।

१५३४ क्रीतवत्परिमाणात् ४।३।१५६।

प्राग्वहतेष्टगित्यारभ्य क्रीतार्थे ये प्रत्यया येनापाधिना परिमाणाद् चिह्नितास्ते तथैव विकारोऽतिदिश्यन्ते । अणादीनामपवादः । निष्केण क्रीतं नैष्किकम् । एवं निष्कस्य विकारोऽपि नैष्किकः । शतस्य विकारः शत्यः । शतिकः ।

‘प्राग्वहतेष्टक’ से आरम्भ कर क्रीतार्थ में जो प्रत्यय जिस उपाधि से परिमाण वाचक से कहे गये हैं वे समस्त प्रत्यय परिमाण वाचक से विकार में आरोपित होकर होते हैं । यथा क्रीतार्थ में निष्केण क्रीतम् नैष्किकम् तथैव निष्कस्य विकारोऽपि नैष्किकः । शतेन क्रीतः शतस्य विकारो वा शत्यः, शतिकः । तेन क्रीतम् ठक् । शताच्च ठन्यतौ से ठन् एवं यत् । पूर्वत्र कमिक समझने चाहिये ।

१५३५ उष्ट्राद् वुञ् ४।३।१५७।

प्राण्यञोऽपवादः । औष्ट्रकः ।

पठ्यन्त उष्ट्र से अवयव या विकार अर्थ में विकल्प से वुञ् होता है, यह अञ् का बाधक है ।

१५३६ उमोर्णयोर्वा ४।३।१५८।

ओमम् । ओमकम् । ओर्णम् । ओर्णकम् ।

बुन्वमावे यथाक्रममण्यौ ।

षष्ठ्यन्त उमा एवं ऊर्णा शब्द से अवयव एवं विकार अर्थ में जुम् विकल्प में होता है । पक्ष में उमा आयुदात्त से अण् । ऊर्णा अन्तोदात्त है, आदि अनुदात्त है अतः अम् प्रत्यय होता है अण् अम् में रूप साम्य है, स्वर में अन्तोदात्त, आयुदात्त का विशेष है । रूप तीन हुए किन्तु साम्यत्व के कारण मूल में दो रूप बताये हैं ।

१५३७ एण्या ठब् ४।३।१५९।

ऐण्यम् । एणस्य तु ऐणम् ।

एणी से ठब् प्रत्यय होता है । एण से तो ठब् नहीं किन्तु प्राण्यम् है । खीणि निदेश विवक्षित है । अतः पुंस्त्वविशिष्टार्थक में इसको अप्रवृत्ति है ।

१५३८ गोपयसोर्यत् ४।३।१६०।

गव्यम् । पयस्यम् ।

षष्ठ्यन्त समर्थ गो एवं पयस् से अवयव एवं विकार में यत् प्रत्यय होता है । गोविकारः— गव्यम्, पयस्यम् ।

१४३९ द्रोश्च ४।३।१६१।

द्रुः=वृक्षस्तस्यावयवो विकारो वा द्रव्यम् ।

षष्ठ्यन्त वृक्षवाचक द्रु से अवयव एवं विकार अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । द्रव्यार्थक द्रव्य शब्द में द्रु भातु से यत् में होता है ।

१५४० माने वयः ४।३।१६२।

द्रोरित्येष । द्रुवयम् । यौतव्यं द्रुवयं पाट्यमिति मानार्थकं त्रयम् ।

षष्ठ्यन्त द्रु शब्द से मान अर्थ में वय प्रत्यय होता है । यह तीन पद परिमाण वाचक है । द्रुवयम् । द्रु का विकारभूत प्रत्यादि परक है । यह यत् का वाचक है । विकार रूप मान में प्रत्यय वय का विधायक यह है ।

१५४१ फले लुक् ४।३।१६३।

विकारावयवप्रत्ययस्य लुक् स्यात् फले ।

आमलक्याः फलम् आमलकम् ।

फल बोध्य होने पर विकारार्थ एवं अवयवार्थक प्रत्यय का लुक् होता है । फलित वृक्ष का फल विकार एवं अवयव है, वह स्वतः सिद्ध है । आमलकी से मयट् उसका लुक् लुक्त्तदित- लुक्सूत्र से लीष् का लुक् । आमलकम्=आमरा ।

१५४२ प्लक्षादिभ्योऽण् ४।३।१६४।

विधानसामर्थ्यान्न लुक् । प्लाक्षम् ।

पठयन्त प्लक्ष आदि से विकारादि अर्थ में विहित अण् होता है फल अर्थ में । किन्तु इस अण् का लुक् नहीं होता है विधान ही लुक् करने में व्यर्थ होगा सूत्र वैयर्थ्यरूप दोष से लुगभावः ।

१५४३ न्यग्रोधस्य च केवलस्य ७।३।५।

अस्य न वृद्धिरैजागमश्च । नैयग्रोधम् ।

अण् पर में रहते न्यग्रोध के आदि अच की वृद्धि नहीं होती किन्तु यकार के पूर्व ऐच् आगम होता है । यकारपूर्व में ऐ, वकार पूर्व में औ होता है आगम । न्यक् रोदिति न्यग्रोधः । यहां अभ्युत्पत्तिपक्ष में अण् विधि एवं एजागम नैयग्रोधन् = फलम् । न्यग्रोधमूले भवाः शालयः न्याग्रोधमूलाः । यहां केवलनही है, एजागम की अप्राप्ति से आदि वृद्धि हुई है ।

१५४४ जम्बूवा वा ४।३।१६५।

जम्बूशब्दात् फलेऽण् वा स्यात् । जाम्बवम् । पक्षे ओरञ्, तस्य लुक् जम्बु ।

फलवाच्य होने पर पठयन्त जम्बू से विकारार्थक अण् होता है विकल्प से । पक्ष में ओरञ् से अण् उसका फल रूप विकार अर्थ है उस अण् का फले लुक्सूत्र से लुक् । नपुंसक एत्व ।

१५४५ लुप् च ४।३।१६६।

जम्बूवा फलप्रत्ययस्य लुप् वा स्यात् । लुपि युक्नवत् । जम्बूवाः फलं जम्बूः । ❀ फलपाकशुषामुपसङ्गानाम् ❀ । त्रीहयः । मुद्राः । ❀ पुष्पमूलेषु बहुलम् ❀ । मल्लिकायाः पुष्पं मल्लिका । जात्याः पुष्पं जाती । विदार्या मूलं विदारी । बहुलग्रहणान्नेह—पाटलानि पुष्पाणि । साल्वानि मूलानि । बहुलकात् कचिल्लुक् अशोकम् । करवीरम् ।

जम्बूशब्द से उत्तर फल अर्थ में विहित प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है । लुप् होने पर प्रकृति से समान लिङ्ग एवं वचन होता है ।

फलपरिपक्व होने पर जो सूत्र जाँच तद् वाचक शब्द से पर फल अर्थ में विहितप्रत्यय का लुक् होता है । त्रीदीणां फलानि त्रीहयः । मुद्राः । पुष्प एवं मूल वाच्य रहने पर विकारार्थक प्रत्यय का बहुल लुप् होता है । यथा मल्लिका आदि । बहुल ग्रहण से लुक् का अभाव पाटलानि, साल्वानि । अशोक करवीर से उत्तर विकारार्थक प्रत्ययका लुक् हुआ है ।

१५४६ हरीतक्यादिभ्यश्च ४।३।१६७।

एभ्यः फलप्रत्ययस्य लुप् स्यात् । हरीतक्यादीनां लिङ्गमेव प्रकृतिवत् । हरीतक्याः फलानि हारीतक्यः ।

हरीतकी आदि शब्द से पर फलार्थक प्रत्यय का लुप् होता है । हरीतक्या दिका लिङ्ग ही प्रकृतिवत् होता है वचन तो विशेष्य के अनुरोध से होता है । हरीतक्याः फलानि हारीतक्यः ।

१५४७ कंशीयपरशव्ययोर्यवौ लुक् च ४।३।१६८।

कसीयपरशव्यशब्दाभ्यां यवन्वौ स्तश्छयतोश्च लुक् । कसाय हितं कसीयम्
तस्य विकारः कांस्यम् । परशवे हितं परशव्यम् । तस्य विकारः पारशवः ।

इति प्राग्दीन्यतीयाः ।

पठ्यन्त कसीय एवं परशव्य से विकारादि अर्थ में यन् एव अन् क्रमश होता है एव प्रकृतिगत
छ एव यत् का लुक् होता है । तस्मै हितम् से छ एव उवर्णान्त से छप्रत्यय को बाधकर उगवादिभ्यो
यत् से यत् प्रत्यय छप्रत्ययान्त कसीय, यत् प्रत्ययान्त परशव्य है ओगुण से गुण कर अवादेश ।
अनुदात्तादेश से परशव्य से अन् सिद्ध है उसका अनुवादकर लुक् के लिए इस का यहाँ ग्रहण है ।

१० श्री बा० कृ पञ्चोलि विरचित रत्नप्रका में प्राग्दीन्यतीय प्रकरण समाप्त ।



अथ ठगधिकारप्रकरणम्

१५४८ प्राग्वहतेष्टक् ४।४।१।

तद् वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते । कृतदाहेति माशब्दादिभ्य उप-
संख्यानमृक् । मा शब्दः कारि इति य आह स माशब्दिकः ।

‘तद् वहति’ सूत्र से पूर्व तक ठक् का अधिकार है । वह कहता है इस अर्थ में मा शब्द आदि से ठक् प्रत्यय होता है यह वाक्य से ही प्रत्यय विधायक है । वाक्य अप्रातिपदिक उत्तसे द्वितीया का असम्भव है—मा शब्दः कारि इति च निषेधति स माशब्दिकः । नित्यः शब्द इति यः कथ-
यतिस नैत्यशब्दिकः । एवं कार्यशब्दिकः ।

१५४९ स्वागतादीनाञ्च ७।३।७।

ऐच् न स्यात् । स्वागतमित्याह स्वागतिकः स्वाध्वरिकः । स्वङ्गस्यापत्यं
स्वाङ्गिः व्यङ्गस्यापत्यं व्याङ्गिः । व्यङ्गस्यापत्यं व्याङ्गिः । व्यवहारेण चरति
व्यावहारिकः । स्वपतो साधु स्वापतेयम् । कृ आहौ प्रभूतादिभ्यः कृ । प्रभूतम्
आह प्राभूतिकः । पार्योप्तिकः । कृपृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः कृ । सुस्नातं पृच्छति
सौस्नातिकः । सौखशायनिकः । अनुशतिकारिः । कृगच्छतौ परदारादिभ्यः कृ ।
पारदारिकः । गौरुतल्पिकः ।

स्वागत आदि शब्द के यकार एवं वकार के पूर्व में ऐच् आगम नहीं होता है । ङ + आगत
स्वागत अम् से ‘तदाहेति’ से ठक् इकादेश एच् का अभाव आदि वृद्धि स्वागतिकः । सु + अध्वर स्वाध्वर
अम् से ठक् स्वाध्वरिकः । स्वङ्ग पष्ठयन्त से अपत्य में इङ् एच् का अभाव आदि वृद्धि स्वाङ्गिः । वि +
अङ्ग व्यङ्ग से अपत्यार्थक इङ् एच् का अभाव व्याङ्गिः । आह इस अर्थ में प्रभूतादि से ठक् प्रत्यय
होता है । पृच्छति अर्थ में सुस्नातादि से ठक् प्रत्यय होता है । सुस्नातादि में पूर्व एवं उत्तरपद के
आदि अच् की वृद्धि अनुशतिकादीनाम् से होती है । गमनकर्ता अर्थ में परदारादि में ठक् प्रत्यय
होता है ।

१५५० तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ४।४।२।

अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः । अभ्रथा खनति आभ्रिकः । अक्षैर्जयति आक्षिकः ।
अक्षैर्जितम् आक्षिकम् ।

तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से दीव्यति = क्रीडा करना है खनति खनन करता है = खोदना
है जयति = विजय प्राप्त करता है जितम् = जीत गया इन अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है । यहां
वर्तमान काल, प्रथम पुरुष एवं एकवचन की विशेषता नहीं है । एवं तेन में भी एकवचन अवि-
वक्षित है । अक्षैः अदेवोद् देविष्यति देविष्यामि यहां भी आक्षिकः । काठ का कुट्टल को अभ्रिः
कहते हैं ।

१५५१ संस्कृतम् ४।४।३।

दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारिचिकम् ।

संस्कृत अर्थ में तृतीयान्त से ठक् प्रत्यय होता है । उत्तरार्थ यह योगविभाग है ।

सब वक्ताप्राधान्य सस्कार = सस्कृतम् = वक्ता के लिए सस्कार को किया जाय उस को सस्कृत कहते हैं । बड़ा दहि में सड़ा खाने में स्वादिष्ट होता है । दाधिकम् ।

१५५२ कुलत्थकोपधादण् ४।४।४।

ठकोऽपवाद । कुलत्थैः सस्कृतं कौलत्थम् । तैतिहिकम् ।

तृतीयान्त कुलत्थ एव ककारोपध से सस्कृत अर्थ में ठक् का वाचकर अण् प्रत्यय होता है । सप्तम्यन्त कुल शब्द उपपद रहते स्वाभाव्य से 'युपि स्व' से कप्रत्यय, व्यकार लोप उपपदसमास पृषोदरादित्व के कारण सस्कार को तस्कार कुलत्थ तृतीयान्त से अण् कौलत्थम् । तैतिहिक अण् तैतिहिकम् ।

१५५३ तरति ४।४।५।

उडुपेन तरति औडुपिक ।

तरति = तरता है इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ से ठक् प्रत्यय होता है । तुणादि से विरहित तरण के साधन को उडुप कहते हैं । उडुपो असाव पाठि । औडुपिक ।

१५५४ गोपुच्छाद् ठञ् ४।४।६।

गौपुच्छिक ।

तृतीयान्त गोपुच्छ से तरति अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । गौपुच्छिक ।

गो पुच्छन् तेन तरति वैतरणी नदीम् य स गौपुच्छिक = गो कर्मक दानकता ।

१५५५ नौद्वयचमृन् ४।४।७।

नाधिकः । घटिकः । बाहुभ्यां तरति बाहुका स्त्री ।

तरति अर्थ में नौ शब्द तृतीयान्त से ठञ् एव तृतीयान्त द्वयचमृन् से ठञ् प्रत्यय होता है । नावा तरति नाविक । घटेन तरति घटिक । बाहुका में ठञ् को कादेश टाप । बाहुका स्त्री ।

१५५६ चरति ४।४।८।

तृतीयान्ताद् गच्छति भक्षयतीत्यर्थयोऽठक् स्यात् । हस्तिना चरति हास्तिकः । शाकटिक । दूना भक्षयति दाधिकः ।

तृतीयान्त प्रातिपदिक से जाता है मोहन करता है इन दो अर्थ में अर्थात् गच्छति, भक्षयति, अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । चर गतिमश्रुणयो ।

१५५७ आकर्मात् छल् ४।४।९।

आकर्पो निकपोपलः । आकर्पादिति पाठान्तरम् । तेन चरति आकर्पिकः । पित्वान्छीप् । आकर्पिकी ।

आकर्प शब्द निकप पत्थर को कहता है ।

तृतीयान्त आकर्प शब्द से चलता है = चरति अर्थ में छल् प्रत्यय होता है । स्त्रीलिङ्ग में छीप् के लिए वकार है । कचित् आकर्प ऐसा रेफ रहित पाठ है ।

१५५८ पर्पादिभ्यः छृन् ४।४।१०।

पर्वेण चरति पर्पिकः । पर्पिकी । येन पीठेन पङ्गवश्चरन्ति स पर्वः ।
अश्विकः । रथिकः ।

तृतीयान्त पर्पादि शब्दों से चरति अर्थ में छन् प्रत्यय का होता है । पर्व उसकी कहते हैं जिस पीठ या मान से लंगड़े चलते हैं । पित से खीलिङ्ग में छीप् ।

१५५९ श्वगणाट्ठञ्च ४।४।११।

चात् छन् ।

चरति अर्थ में तृतीयान्त श्वगण से ठञ् एवं चकार से छन् प्रत्यय होते हैं ।

१५६० श्वादेरिणि ७।३।८।

ऐच् न । श्वमस्त्रस्यापत्यं श्वाभस्त्रिः । श्वादांष्ट्रः । तदादिविधौ चेदमेव
ज्ञापकम् । ऋ इकारादाविति वाच्यम् ऋ । श्वगणेन चरति श्वागणिकः । श्वाग-
णिकी । श्वगणिकः । श्वगणिकी ।

श्व् शब्द पूर्वक जो शब्द तदन्त जहाँ रहे वहाँ वृद्धि को बाधकर ऐच् नहीं होता है, इप् प्रत्यय पर रहते । श्वाभस्त्रिः । द्वारादिगण में श्व् का पाठ है, श्वमस्त्र आदि का पाठ नहीं है । ऐच् आगम प्राप्त ही नहीं है पुनः निषेधक यह सूत्र व्यर्थ है, व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है । कि द्वारादि गण पठित शब्दों में तदादिविधि भी है । अतः श्वमस्त्रादि को भी ऐच् प्राप्त है उसके निषेधार्थ श्वादेरिणि की आवश्यकता है । इप् सूत्र में न कह कर इकारादि तद्धित पर में रहते ऐच् नहीं होता है श्व् शब्दादि को ऐसा कहना चाहिये । इससे श्वागणिकः आदि में भी इप् नहीं है तो भी ऐच् न हुआ ।

१५६१ पदान्तस्यान्यतरस्याम् ७।३।९।

श्वदेङ्गस्य पदशब्दान्तस्यैच्वा । श्वापदस्येदं शौवापदम् । श्वापदम् ।

पदशब्द है अन्त में जिसको ऐसा श्व् शब्द पूर्वक अक्ष को विकल्प ऐच् आगम होता है । श्व-
मर्थक अण् ऐच् शौवापदम् । पक्ष में श्वापदम् । अन्येषामपि इदृश्यते से दीर्घ है ।

१५६२ वेतनादिभ्यो जीवति ४।४।१२।

वेतनेन जीवति वैतनिकः । धानुष्कः ।

जीवन को धारण करता है = जीवति अर्थ में तृतीयान्त वेतन आदि शब्दों से ठक् प्रत्यय होता है ।

वो धातु गत्यादि अर्थ में है उससे तनन् प्रत्यय करण में होकर वीयते अनेन वेतनम् जीविका का साधन = श्रुत्यवृत्ति द्वारा जो नियत द्रव्य प्राप्त होता है उसको वेतन कहते हैं । उस द्रव्य से जीवन निर्वाह करने वाला वैतनिक कहा जात है । धनुषा जीवति = शस्त्रास्त्र द्वारा = सैनिक वृत्ति से जीवन धारण करने वाला धानुष्कः । यहाँ ठक् को कादेश है । एकादश संज्ञा वेतन की है कर्मण्या, विधा, श्रुत्या वृत्ति मर्म, वेतन भरण्य मूल्य निर्वेश पण है ।

१५६३ वस्नक्रयविक्रयाट् ठन् ४।४।१३।

वस्नेन = मूल्येन जीवति वस्निकः क्रयविक्रयग्रहणं संघातविगृहीतार्थम् ।
क्रयविक्रयिकः । क्रयिकः । विक्रयिकः ।

जीवति अर्थ में तृतीयान्त मूल्यायक का वस्न एवं क्रयविक्रय से ठन् प्रत्यय होता है। सूत्रस्थ क्रयविक्रय ग्रहण समुदाय परक है एवं वृषक् अर्थ बोधक भी है। अतः केवल क्रय एवं विक्रय से भी प्रत्यय होता है। एवं क्रयविक्रय समुदाय से भी। वस्तु यातु से अधिकरण में न प्रत्यय है वस्तुति अथ वस्नम् = वस्न, वस्त्र, मूल्य, गति अर्थ में है यद् हेमाचार्य की उक्ति है। विवेच्य वस्तु के मूल्य ग्रन्थ की सखा वस्न है।

१५६४ आयुधाच्छ च ४।४।१४।

चाट्ठन् । आयुधेन जीवति आयुधीयः । आयुधिकः ।

तृतीयान्त आयुध शब्द से जीवन धारण करता है = जीवति अर्थ में छप्रत्यय एवं चकार से ठन् प्रत्यय होता है। आयुध्यतेऽनेन आयुधम् = शब्द पर प्रहार का साधन। आयुध, प्रहरण, शस्त्र, अस्त्र वे पर्याय वाचक शब्द हैं। धर्म में कप्रत्यय आठपूर्वक प्रहरणार्थक शुभ् से करण में है। आयुधीयः। ठन् से आयुधिकः।

१५६५ हरत्युत्सङ्गादिभ्यः ४।४।१५।

उत्सङ्गेन हरत्यौत्सङ्गिकः ।

हरण करता है इस अर्थ में तृतीयान्त उत्सङ्ग आदि शब्दों से ठक् प्रत्यय होता है।

१५६६ भस्त्रादिभ्यः घृन् ४।४।१६।

भस्त्रया हरति भस्त्रिकः । पिप्त्वात् ङीप् भस्त्रिकी ।

हरति अर्थ में तृतीयान्तभस्त्रादि शब्दों से घृन् प्रत्यय होता है। चकार की इत्सथा ङीप् से ङीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है। भस्त्रा = चर्मविकारः।

१५६७ विभाषा विवधात् ४।४।१७।

विषयेन हरति विविधिकः । पक्षे ठक् । वैवधिकः । एकदेशविकृत-स्यानन्यत्वाद् वीवधादपि घृन् । वीवधिकः । वीवधिकी । विषयवीवधशब्दौ वभयतो बहुशक्ये स्कन्धवाहो काष्ठे वर्तते ।

हरति अर्थ में तृतीयान्त शब्द से पर विकल्प से घृन् प्रत्यय होता है। पक्ष में ठक् प्रत्यय हुआ। विषय वीवध दो एकारिक शब्द केवल उत्सङ्ग एवं ईकार का भेद है। एकदेश = एका-व्यय विकार युक्त स्ववत् होने से वीवध शब्द से भी घृन् प्रत्यय होता है। पक्ष में ठक् भी। दोनों का अर्थ—दोनों पार्श्वों में बद्ध किंवा बाध से बहने योग्य काष्ठ है। भाषा में—पावड या बाँक कहते हैं।

१५६८ अण् कुटिलिकायाः ४।४।१८।

कुटिलिका = व्याघानां गतिविशेषः । कर्मारोपकरणभूत लोहश्च । कुटिलिकाया हरति मृगान् अङ्गारान् वा कौटिलिको व्याघः कर्मारश्च ।

हरति अर्थ में तृतीयान्त कुटिलिका से अण् प्रत्यय होता है। व्याघों की गतिविशेष या कर्मकार के उपकरण भूत लोहा को कुटिलिक कहते हैं।

१५६९ निर्वृचेऽक्षयूतादिभ्यः ४।४।१९।

अक्षद्युतेन निर्वृत्तम् आक्षद्युतिकं वैरम् ।

सम्पादित अर्थ में तृतीयान्त अक्षपूत आदि शब्दों से ठक् प्रत्यय होता है ।

देवनक्रिया = जूँआ से सम्पादन किया हुआ वैर = शत्रुता इसमें आक्षद्युतिकम् समुदाय से वैर अर्थ की प्रतीति हुई । जूँआ में झगड़े होना प्रायः स्वामाविक है ।

१५७० क्त्रेर्मन्तित्यम् ४।४।२०।

क्त्रिप्रत्ययान्तप्रकृतिकात् तृतीयान्तानिर्वृत्तेऽर्थे मप् स्यान्नित्यम् । कृत्या निर्वृत्तं कृत्रिमम् । पक्त्रिमम् । क्लृभावप्रत्ययान्तादिमव् वक्तव्यः क्लृ । पाकेन निर्वृत्तं पाकिमम् । त्यागिमम् ।

क्त्रिप्रत्यय है अन्त में जिसको ऐसा जो समर्थ प्रातिपदिक उससे विहित जो तृतीया विभक्ति वह है अन्त में जिसको उससे निर्वृत्त अर्थ में मप् होता है नित्य । लुक्प्रत्ययविनिमये में लु एवं जू की इत्संज्ञा है । ट्वितः क्विः । ककार की इत् संज्ञा लोप कृत्रि से तृतीया उससे मप् कृत्रिम लु अन् पूर्व रूप कृत्रिमम् । यदा क्त्रेर्मप् यए एक सूत्र ततः 'नित्यम्' पृथक् सूत्र पूर्व के समा न ही अर्थ नित्य का है नित्यम् सूत्र यए व्यवस्था करता है कि क्त्रिप्रत्ययान्त सदा मप् से युक्त ही रहता है । तदर्थकमप् रक्षित वाक्य इस अर्थ में नहीं रहता है । अर्थात् मप् रक्षित क्त्रि है अन्त में जिसको ऐसा प्रयोग नहीं होता है । माप्यकार ने भी कहा है कि "अन्त्यमव् विषयमेव यथा स्यात् केवलस्य प्रयोगो मा भूत्" कार्य द्वारा सम्पादित वैर कृत्रिमम् । उचित कार्य द्वारा सम्पादित मित्रता आदि ।

विलक्षण तेनः संयोगः पाक तेन निर्वृत्तरूप पक्त्रिमम् । लुपचप् पाके । क्त्रिप्रत्यय मप् चकार को कुत्व । भावप्रत्ययान्त प्रकृतिक तृतीयान्त से निर्वृत्त अर्थ में मप् प्रत्यय होता है । पचनं पाकः 'भावे' सूत्र से भाव = भावार्थ में षच् उपधा वृद्धि, 'चजोः' सूत्र से कुत्व से पाक इससे तृतीया इमप् पाकिमम् । त्यजनं त्यागः तेने निर्वृत्तन्, त्यागिमम् ।

१५७१ अपमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ ४।४।२१।

अपमित्येति ल्यवन्तम् । अपमित्य निर्वृत्तम् आपमित्यकम् । याचितेन निर्वृत्तं याचितकम् ।

अपमित्य एवं तृतीयान्त याचित से क्रमशः कक् एवं कन् होता है । अपमित्य ल्यवन्त अव्यय है तृतीया एकवचन है । अपमित्य से प्रत्यय नहीं होता किन्तु प्रथमान्त अपमित्य से प्रत्यय होता है । अपपूर्वक माड् से 'उदीचां माडः' से का प्रत्यय गतिसमास मा का आकार को इत् ल्यप् लुक् अपमित्य 'मियतेरिदन्यतरस्याम्' से हकार यहां हुआ है । कक्प्रत्यय । याचार्थक याच् से क प्रत्यय इटागम याचित से तृतीया निर्वृत्त अर्थ में कन् याचितकम् ।

१५७२ संसृष्टे ४।४।२२।

दध्ना संसृष्टं दाधिकम् ।

तृतीयान्तसमर्थ प्रातिपदिक से संसृष्ट अर्थ में टक् प्रत्यय होता है ।

१५७३ चूर्णादिनिः ४।४।२३।

चूर्णैः संसृष्टाश्चूर्णिनोऽपूपाः ।

तृतीयान्त चूर्ण से संसृष्ट अर्थ में इनि प्रत्यय होता है । चूर्ण = आद्य वससे निर्मित या युक्त अपूप = दूध यही इनि से 'चूर्णिनः' = अपूपाः ।

१५७४ लवणाल्लुक् ४।४।२४।

लवणेन संसृष्टो लवणः = सूपः । लवणं शाकम् ।

तृतीयान्त लवण शब्द से संसृष्ट अर्थ में विहित ठक् का लुक् होता है । लवण से युक्त शाक यह अर्थ 'लवणः सूपः' का अर्थ है । निमक से युक्त शाक अर्थ में ठक् का लुक् है लवणम् = शाकम् ।

१५७५ मुद्गादण् ४।४।२५।

मौद्ग ओदनः ।

संसृष्ट अर्थ में तृतीयान्त मुद्ग से अण् प्रत्यय होता है । मुद्गेन = मूँग से युक्त ओदन अर्थ में अण् मौद्ग = आदेनः ।

१५७६ व्यञ्जनैरुपसिक्तै ४।४।२६।

ठक् । दध्ना । उपसिक्तं दाधिकम् ।

उपसिक्त अर्थ होने पर तृतीयान्त प्रातिपदिक से ठक प्रत्यय होता है । सेवन किया से घृष्ट करण को उपमेक कहते हैं । अन्नादि के रस का अभिव्यञ्जक तृतीयान्त से उपसिक्त रूप अर्थ में ठक् होता है यही सूत्रार्थ का स्वारस्य है ।

१५७७ ओजःसहोऽम्भसा वर्तते ४।४।२७।

ओजसा वर्तते औजसिकः शूरः । साहसिकश्चौरः । आम्भसिको मत्स्यः ।

वर्तमान कालिक सत्ता विशिष्टकर्ता अर्थात् वर्तने अर्थ में तृतीयान्त ओजसः, सहस्, अम्भस् से ठक् प्रत्यय होता है । ओजसा = बल से युक्त अर्थ में ठक औजसिकः शूरः प्रुषः । साहसिकः सहसा वर्तते साहसिकः चौरः । प्राणनिरपेक्ष कर्म को साहस कहते हैं । बल से युक्त मत्स्य अर्थ में आम्भसिकः ।

१५७८ तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम् ४।४।२८।

द्वितीयान्तादस्माद् वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठक् स्यात् । क्रियाविरोपणत्वाद् द्वितीया । प्रतीपं वर्तते प्रातीपिकः । आन्वीपिकः प्रातिलोमिकः । आनुलोमिकः । प्रातिमूलिकः । आनुकूलिकः ।

द्वितीयान्त प्रति, अनुपूर्वक ईप, लोम, कूल शब्द से वर्तते इम अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । वृत्त धातु वाच्य अर्थ फल एवं व्यापार ने दोनों अर्थ एक व्यापार वृत्ति होने से अर्थात् फल समानाधिकरण व्यापारवाचकत्वं रूप अकर्मक वृत्त धातु से निष्पन्न वर्तते का वाच्य अर्थ योग में 'प्रतीपम्' आदि द्वितीयान्तत्व का सम्भव नहीं है । इस शब्द के निरासार्थ समाधान करते हैं कि प्रसिद्ध श्रव्यादिकर्म रहित वृत्त धातु अकर्मक होने हुए भी तदर्थ सत्तानुकूल व्यापार अर्थ में व्यापार जन्य सत्तारूप फल का विशेषणत्व प्रयुक्त फलविशेषण वाचक से फल यौ व्यपदेशिवद् भावने फलाश्रय है अतः फलरूप क्रिया विशेषण वाचक से द्वितीया होने से 'प्रतीपं वर्तते' आदि कथन यही वचित ही है एवं वर्तते योग में द्वितीयान्तत्व सम्भव है । फल में विशेषण रूप अर्थ का अभेद

सम्बन्ध से फल में अन्वय है यह विशेषणार्थ भी फलस्वरूप ही है। व्यपदेशिवद्भावानूलक फला-
श्रयत्व से प्राप्त द्वितीया यह वचन अनुवाचक है अपूर्व नहीं—“क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंस-
कत्वन् एकवचनञ्च” इति। इस व्यवस्था जो प्रकृत में की गई उसमें प्रमाण द्वितीयान्त तत् घटित
निर्देश ही है। सिद्धत्य गतिस्थित्तीत्या इति राद्धान्तानुसार।

प्रतीपं वर्तते प्रातिपिकः। अनुकूलं वर्तते आनुकूलिकः। प्रतिगता आपोऽरिमन् इसमें बहुव्रीहि
समास कर ‘ऋक् पूः’ से अ प्रत्यय कर द्वयन्तरूपसर्गोभ्योऽप ईव से अप् के अकार को ईकार दीर्घ
से प्रतीपन् की सिद्धि हुई है। यह केवल व्युत्पत्तिमात्र ही है तदर्थ यहां नहीं है। प्रतिकूल एवं
अनुकूलार्थक यहां है।

१५७९ परिमुखञ्च ४।४।२९।

परिमुखं वर्तते पारिमुखिकः। चान् पारिपाथिकः।

द्वितीयान्त परिमुख से वर्तते अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। सूत्र में चकार अनुक्त एवं इट्
शब्द का संग्राहक है अतः परिपाथ्यन् वर्तते पारिपाथिकः।

१५८० प्रयच्छति गर्ह्यम् ४।४।३०।

द्विगुणार्थ द्विगुणं तत्प्रयच्छति द्वैगुणिकः। त्रैगुणिकः। ऋवृद्धेर्बृधुपिभावो
वक्तव्यः। बाधुपिकः।

देता है एतदर्थक प्रयच्छति अर्थ में निन्दायोग्य = गर्ह्य वाचक द्वितीयान्त प्रातिपदिक से ठक्
प्रत्यय होता है। औपचारिक से ही यह प्रत्यय होता है, शब्द शक्ति के अन्विधान न्यारत्य से
द्विगुणार्थ से उपचार का बीजनिरूपण यहां किया है। औपचारिक से प्रत्यय विधान करने पर
ही गर्ह्यत्व की प्रतीति हुई। अन्यथा न होती।

वृद्धि शब्द को बृधुपि आदेश होता है। ठक् वृद्धि, बाधुपिकः।

१५८१ कुसीददशैकादशात् षन्ष्टचौ ४।४।३१।

गर्ह्यार्थोभ्यामाभ्यामेतौ स्तः प्रयच्छतीत्यर्थे। कुसीदम् = वृद्धिस्तदर्थं द्रव्यं
कुसीदं तत्प्रयच्छतीति कुसीदिकः। कुसीदिकी। एकादशार्थत्वादेकादश ते च ते
वस्तुतो दश चेति विग्रहे अकारः समासान्त इड्व सूत्रे निपात्यते। दशै-
कादशिकः। दशैकादशिकी। दशैकादशान् प्रयच्छतीत्युत्तमर्ण एवेहार्पि
तद्धितार्थः।

द्वितीयान्त गर्ह्यार्थक कुसीद एवं दशैकादश से प्रयच्छति अर्थ में क्रम से षन् ष्वं षच् प्रत्यय
होते हैं। सूद द्वारा वृद्धि जो होती है उसको भी कुसीद कहते हैं। अर्थात् केवल वृद्धि अर्थ का
प्रतिपादक कुसीद का द्रव्यत्व विशिष्ट में लक्षणा से आरोप है। कुसीदिकः। स्त्री में कुसीदिकी
स्त्रीप्। दशैकादश से षच् हुआ। ग्यारह करने के लिए दिये गये उसको भी एकादश कहते हैं
वस्तुतः वे दश ही हैं एकादश च ते दश इस विग्रह में समास कर अकार समासान्त का यहां
निपातन है। दशैकादशान् प्रयच्छति अर्थ में षच् हुआ। यहां तद्धितार्थ एतन्नं हुआ।
अधमर्ण नहीं।

१५८२ उञ्छति ४।४।३२।

बदराणि उच्छति वादरिक ।

द्वितीयान्त से उच्छति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । खेत या भूमि में गिरे हुए अन्न वणादि को एक एक करके एकत्रित करने वाला उच्छति शब्द वाच्यार्थ है । मुनिबन जग कृषक अपने अन्न को खेत से ले जाते थे तब वे खेत में गिरे हुए अन्न कण जीवननिर्वाहार्थ लाते थे उसमें भी काये ॥ अन्न में छठमा अन्न राजा को वैत्सरूप में देते थे राजा आशर्मों की सुख-वस्था में वसते प्राप्त द्रव्य द्वारा करवा या यह प्राचीन भारतीय व्यवस्था में उच्छ वृत्ति पवित्रतम मानी जाती थी ।

कालिदास ने उच्छ वृत्ति का चित्रण महाकाव्य रघुवंश में 'उच्छपठाकृतसैकतानि' से किया है । भूमि में गिरे हुए बैर को इकट्ठा करने वाला वादरिक । "आद्रवन्तु सदा पथं कुपथ्य बदरिफलम्" अन्नद स्वास्थ्य के लिए उत्तम पथ्य है, बैर भक्षण कुपथ्यकारी है ।

१५८३ रक्षति ४।४।३३।

समाज रक्षति सामाजिकः ।

द्वितीयान्त प्रातिपदिक से रखा करने वाला अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । समाज रक्षति अर्थ में ठक् आदि वृद्धि आदि कार्य से सामाजिक ।

१५८४ शब्ददहुरं करोति ४।४।३४।

शब्द करोति शाब्दिकः । दाहुरिक ।

द्वितीयान्त शब्द एव दहुरं से करोति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । शाब्दिक = वैयाकरण । जो प्रकृति एव प्रत्यय उनका अर्थ एव उन अर्थ द्वय का परस्पर सम्बन्ध का व्याकरण नियम पूर्वक प्रतिपादन करता है । दाहुरिक । यहाँ दहुरं से भाष्य अर्थ है ।

१५८५ पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ४।४।३५।

स्वरूपस्य पर्यायाणां विशेषाणां च ग्रहण मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव । पक्षिणो हन्ति पाक्षिकः । शाकुनिकः । मार्गिकः । हारिणिकः । सारङ्गिकः ।

'हन्ति' मारता है इस अर्थ में द्वितीयान्त पक्षिवाचक, मत्स्य वाचक मृगवाचक से ठक होता है । पक्षि आदि से स्वरूप, पर्याय ॥ तद विशेष का ग्रहण है । मत्स्य पर्याय में मीन का ही यहाँ ग्रहण है । अनेक पक्षियों का नाशक अर्थ में पाक्षिक । अन्य रूप मूल में स्पष्ट है ।

१५८६ परिपन्थं च तिष्ठति ४।४।३६।

अस्माद् द्वितीयान्तात् तिष्ठात् हन्ति चेत्यर्थे ठक् स्यात् । पन्थान वर्जयित्वा, व्याप्य वा तिष्ठति पारिपन्थिकश्चौरः । परिपन्थ हन्ति पारिपन्थिकः ।

यहा सूत्र में उच्चरित चकार अन्यत्र उक्त है अन्यत्र उसका सम्बन्ध है । तिष्ठति के बाद च तिष्ठति च चकार से हन्ति रूप अर्थ का चयन हुआ है । तत् द्वितीयान्त का सम्बन्ध है । द्वितीयान्त परिपन्थ से तिष्ठति, हन्ति, इन दो अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है । परि वर्जन अर्थ का बोध है । द्वितीयान्त मार्ग है । इस को सूचनार्थ पन्थान वर्जयित्वा व्याप्य यह लिखा है स्थिति क्रिया निरूपित कर्तृत्व चौर में है एव शत्रुकर्मक हनन क्रिया कर्तृत्व भी चौर में है । पारिपन्थिकः चौर । विपरोतपथुक हन्ति पारिपन्थिक । परिपन्थ्य यहाँअव्ययीभाव समास है पन्थान वर्जयि-

त्वा इत्यर्थः । अथवा मयूरव्यंसकादित्वप्रयुक्ततत्पुरुष ई निपातन से पन्थादेश हुआ है । तिष्ठति या इनन क्रिया निरूपित क्रिया विशेषण के कारण द्वितीया है ।

१५८७ माथोत्तरपदपदव्यनुपदं धावति ४।४।३७।

दण्डाकारो माथः = पन्था दण्डमाथः । दण्डमाथं धावति दण्डमाथिकः । पादविकः । आनुपदिकः ।

मार्गवाचकमाथ है उत्तर पद में जिसका ऐसा द्वितीयान्त शब्द, पदवी शब्द, अनुपद शब्द इन द्वितीयान्त से उत्कट गमन कर्ता (धावति) अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है यष्टि के समान ठीक सीधा रास्ता दण्डमाथ को धावन कर्ता अर्थ में दण्डमाथिकः । विलोटनार्थक माथ धातु से कर्म में घञ् माथ्यते = विलोट्यते गन्तुभिः = माथः पदवी शब्द भी मार्गार्थक है द्वितीयान्त से ठक् पादविकः । पदंपदम् अनुपदं तत् धावति आनुपदिकः ।

१५८८ आक्रन्दाट्ठञ्च ४।४।३८।

अस्माट्ठञ् स्यात्, चात् ठक् धावत्यर्थे । आक्रन्दम् = दुःखिनां रोदनस्थानं धावति आक्रन्दिकः ।

धावति अर्थ में द्वितीयान्त आक्रन्द शब्द से ठञ् एवं ठक् होता है । उभय प्रत्यय से रूप में भेद नहीं किन्तु स्वर भेद आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त है । दुःख से युक्त वो व्यक्ति उनका जो स्थान = स्थिति का अधिकरण उस के प्रति धावन कर्ता सदायतार्थ वह आक्रन्दिकः कहा जाता है ।

१५८९ पदोत्तरपदं गृह्णाति ४।४।३९।

पूर्वपदं गृह्णाति पौर्वपदिकः । औत्तरपदिकः ।

पद है उत्तरपद में जिनको ऐसे जो द्वितीयान्त प्रातिपदिक उससे ग्रहण करता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । अन्त न कह कर सूत्र में जो उत्तरपद ग्रहण किया है वह बहुच् प्रत्यय पूर्वक जो पद शब्द द्वितीयान्त उससे ठक् निवृत्ति के लिए है । पूर्वञ्च तत् पदं पूर्वपदं तत् गृह्णाति पौर्वपदिकः । औत्तरपदिकः ।

१५९० प्रतिकण्ठार्थललामञ्च ४।४।४०।

एभ्यो गृह्णात्यर्थे ठक् स्यात् । प्रतिकण्ठं गृह्णाति प्रातिकण्ठकः । आधिकः । लालामिकः ।

गृह्णाति = ग्रहण करता है इस अर्थ में द्वितीयान्त प्रतिकण्ठ, अर्थ, एवं ललाम से ठक् प्रत्यय होता है । प्रातिकण्ठिकः । अर्थ गृह्णाति आधिकः । प्रतिकण्ठन् में वीप्ता में । अव्ययीभाव समास है कण्ठं कण्ठन् इति प्रतिकण्ठम् प्रतिगतः कण्ठम् यह प्रादिसमास का यहां ग्रहण नहीं है । लालामिकः । लटनम् = ललामः । लट धातु के विलासे है, उससे सम्पदादित्व प्रयुक्त किप् टकार लकार का प्रयोग है । ललममति अस् गत्यादिषु से कर्मण्यण् ललाम । कनिन् प्रत्ययान्त नान्त भी है बाहुलक से । ललामं ललाम च । लिप्सु अर्थ में भी ललाम का प्रयोग है कन्याललामकमनीयम् अजस्य लिप्सोः ।

१५९१ धर्मं चरति ४।४।४१।

धार्मिकः । धर्मो धर्माच्चेति वक्तव्यम् । आधर्मिकः ।

द्वितीयान्त धर्म शब्द से चरति अर्थ में ठक् प्रत्यय एव द्वि० अधर्म से भी ठक् प्रत्यय होता है । धर्मविरोधि दु ख गुण विशेषजनक कर्मरूप = अधर्म ।

१५९२ प्रतिपथमेति ठञ् ४।४।४२।

प्रतिपथमेति प्रातिपथिकः ।

यहां वीप्ता में अव्ययीभाव से पन्थानम् प्रतिपद्यः । 'अकूप' हैं अ प्रत्यय टिलोप । चन्ता है इस अर्थ में द्वितीयान्त प्रतिपथ से ठन् होता है चात ठक् भी । पारिपथिकः ।

१५९३ समवायान् समवेति ४।४।४३।

सामवायिकः । सामूहिकः ।

यहां बहुवचन से अर्थ निर्देश है । द्वितीयान्त समूह वाचक शब्द से समवेति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । समवायान् समवेति सामवायिक । समूह समवेति सामूहिकः । यहां समवेति शब्दार्थजन विशेषण जो प्रवेश किया तत्परिचित कर्मत्व वाचक जो द्वितीयान्त उससे ठक् होने से समवेता युयुत्सव यहां धर्मक्षेत्रे कुक्षेत्रे में अधिकरणत्व विद्या से ससमी है ।

१५९४ परिपदो ण्यः ४।४।४४।

परिपद समवेति पारिपद्यः ।

समवेति अर्थ में द्वितीयान्त परिपद से ण्यप्रत्यय होता है । परिपद = समा । पारिपद्यः समा में प्रवेशार्थ नियमित उसका सदस्य । पारिपद्यः ।

१५९५ सेनाया वा ४।४।४५।

ण्यः स्यात् पक्षे ठक् । सैन्याः । सैनिकाः ।

समवेति अर्थ में द्वितीयान्त सेना शब्द से ण्यप्रत्यय होता है, पक्ष में ठक् भी होता है सैन्या । ण्यप्रत्यय पक्ष में ठक् है । सेना में प्रविष्ट होने वाले सैनिक ।

१५९६ संज्ञायां ललाटकुक्कुटौ पश्यति ४।४।४६।

ललाट पश्यति लालाटिकः सेयकः । कुक्कुटीराद्येन तत्पाताई स्वल्प-देशो लक्ष्यते । कौक्कुटिको भिक्षुः ।

देखता है इस अर्थ में द्वितीयान्त ललाट एव कुक्कुटी से ठक् प्रत्यय होता है । स्वामी के माऊ प्रदेश रूप ललाट को देखता है कार्य नहीं करता ऐसे सेवक को लालाटिक कहते हैं । यहाँ मूर्गी वाचक कुक्कुटी शब्द मुख्यार्थ को न कहता हुआ उसका पतन स्थान जो निवास का अधिकरण है अतीव अल्प = न्यून उसको लक्षणा से या अप्रसिद्ध शक्ति से बोधन करता है । तथैव अत्यन्त स्वल्प प्रदेश चरण विशेषार्थ देखता है, अर्थात् नेत्र व्यापार को सयमन पूर्वक संन्यासी देखता है । पादविशेषार्थप्रदेशपर्यन्तमेव चक्षुषा पश्यति । आधुनिक परिस्थिति उससे अविकाश विपरीत देखी जाती है । प्राचीन भारतीय धर्म व्यवस्था में स्वाम प्रधान सन्त जीवन का इतने चित्रण स्पष्ट होता है । चरणपातन दिखना भी अत्यावश्यक है अन्यथा उसकी भी कपेक्षा वे करते यह दिन जिस दिन पुनः उदित होगा तब भारतीय सन्त समाज उस समय अगदगुरुत्व के महत्त्व पद पर आसीन होगा । अन्यथा नहीं । गृहस्थों को मन्त्र दीक्षा देने का शास्त्र

अधिकार गृहस्थ सदाचारी ब्राह्मण को ही है" मेरे गुरुदेव विरचित वैदिक धर्म रहस्य को देखिए। संन्यासी केवल आत्मा का उद्धार मात्र ही करें। अन्य कार्य न करें। संन्यासी के लिए आपद्धर्म नहीं है।

१५९७ तस्य धर्म्यम् ४।४।४७।

आपणस्य धर्म्यम् आपणिकः ।

धर्म से युक्त को धर्म्य कहते हैं अनपेक्षित अर्थ में यत् धर्मादनपेक्षितं धर्म्यम् । धर्म्य अर्थ में पठ्यन्त से ठक् प्रत्यय होता है। आपणिकः ।

१५९८ अण् महिष्यादिभ्यः ४।४।४८।

महिष्या धर्म्यं माहिषम् । याजमानम् ।

धर्म्य अर्थ में पठ्यन्त महिषी आदि से अण् प्रत्यय होता है। यजमानस्य धर्म्यं याजमानम् । शब्दे इति यजमानः । यज् लट् शानच् शप् मुक् यागकर्ता ।

१५९९ ऋतोऽञ् ४।४।४९।

यातुर्धर्म्यं यात्रम् । ऋ नराच्चेति वक्तव्यम् । नरस्य धर्म्या नारी । ऋ विश-
सितुरिङ् लोपश्चाञ् च वक्तव्यः ऋ । विशमितु धर्म्यं वैशत्रम् । ऋ विभाजयितु-
णिलोपश्चाञ् च वक्तव्यः ऋ । वैभाजित्रम् ।

धर्म्य अर्थ में पठ्यन्त ऋकारान्त से अञ् प्रत्यय होता है। याति = याता तस्य धर्म्यं यात्रम् । पठ्यन्त नर से भी अञ् होता है। स्त्रीलिङ्ग में लोप् नारी पठ्यन्त विशसितु से इट् आगम का लोप पूर्वक अञ् प्रत्यय होता है। ण्यन्त विभाजयितु पठ्यन्त में णिलोप पूर्वक अञ् होता है—वैभाजिकम् ।

१६०० अवक्रयः ४।४।५० ।

पठान्ताट्ठक् स्याद् अवक्रयेऽर्थे । आपणस्यावक्रयः—आपणिकः । राज-
प्राह्वद्रव्यमवक्रयः ।

पठ्यन्त से ठक् होता है राजप्राह्वद्रव्यरूप अवक्रय अर्थ में । आपणस्य अवक्रयः आपणिकः = दुकानदार से आयरूप लाभ से इन्कम्म टैक्स प्राचीन समय से ही राजा के द्वारा नृहीत होता था । वर्तमानत् ।

१६०१ तदस्य पण्यम् ४।४।५१।

अपूपाः पण्यम् अस्य आपूषिकः ।

प्रथमान्त समर्थ से अस्य = इसका पण्य = विक्रय के लिए प्रकारित द्रव्य अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। मालपूर्वा विक्रये वस्तु है जिसका वह आपूषिकः । यहाँ प्रसारित का अर्थ स्थापित है ।

१६०२ लवणाट्ठञ्च ४।४।५२।

लावणिकः ।

प्रथमान्त लवण से 'अस्य पण्यम्' अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है, चकार से ठक् भी स्वरभेद मात्र है ।

१६०३ किसरादिभ्यः छन् ४।४।५३।

किसर पण्यम् अस्य किसरिक । बित्वान्कीप् । किसरिकी । किसर, उशीर, नलद इत्यादि किसरादयः । सर्वे सुगन्धिद्रव्यविशेषवाचिनः ।
'अस्य पण्यम्' अर्थ में प्रथमान्त किसरादि शब्दों में ठन् प्रत्यय होता है । विलक्षण से कीलङ्ग में लीप हुआ । वे सुगन्धि द्रव्य वाचक हैं । इत आदि में प्रयुक्त हैं ।

१६०४ शलालुनोजन्यतरस्याम् ४।४।५४।

ठन् स्यात् पक्षे ठक् । शलालुक् । शलालुकी । शलालुक । शलालुकी ।
शलालु — सुगन्धिद्रव्यविशेष ।

प्रथमात् त समर्थ शलालु से अस्य पण्यम् अर्थ में ठन् एक पक्ष में ठक् होना है । ठ को कादेश यहाँ हुआ है इकादेश को वाचक । विल प्रयुक्त कीलङ्ग में लीप् यह भी सुगन्धि द्रव्यार्थक है ।

१६०५ शिल्पम् ४।४।५५।

मृदङ्गबादन शिल्पमस्य मार्दङ्गिक ।
अभ्यासपूर्व क्रियासु कौशलम् = शिष्यम् । प्रथमान्त से अस्य शिल्प अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । मृदङ्ग को बजाने का शिष्ययुक्त । नैगविक = वस्तुनिमित्त वशी को बनाने का अभ्यास में निपुण के तूपाङ्ग है ।

१६०६ मङ्हुकसर्शरादन्यतरस्याम् ४।४।५६।

मङ्हुकबादन शिल्पमस्य मार्दङ्गिक । मङ्हुकिक । मार्मरः । मार्मरिक ।
प्रथमान्त मङ्हुक एक सर्शर से 'अस्य पण्यम्' अर्थ में अण विकल्प से होता है । पक्ष में ठक् प्रत्यय होता है ।

१६०७ प्रहरणम् ४।४।५७।

तदस्येत्येष । असि प्रहरणम् अस्य आसिक = धानुष्कः ।
प्रथमात् से प्रहरण साधन अर्थ में ठक् प्रत्यय अस्य बहुवचने में होता है । प्रहरण शब्द करण ल्युटन्त है । आसिक — लठवार है प्रहरण का करण = साधन जिसका ऐसा प्रवृत्ति । वतु प्रहरण मस्य धानुष्क यहाँ कादेश है आदि वृद्धादि । 'इग व' से वकारादेश हुआ ।

१६०८ परश्वधाट्ठञ्च ४।४।५८।

पारश्वधिक ।
प्रथमान्त परश्व से अस्य प्रहरण अर्थ में ठन् प्रत्यय होता है, वकार से ठक् । परश्व प्रहरणमस्य पारश्वधिक ।

१६०९ शक्तियष्टयोरीकक् ४।४।५९।

शाक्तीक । याष्टीक ।
प्रथमान्त शक्ति शब्द एक यष्टि शब्द से अस्य प्रहरण अर्थ में ईक् प्रत्यय होता है । शक्ति = गदा का प्रहरणम् = प्रहार का करण अर्थात् साधन अर्थ में शाक्तिक । यष्टि = लुगुड = लाठी प्रहरण साधन युक्त याष्टीक ।

१६१० अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः ४।४।६०।

तदस्येत्येव । अस्ति परलोक इत्येवं मति र्यस्य च आस्तिकः । 'नास्ति'
इति मति र्यस्य स नास्तिकः । दिष्टं मति र्यस्य स दैष्टिकः ।

वृत्तिविषय में स्वविषयमति अर्थ लक्षणा से बोधक अस्ति आदि से प्रथमा है, सप्तम्यर्थ में प्रत्यय । पर लोक यह तो शब्द शक्ति स्वभावतः लब्ध है दिष्ट शब्द दैव = भाग्य पर्यायायक है । काल वाचक पुष्टि नहीं है । दैवं दिष्ट यह कोश है । परलोक विषयक प्रज्ञावान् आस्तिकः । परलोक विषयक प्रज्ञाऽभाववान् को नास्तिकः कहते हैं । गुर्जर प्रान्ताद्भव उदीच्य सद्दक्ष ब्राह्मण सत्यार्थ प्रकाशक टक्काराभिजन पण्डितेन्द्र श्री दयानन्द सरस्वती ने 'नास्तिको वेद-निन्दकः' यह लिखा है, जन्मान्तर कृतकर्म से सम्पादित भाग्याधीन सुख दुःख की अनुभूति होती है । दिष्टन् = दैवम् = भाग्यम् तत्र मतिः दैष्टिकः । अगति मति अर्थ में यदि प्रत्यय करेंगे तो चौर में भी मति है आस्तिकः चौरः यह प्रयोग होगा । एवं गति रक्षित अचेतन में नास्तिक प्रयोग होगा अतः परलोक घटित व्याख्या की गई ।

१६११ शीलम् ४।४।६१।

अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः ।

इसका स्वभाव अर्थ में प्रथमान्त से ठक् प्रत्यय होता है । शीलम् = स्वभावः । महाभारत में शील प्रकरण की व्याख्या भीष्मपितामह ने पाण्डवों के उत्कर्ष वर्णन में दुर्योधन से कही है । "शीलवान् भव त्वन्" स्वभावकाशान अधिक सद्वासादि से होता है 'शीलं कालेन विधेयम् । प्राचीन भारत में पूजा मिथानों में सर्वश्रेष्ठ माना जागा था । आपूपिकः । समाज व्यवस्था आदि के धोतक उदाहरण होते हैं । स्वकर्मकमक्षण में अपूप शब्द यहाँ लक्षणिक है ।

१६१२ छत्रादिभ्यो णः ४।४।६२।

गुरोर्दोषाणामावरणं छत्रं तच्छीलमस्य छात्रः ।

प्रथमान्त छत्र आदि से 'अस्य शीलम्' अर्थ में ण प्रत्यय होता है । छद्धातु से घनप्रत्यय है दकार को तकार है अतः छत्र इस प्रकार लिखना चाहिये जो लोग छत्र लिखते हैं वे असाधु शब्द लेखनप्रयुक्त प्रत्यवायमागी होंगे । इसी प्रकार पतति पत्यन् । गुरुगत दोषों का आच्छादक छत्र वह स्वभावयुक्त अर्थ में छात्रः ।

विमर्श—वस्तुतः यह अर्थ असङ्गत है, दोषयुक्त गुरु से अध्ययन निषिद्ध है । एवं दोषों का आच्छादनकर्ता भी दोषमागी होता है । अतः यहाँ छत्र = छाता तत्सदृश में भी छत्रत्वारीय है जिस प्रकार छत्र आतपादि से स्वस्वामी की रक्षा करता है तथैव छत्र समान अन्तेवासी है गुरु छत्र समान विद्यार्थी की सुरक्षा करते हैं यहाँ पाल्यपालकभावरूप सम्बन्ध दोनों का है । छत्रन् आतपादिना स्वस्वामिनं रक्षति, स्वामी च छत्रवत् तस्यापि सुरक्षां करोति यह भाष्यादित्त-स्मवित् श्रीपञ्चोलिमत है ।

१६१३ कर्मस्ताच्छील्ये ६।४।१७२।

कर्म इति ताच्छील्ये णे टिलोपो निपात्यते । कर्मशीलः = कर्मः । 'नस्तद्धिते' इत्येव सिद्धे अण् कार्यं ताच्छीलिके णेऽपि । तेन चोरी तापसी इत्यादि सिद्धम् ।

प्रथमान्त कर्मन् से अत्थ शील अर्थ में णप्रत्यय होता है एव टिलोप का निपातन होता है ।

विमर्श—यदा शङ्का करते हैं कि जो कार्य सृष्टादि से प्राप्त न रहें उनका ही निपातन करना चाहिये यदा तो कर्मन् ण से आदि वृद्धि कर 'नस्तदिते' से अन् का टिलोप प्राप्त ही है पुन टिलोप निपातन से क्यों किया ? समाधान—वह टिलोप का निपातन स्थ होकर शापन करता है कि ताच्छील्य अर्थ में विहित णप्रत्यय अणवत् = अणसदृश होता है अर्थात् अण् पर में रहते जो कार्य होना है वह कार्य णकार प्रत्यय पर में रहते प्रकृति को वा प्रकृति के अवयव को करना, 'अन्' सूत्र से अण पर में रहते प्रकृतिभाव से 'नस्तदिते' का शाप है वह अन् यदा प्रवृत्त होकर टिलाप न होने देगा अतः टिलोप विधान साधक है शापन का फल नुरा शीलमस्य यदा णप्रत्यय अण वत् से लोप् 'टिट्ठ' से हुआ चौरौ एव सापसौ शाप्यन्वन में ताच्छील्य कहने से दाण्डा में प्रहरणार्थक णप्रत्यय अणवत् न हुआ टाप हुआ दण्ड प्रहरण वर्त्या कियाया भा दाण्डा किया ।

कार्मण में ताच्छील्यार्थक न होने स टिलोपामाव हुआ है ।

१६१४ कर्माध्ययने वृत्तम् ४।४।६३।

प्रथमान्तात् यद्यर्थे ठक् स्यादध्ययने वृत्ता या क्रिया सा चेत्प्रथमान्त न्तस्यार्थ । ऐकान्यिक । यम्याध्ययने प्रवृत्तस्य परीक्षाकाले विपरीतोच्चारण रूप स्थलितमेक जात स ।

अध्ययन में जो कर्म = क्रिया निष्पन्न हो वह यदि प्रथमान्ताव रहे तो षष्ठ्यर्थ में प्रथमात् से ।य होता है । यथा—अध्ययन में प्रवृत्त जिस को परीक्षाकाल में विपरीत उच्चारणरूप एक स्मरित गलती हुए उसको ऐकान्यिक कहते हैं इस वदाहरण से प्राचीनकाल में छात्रगण विषय का अध्ययन पूर्ण रूप से करते थे एक उनकी मौखिक परीक्षा भी होती थी । वर्तमान युग में परीक्षा एव छात्रों की मनोवृत्ति का वर्णन असामयिक यहाँ है, परिस्थिति प्रत्यक्षगण ही है । सम्प्रति परीक्षा निरीक्ष को पर प्राणवातक प्रहार परीक्ष्य कुछ छात्रों द्वारा अनेक स्थलों में होते हैं यह निम्न काय है ।

१६१५ बहुचूर्णपूर्वपदाट्ठम् ४।४।६४।

प्राग्विषये । द्वादशान्यानि कर्माण्यध्ययने वृत्तान्यस्य द्वादशान्यिक । ॥
दश अपपाठा अस्य जाता इत्यर्थ ।

पूर्व मूत्र में वर्णिन अर्थ में बहुत स्वरों से युक्त पूर्वपदक प्रथमान्त पद से ठन् प्रत्यय होना है । परीक्षाकाल में भारह गलती करनेवाला छात्र द्वादशान्यिक ।

१६१६ हितं भव्याः ४।४।६५।

अपूपमक्षण हितम् अस्मै आपूपिक ।

प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से अस्मै इनक निप हितन् = उपकारकम् अर्थ में ठकप्रत्यय होना । यथा आपूपिक ।

१६१७ तदस्मै दीयते नियुक्तम् ४।४।६६।

अप्रमोजन नियत दीयते अस्मै आप्रमात्रनिक ।

प्रथमान्त प्रातिपदिक से इस को उद्देश्य कर नियमित रूप से मोन्द पदार्थ दिये जाते हैं स अर्थ में 'अस्मै दीयते नियुक्तम्' में ठक् प्रत्यय होता है प्राचीन भारत में यह प्रथा थी कि

पूज्य एवं अवस्था कृत वृद्धजनों को प्रथम भोजन कराया जाता था, अभी भी उच्च कुली में यह प्रथा सुरक्षित है। आप्रभोजनिकः।

१६१८ श्राणामांसोदनाट् टिठन् ४।४।६७।

श्राणा नियुक्तं दीयतेऽस्मै श्राणिकः। श्राणिकी। मांसोदनग्रहणं सद्वात-
विगृहीतार्थम्। मांसोदनिकः। मांसिकः। औदनिकः।

नियम से उसको उद्देश्य कर दिया जाय इस अर्थ में प्रथमान्त श्राणा से मांसोदन से, मांस से ओदन से टिठन् प्रत्यय होता है। ओदन में ठक् प्रत्यय करते तो वृद्धि होती टिठन् से वृद्धि न हुई इससे सिद्ध हुआ कि विगृहीत का भी यहाँ ग्रहण है। अन्यत्र ओदन को छोड़कर सभी वृद्धिमत आदि अच्युक्त ही है। माजी श्राणा यह प्रयोग प्रथम आ चुका है।

१६१९ भक्तादणन्यतरस्याम् ४।४।६८।

पक्षे ठक्। भक्तमस्मै नियतं दीयते भक्तः। भक्तिकः।

भक्त = सिद्धान्त ओदन अर्थ में भक्त का प्रयोग है मज् धातु से कर्म में क्तः। हैमकोप में 'भक्त-
मन्नेतत्परे च' है।

१६२० तत्र नियुक्तः ४।४।६९।

आकरे नियुक्त आकरिकः।

सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से नियुक्त अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। नियत को नियुक्त कहते हैं। स्वानुष्ठेय क्रिया व्यापक दान कर्म को नियुक्त कहते हैं। जहाँ जहाँ भृत्यादि द्वारा अनुष्ठान क्रिया है वहाँ वहाँ स्वामि द्वारा दान कर्मत्व है यह व्याप्ति बनाकर यहाँ दान करना चाहिये। आकर रक्षार्थ पुरुष को उद्देश्य कर उसको वेतनादि रूप पारितोषिक राजप्रदत्त नियमित प्राप्त होता है अतः दीयते का यहाँ सम्बन्ध पूर्ववत् है। अथवा केवल नियोजन अर्थ में प्रत्यय होता है। यहाँ दीयते का सम्बन्ध नहीं है यह भी पक्ष है।

१६२१ अगारान्ताट् ठन् ४।४।७०।

देवागारे नियुक्तो देवागारिकः।

अगार शब्द अन्त में रहते सप्तम्यन्त से नियुक्त अर्थ में ठन् प्रत्यय होता है। देव मन्दिर में नियुक्त पुरुष को स्वकार्य सम्पादन हेतु दान क्रिया कर्म वेतनादि की प्राप्ति है वहाँ देवागारिकः। नियोजन क्रिया कर्ता स्वामी नियुक्त भृत्यादि नियोजनरूपा क्रिया इन तीनों का मान होता है। नियुक्त का अधिकृत अर्थ है। खनि को आकर कहते हैं। यहाँ दीयते का सम्बन्ध नहीं है तो अधिकृत मात्र अर्थ रखना चाहिये।

१६२२ अध्यायिन्यदेशकालात् ४।४।७१।

निषिद्धदेशकालवाचकाट्ठक् स्यादध्येतरि। श्मशानेऽधीते श्माशानिकः।
चतुर्दश्यामधीते चातुर्दशिकः।

अध्ययन क्रिया कर्ता को अध्यायिनी कहते हैं वहाँ सप्तम्यन्त निषिद्ध देश या काल वाचक जो शब्द उससे ठक् प्रत्यय होता है। नृत दाह स्थानरूप श्मशान अपवित्र स्थान होने से वहाँ अध्ययन निषिद्ध है वहाँ अध्ययन क्रिया कर्ता अर्थ में ठक् से श्माशानिकः हुआ है। पर्व में अध्ययन निषिद्ध है चतुर्दशी पर्व काल में अध्ययता को चातुर्दशिकः।

१६२३ कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ४।४।७२।

तत्रेत्येव । वशकठिने व्यवहरति वाशकठिनिक । वशा = वेणवः कठिना यस्मिन् देशे स वशकठिनस्त्वस्मिन् देशे या क्रिया यथानुष्ठेया ता तथैवानुति-
प्रातीत्यर्थः । प्रास्तारिक । सास्थानिक ।

कठिन शब्दान्त जो सप्तम्यन्त प्रातिपदिक उससे एव सप्तम्यन्त प्रस्तार एव संस्थान में व्यवहरति अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । जिस प्रदेश में कठिन वश = वेणु है उस प्रदेश में जो क्रिया जिस प्रकार अनुष्ठित होनी उचित है उसको जो उसी प्रकार अनुष्ठित करें उसको 'वाश-
कठिनिक' कहते हैं । सत्रिवेश के पर्यायार्थक संस्थान प्रस्तार शब्द यहाँ है । प्रस्तार में प्रपूर्वक स्तु भातु से अवयव में वम् प्रत्यय है—प्रेक्षोऽवयवे इ इति । विछुण अवयव सम्बन्ध के सत्रिवेश कहते हैं वहाँ कार्य असम्भव है अतः प्रस्तारयुक्त संस्थानयुक्त का लक्षणा । ग्रहण करना । अथवा अधिकरण प्रत्ययान्त वे दोनों हैं । प्रस्तारे व्यवहरति प्रास्तारिक । संस्थाने व्यवहरति सास्थानिक ।

१६२४ निकटे वसति ४।४।७३।

नैकटिको भिक्षु ।

वास करता है इस अर्थ में सप्तम्यन्त निकट शब्द से ठक् प्रत्यय होता है । भिक्षु, विरक्त, त्यागी सम्बात्तो, प्रायः वे शब्द समानार्थ हैं । जनसमूह ग्राम या महाजन समूह नगर में वे वास न कर नगरादि के समीप अरण्य में वास करते थे प्राचीन भारत में केवल भिक्षा ग्रहणार्थ नगर या ग्राम में प्रवेश करते थे 'अस्ति जनससदि' यह कम था । नैकटिको भिक्षु । ग्राम । एक कौश भिक्षु को दूर रहना चाहिए किन्तु छात्र का अनादरकर निकट में रहता है यह भिक्षु में ही नैकटिक होता है । इसमें वृत्ति घन्य भी प्रमाण है ।

१६२५ अवसथात् प्लु ४।४।७४।

आवसथे वसति आवसथिक । पितृवान्वाप् आवसथिकी ।

'आकर्षात्पर्षादेर्मन्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च ।

आवसथात् किसरादे पित वडेते ठगधिकारे ॥"

पङ्क्ति पट्सूत्रेण विहितः इत्यर्थः, प्रत्ययास्तु सप्त ।

इति ठकोऽवधि समाप्तः ।

वसति अर्थ में सप्तम्यन्त आवसथ से प्लु प्रत्यय होता है । आवसथि यत्र इति आवसथ' उपसर्ग वने' से अवपूर्वक निवासार्थक वस अथ प्रत्यय से हुआ है, स्थिति का आधारभूत स्थान यह अर्थ है उस स्थान में निवास करने वाला को आवसाधिक कहते हैं । प्रत्यय में लकार स्वार्थ है स्त्रीलिङ्ग में पितृ से लोप् है । ठक् के अधिकार के मध्य में १ 'आकर्षात् प्लु' २ 'पर्षादिभ्यः प्लु', ३ 'नृकादिभ्यः प्लु' ४ 'कुसीदसूत्राच्च' ५ 'किसरादे प्लु' ६ 'आवसथात् प्लु' के छः सूत्रों से विहित सात प्रत्यय पितृ है । मुद्रणादि दोष में भ्रम निवृत्ति के शिष्ट स्पष्ट शानार्थ यह यत्न किया गया ।

५० श्री वा कृ पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में ठक् की अवधि समाप्त



अथ प्राग्धित्तीयप्रकरणम्

१६२६ प्राग्धिताद्यत् ४।४।७५।

तस्मै हितमित्यतः प्राग् यदधिक्रियते ।

‘तस्मै हितम्’ सूत्र के पूर्व तक यत् का अधिकार है । उत्तरोत्तर नूत्रो में यत् का सम्बन्ध होता है इस प्रकरण में विशेष विधीयमान प्रत्यय यत् के वाधक होंगे वहां यत् नहीं होता है ।

१६२७ तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् ४।४।७६।

रथं वहति रथ्यः । युग्यः । चत्सानां दमनकाले स्कन्धे काष्ठमासज्यते स प्रासङ्गस्तं वहति प्रासङ्ग्यः ।

द्वितीयान्त रथ, युग, प्रासङ्ग से वहन करता है इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । तकार तित्स्व-रायं है तित्स्वरितम् । रथ को वहन कर्ता वह रथ्यः है । यस्येति च से अकारलोप । युगं रथानं वहति युग्यः । प्रासङ्ग्यः । वरसों को दमन काल में उनके कंधारूप स्थान में जो काष्ठ रक्खा जाना है उसको प्रासङ्ग कहते हैं ।

१६२८ धुरो यड्ढकौ ६।६।७७।

हलि चेति दीर्घे प्राप्ते—

द्वितीयान्त धुर् शब्द से वहति इस अर्थ में यत् एवं ढक् प्रत्यय होता है । हलि च से दीर्घ जो प्राप्त है उसके निवारणार्थं वक्ष्यमाण सूत्र है—

१६२९ न भकुर्धुराम् ८।२।७९।

भस्य कुर्धुरोश्चोपधाया दीर्घो न स्यात् । धुर्यः । धौरेयः ।

भस्यशक जो शब्द, एवं कुर एवं धुर् इनको जा उपधा उसका दाघं नहीं होता है । धुरीं धातु से ‘भ्राजमास’ सूत्र से किर, ‘राह्योप’ से वकारलोप से धुर् शब्द है । धुर् वहति धुर्यः यहां हलि च से प्राप्त दीर्घ का निषेध से धुर्यः । ढक् में ढ को एयादेश आदि वृद्धि धौरेयः ।

१६३० खः सर्वधुरात् ४।४।७८।

सर्वधुरां वहतीति सर्वधुरीणः ।

पूर्वकालैक से समास ‘ऋक्पूः’ से ममासान् अ प्रत्यय है । द्वितीयान्त सर्वधुरा से खप्रत्यय वहति अर्थ में होता है । सर्वधुरां वहति सर्वधुरीणः ।

१६३१ एकधुराल्लुकू च ४।४।७९।

एकधुरां वहति एकधुरीणः । एकधुरः ।

सर्वणदीर्घ के प्रथम टाप् का लुकू ‘अन्तरङ्गान् अपि’ परिभाषा से । द्वितीयान्त एकधुरा शब्द से वहति इस अर्थ में खप्रत्यय होता है एवं उसका लुकू विकल्प से होता है ।

१६३२ शकटादण् ४।४।८०।

शकट वहति शाकटो गौ ।

द्वितीयान्त शकट शब्द से वहति अर्थ में गण् प्रत्यय होता है ।

१६३३ हलसीराट् ठक् ४।४।८१।

हल वहति हालिक । सौरिक ।

द्वितीयान्त हल पर सीर जनसे ठक प्रत्यय होता है । हल वहति हालिक । सौरिक । गोदारण अ सीर । सीर रयादशमानिनी । 'लाङ्ले' इति हिम । हल की सहा है ।

१६३४ संज्ञायां जन्या ४।४।८२।

जनी. = बधूस्ता वहति = प्रापयति जन्या ।

सहा में द्वितीयान्त जनी से वहति अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । जन्या = मातृव्यस्या । नवीन-विवाहित बधू की के दान के वाहन को वहन करने वाली । 'जन्या स्निग्धवरस्ये' कोष है । विश्वकाश में 'अ-यो वरवधूशानिप्रियभृत्यहितेषु च' । परणिकोशकार का मत जननी जनयित्रीश्च जन्य निर्वादिदुहयो । माध्यमत में जननी को जनीमात्र पर यत् प्रत्यय है । उसका खण्डन कर जन् धातु से हण प्रत्यय कृदिकाराय स लोप् जनी तां वहति जन्या । यह योगरूढ है, पङ्कजवद ।

१६३५ विध्यत्यधनुषा ४।४।८३।

द्वितीयान्ताद् विध्यतीत्यर्थे यत् स्यान् न चेत् तत्र धनु करणम् । पादौ विध्यन्ति = पद्या शर्करा ।

धनुस् करण न होने पर द्वितीयान्त से विध्यति अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । कर्ण पाद = चरणों में चलने में कह देते हैं । -यध तादने का विध्यति रूप है । यहाँ धनुस् करण मात्र का उपलक्षण है चोरो विध्यति खड्गेन यदां भी न हुआ । 'चोर विध्यति' का अनभिधान है ।

१६३६ धनगणं लब्धा ४।४।८४।

तृन्तमेतत् । धन लब्धा धन्य । गण लब्धा गण्य ।

लाम करने वाला अर्थ में द्वितीयान्त धन पर गण से यत्प्रत्यय होता है । धन की प्राप्त करने वाला 'धन्य' है । गण की प्राप्त करने वाला गण्य है । लब्धा कृदन्त है कर्म को तदयोग में षष्ठी न हुई 'न लोकाव्यय से षष्ठी का निषेध हुआ ।

१६३७ अन्नाणः ४।४।८५।

धन्न लब्धा आन्न ।

द्वितीयान्त अ न से लब्धा अर्थ में णप्रत्यय होता है । अन्न की प्राप्त करनेवाला आन्न ।

१६३८ वशं गतः ४।४।८६।

वश्य परेच्छानुचारी ।

'गत' अर्थ में द्वितीयान्तवश से यत् प्रत्यय आता है । वश्य = दूसरे की इच्छानुसार आचरण करने वाला = परतन्त्र ।

१६३९ पदमस्मिन् दृश्यम् ४।४।८७।

पद्यः = कर्दमः । नातिशुष्क इत्यर्थः ।

अस्मिन् दृश्य इति अर्थ में द्वितीयान्त पद से यत् प्रत्यय होता है । गिरे कीच में पैर दीख पड़ता है उसको पद्यः कहते हैं ।

पद्यः = पदम् अस्मिन् दृश्यम् । अनतिशुष्कः कर्दमः ।

१६४० मूलमस्यावर्हि ४।४।८८।

आवर्हणमावर्हः = उत्पादनं तदस्यास्तीत्यावर्हि मूलमावर्हि येषान्ते मूल्या मुदगाः ।

प्रथमान्त आवर्हि उपाधिक मूल शब्द के उत्तर अन्त्य पष्ठवर्ध में यत् प्रत्यय होता है । आवर्हः का अर्थ है उत्पादन, उत्पादन युक्त को आवर्हि कहते हैं । मूलम् आवर्हि येषान्ते मूल्या मुदगाः ।

१६४१ संज्ञायां धेनुष्या ४।४।८९।

धेनुशब्दस्य पुगागमो यप्रत्ययश्च स्वार्थे निपात्यते संज्ञायाम् ।

‘धेनुष्या वन्धके स्थिता संज्ञा में धेनुशब्द को पुक् आगम होता है एवं स्वार्थ में यप्रत्यय होता है । किसी से किसी ने कर्ज लिया है । कर्ज देने वाला उत्तमर्ण है उसको कर्ज या ऋण लेने वाले ने अपनी गायको दोहने के लिए उसे दौं वह धेनु धेनुष्या है ।

१६४२ गृहपतिना संयुक्ते व्यः ४।४।९०।

गृहपतिः = यजमानस्तेन संयुक्तो गार्हपत्योऽग्निः ।

तृतीयान्त गृहपति शब्द से संयुक्त अर्थ में व्यः प्रत्यय होता है । गृहपति का यहां अर्थ यजमान है ।

१६४३ नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्या-
नाम्यसमसमितसम्मितेषु ४।४।९१।

नावा तार्यं नाव्यम् । वयसा तुल्यो वयस्यः । धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् । विषेण वध्यो विष्यः । मूलेन आनाम्यं मूल्यम् । मूलेन समो मूल्यः । सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम् । तुलया सम्मितं तुल्यम् ।

तृतीयान्त नौ आदि शब्दों से पर तार्यादि अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । अर्थात् नौ से तार्य अर्थ में यत् नौका द्वारों पार करने योग्य जल नाव्यम् । ‘वान्त्तो यि’ से आव् आदेश । वयस् से तुल्य अर्थ में यत् वयस्यः = मित्रम् । धर्म से प्राप्य अर्थ में धर्म से प्राप्त करने योग्य कार्य या राज्य धर्म्यम् । विष से नाश करने योग्य शत्रु विष्यः यहां वध्य अर्थ में यत् । मूल से आनाम्यम् जड़ से नमाने योग्य मूल्यम् । मूलेन समः = तुल्यो मूल्यः । इल के अग्रभाग को सीता कहते हैं सीतया समितम् = समानकृतम् सीत्यं क्षेत्रम् । तुला = तराजू उस से तुल्य तुल्यम् ।

१६४४ धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ४।४।९२।

धर्मादनपेतं धर्म्यम् । पथ्यम् । अर्थ्यम् । न्याय्यम् ।

अपेत = रहित अनपेत = युक्त । अनपेत अर्थ में पञ्चम्यन्त धर्म पथिन्, अर्थ, न्याय इनसे यत् प्रत्यय होता है । धर्म से युक्त अर्थ में धर्म्यम् आदि ।

१६४५ छन्दसो निर्मिते ४।४।९३।

छन्दसा निर्मितं छन्दस्यम् । इच्छया कृतमित्यर्थः ।

निमित्त अर्थ में तृतीयान्त छन्दस् से बर होना है स्वेच्छा से कृत कार्य को छन्दस्य कहते हैं ।

१६४६ उरसोऽण् च ४।४।९४।

चाद् यत् । उरसा निमित्तः पुत्र औरसः । उरस्यः ।

निमित्त अर्थ में तृतीयान्त समर्थ उरस् से अण् प्रत्यय होता है, पञ्च में बर ।

१६४७ हृदयस्य प्रियः ४।४।९५।

इथो वेशः । हृदयस्य हृल्लेखेति हृदादेशः ।

प्रिय अर्थ में वृषयन्त समर्थ हृदय से बर प्रत्यय होता है । हृदय को प्रिय वेश को हृय कहते हैं । यद्वा यद् हृदय को हृदादेशः ।

१६४८ घन्धने चर्पो ४।४।९६।

हृदयशब्दात् पठ्यन्ताद् घन्धने यत् स्याद् वेदेऽभिधेये ।

हृदय को बदीवरण करने वाला मन्त्र को 'हृय' कहते हैं ।

१६४९ मतजनहलात् करणजल्पकर्पेषु ४।४।९७।

मत्तं ज्ञानं तस्य करणं भावः साधनं वा मत्स्यम् । जनस्य जल्पो जन्यः । हलस्य कर्पो हल्यः ।

करण, जल्प कर्ष अर्थ में क्रम में वृषयन्त मत जन हल से बर प्रत्यय होता है । मनु अव-
बोधन से कप्रत्यय नकारका लोप से मतम् = ज्ञानम्, तस्य करणम् = भावः साधनम् इस अर्थ
में मत + य अकार लोप मत्वम् । ज्ञान का साधन । जन्यः । हल्यः ।

१६५० तत्र साधुः ४।४।९८।

अत्र साधुः—अभ्य । सामसु साधुः सामन्यः । ये चाभावकर्मणोरिति प्रकृतिभावः । कर्मण्यः । शरण्यः ।

साधु इस अर्थ में सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से बर होता है । सामन्यः । कर्मण्यः में ये चाभाव-
कर्मणो से प्रकृतिभाव प्रयुक्त दिशेष का अभाव है ।

१६५१ प्रतिजनादिभ्यः खञ् ४।४।९९।

प्रतिजनं साधुः प्रातिजनीनः । संयुगीनः । सार्वजनीनः । वैश्वजनीनः ।

साधु अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ प्रतिजनादि से खञ् प्रत्यय होता है । जनं प्रतिजनम् तत्र
साधु प्रातिजनीनः । संयुगे साधुः सर्वजने साधुः । विश्वजने साधुः यद्वा खञ् प्रत्यय करना ।

१६५२ भक्ताणः ४।४।१००।

भक्ते साधवो भक्ताः = शालयः ।

सप्तम्य भक्त से साधु अर्थ में णप्रत्यय होता है । भक्ते साधवः भाक्ताः शालयः ।

१६५३ परिपदो ण्यः ४।४।१०१।

पारिपद्यः । परिपद इति योगविभागाणोऽपि । पारिपदः ।

सप्तम्यन्त परिपद् से पर साधु अर्थ में ण्य प्रत्यय होता है । परिपदि साधुः पारिपद्यः । 'परिपदः' यह पृथक् सूत्र कर उसमें पूर्व सूत्र से ण की अनुवृत्ति कर पारिपदः । 'ण्यः' इस विभक्त योग में परिपदः की अनुवृत्ति क ण्यप्रत्यय से पारिपद्यः ।

१६५४ कथादिभ्यष्टक् ४।४।१०२।

कथायां साधुः काथिकः ।

सप्तम्यन्त कथादि शब्दों से साधु अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है । कथायां साधुः काथिकः ।

१६५५ गुडादिभ्यष्टक् ४।४।१०३।

गुडे साधु गौडिक इक्षुः । साक्तुको यवः ।

समर्थ सप्तम्यन्त गुट आदि से साधु अर्थ में टक् होता है । ऊख गुट के लिए साधु अर्थ में गुड से टक् गौडिकः । सक्तु में साधु टक् क आदेश साक्तुकः यवः ।

१६५६ पथ्यतिथिर्वसतिस्वपते ढञ् ४।४।१०४।

पथि साधु पायेयम् । आतिथेयम् । वसनम् = वसति स्तत्र साधु वासितेयी रात्रिः । स्वापतेयं धनम् ।

सप्तम्यन्त पथिन्, अतिथि, वसति इनसे साधु अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है । यात्रार्थ गमन में मार्ग के उपकारक खाद्यादि वस्तु को पायेय कहते हैं । जिसके आने की प्रथम सूचना न दो एवं अचानक आये हुए अभ्यागत को अतिथि कहने हैं उसमें उचित सत्कारार्थ कर्म आतिथेयम् । वस धातु से तिप् शप् प्रत्यय से वसति तत्र साधु वासितेयी निवास में साधु रात्रिः । स्वपथ = धनस्य पतिः स्वामी स्वपति आद्व्य को कहते हैं । आद्व्य से साधु में स्वापतेयम् = धनम् ।

१६५७ सभाया यः ४।४।१०५।

सभ्यः ।

साधु अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ सभा शब्द से यप्रत्यय होना है । सभायां साधुः सभ्याः ।

१६५८ समानतीर्थे वासी ४।४।१०७।

साधुरिति निवृत्तम् । वसतीति वासी । समाने तीर्थे = गुरो वसतीति सतीर्थ्यः ।

यहाँ से साधु की निवृत्ति हुई । वासी = निवासकर्ता इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ समानतीर्थ से यट् प्रत्यय होता है । समान को स आदेश । एक गुरु से अध्ययनार्थ गुरु कुल में साधु निवास करने वाला छात्र परस्पर सतीर्थ्य कह जाते हैं । प्राचीन छात्रों का सम्मेलन शिक्षण संस्था में होता है वह सतीर्थ्य सम्मेलन भी कहते हैं भूतपूर्व गति से सद्वासी की कल्पना । तीर्थ शब्द अनेकार्थक है—शास्त्र, यश, क्षेत्र, उपाय, गुरु, मन्त्री, योनि घाट = जलावतार ।

१६५९ समानोदरे शयित ओ चोदात्तः ४।४।१०८।

समाने उदरे शयितः = स्थितः = समानोदर्यो भ्राता ।

शयित = शयनकिया इस कर्म अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ समानोदर से पर यत् प्रत्यय होता है ।
एक माता के उदर में स्थित भ्राता में समानोदर्य व्यवहार होता है । नैमात्रिय भ्राता में नहीं ।

१६६० सोदराद्यः ४।४।१०९।

सोदर्यः । अर्थः प्राग्वत् ।

प्राग्वितीयप्रत्ययसमाप्ताः ।

सप्तम्यन्त समर्थ सोदर से समानोदरशयित अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । सोदर्यः—
एकमातृ को भ्राता । चतुर्थाध्याय समाप्त है । पञ्चम्याध्याय का प्रारम्भ हो रहा है ।

पं. ग्री. वा कु पञ्चोष्ठि विरचिन रत्नप्रभा में प्राग्वितीय प्रकरण समाप्त ।



अथ छयदधिकारप्रकरणम्

१६६१ प्राक् क्रीताच्छः ५।१।१।

‘तेन क्रीतम्’ इत्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते ।

तेन क्रीतम् सूत्र के पूर्व तक जिन-जिन सूत्रों में प्रत्यय निर्दिष्ट नहीं है एवं केवल अर्थ का ही निर्दिष्ट है उन-उन सूत्रों में छ प्रत्यय की इससे उपस्थिति होती है । विशेष प्रत्यय छ को बाधते हैं अतः वहाँ छ प्रत्यय नहीं होता है । निरवकाशमूलक वाच स्थल में उत्सर्ग का विधेय नहीं होता है । यहाँ अर्थाधिकार है अतः अवधि एवं अवधिमान का साजात्य से यह अधिकार अर्थ बोधक पद घटित शास्त्र में ही जायगा । अन्यथा नहीं ।

१६६२ उगवादिभ्यो यत् ५।१।२।

प्राक् क्रीतादित्येव । उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात् । छस्यापवादः ।
 ॐ नाभि नभश्च ॐ । नभ्योऽक्षः । नभ्यम्=अञ्जनम् । रथनाभावेवेदम् । शूनः
 सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम् (ग) । शून्यम् । शुन्यन् । ऊधसोऽनङ् च । ऊधन्यः ।

तेन क्रीतम् से पूर्व अर्थों में समर्थ चतुर्थ्यन्त उवर्णान् एव गवादि से छ प्रत्यय को बाधकर यत् प्रत्यय होता है । नाभि शब्द से य प्रत्यय होता है एवं नाभि को नम आदेश होता है । नभ्योऽक्षः । रथ के चिह्नद्रयुक्त चक्र को नाभि कह कहते । काष्ठ विशेष न्य अक्ष तदनुगुण होने से नाभि के लिए दित प्रद है । नभ्यन्=अञ्जनम् । यहाँ तैलान्यह को अञ्जन जानना चाहिये । यह भी जलीयांश से संमिश्रित होने के कारण तैल स्नेह गुण युक्त होने से नाभि के लिए दितकर है । रथ की नाभि में ही इस विधान की प्रवृत्ति होती है शरीरावयव में नाभ्यन् । यत् । श्वन् से यत् प्रत्यय होता है, एवं सम्प्रसारण होता है । तथा सम्प्रसारण को दीर्घ वैकल्पिक होता है । ऊधस् से यत् प्रत्यय एवं ऊधस् को अनङ् आदेश अन्य को होता है, ऊधन्यः यहाँ ‘ये चामाव-कर्मणोः’ से प्रकृतिभाव होता है । अतः टिलोप न हुआ ।

१६६३ कम्बलाच्च संज्ञायाम् ५।१।३।

यत् स्यात् । कम्बल्यम्=ऊर्णापलशतम् । संज्ञायां किम्, कम्बलोया ऊर्णा ।

संज्ञा में चतुर्थ्यन्त कम्बल शब्द से यत् प्रत्यय होता है । यह छ का बाधक है । सी गण्टे भर ऊर्णा की संज्ञा कम्बल्यम् है । यत् प्रत्यय हुआ । असंज्ञा में छ प्रत्यय कम्बलोया ऊर्णा ।

१६६४ विभाषा हविरपूपादिभ्यः ५।१।४।

आमिच्यं दधि । आमिशीयम् । पुरोडाश्यास्तण्डुलाः । पुरोडाशीयाः । अपूप्यम् । अपूपीयम् ।

चतुर्थ्यन्त हविर्वाचक शब्द एवं अपूपादिशब्द इनसे द्वितीय में विकल्प से यत् प्रत्यय होता है । पक्ष में छ प्रत्यय से दो रूप हुए ।

आमिश्य दधि = गर्म दुध में दहि को रखकर जो पदार्थ निमित्त होता है 'छत्रा' बगल में प्रसिद्ध है उसको आमिश्वा कहते हैं—तत्ते पयसि दध्यानयति सा आमिश्वा उसके लिए हितकर दहि । छप्रत्यय आमिशीयम् । पुरोडाश के लिए हितकर चावक अर्थ में पुरोडाश्या पुरोडाशीया । अपूप के लिए हितप्रद चूर्ण को अपूप्यम्, अपूयीयम् ।

१६६५ तस्मै हितम् ५।१।५।

वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोघुक् । शङ्खवे हित शङ्ख्य दातु । गन्धम् । हविष्यम् ।

चतुर्थ्यन्त ने हिन अर्थ में छप्रत्यय होता है । गाय के बछड़ के लिए हितकारी दोहन किया गया है जो सब दुध नहीं दोह लेता वत्स के लिए कुछ छोड़ देना है वत्सीय स । शूल के लिए हित काष्ठ शङ्ख उसने यष्ट आहुति से शुभ आदेश शङ्ख्यम् । गवे हितम् गन्धम् । हविष्यम् ।

१६६६ शरीरावयवाद् यत् ५।१।६।

दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । ऋ नस् नासिकाया ऋ । नस्यम् । नाभ्यम् ।

हितम् अर्थ में चतुर्थ्यन्त शरीर के अवयव वाचक शब्द से यह प्रत्यय होता है । दन्त्येभ्यो हिन—दन्त्यम् । कण्ठाय हितम् = कण्ठ्यम् । नासिकायै हितम् यहाँ यह प्रत्यय एव नासिका के स्थान में नस आदेश होता है । नाभि के लिए हित यहाँ शरीरावयव नाभि है अतः पूर्व नाभि जो रथाङ्ग है तत्प्रयुक्त कार्य को यह परस्व के कारण वाच करता है । नाभ्यम् ।

१६६७ ये च तद्धिते ६।१।७।

यादौ तद्धिते परे शिररशब्दस्य शीर्षादेश स्यात् । शीर्षण्य । तद्धिते फिन्, शिर इच्छति शिरस्यति । ऋ वा केशेषु ऋ । शीर्षण्याः । शिरस्या वा केशा । ऋ अचि शीर्ष इति वाच्यम् ऋ । अजादौ तद्धिते शिरसः शीर्षादेश । स्थूलशिरस इद स्थूलशीर्षम् ।

'यस्मिन् विधौ' इस परिभाषा से यान्त अर्थ न होकर वादि अर्थ हुआ ।

यकारादि तद्धित प्रत्यय पर रहते सान्त इहन्त शिरस् शब्द को नात्त इहन्त शीर्षन् आदेश होता है । शिरस् + यत् शीर्षन् + यत् नात्त एव विभक्ति कार्य शीर्ष ण्य प्रकृतिमात्र से टिळोपामात्र है नाम यातु में यद्य् का यकार तद्धित नहीं अतः उसके पर में रहने शिरस् को शीर्षन् आदेश न हुआ—शिरस्यति । शिरस्या शीर्षण्या केश केश अर्थ में शीर्षन् आदेश विकल्प से होता है ।

अजादि तद्धित प्रत्यय पर में रहते अदन्त शीर्ष आदेश शिरस् को होता है स्थूल तत् शिर तस्य इहन् अन् प्रत्यय शीर्ष आदेश से स्थूलशीर्षम् ।

१६६८ खलयवमापतिलवृषप्रक्षणश्च ५।१।७।

खलाय हित खल्यम् । यन्त्रम् । माष्यम् । तिल्यम् । वृष्यम् । वृष्यम् । वृष्यम् ।

चतुर्थ्यन्त खल, यव, माष, तिल, वृष प्रक्षन् इन में हित अर्थ में यत् प्रत्यय होता है । सूत्र में अनुक्त समुच्चयार्थक चकार से बहानुरोध से यव का ग्रहण कर रखाव दिया रथ्या = मार्ग ।

१६६९ अजाविभ्यां ध्यन् ५।१।८।

अजध्या यूथिः । अविभ्या ।

चतुर्थ्यन्त अज एवं अवि से पर ध्यन् प्रत्यय होता है । वृष शब्द मेंदिनी कोष में 'तिथिक् समूहे पुष्पभेदे च' में आया है । यूथी पशुओं के समुदाय में भी व्यवहृत है ।

१६७० आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः ६।४।१६९।

द्वितीयार्थ में चतुर्थ्यन्त समर्थ आत्मन्, विश्वजन, भोगोत्तर पद इन प्रातिपदिकों से पर खप्रत्यय होता है ।

१६७१ आत्माध्वानौ खे ६।४।१६९।

एतौ खे प्रकृत्या स्तः । आत्मने हितमात्मनीनम् । विश्वजनीनम् । ॐ कर्म-धारयादेवेष्यते ॐ । पष्ठीतत्पुरुषाद् बहुव्रीहेश्च च्छ एव, विश्वजनीयम् । ॐ पञ्च-जनादुपसङ्ख्यानम् ॐ पञ्चजनीनम् । ॐ सर्वजनाट्ठञ् ग्वश्च ॐ । सार्वज-निकः । सर्वजनीनः । ॐ महाजनाट्ठञ् च ॐ । माहाजनिकः । मातृभोगीणः । पितृभोगीणः । राजभोगीणः । ॐ आचार्यादणत्वञ्च ॐ आचार्यभोगीणः ।

खप्रत्यय में पूर्व आत्मन् एवं अध्वन् का प्रकृतिभाव होता है । आत्मनीनम् । यत्न, धृति, बुद्धि, स्वभाव, मल, वर्म इन अर्थों में अमरकोष के प्रमाण से आत्मन् शब्द का प्रयोग है । अन्य कोष के मत से 'आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि । चित्ते धूर्तो च बुद्धो च पर व्यावर्तनेऽपि च । विश्वजनीयम् । खप्रत्यय प्रकृतिभाव है । विश्वे च ते जनाः नेभ्यो दितम् । यहाँ ही कर्मधारय खप्रत्ययय विश्वजन से होता है । पष्ठी तत्पुरुष में विश्वरय जनः तर्मे दितम् यहाँ खप्रत्यय नहीं होता है किन्तु छप्रत्यय ही होता है एवं इसका बहुव्रीहिसमास करने पर भी छप्रत्यय है ।

विमर्श—(क) सुग एवं दुःखादि जनकताऽवच्छेदकस्वरूप जो है वह आत्मत्व जातियुक्त आत्मा प्रसिद्ध है, जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान सम्पादक है, ज्ञान के प्रति इन्द्रियों करण है, करण का व्यापार कर्तृ व्यापार के अधीन होता है, जैसे कुठारादि । इन्द्रियों आत्मा नहीं, वे अचेतन हैं ।

शरीर को आत्मत्व नहीं, वह उत्पन्न विनाश शाली है, आलयविज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान को आत्मा नहीं मान सकते, वह द्वितीयक्षय वृत्ति ध्वंस प्रतियोगी है । एवं क्षणिक विज्ञान से विज्ञानान्तर विज्ञानान्तर में अनन्त क्षणिक विज्ञान एवं उनके ध्वंस एवं अनेक अनुभूत संस्कारों का ध्वंस पुनः अनन्त संसारों को उत्पत्ति आदि मरणादौ है, अतः चार्वाक एवं बौद्धमतादि का खण्डनपूर्वक नित्यविज्ञान को आत्मा मानने वाले अद्वैत वेदान्ती को प्रत्युत्तर में कहा जाता है कि ज्ञान सविषयक है निर्विषयक ज्ञान में प्रमाण का अभाव है अतः शरीर, इन्द्रिय, सूक्ष्ममन, क्षणिक विज्ञान, नित्यविज्ञान आदि से भिन्न आत्मा है जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान सम्पादक है । यह केवल दिग्दर्शन है । विरत वर्णन श्री पञ्चोलि कृत न्याय मु० टीका से शास्त्रार्थ अवगत करना ।

विमर्श (ख) यहाँ विश्वजन से कर्मधारय में ही ख होता है एतदर्थ क्रियमाणवानर्क अपूर्व नहीं है किन्तु "निपादस्थपति" अधिकरण न्याय से लाघवमूलक है । तत्पुरुष में पदार्थद्वय संयोजन सम्बन्धविशेषज्ञान एवं बहुव्रीहि में अन्यपदार्थ ज्ञान इनके ज्ञान प्रयुक्त गौरव है । कर्मधारय में तो उभयार्थ प्राधान्य, इतरार्थ का ज्ञान प्रसक्त नहीं अतः लाघव है । अर्थात् लाघवमूलक यह व्याख्यान है ।

‘एतया निषादस्थपति याजयेत्’ वहा सन्देह है त्रिविध समासों में कौन समास है, गौरव से पड़ी तत्पुरुष एवं बहुव्रीहि का स्रष्टन वर कर्मधारय मानकर जातिविशेष को अनधिकारी है उनमें अपूर्व विद्या की कल्पना की है कि अन्यान्यवैदिक मन्त्रों में अधिकार न होते हुई भी इस छुतिप्रामाण्यप्रयुक्त परिगणित कार्य करने में वह जातिविशेष युक्त व्यक्ति अधिकारी है। विशेषज्ञान मीमांसा के प्रार्थ से अवगत करना चाहिए। यह प्राचीन भारतीय व्यवस्था शास्त्रानुमोदित रही थी।

पञ्चमन से छ प्रत्यय होता है, चतुर्थ्यन्त से हितार्थ में। *सर्वजन चतुर्थ्यन्त से ठम एवं छ होता है। ‘आचार्यमोनीन’ यहाँ गत्व का अभाव होना है। योग = शरीर को कहते हैं—आचार्य के शरीर के लिए हित

१६७२ सर्वपुरुषाभ्यां णट्वौ ५।१।१०।

ॐ सर्वाणो वेति वक्तव्यम् ॐ। सर्वस्मे हित सार्वम्। सर्वायम्। पुरुषाद्-वधविकारसमूहतेनकृतेषु ॐ भाष्यकारप्रयोगात् तेनत्यस्य द्वन्द्वमध्ये निवेशः। पुरुषस्य वधः पौरुषेयः। ‘प्राणिरजतादिभ्योऽङ्’ इत्यभि प्राप्ते समूहेऽप्यणि प्राप्ते, “एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयशृता इव”

इति माघः। तेन कृते ग्रन्थेऽपि प्राप्ते, अग्रन्थे ॥ प्रासादादावप्राप्त एवेति विवेकः।

चतुर्थ्यन्त सर्व एवं पुरुष शब्द से हित अर्थ में ण एवं ठम प्रत्यय कम से होते हैं। सार्वम्। सर्व शब्द से ण विकल्प होता है पञ्च में ‘प्राक् कृता-०’ से छ प्रत्यय से सर्वायम्। पुरुष शब्द से वध, विकार, समूह तेनकृत अर्थ में डक प्रत्यय होते हैं। ‘त कृत्’ समास घटव में होना चाहिए तेनकृत यह भाष्य प्रयोग से द्वाद के मध्य में हुआ। पुरुष के वध अर्थ में ठम पौरुषेय,। यहाँ अज प्रत्यय प्राप्त था, एवं समूह अर्थ में अण प्राप्त था, इन दोनों को बधकर ठम प्रत्यय हुआ। वे इकट्ठे थे कि तु तेजोविशेष से पुरुष समुदायसेयुक्त से दिख पड़ते थे। यहा ङन् से पौरुषेय’ प्रयोग हुआ। ‘पुरुषेण कृतो वध’ इससे पुरुष से अण प्राप्त था एवं ग्रन्थमि न में अप्राप्त प्रत्यय था इन सब अर्थों में ठम हुआ है।

यहा वधादि में अवयव बोधजनकरूप वाच्यता के सामर्थ्य से पुरुष से पड़ी हुई। एवं ग्रन्थ अथ में तृतीयान्तः पुरुष को है। पौरुषेय प्रसाद यह ङन् किमी का अपवाद नहीं है।

१६७३ माणनचरकाम्यां खञ् ५।१।११।

माणत्राय हित माणवीनम्। चारकीणम्।

चतुर्थ्यन्त म णव एवं चरक से हित अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है।

विमर्श—माणव मे ञ का वृद्धि रूप फल यथपि नहीं है यहाँ आवच स्वत वृद्धिमान् है किन्तु ‘माणवीनोमार्य’ यहाँ वृद्धिनिमित्त यह तद्धित होने से ‘शक्तिनिमित्तस्य’ से पुषद्भाव का निषेधार्थ प्रत्यय खञ् में निवृत्त का फल है। कश्यप पानी मनु इ समका वृत्तिसत्पुत्र को ‘माणव’ कहते हैं।

अपत्ये कृत्तिष्ठते मूढे मनोरोत्सर्गिक स्मृतः।

नकारस्य च मूर्द्धन्यस्तेन सिद्धयति माणवः।

यहां सूत्रनिर्देश से ही णत्वसिद्ध है पुनः णकार करने के लिए अपूर्व वचनान्तर्य न करना । माणवीनम् । चारकोणम्—चरति चरः पचादित्व प्रयुक्त अच्, 'चरिचलिपतिवदीनान्' विकल्प से दित्व करता है अतः यहाँ दित्वाभाव है, चर से संज्ञा अर्थ में क प्रत्यय से चरकः तस्मै हितम् अर्थ में खञ् प्रत्यय हुआ है । इसकी काशिका देखिए ज्ञानवृद्धि के लिए ।

१६७४ तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ५।१।१२।

विकृतिवाचकाच्चतुर्थ्यन्तात् तदर्थायां प्रकृतौ वाच्यायां छप्रत्ययः स्यात् अङ्गारेभ्य एतानि अङ्गारीयाणि काष्ठानि । प्राकारीया इष्टकाः । शङ्ख्यं दास ।

यहाँ 'तस्यै हितम्' का सम्बन्ध है । 'तदर्थम्' में सामान्ये नपुंसकम् है, व्यत्यय से सप्तमी के स्थान में प्रथमा है । काष्ठ प्रकृति है, एवं इष्टक प्रकृति है ।

विकृतिवाचक चतुर्थ्यन्त पद से उसके निमित्त प्रकृति वाच्य होनेपर छप्रत्यय होता है हित अर्थ में । अङ्गार के लिए हित काष्ठ एवं प्राकार = दुर्गनिर्माण के लिए दिनपद इष्टं इस अर्थ में विकृति वाचक अङ्गार एवं प्रासाद से छप्रत्यय हुआ ।

१६७५ छदिरुपधिवले ढञ् ५।१।१३।

छादिपेयाणि नृणानि । बालेयास्तण्डुलाः । छ उपधिशब्दात्स्वार्थे इष्यते छ उपधीयते इत्युपधिः = रथाङ्गं, तदेव औपधेयम् ।

सूत्र में समाहार में द्वन्द्व है, एवं सोत्रत्व प्रयुक्त पुंस्त्व है । छप्रत्यय का यह अपवाद है ।

चतुर्थ्यन्त चर्मेविकारार्थक छदि, एवं उपहारार्थक वलि, रथाङ्ग उपधि इन से ठञ् प्रत्यय होता है । छद से करणार्थक इस् प्रत्यय से छदिः छाद्यनेऽनेन यह व्युत्पत्ति है । यहाँ परत्व के कारण 'चर्मणोऽन्' से अन् प्राप्त था । किन्तु पूर्वविप्रतिषेध से टन् हुआ है । दास्य अवस्था में जो लौहिय आदि गुण थे उनसे रदिन तण्डुल को बालेयाः = तण्डुलाः । यहाँ प्रकृति विकृति नाव यथा कथञ्चित् कल्पना से समझना चाहिये । तदुत्पत्तिप्रयोगजननाशप्रतियोगित्वरूप का प्रकृतिवत् नदी सम्भव है । बालेयाः । उपधिः = रथाङ्ग से स्वार्थ में प्रत्यय हुआ है ।

उपधि एव औपधेयम् । उपधा + किप्रत्यय आकार का लोप उपधिः ।

१६७६ ऋपभोपानहोर्ज्यः ५।१।१४

छस्यापवादः । आर्षभ्यो वत्सः । औपानहो मूञ्जः । चर्मण्यथयमेव पूर्व-विप्रतिषेधेन । औपानहं चर्म ।

ऋपम एवं उपानह् से छप्रत्यय को बाधकर ज्य होता है । यहाँ भी प्रकृति विकृतिभाव सम्बन्ध है । विकृति वाचक चतुर्थ्यन्त से तदर्थं प्रकृति वाच्य होने पर ऋपम एवं उपानह् से प्रत्यय होता है । ऋपभावस्था प्राप्त्यार्थ पोषित वत्स में यथाकथञ्चित् प्रकृति विकृतिभाव को कल्पना करनी चाहिये । आर्षभ्यो वत्सः ।

विमर्श = प्रकृति उसको कहते हैं "यस्योत्पत्तेः प्राकाले सत्त्वे सति नत्प्रतिपादकत्वं प्रकृति-त्वम्" । इसमें एवं पूर्व में प्रकृति विकृति सावार्थक पद को अननुवृत्ति है यह भी एक पक्ष है किन्तु वह उचित नहीं है इससे उत्तर में तदर्थं विकृतेः प्रकृती को अनुवृत्ति है अतः मध्यमें विच्छेद अनुचित है ।

चतुर्थ्यन्त उपानद् विवृति वाचक है, चर्म प्रकृति रूप अर्थ वाच्य है हुआ पर अन् को बाधकर पूर्वविप्रतिषेध से व्यप्रत्यय चर्मणोऽन् पर है उसको पूर्व विप्रतिषेध से न्य बाध करता है इस कथन में क्या प्रमाण है ? इस शब्दा की निवृत्त्यर्थ प्रमाणोपन्यास—‘उगवादिभ्योयत्’ सूत्रस्थ माण्य वार्तिक ही प्रमाण है। ‘यञ् व्यावञ् पूर्णविप्रतिषेधेन’। यञ् एव न्य वे दोनों अन् को पूर्वविप्रतिषेध से बाध करते हैं। उपानञ्चाम चर्म विकारस्तत्र तमय प्रप्नोति न्यो भवति पूर्वविप्रतिषेधेन यह भाष्योक्ति है।

१६७७ चर्मणोऽन् ५।१।१५।

चर्मणो या विवृतिस्तद्व्याचकादन् स्यात्। धधयै इदं धाधय चर्म।
धारत्र चर्म।

तदर्थम् आदि की अनुवृत्ति है।

चर्म के विकार वाचक चतुर्थ्य त से अन् प्रत्यय होता है। हुआ में से पानी निकालने के रहस्ते को = डोर के अर्थ में प्रयुक्त सभी शब्द है—कोषकार—“नभी वधीं वरत्रा स्यात्” वृधु वर्धने रक् गौरादिनाद जीप् अवधा ण् प्रत्यय है। चममय रज्जु तस्यै इदं चर्म अमप्रत्यय प्राप्रर्थ चम। वरत्राय इदं धारत्र चर्म।

१६७८ तदस्य तदस्मिन् स्यादिति ५।१।१६।

प्राकार आसाम् इष्टकानां स्यात् प्राकारीया इष्टका। प्रासादीय वाच। प्राकारोऽस्मिन् स्यादिति प्राकारीयो देश। इतिशब्दो लौकिकी विवक्षामनुसारयति। तेनेह न। प्रासादो देवदत्तस्य स्यादिति।

समर्थ प्रथमान्त से ‘वह होगा’ या ‘वह इसमें होगा’ इन की अर्थों में अन् आदि प्रत्यय होता है = प्रथमाममर्थात् प्रातिपादिकात् षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे च यथा विहित प्रत्यय स्यु यह संस्कृत में अर्थ हुआ।

इन इष्टों का कीला होगा प्राकारीया इष्टका। छप्रत्यय हुआ दुर्ग इस देश में होने की सम्भावना है इस अर्थ में सप्तम्यर्थ में प्रत्यय हुआ है वह देश है प्राकारोऽस्मिन् देशे स्यात् प्राकारीयो देश। सूत्र में इति शब्द लौकिकी विवक्षा का अनुसरण कराता है—देवदत्त का अनुसरण कराता है—देवदत्त का प्रासाद की सम्भावना वह लोक में विवक्षा नहीं होती है अतः यह वाक्य ही रहता है, अमादि प्रत्यय नहीं होते।

१६७९ परिखाया ढब् ५।१।१७।

पारिखेयी भूमि।

इति छयतो पूर्णोऽवधि।

समर्थ प्रथमान्त परिखा से ‘वह होगा’ या वह इसमें होगा इन दो अर्थों में ढन् प्रत्यय होता है। परिखा = खार्द का नाम है।

५० श्री बा० कृ० पञ्चोक्ति विरचित रत्नप्रभा में छ एव यत् का अधिकार समाप्त



अथाऽऽर्हीयप्रकरणम्

१६८० प्राग्वतेष्टञ् ५।१।१८।

‘तेन तुल्यम्’ इति वति वदयति ततः प्राक् ठञ् अधिक्रियते ।

तृतीयान्त से सदृश अर्थ में ‘तेन तुल्यम्’ से वति प्रत्यय होता है उस सूत्र के पूर्व तक अर्थ बोधक पदघटित सूत्रों में ठञ् का अधिकार होता है। अवधि योक्तक ‘प्राग्वते’ में वत्यर्थ = सादृश्यपरक वति है, अवधि एवं अवधिमान का साजात्य नियम है। अतः अर्थबोधक पदघटित सूत्रों में ही अधिकार एवं अपवाद बोधक प्रत्यय घटित शास्त्र में ठञ् का अधिकार नहीं होता है। यह अधिकार मध्य में अपवाद से विच्छिन्न है तो भी ‘प्राग्वतेः’ ग्रहण सामर्थ्यरूप अवध्यर्थक पद से ठञ् के अपवादसूत्रों के अग्रिम सूत्रों में यह अधिकार का निष्कण्टक गमन होकर ठञ् का विधान ‘पारायणचान्द्रायण’ सूत्र करेंगे ही। वहाँ अञ् अञ् यत् से ठञ् का बाध पूर्ववर्ती सूत्रों से है = यथा ‘सर्वभूमि’ एवं शीर्षच्छेदात्। इन सूत्रों से उत्तर ‘पारायण’ सूत्र है।

१६८१ आर्हादगोपुच्छसङ्ख्यापरिमाणाट्ठक् ५।१।१९।

‘तदर्हति’ इत्येतदभिधाय्य ठञ् अधिकारमध्ये ठञोऽपवाददृष्टगधिक्रियते गोपुच्छादीन् वर्जयित्वा ।

‘तदर्हति’ ५।१।३० सूत्र तक ठञ् के अधिकार के मध्य में ठक् जो ठञ् का बाधक है उसका अधिकार है किन्तु गोपुच्छ, संख्यावाचक एवं परिणाम वाचक को छोड़कर यह अधिकार ठक् का है। आर्हात् में शिष्टोक्त व्याख्यान से तदर्हति का ग्रहण है, तदर्हन् ४।१।१७ का ग्रहण नहीं है।

त्रिमशं यह परिमाण शब्द परिच्छेदक परक है। ‘परिमाणन्तु सर्वतः’ यह नहीं है। यह कहना सर्वाश असंगत है, संख्या ग्रहण सामर्थ्य में। अतः संज्ञेति परिमाण का ही ग्रहण है।

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणन्तु सर्वतः ।

आयामस्तु प्रमाणं स्यात् सङ्ख्या बाध्या तु सर्वतः ॥

नात्वर्थ यह है कि ऊर्ध्व जिससे नापा जाय उसका उन्मान कहते हैं। यथा तराजू में वटखरा = वाट के रखने के बाद तोलने को वस्तु एवं तोलने वाला अर्थात् परिच्छेद्य एवं परिच्छेदक उनका उपरि या नीचे गमन को उन्मान अर्थात् उन्मिति का कारण कहते हैं। आरोह = उच्छ्राय, परिमाणः = विस्तार वे दोनों जिसमें नापे जाय उसको परिमाण कहते हैं। जैसे काठ से बना हुआ आढक कुटब एवं प्रस्थ आदि इनको परिमाण कहते हैं। आयाम = द्वैर्धन्य केवल लम्बाई नापी जाय जिससे उसे प्रमाण कहते हैं। जैसे कपटा काठ आदि को लम्बाई गज द्वाय आदि से नापी जाती है वह नापने के साधन को प्रमाण कहते हैं। संख्या इन सबों से विलक्षण है। एवं परिच्छेदक भी है। भगवान् माप्यकार संख्या विषय में कहते हैं। संख्या केवल भेद मात्रार्थक है।

भेदमात्रं ब्रवीत्येषा नैषा मानं कुतश्चन ।

एवञ्च कृत्वा संख्यायाः पृथग् ग्रहणत् क्रियते ॥

‘असमासे निष्कादिभ्यः’ सूत्रस्य भाष्य प्रमाण से यहा परिमाण एव उन्मान इन दोनों को ‘आर्हाय’ सूत्रस्य परिमाणग्रहण बोधन करता है ।

१६८२ असमासे निष्कादिभ्यः ५।१।२०।

आर्हादित्येत् तेन क्रीतमिति यावन् सप्तदशसूत्र्यामनुवर्तते । निष्कादिभ्योऽसमासे ठक् स्याद् आर्हायेष्वर्थेषु । नैष्ठिकम् । समासे तु ठञ् ।

आर्हाय की तेन क्रीतम् ५।१।२० इस सूत्र पर्यन्त १७ सूत्रों में अनुवृत्ति होती है । समास न होने पर आर्हाय अर्थ में निष्कादि शब्दों में पर ठक् प्रत्यय होता है । निष्क उन्मान है, निष्केन क्रीन नैष्ठिकम् । निष्क आ ठक् प्रातिपदिक सङ्गा विभक्तिलोप आदि वृद्धि इकादेश म-सङ्गा यस्येति च से अकारलोप है ।

समास होने पर ठञ् हाता है, यथा — परमनैष्ठिकम् ।

१६८३ परिमाणान्तस्यासंज्ञाशानयोः ७।३।१७।

उत्तरपदवृद्धि स्यात् भिदादौ । परमनैष्ठिकः । असमासग्रहणं ज्ञापकं भवति—‘इतः प्राक् तदन्तविधिरिति’ । तेन सुगठयम् । ‘यवापूप्यम्’ इत्यादि । इत ऊर्ध्वं तु सङ्ख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणं प्राग्वतेरिष्यते तच्छालुकि । पारायणिकः । द्वैपारायणिकः । ‘अलुकि’ इति किम्, द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूपम्, द्विशूपेण क्रीते शूर्पादयम् मा भूत्, किन्तु ठञ्—द्विशौपिकम् ।

यहाँ परिमाण से शानपर्युदास से परिच्छेदक का ग्रहण है ‘परिमाणन्तु सर्वतः’ का नहीं । सङ्गा न होने पर भिन् आदि तद्धित पर रहते शानप्रतिभन् परिमाणवाचक शब्द अन्त में रहे वहाँ उत्तर पद के आदि अच् की वृद्धि होती है । परमभासौ निष्कस्तेन क्रीत परमनैष्ठिक । संज्ञा में ठञ् पाञ्चकन्यपिकम् “ग्रहणवना प्रातिपदिकेन तदन्तग्रहणं नास्ति” इति परिभाषा से तदविधि निषेध से वृद्धि निहिती होती पुन असमामग्रहण क्यों किया ? यह व्यर्थ होकर धारण करना है कि पूर्व परिभाषा की अनित्यत्व बोधन द्वारा इसमें पूर्व में तदन्त विधिरिति । इसका फल गन्धम् की तरह यवापूप्यम् । उगवादिभ्यो यव । विभाषा हविरपूपादिभ्यः इनको प्रवृत्ति हुई । असमासग्रहण ज्ञापक लब्ध तदन्तविधि की विशेष व्यवस्थार्थ कहते हैं कि इनके पर सङ्ख्यावाचक शब्द पूर्वक पद का तदन्त ग्रहण होता है—वर्त के पूर्व तक अलुकि विषय में । यवा पारायणिक । द्वैपारायणिक । अलुकि न होने पर द्विशूपिकम् यह अम न हुआ । यहाँ क्रीतार्थक प्रत्यय अजादि या ‘अध्यर्थपूर्वात्’ से लुक् सः, ठञ् यह द्विशुनिमित्त नहीं अत लुक् का अभाव, ‘परिमाणान्त’ ने उत्तरपद वृद्धि हुई ।

१६८४ अर्द्धात्परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा ७।३।२६।

अर्द्धात्परिमाणवाचकस्योत्तरपदस्यादेरचो वृद्धिः, पूर्वपदस्य तु वा मिति, मिति, किति च । अर्द्धद्वेणेन क्रीतम् आर्द्धद्वौणिकम् । अर्द्धद्वौणिकम् ।

अत मित कित तद्धितप्रत्यय पर में रहते अर्थ शब्द से पर परिमाणवाचक शब्द के आदि अच् की वृद्धि होती है, पूर्वपद के आदि अच् की विकल्प से वृद्धि होती है ।

१६८५ नातः परस्य ७।३।२७।

अर्धात्परस्य परिमाणाकारस्य वृद्धिर्न, पूर्वपदस्य तु वा विदादौ । अर्धप्रस्थिकम् । आर्धप्रस्थिकम् । अतः किम् , अर्धकौडविकम् । तपरः किम् , अर्धखाद्यो भवा अर्धखारी । अर्धखारीभार्य इत्यत्र वृद्धिनिमित्तस्येति पुंवद्भावो न स्यात् ।

घित आदि प्रत्यय पर रहते अर्ध शब्द से पर परिमाणक शब्द के अकार की वृद्धि नहीं होती, किन्तु पूर्वपद के आदि अच् की विकल्प से वृद्धि होती है । अर्धप्रस्थिकम् । आर्धप्रस्थिकम् । अर्धकौडविकम् यहां उत्तर पद परिमाण वाचक है किन्तु आदि अच् अकार नहीं उकार है अतः यहां निषेध न होकर उकार की औकार वृद्धि हुई है ।

सूत्र में 'अस्य' कहते तपरग्रहण क्यों किया ?, दीर्घ की वृद्धि हो या न हो कोई विशेष नहीं है । तपर ग्रहण फल को देते हैं—अर्धखारी भार्या यस्य यहां वृद्धि निमित्तक तद्धित न होने से पुंवद्भाव निषेध नहीं होता है । यह कहना वस्तुतः ठीक नहीं क्योंकि पूर्वपद के आदि अच् की वृद्धि विकल्प में तद्धित प्रत्यय में फलोपधानरूपा कारणता है ही अतः पुंवद्भाव निषेध होता है । तपरकरण स्पष्टार्थ ही है ।

१६८६ शताच्च ठन्यतावशते ५।१।२१।

शतेन क्रीतं शतिकम् । शत्यम् । अशते किम् , शतं परिमाणमस्य शतकः संघः । इह प्रत्ययार्थो वस्तुतः प्रकृत्यर्थात्र भिद्यते तेन ठन्यतो न, किन्तु कनेव । असमास इत्येव । द्विशतेन क्रीतं द्विशतकम् ।

शतमित्रार्थ में तृतीयान्तशत शब्द से क्रयण कर्मरूप क्रीत अर्थ में ठन् एवं यत् प्रत्यय होता है । शतमुद्रा से क्रीत वस्तु में ठन् में शतिकम् । यत् में शत्यम् । जहां प्रत्ययार्थ शत रहें वह इसकी प्रवृत्ति नहीं हुई वहां उत्तर सूत्र से कन् प्रत्यय होता है शतसंख्यक परिमाण युक्त संघ यह अर्थ 'शतकः' का हुआ है यहां वास्तविक विचार किया जाय तो प्रकृत्यर्थ शतार्थ है प्रत्ययार्थ भी शतरूपार्थ है ।

इस कारण ठन् यत् न होकर क प्रत्यय हुआ है । मूलस्थ चकार यहां 'असमासे' का अनुकर्षण करता है । अतः समास से इसका अप्रवृत्ति होती है । दो सौ रुपयों से क्रीत वस्तु में 'द्विशतकम्' यहां कन् हुआ । ठन् यत् नहीं । यहां 'अशते' यह विशेषण प्रकृत्यर्थ का नहीं है असम्भव से किन्तु प्रत्ययार्थ का है । उससे भी जहां प्रकृत्यर्थ शत का ही प्रत्ययार्थत्व है वहां ही निषेध दृष्ट है । जो संघ है वह प्रकृत्यर्थ रूप ही है ।

१६८७ सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन् ५।१।२२।

सङ्ख्यायाः कन् स्याद् आर्हीयेऽर्थे न तु त्यन्तशदन्तायाः । पञ्चभिः कृतः पञ्चकः । बहुकः । त्यन्तायास्तु साप्ततिकः । शदन्तायाः चात्वारिशतकः ।

आर्हीय अर्थ में तृतीयान्त संख्यावाचक शब्द से (क्रीतन्) अर्थ में कन् प्रत्यय होता है किन्तु वह संख्यावाचक शब्द यदि 'ति' अन्तवाला या 'शत्' अन्तवाला रहे तो वहां कन् प्रत्यय न होकर ठन् प्रत्यय होता है । पञ्चकः । बहुकः । सप्तति ७० संख्यावाचक है उससे क्रीत = क्रयण कर्म वस्तु में सप्तति शब्द के अन्त में 'ति' है अतः कन् न होकर ठन् साप्ततिकः । शत् अन्त में होने से ४० बोधक चत्वारिशत् से क्रीत अर्थ में ठन् को कादेश वृद्धि में चात्वारिशतकः ।

इस सूत्र में कृत्रिम अकृत्रिम समयविषय सख्या का ग्रहण है, यदि केवल कृत्रिम सख्या का ही ग्रहण करते तो त्यन्त मित्र शब्द मित्र ग्रहण व्यर्थ होगा अतः यहाँ—उभयगतिरिह भवति ।

१६८८ वतोऽरिह् वा ५।१।२३।

वत्यन्तात् कन् इह् वा स्यात् । तावतिकः । तावत्कः ।

वतुप् प्रत्ययान्त शब्द से पर कन् प्रत्यय को विकल्प से इह् होता है । तत् परिमाणम् अत्य तावत् से वन् इह् तावतिक । इह् के अभाव में तावत्क । तावत् का अर्थ तितना । तत् से वतुप् अत्य तावत् । आ सर्वनाम्न से आत्य है । 'कियत्तत्' सू० म वतुप् है ।

१६८९ विंशतित्रिंशद्भ्यां द्वुन्नसंज्ञायाम् ५।१।२४।

योगविभागः कर्तव्यः । आभ्या कन् स्यात् । असंज्ञायां द्वुन् स्यात् ।
कनोऽपवादः । विशकः । त्रिशकः । संज्ञायान्तु पिशतिकः । त्रिशकः ।

यहाँ योग विभाग करना अपेक्षित है । तृतीयान्त विंशति एव त्रिंशत् से क्रीतापार्थ में कन् प्राप्य होता है । २० इनसे असंज्ञा में वन् को बाधकर द्वुन् प्रत्यय होता है । नृकार वृद्धि के लिए है, टिलोपार्थ वकार है, शुको अकारदेश होता है । यथा विंशत्या क्रीत विशकः । त्रिशक, वन् द्वुन् पक्ष में विंशति के 'ति' का ति विंशतेति से छोप, अकार का पर्येति च से छोप विशक । त्रिशक में अत् का टिलोप है ।

१६९० कंसाट् ठिठन् ५।१।२५।

टो ङीबर्थः । इकार उच्चारणार्थः । कसिकः । कसिकी । ङ अर्पावेति वक्तव्यम् ङ । अधिकः । अधिकी । ङ कार्पापणाट् ठिठन् वक्तव्यः ङ । प्रतिरादेशश्च वा ङ । कार्पापणिकः । कार्पापणिकी । प्रतिकः । प्रतिकी ।

तृतीयान्तकस्यशब्द से क्रीतापार्थ में ठिठन् प्रत्यय होता है । प्रत्यय वट्क अनुबन्धों का कलटकार ङीबर्थ है । इकार केवल उच्चारण क्रिया फलक है ।

रूपेय का आया अश्व अर्थ में अर्थशब्द रूढ है तृतीयान्त अर्थ से ठिठन् प्रत्यय होता है । अधिक । ङी में अधिकी । कार्पापणशब्द से ठिठन् प्रत्यय होता है एव कार्पापण के स्थान में प्रति आदेश विकल्प से होता है । रूपद्वय द्वय ओ मूल में वर्णित है ।

१६९१ शूर्पादवन्त्यतरस्याम् ५।१।२६।

शौर्पम् । शौर्पिकम् ।

शूर्पपरिमितशान्यापार्थक्य शूर्पशब्द है । तृतीयान्त समर्थ शूर्प से क्रीत अर्थ में अम् प्रत्यय विकल्प से होता है, पक्ष में ठन् प्रत्यय होता है ।

१६९२ शतमानविंशतिकसहस्रवसनान् ५।१।२७।

एभ्योऽण् स्याट् ठन्ठक्कनामपवादः । शतमानेन क्रीत शतमानकम् ।
विंशतिकम् । साहस्रम् । वासनम् ।

तृतीयान्त शतमान, विंशतिक, सहस्र, वसन इनसे क्रीत आदि अर्थ में अण् प्रत्यय हाता है इस सूत्र से विहित अण् ठन् ठक् कन् का नाशक है । शतमान परिमाणम् इस अर्थ में ठन् प्राप्त है ।

१८ सि० द्वि०

असंज्ञा में विशति से टुबुन् प्राप्त है। संज्ञा में अस्य परिमाण अर्थ में ठन् प्राप्त है। अर्थांतर में ठक् प्राप्त है। वसन से ठन् प्राप्त है। सदस्त् से कन् प्राप्त है इनको वाचक अग्न होता है।

१६९३ अध्यर्थपूर्वाद् द्विगोलुगसंज्ञायाम् ५।१।२८।

अध्यर्थपूर्वाद् द्विगोश्च परस्यार्ह्यस्य लुक् स्यात्। अध्यर्थकंसकम्। द्विकंसम्। संज्ञायान्तु पञ्चकालापिकम्।

संज्ञा न होने पर अध्यर्थशब्दपूर्वक द्विगु समास के निमित्त जो परस्वविशिष्ट आदीय प्रत्यय उसका लुक् होता है। जो तद्धित द्विगु का निमित्त नहीं है उसका लुक् इन से नहीं होता है क्योंकि यहाँ भाष्यवातिक है—

विमर्श—“द्विगोलुकि तन्निमित्तग्रहणं कर्तव्यम्”। द्वाभ्यां शूर्याभ्यां क्रीतं द्विशूर्पन् तेन क्रीतं ‘द्विशोषिकम्’ यहाँ क्रीतार्थक पश्चाद् भव जो ठन् है वह द्विगु का निमित्त नहीं है। अतः उसका लुक् न हुआ। यहाँ निमित्त ग्रहण न करते परस्व से व्याख्यान करते तो द्विगु से पर क्रीतार्थक ठन् का लुक् होता। इस व्याख्यान में दोष देने हैं कि द्वयोः शूर्पयोः समाहारो द्विशूर्पं तथा क्रीतम् अर्थ में ‘द्विशोषम्’ यही प्रयोग इष्ट है वह न होगा क्रीतार्थक ठन् यहाँ भी द्विगु का निमित्त नहीं है एवं प्रत्यय लुक् इष्ट सर्वथा है। इस शंका के समाधान है एक अन्य भाष्यवातिक का समाश्रय करना—वह यह है—“अर्थविशेषासम्प्रत्यये अन्निमित्तादपि” = जहाँ तद्धितार्थद्विगु से अर्थ विशेष की भेद प्रतीति नहीं है वहाँ द्विगु के निमित्त जो तद्धित नहीं भी है तो भी लुक् होता ही है।

प्रकृत में द्विशूर्प एवं द्विशूर्पा से क्रीत इन दोनों में अर्थ भेद नहीं है किन्तु अर्थ में ऐस्य है। अतः लुक् अन्निमित्त होते हुए भी हुआ अर्थात् ऐसे स्थल विशेष में द्विगु से पर तद्धित का लुक् वह व्याख्यान कहना।

वस्तुतः सूत्र में ‘द्विगोः’ को द्विगु योग लक्षण पञ्चम्यन्त न मानकर ‘द्विगोः’ पष्ठयन्त है, अर्थ व्याख्यानाधीन है, द्विगु का तद्धित सम्भव नहीं अतः द्विगो का निमित्त तद्धित वह अर्थ का लाभ होगा प्रथमोक्त भाष्य वातिक का अनाश्रय पक्ष ही लाभार्थ श्रेयस्कर है।

‘द्विशूर्पां क्रीतम्’ में द्विशूर्पा से ठन् नहीं विधान किया, किन्तु ‘अविरविक’ न्याय ने द्विशूर्प से ही क्रीतार्थक ठक् है अतः द्वितीय वातिक भी प्रत्याख्यान योग्य है। यहाँ शङ्का करते हैं कि अध्यर्थ शब्द भी संख्यावाची ही है। एक भी अध्यर्थ में ‘द्वौ’ = द्वित्वविशिष्ट दो वस्तु व्यवहार होता है। संख्यावाचक होने से ‘अध्यर्थकन्’ यहाँ कन् प्रत्यय हुआ है। ‘अध्यर्थकंसम्’ में तद्धितार्थ में द्विगुसमास है। ‘अध्यर्थसांवत्सरिकः’ यहाँ ‘संख्यायाः’ मूत्र से उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि हुई है।

सूत्र में क्रियमाण अध्यर्थ ग्रहण व्यर्थ होकर शापक है कि—“संख्याकार्यं इत्तको कहीं नहीं भी होता है”। उससे कन् द्विगु समास वृद्धि इनको छोटकर अन्य संख्या प्रयुक्तकार्य अध्यर्थ से नहीं होता है। कृत्वसुच् प्रत्ययादि। ‘पाञ्चकालापिकम्’ = पाञ्चकालापाः परिमाणमस्य यहाँ तद्धितार्थ में द्विगु है। ‘तदस्य परिमाणम्’ से ठन्। पाञ्चलोहितकम्। पाञ्च लोहित्यः = गुणाः परिमाणम्। अस्य में पूर्ववत्समासादि कार्य होते हैं।

मस्याहं तद्धिते’ से पुंवद् भाव से ऊष् नकार की निवृत्ति से लोहिनी का लोहित स्वरूप हुआ है। परिमाण विशेष के नाम में पूर्वोक्त एवं इसका व्यवहार है। यहाँ असंज्ञा प्रत्ययान्त का विशेषण है, द्विगु का नहीं है। यहाँ ‘असंज्ञायाम्’ का भाष्य एवं वातिककार ने खण्डन किया है। भाष्य देखिये।

१६९४ विमापा कार्पापणसहस्रग्याम् ५।१।२९।

लुग्वा स्यात् । अध्यर्धकार्पापणम् । अध्यर्धकार्पापणिकम् । द्विकार्पापणम् । द्विकार्पापणिकम् । औपसख्यानिकस्य ठिठनो लुक् । पक्षे अध्यर्धप्रतिकम् । द्विप्रतिकम् । अध्यर्धसहस्रम् । अध्यर्धसाहस्रम् । द्विसहस्रम् । द्विसाहस्रम् ।

कार्पापण एव सहस्र शब्द के उत्तर आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है । पूर्व बोधित टिठन् का लुक् विकल्प से हुआ है । रूपद्वय दुप । पक्ष में अध्यर्ध से पर टिठन् प्रत्यय सन्नियोग शिष्ट प्रति आदेश कार्पापण को हुआ है अतः प्रत्यादेश सन्नियोग में प्रत्यय को सदा सत्ता ही रहती है वह छुट नहीं होता है । अर्थात् दर्शनाभाव का प्रतियोगी नहीं होता है । 'अध्यर्ध-साहस्रम्' में 'शतमानविशति' से विहित अण् का लुक् हुआ है विकल्प से । लुक् के अभाव पक्ष में 'सख्याया सवत्सर' स उत्तरपद के आपत् को वृद्धि हुई है, अध्यर्ध शब्द संख्यावाची है वह अभी वर्णित हो है ।

१६९५ द्वित्रिपूर्वाभिष्कात् ५।१।३०।

लुग् वा स्यात् । द्विनिष्कम् । द्विनैष्किकम् । त्रिनिष्कम् । त्रिनैष्किकम् । बहुपूर्वाच्चेति षक्त्यम् । बहुनिष्कम् । बहुनैष्किकम् ।

द्विशब्द एव द्विशब्द पूर्वक निष्क शब्दात् दिगु से पर आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है । सूत्र में 'द्वित्रिम्याम्' करने पर कार्य निर्वाह होता पूर्व ग्रहण व्यर्थ हो है । द्विनैष्किकम् । यहाँ प्राक्वहतेष्व से ठम् प्रत्यय है । 'परिमाणान्तस्य' उत्तरपद वृद्धि है । द्वयो निष्क तेन कीतम् 'द्विनैष्किकम्' यहाँ लुक् न हुआ, क्योंकि दिगु से पर यद्वि नही है । अध्यर्धपूर्वात् का असम्बन्ध से अध्यर्धनैष्किकम् यहाँ लुक् न हुआ ।

बहुपूर्वक निष्कशब्दात् दिगु से पर आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है । लुक् पक्ष में बहुनिष्कम् । अभाव लुक् का हुआ यहाँ बहुनैष्किकम् ।

१६९६ विस्ताच्च ५।१।३१।

द्वित्रिबहुपूर्वाद् विस्ताद् आर्हीयस्य लुग् वा स्यात् । द्विविस्तम् । द्विवै-
स्तिकम् इत्यादि ।

द्वि, त्रि बहुपूर्वक विस्त से आर्हीय प्रत्यय का लुक् विकल्प से होता है । चकार से अनुकृष्ट द्वित्रि एव विस्त है उसका उत्तर सूत्र में सम्बन्ध नहीं है—'बानुऊढोत्तरत्र' परिभाषा है । द्विविस्तम् । पक्ष में द्विवैस्तिकम्, ठन् हुआ उत्तरपद वृद्धिमत् है ।

१६९७ विंशतिकात्सः ५।१।३२।

अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोरित्येव । अध्यर्धविंशतिकीनम् । द्विविंशतिकीनम् ।
अध्यर्धपूर्वक एव दिगुसमास से पर स्थित विंशतिक शब्द से (तृतीयान्त से) । आर्हीय खप्रत्यय होता है । 'शतमानविंशति' सू० से अण् प्राप्त या एव लुक् प्राप्त या खप्रत्यय का हमने विधान किया है । अध्यर्ध विंशतिक से ख उसको ईनादेश अकार लोप यहाँ है ।

१६९८ सार्या ईकन् ५।१।३३।

अध्यर्धस्वारीकम् । द्विस्वारीकम् । ऋकेवलायाश्चेति वक्तव्यम् । स्वारीकम् ।

अध्यर्धशब्दपूर्वक एवं द्विगुप्तमास से पर तृतीयान्त स्वारी शब्द से आर्हय अर्थ में ईकन् प्रत्यय होता है । यदां कन् प्रत्यय कर 'वेऽणः' से छत्त्व से सिद्ध होता इकार के टच्चारण सामर्थ्य से लोप का बाध पूर्वक दीर्घ 'अकः' सूत्र से होता पुनः ईकन् के स्थान में लाघवार्थ ईकन् क्यों नहीं किया इस शङ्का का निवारण इस प्रकार है—इकारादि में यद्यपि मात्रा लाघव है किन्तु शापक करने में शान गौरव है मात्रा लाघव का आदर करना एवं शान गौरव का आदर न करना ऐसी कोई राजा की आज्ञा नहीं है । समय का साम्य ही है ।

केवल तृतीमान्त स्वारी से क्रीतापर्थ में ईकन् होता है । ट्रोगचतुष्टय की स्वारी कहते हैं । स्वारीकम् ।

१६९९ पाणपादमापशताद्यत् ५।१।३४।

अध्यर्धपण्यम् । द्विपण्यम् । अध्यर्धपाद्यम् । द्विपाद्यम् । इह 'पादः पन्' इति इति न, 'यस्य' इति लोपस्य स्थानिवद्भावात् । 'पद्यत्यतदर्थे' इत्यपि न, प्राण्यङ्गार्थस्यैव तत्र ग्रहणात् ।

अध्यर्ध पूर्वक एवं द्विगुप्तमास के अन्त में स्थित पण, पाद, माप, शत शब्द उनसे पर यत् प्रत्यय होता है । अध्यर्धपण्यन् । द्विपण्यन् । अध्यर्धपाद्यन् । द्विपाद्यन् । यदां 'पादः पन्' से पदादेश इस लिए न हुआ कि 'यस्येति च' सूत्र से जायमान यकार का अलोप का यदां स्थानिवद्भाव से आर्हयारोप होकर अकारान्त पादत्व वृद्धि वदित हुई है । 'पद्यत्यतदर्थे' की प्रवृत्ति प्राणी के अङ्ग वाचक पाद में होती है, अन्यत्र नहीं ।

१७०० शाणाद् वा ५।१।३५।

यत् स्यात् पञ्चे ठञ् । तस्य लुक् । अध्यर्धशाण्यम् । अध्यर्धशाणम् ।

अध्यर्ध पूर्वक समर्थ तृतीयान्त शाण शब्द से आर्हय अर्थ में यत् प्रत्यय विकल्प से होता है एवं पक्ष में ठञ् प्रत्यय होता है इस ठञ् का लुक् होकर 'अध्यर्धशाण्यन्' रूप हुआ, यत् पक्ष में 'अध्यर्धशाण्यन्' रूप है ।

१७०१ द्वित्रिपूर्वादण् च ५।१।३६।

शाणादित्येव । चाद् यत् । तेन त्रैलुप्यम् । परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाण्योरिति पर्थदासादिवृद्धिरेव । द्वैशाण्यम् । द्विशाण्यम् । द्विशाणम् ।

इह ठञ्वाद्यन्त्रयोदश प्रत्ययाः प्रकृतांस्तेषां समर्थविभक्तयोऽर्थाश्राकाङ्क्षितास्त इदानीमुच्यन्ते ।

दि एवं त्रि पूर्वक जो शाणशब्द तदन्त से विकल्प से अण् प्रत्यय एवं चकार से यत् होता है अण्, ठञ् यत् से तीन रूप यदां हुए हैं, यथा अण् में द्वैशाण्यन्, यत् में द्विशाण्यन्, ठञ् एवं उसका लुक् में द्विशाण्यन् । उत्तरपद के आद्यत् की वृद्धि विधायक परिमाणान्तस्य में शाणमिन्न कथन से यदां उत्तरपद वृद्धि न होकर आदि वृद्धि 'तद्धितस्य' सूत्र से हुए अण् प्रत्यय विधान पक्ष में ।

यदां ठञ्वाद्यन्त्रयोदश प्रत्यय प्रत्यय कहे गये हैं, उनका समर्थ विभक्तियों एवं प्रत्ययों के अर्थ विशेष वक्षितताकाङ्क्षा से आकाङ्क्षित रहें इस समय इसका ही विषय कहा जाता है । त्रैलुप्य

प्रत्ययों का परिगणन अभ्यासार्थ इस प्रकार है यह कथन फलित्रार्थपरक ही है अपूर्व नहीं—
यथा-२-ठक् ठञ्, ४ ठञ्ठक् ७ कन् ट्ठुन् टिठन्, ९-मञ् शतमानाद् अण्, ११ स ईकन्
१२ णादि यत् १३ द्वित्रि से विहित अण् । 'द्वित्रिपूर्वादण् च' को अधिकृत आचार्य सूत्र न मानकर
वार्तिक मानते हैं । सूत्रपाठ में इनका पाठ प्रक्षिप्त है ऐसा करते हैं । श्रीनागेशमहोदय ने भी
इसको वार्तिक ही कहा है ।

१७०२ तेन क्रीतम् ५।१।३७।

ठञ् । गोपुच्छेन क्रीतं गौपुच्छिकम् । साम्प्रतिकम् । प्रास्थिकम् । ठक्
नैष्ठिकम् ।

तृतीयान्त समर्थ से 'वससे खरोदा हुआ' अर्थात् क्रीत अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ।
'आर्हीगोपुच्छात्' में पयुंदात् से ठक् अप्राप्त है अतः ठञ् प्रत्यय से गोपुच्छ परिमित क्षेत्रादि से
क्रीत अर्थ में गौपुच्छिकम् । आधुदात्त यह शब्द है । इसी प्रकार सप्तति पञ्च प्रत्यय से भी तृतीयान्त
॥ क्रीत अर्थ में ठक् अप्राप्त है अतः ठञ् करना । सप्तत्या क्रीतम्, प्रत्येन क्रीतम् । निष्केन क्रीतम्
यहाँ ठक् प्रत्यय नैष्ठिकम्, अन्तोदात्त यह शब्द है । इन्द्रदान पूर्वक अन्य वस्तु का वससे
ग्रहण करना उसे कव्य कहते हैं । 'तेन' तृतीयान्त से कव्य वटक द्रव्य का ही ग्रहण है ।

१७०३ इद्गोण्याः १।२।५०।

गोण्या इत् स्यात् तद्धितलुकि । लुकोऽपवादः । पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः
पटः पञ्चगोणिः ।

तद्धित प्रत्यय के लुक् होने पर गोणी शब्द की इत् आदेश होता है । कृत्स्न हकार दीर्घ
ईकार के स्थान में हुआ । यह 'लुक् तद्धितलुकि' का अपवाद है । पञ्चगोणि । यहाँ भी प्रत्यय का
लुक् न हुआ । गोणी आनपन चेत् यह कोप्रत्यय में कह चुके हैं । अन्यत्र गोणा इत्येव ।

१७०४ तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ ५।१।३८।

सयोगः = सम्बन्धः । उत्पातः = शुभाशुभसूचकः । शक्तिकः शक्त्यो वा
धनपतिमयोगः । शक्तिक शक्त्य वा दक्षिणाक्षिस्पर्धनम्, -शतस्य निमित्त-
मित्यर्थः । ॐ वातपित्तश्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुपसंस्थानम् ॐ । वातस्य
शमन कोपन वा-वातिकम् । पित्तिकम् । श्लैष्मिकम् । ॐ सन्निपाताच्चेति
यत्तदयम् ॐ । साग्निपातिकम् ।

सम्बन्ध पञ्च शुभ तथा अशुभ सूचक अर्थ में उनके निमित्त होनेपर पञ्चान्त शत शब्द से
ठञ् प्रत्यय होता है । धनो का सम्बन्ध शनमुदा प्राप्ति का निमित्त है शत्यः शक्तिकः ।
अथवा दहनी आँख का स्पन्दन शनमुदा प्राप्ति में निमित्त कारण है ।

वात, पित्त, श्लेष्मन् से पर शमन या कोपन अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ।

वात का शमन या कोपन अर्थ में वातिकम् । पित्त का शमन या कोपन में पित्तिकम् ।
श्लेष्मा के शमन या कोपन अर्थ में श्लैष्मिकम् ।

१७०५ गोद्वयचोऽसहस्रयापरिमाणाध्यादैर्यत् ५।१।३९।

गोर्निमित्तं संयोग उत्पातो वा गव्यः । द्वयचः—धन्यः । यशस्यः । स्वर्ग्यः । गोद्वयचः किम् , विजयस्य वैजयिकः । असंख्येत्यादि किम् , पञ्चानां पञ्चकम् , सप्तकम् । प्रास्थिकम् । खारीकम् । अश्वादि—आश्विकम् । आशिमकम् । ॐ ब्रह्मवर्चसादुपसङ्ख्यानम् ॐ । ब्रह्मवर्चस्यम् ।

पठ्यन्त गोशब्द से एवं संख्याभिन्न, परिमाणभिन्न परिमाण वाचक से भिन्न अश्वादि गणपठित शब्दों से भिन्न जो दो अच् युक्त शब्द उस से निमित्त अर्थ में (तस्य निमित्तम्) विकल्प से यत् प्रत्यय होता है । गव्यः । धन का संयोग या उत्पात में धन्यः । यशस्यः । स्वर्ग्यः । विजय का संयोग या उत्पात में विजय शब्द तीन अच् युक्त होने से यत् की अप्राप्ति से ठञ् हुआ संख्यावाचक से कन् पञ्चकम् । सप्तकम् । पारमाण वाचक प्रस्थ से ठञ् प्रास्थिकम् । परिमाण वाचक खारी से ईकक् खारीकम् । अश्वादि से यत् नहीं हुआ । * पठ्यन्त ब्रह्मवर्चसे से संयोग या उत्पात में यत् प्रत्यय होता है * ब्रह्मवर्चस्यम् ।

१७०६ पुत्राच्छ च ५।१।४०।

चाद् यत् । पुत्रीयः । पुत्र्यः ।

पठ्यन्त पुत्र से संयोग का उत्पात अर्थ में छप्रत्यय होता है, चकारग्रहण से यत् भी होता है यत् का अनुकर्षणार्थ यहाँ चकार है । पुत्रस्य संयोगः, उत्पातो वा पुत्रीयः । पक्ष में पुत्र्यः ।

१७०७ सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणौ ५।१।४१।

सर्वभूमे निमित्तं संयोग उत्पातो वा सार्वभौमः । पार्थिवः । सर्वभूमि-शब्दोऽनुशक्तिकादिषु पठ्यते ।

पठ्यन्त समर्थ सर्वभूमि शब्द से एवं पृथिवी शब्द से पर निमित्त, संयोग एवं उत्पात में अण् अच् प्रत्यय होता है । सर्वभूमि शब्द का अनुशक्तिकादि में पाठ है, उभयपद के आदि अच् की वृद्धि हुई है । सार्वभौमः । पार्थिवः ।

१७०८ तस्येश्वरः ५।१।४२।

‘तस्य’ की अनुवृत्ति आ रही थी पुनः यहाँ तस्य ग्रहण निमित्तादि की निवृत्त्यर्थ है’ पठ्यन्त समर्थ से ईश्वर अर्थ में यथाप्राप्त प्रत्यय होता है । यह अधिकार सूत्र है ।

१७०९ तत्र विदित इति च ५।१।४३।

सर्वभूमेरीश्वरः सर्वभूमौ विदितो वा सार्वभौमः = पार्थिवः ।

सप्तम्यन्त समर्थ में विदित अर्थ में पठ्यन्त से ईश्वर अर्थ में अण् अच् प्रत्यय सर्वभूमि एवं पृथिवी से होते हैं । सर्वभूमौ विदितः सर्वभूमेः ईश्वरः सार्वभौमः । पृथिव्यां विदितः, तस्या ईश्वरः पार्थिवः ।

१७१० लोकसर्वलोकाट्ठञ् ५।१।४४।

तत्र विदित इत्यर्थे । लौकिकः । अनुशक्तिकादित्वादुभयपदवृद्धिः—सार्व-लौकिकः ।

सप्तम्यन्त लोके एवं सर्वलोक से विदित अर्थ में ठम् होता है । सर्वलोक से ठम् अनुश्रुतिवादित्व प्रयुक्त पूर्व पद एवं उत्तरपद के आदि अन् की वृद्धि हुई है ।

१७११ तस्य वापः ५।१।४५।

उच्यते अस्मिन्निति वापः = क्षेत्रम् । प्रत्यस्य वापः-प्रास्थिकम् । द्रौणि-
कम् । खारीकम् ।

षष्ठ्यन्त से वाप अर्थ में ठप्तादि प्रत्यय होते हैं । जिस क्षेत्र में अन्न बोया जाय उसको वाप = क्षेत्रादि । अधिकरण में वप् से घञ् वापः ।

प्रत्ययशब्द प्राथपरिमित वाग्य परक है, प्रत्य से नहीं बोया जाता किन्तु अन्न से बोया जाता है । प्रास्थिकम् । द्रौणिकम् । खारी से खंक् खारीकम् ।

१७१२ पात्रात् षन् ५।१।४६।

पात्रस्य वापः क्षेत्रं पात्रिकम् । पात्रिकी = क्षेत्रमक्षिः ।

षष्ठ्यन्तपात्र शब्द से 'वाप' अर्थ में षन् प्रत्यय होता है । कीच्छि से कीष् । क्षेत्रावयव अर्थ-
वाचक क्षेत्रमक्षि शब्द है ।

१७१३ तदस्मिन् वृद्धधायलामशुल्कोपदा दीयते ५।१।४७।

वृद्धिर्दीयत इत्यादिक्रमेण प्रत्येकं सम्बन्धादेकवचनम् । पञ्चास्मिन् वृद्धिः,
आयः, लाभः, शुल्कः, उपदा वा दीयते पञ्चकः । शतिकः । शत्यः । साहस्रः ।
उत्तमर्णेन मूलातिरिक्तं ग्राह्यं वृद्धिः । ग्रामादिषु स्वामिग्राह्यो भाग आयः ।
विक्रेत्रा मूल्यादधिकग्राह्यं लाभः । रक्षानिर्देशो राजभागः शुल्कः । उत्कोचः =
उपदा । ॐ चतुर्थ्यर्थे उपसंख्यानम् ॐ । पञ्चास्मै वृद्ध्यादि दीयते पञ्चको
देवदत्तः । 'सममग्राहणे दानम्' इति वदधिकरणत्वविवक्षा वा ।

प्रथमा समर्थ से 'अस्मिन् दीयते' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होते हैं । आयसे ही गतार्थ है
शुल्कग्रहण व्यर्थ है । पञ्चकः में कन् प्रत्यय हुआ है । शतिकः ठन् शत्यः में यत् । साहस्र में अण् ।
श्रद्धा को देने वाला मूल धन से अतिरिक्त जो व्याज लेता है उसको वृद्धि कहते हैं । ग्राम आदि में
स्वामी के ग्रहण कर्म भाग का नाम आय है । बेचनेवाला मूकधन से अतिरिक्त जो धन को ग्रहण
करता है उसको लाभ कहते हैं । राजा द्वारा रक्षार्थगृहीत भनादिक को कर = शुल्क कहते हैं । भेट को
वस्तु को उपदा = उत्कोच कहते हैं या घूस को भी कहते हैं । * चतुर्थी के अर्थ में प्रथमान्त समर्थ से
प्रत्यय होता है । अथवा अग्राहण को दान देने से जितना दिया गया उतना ही प्राप्त होता है वहाँ
चतुर्थी के अर्थ में अविवरणत्व को विवक्षा कर 'अग्राहणे' वहाँ सप्तमी हुई उसी प्रकार वहाँ भी
सम्प्रदानत्वेन अविवक्षा एवं अधिकरणत्वेन विवक्षाकर इस 'चतुर्थ्यर्थे' वचन का अनाश्रय हो है ।
विवक्षा की अधीनता को कारक ग्रहण करते हैं । "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" यह सिद्धान्त है ।

१७१४ पूर्णार्धात् ठन् ५।१।४८।

यथाक्रमं ठक्ठिनोरपवादः । द्वितीयो वृद्ध्यादिरस्मिन् दीयते द्विती-
यिकः । तृतीयिकः । अधिकः । अर्धशब्दो कथ्यकस्याद्धे रुढः ।

प्रथमान्त पूरणप्रत्ययान्त एवं अर्थ शब्द से 'वृद्धादि दीयते' में ठन् प्रत्यय होता है। यह नयाक्रम ठक् एक् एवं टिठन् का बाधक है। तृतीय में 'त्रिः सम्प्रसारणम्' से पूरणार्थक तीस प्रत्यय एवं सम्प्रसारण से तृतीय है, इन दोनों प्रथमान्त से वृद्ध्यादि अर्थ में ठन् प्रत्यय हुआ है अट्ठञो में अर्थ शब्द रूढ है। अधिकः ठन् ने टिठन् को बाध किया।

१७१५ भागाद्यच्च ५।१।४९।

चाट्ठन्। भागशब्दोऽपि रुप्यकस्याद्धे रूढः। भागो वृद्ध्यादिरस्मिन् दीयते भाग्यम्, भागिकं शतम्। भाग्या भागिका त्रिंशतिः।

प्रथमान्त भाग से 'वृद्धादि दीयते' अर्थ में यत्प्रत्यय होता है, पक्ष में चकार से ठन् प्रत्यय हुआ। अट्ठञो में भागशब्द रूढ है। यहाँ भागशब्द से वृद्धि आदि का ज्ञान करना चाहिये।

१७१६ तद्हरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः ५।१।५०।

वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दस्तदन्तं यत्प्रातिपदिकं तत्प्रकृतिकाद् द्विती-
यान्तादित्यर्थः। वंशभारं हरति वहति आवहति वा वांशभारिकः। ऐष्टुभारिकः।
'भाराद् वंशादिभ्यः' इत्यस्य व्याख्यान्तरम्—भारभूतेभ्यो वंशादिभ्य इति।
भारभूतान् वंशान् हरति वांशिकः। ऐष्टुकः।

यह हरण करता है, वहन करता है एवं आवहन कर्ता है इन अर्थों में वंशादि से पर भारान्त प्रातिपदिक उनसे विदित जो द्वितीया तदन्त से पर यथाविधि प्रत्यय होता है। इसको एक अन्य व्याख्या भी है—भारभूतवंशादि से पर यथाविहित प्रत्यय होते हैं। वांशभारिकः। वांशिक प्रवृत्ति उदाहरण है।

१७१७ वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ ५।१।५१।

यथा संख्यं स्तः। वस्नं हरति, वहति, आवहति वा वस्निकः। द्रव्यकः।
पूर्वं निदिष्ट अर्थों में वस्न एवं द्रव्य से पर ठन् एवं कन् यथासंख्य होते हैं। वस्न मूल्य को कहते हैं।

१७१८ सम्भवत्यवहरति पचति ५।१।५२।

प्रस्थं सम्भवति प्रास्थिकः=कटाहः। प्रस्थं स्वस्मिन् समावेशयतीत्यर्थः।
प्राथिकी ब्राह्मणो। प्रस्थमवहरति पचति वेत्यर्थः। ऋ तत्पचतीति द्रोणादण्
च ऋ। चाट्ठञ्। द्रोणं पचतीति द्रोणी, द्रोणिकी।

आधार के प्रमाण से आधेय का प्रमाण अधिक न रहे वहाँ विशेषणभूत जो धारण उसको सम्भवति कहते हैं।

द्वितीयान्त समर्थ से 'संभवति' अवहरति, पचति इन अर्थों में प्रस्थ से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। प्रास्थिकः ठन्प्रत्यय, खालिङ्ग में ङाप् प्रास्थिका। प्रस्थपरिमित अन्नादिक को अपने में धारण करता है। कटाह=कटारि। प्रस्थ को अवहरण होनेवाली या पाकक्रिया करनेवाली अर्थ में प्रास्थिक। द्वितीयान्तद्रोण से अणुप्रत्यय होता है। चकारप्रश्न से ठन् होता है। द्रोणी। द्रोणिकी।

१७१९ आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम् ५।१।५३।

पक्षे ठञ् । आढकं सम्भवति, अवहरति, पचति वा आढकीना । आढकि-
की । आचितीना । आचितिकी । पात्रीणा । पात्रिकी ।

द्वितीयान्त आढक, आचित, पात्र से पर सम्भवति आदि अर्थ में खप्रत्यय विकल्प से होता है । पञ्च में ठञ् होता है । खप्रत्यय = आढकीना । ठञ् आढकिकी । आचितीना । आचितिकी । पात्रीणा । पात्रिकी ।

‘आचिनी दशमाराः स्युः’ । शकट = बैलगाड़ी या रथादि से होने वाला मार को आचित कहते हैं । शकटो मार. आचितः ।

प्रत्यमान इस प्रकार का है ।

अभियामाढकदोगी खारीनाहो निकुञ्जक ।

कुडवः प्रत्य इत्याद्याः परिमाणार्थका. १५क् ॥

पादसुरोयो भागः स्वाप ।

भारस्त्याद् विंशति तुला ॥

इन परिमाणों को कोश से अवगत करना चाहिये । प्राचीनकाल में शास्त्राध्ययन के पूर्व काल में शब्दरूप, धातुरूप समास एवं कोश को कण्ठस्थ करा कर शब्द संगति सबदानन्तर विशिष्ट ज्ञानार्थ अध्ययन में प्रविष्ट छात्रों को कराते थे । अतः उक्तकाटि के प्रश्नों में अर्थभिर्देश आचार्यों ने नहीं किया है । आधुनिक परिस्थिति उस अध्ययनक्रम से सर्वथा विपरीत हो रही है । अर्थ-विषयक ज्ञानसामान्यमात्रवान् अध्ययन होने लगे हैं । अर्थ को ज्ञान बिना केवल शब्दज्ञान व्यर्थ हो रहा है ।

१७२० द्विगोः पृश्च ५।१।५४।

आढकाचितपात्रादित्येव । आढकाद्यन्ताद् द्विगोः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु घञ्-
रौ वा स्तः पक्षे ठञ् । तस्याद्वयर्धति लुक् । पितृबान्छोप् । द्वयाढकिकी ।
द्वयाढकीना । द्विगोरिति ङीप् द्वयढाकी । द्वयाचितिकी । द्वयाचितीना ।
अपरिमाणेति ङीर्निषेधात्—द्वयाधिता । द्विपात्रिकी । द्विपात्रीणा । द्विपात्री ।

आढक आचित पात्र वे हैं अन्त में जिसको ऐसे द्विगु समास सबक से सम्भवति आदि अर्थों में घञ् ख विकल्प से होता है, पञ्च में ठञ् होता है वसका ‘अध्यर्थ’ से लुक् होता है । प्रत्यय में वित्त्व है अतः कौलिङ्ग में ङीष् होता है । तद्विगत्यर्थे द्विगुसमास कर द्विगु के निमित्त तद्विप्रत्यय का लुक् ‘अध्यर्थ’ से द्वायाढक से इनमे घञ् ख, ठञ् पितृत्वव्य में ङोष द्वायाढकिकी, द्वायाढकिना, द्विगुसमास कौलिङ्ग में ङीप् द्वायाढकी । इसी प्रकार द्वायाचितिकी, द्वायाचितीना । अपरिमाण से ङीर्निषेध से द्वाचिता । द्विपात्रिकी । द्विपात्रीणा । द्विपात्री ।

१७२१ कलिजाल्लुक्खौ च ५।१।५५।

कुलिजान्ताद् द्विगोः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु लुक्खौ वा स्तः । चात् पृश्च ।
लुगमावे ठञ्. अवणम् । द्विकुलिजी । द्विकुलिजिकी । द्विकुलिजीना ।
द्विकुलिजिकी ।

कुलिज है अन्त में जिसको ऐसे द्विगु से सम्भवति आदि अर्थों में ठञ् का लुक् एवं ख विकल्प से होता है । चकार से घञ् प्रत्यय होता है । तीन रूप हुए ।

१७२२ सोऽस्यांशवस्नभृतयः ५।१।५६।

अंशो भागः । वस्नं मूल्यम् । भूतिर्वेतनम् । पञ्च अशो वस्नो भूतिर्वाऽस्य पञ्चकः ।

संख्यावाचक प्रथमान्त से भाग, मूल्य, वेतन इसका इन अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होते हैं । कन् प्रत्यय से पञ्चकः ।

१७२३ तदस्य परिमाणम् ५।१।५७।

प्रस्थं परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः ।

परिमाणवाचक प्रथमान्त से पष्ठयर्थ में यथा विहित प्रत्यय होते हैं । यद्वा परिच्छेदक मात्रार्थक परिमाण शब्द है । प्रास्थिकः ठञ् प्रत्यय हुआ ।

१७२४ सङ्ख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्यनेषु ५।१।५८।

पूर्वसूत्रमनुवर्तते । तत्र संज्ञायां स्वार्थे प्रत्ययो वाच्यः । यद्वा द्व्येकयो-
रिति वत्संख्यामात्रवृत्तेः परिमाणिनि प्रत्ययः । पञ्चैव पञ्चकाः = शकुनयः ।
पञ्च परिमाणमेपासिति वा । सङ्घे-पञ्चकः । सूत्रे अष्टकं पाणिनीयम् । सङ्घ-
शब्दस्य प्राणिसमूहे रूढत्वात् सूत्रं पृथगुपात्तम् । पञ्चकमध्ययनम् । ॐ स्तो-
मे ङविधिः ॐ । पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य पञ्चदशः । सप्तदशः । एक-
विशः । (ङप्रत्यये तिलोपः) । सोमयागेषु छन्दोगैः क्रियमाणा पृष्ठ्यादिसंज्ञिका
स्तुतिः = स्तोमः ।

संज्ञा, संघ, सूत्र, अध्याय, इन अर्थों में प्रथमान्त संख्यावाचक से अस्य परिमाण अर्थ में उक्त प्रत्यय होते हैं । संज्ञा में स्वार्थ में प्रत्यय होता है । यथा पञ्चैव = पञ्चकाः = शकुनयः । पञ्च परिमाण है जिसका संघ प्राणिसमूह में रूढ होने से सूत्रका पृथगुपादान किया है स्तोम अर्थ में ङप्रत्यय होता है । सोमयाग में साम गाने वालों के द्वारा क्रियमाण पृष्ठ्यादि संज्ञिका स्तुति को स्तोम कहते हैं ।

१७२५ पङ्क्तिर्विशतिर्त्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्पष्टिसप्तत्यशीतिन-
वतिशतम् ५।१।५९।

एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते ।

पङ्क्ति, विशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, पष्टि सप्तति, अशीति, नवति, शत के रूढि शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं । इनमें अवयवार्थ ज्ञान के विषय आग्रह न करना चाहिये । पङ्क्ति शब्द नानार्थक है । क्रम से सन्निवश में—ब्राह्मणपङ्क्तिः । पिपीलिकापङ्क्तिः । दश संख्या में वङ्क्तिरथः = दशरथः । छन्दविशेष में—जिसके पाँच अक्षर एवं पञ्चपाद है उस छन्द को पङ्क्तिच्छन्द कहते हैं । इसमें 'तदस्य' परिमाणन् की अनुवृत्ति है । पङ्क्ति—पञ्चन् शब्द से तिप्रत्यय एवं अन् रूप टि संशक का लोप है एवं चोः कुः से कुत्व है । पञ्च पदानि प्रमाणमस्य पङ्क्तिः = छन्दः । यद्वा पद शब्द पाद का पर्याय है । विशति—द्वयोः दशतोः प्रमाणमस्य द्विदश को विन्भाव शति प्रत्यय एवं अपदत्व है । नकार का 'नश्चापदान्तस्य' से अनुस्वार है । कोई 'वि' भाव ही बोधन

कर अपदत्व प्रयुक्त अनुस्वार बोधन नहीं करते है । त्रिंशत्—त्रयाणां दशताम् निदशत् को त्रिन् भाव एव शत प्रत्यय । अन्यमत में 'त्रि' भाव । त्रयोदशत् परिमाणमस्य त्रिंशत् । चत्वारिंशत्—चतुर्दशन् को चत्वारिन् आदेश शत प्रत्यय । पञ्चाशत्—पञ्चदशन् को पञ्चा आदेश शत प्रत्यय । षष्टि—षष्ठां दशताम् में षष्ठदशन् को षष् आदेश तिप्रत्यय । अपदत्व । १८ दशत् परिमाणम् अस्या षष्टि । सप्तति—सप्तदशन् से तिप्रत्यय सप्त आदेश सप्तति है । सप्तानां दशतां सप्तति । अष्टानां दशताम् अष्टादशन् को अष्टौ आदेश तिप्रत्यय अष्टौति । नवानां दशतां नवदशन् को नव आदेश तिप्रत्यय नवति । दशनां दशताम् में दशदशन् से दशप्रत्यय प्रकृति को द्वा आदेश शतम् । विंशति आदि शब्द सरया एव सरयेय अर्थ में एववचनान्त ही है । विंशति = गाव । गवान् विंशति । दशदशन् आदि से सप्तस आदि शब्द भी इसी प्रकार निपातन से सिद्ध हो सकते है यह भी आचार्यों का मत है ।

१७२६ पञ्चदशतौ वर्गे वा ५।१।६०।

पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गः ।

वर्ग अर्थ में पञ्चद एव दशत् शब्द विकल्प से सिद्ध होने है । इन दोनों से कतिप्रत्यय होता है । कति में अद् अवशेष रहता है अन् टि का होता है । पञ्च में 'सरयाया' सूत्र से कन् प्रत्यय से पञ्चक । दशक होता है ।

१७२७ त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ग्राहणे संज्ञाया ङण् ५।१।६२।

त्रिंशदध्याया परिमाणमेया ग्राहणानां त्रैशानि । चत्वारिंशानि ग्राहणानि । ग्राहण विषय में सञ्ज्ञा होने पर षष्ठ्यर्थ परिमाण अर्थ में त्रिंशद् एव चत्वारिंशद् से ङण् प्रत्यय होता है । टिप्पण से त्रैशानि । चत्वारिंशानि ।

१९२८ तदर्हति ५।१।६३।

'लब्धु योग्यो भवति' इत्यर्थे द्वितीयान्ताद् ठभादयः स्युः । श्वेतच्छत्रम् अर्हति श्वेतच्छत्रिक ।

इसको वह प्राप्त करने योग्य है इस अर्थ में द्वितीयान्त शब्द से ठभ होता है ।

१७२९ छेदादिभ्यो नित्यम् ५।१।६४।

नित्यम् आभीक्ष्ण्यम् । छेद नित्यमर्हति छेदिको वेतसः, छिन्नप्ररुद्ध-त्वात् । क्षीविरागविरङ्गश्च । विराग नित्यमर्हति वैरागिक । वैरङ्गिक ।

नित्यम् अर्हति इस अर्थ में द्वितीयान्त छेदादि से ठभ प्रत्यय होता है । बांश काटने पर छिदि गत होता है । छेदिक । द्वितीयान्त विराग एव विरङ्ग से ठब् प्रत्यय होता है ।

१७३० शीर्षच्छेदाद् यञ्च ५।१।६५।

शिरच्छेद नित्यमर्हति शीर्षच्छेद्यः । शीर्षच्छेदिकः । यद्धत्को सन्नियोगेन शिरसः शीर्षभागे निपात्यते ।

नित्यम् अर्हति अर्थ में शीर्षच्छेद शब्द से यच् एव टक् प्रत्यय एव इन दोनों प्रत्यय से पूर्व शिरस् के स्थान में शीर्ष आदेश होता है ।

१७३१ दण्डादिभ्यो यत् ५।१।६६।

एभ्यो यत् स्यात् । दण्डम् अर्हति दण्ड्यः । अर्ध्यः । वध्यः ।

द्वितीयान्त दण्डादि शब्दों से अर्हति अर्थ में यत्प्रत्यय होता है, दण्डम् अर्हति दण्ड्यः । अर्थ-
अर्हति अर्ध्यः ।

१७३२ पात्राद् धञ्च ५।१।६८।

चाद् यत् तदहति इत्यर्थे । पात्रियः । पात्र्यः ।

द्वितीयान्त पात्र से अर्हतीत्यर्थ में घञ् प्रत्यय एवं चकार से यत् प्रत्यय होता है । पात्रम्
अर्हति पात्रियः ।

१७३३ कडङ्करदक्षिणाच्छ च ५।१।६९।

चाद् यत् । कडं करोतीति विग्रहे अत एव निपातनान् खच् । कडङ्करम् =
सापमुद्रादि काष्ठम् अर्हति इति कडङ्करीयो गौः । कडङ्कर्यः । दक्षिणाम् अर्हतीति
दक्षिणीयः । दक्षिण्यः ।

अर्हति अर्थ में द्वितीयान्त कडङ्कर शब्द एवं दक्षिणा शब्द से छप्रत्यय होता है । चकार से
यत् । द्वितीयान्त कड शब्द से करोति अर्थ में कृ धातु तदन्त कड कृ से खच् प्रत्यय होता है
मुमागम से इस सूत्र में निपातन करण से होकर कडङ्कर रूप हुआ । उससे छ ईयादेश । पक्ष में
यत् । उदर वा मूंग का भूपारूप काठ को खाने वाला तैल ।

१७३४ स्थालीविलात् ५।१।७०।

स्थालीविलम् अर्हति स्थालीविलीयास्तण्डुलाः । स्थालीविल्याः । पाक-
योग्य इत्यर्थः ।

द्वितीयान्त स्थालीविल से छप्रत्यय होता है, पकाने योग्य चावल को स्थालीविल्व कहते हैं ।

१७३५ यज्ञत्विग्भ्यां यखञौ ५।१।७१।

यथासङ्ख्यं स्तः । यज्ञम् ऋत्विजम् वा अर्हति यज्ञियः । आत्विजीनो
यजमानः । ऋयज्ञत्विग्भ्यां तत्कर्माहर्तीत्युपसङ्ख्यानमृक्षं । यज्ञियो देशः आत्वि-
जीन ऋत्विक् ।

इत्यर्हीयाणां ठगादीनां द्वादशानां पूर्णोऽवधिः ।

द्वितीयान्त यज्ञ एवं ऋत्विक् से यथाक्रम घ एवं कञ् होता है ।

यज्ञ एवं ऋत्विक् से उस कर्म करने योग्य है उसे में प्रत्यय होते हैं । यज्ञ करने योग्य देश
को यज्ञियः कहते हैं । ऋत्विक् प्राप्त करने योग्य यजमान को आत्विजीन कहते हैं ।

८० श्री बा० कृ० पञ्चोलि विरचिन रत्नप्रभा में आर्हीय प्रकरण समाप्त ।



अथ ठञधिकारे कालाधिकारप्रकरणम्

अतः परं ठजेन ।

१७३६ पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति ५।१।७२।

पारायण वर्तयति पारायणिक = छात्र. । तुरायणम् = यज्ञविशेषस्त वर्तयति तौरायणिको यजमान । चान्द्रायणिक. ।

समर्थे द्वितीयात् पारायण, तुरायण, एव चान्द्रायण से वह सम्पादन करता है इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । किसी ग्रन्थादिक का आदि से लेकर अन्त तक अध्ययन करना उसको पारायण कहते हैं, उसे सम्पन्न करने वाला छात्र को पारायणिक कहते हैं, ठञ् प्रत्यय आदि वृद्धि भसधा एकादेश, अकारलोप यद्यपि अध्ययन किया सम्पादन में गुरु एव शिष्य दोनों करण है, इन दोनों के बिना अध्ययन किया की निष्पत्ति सम्भव नहीं है तो भी यहा शिष्य में ही प्रत्यय होता है गुरु में नहीं । यह विषय महामाध्य में विस्तृत वर्णित है । तुरायण नामक यज्ञ को करने वाला यजमान को 'तौरायणिक' कहते हैं । चान्द्रायण नामक व्रत को करने वाले को चान्द्रायणिक कहते हैं । इस प्रकरण में ठञ् का ही अधिकार चलता है । उत्तरोत्तर सूत्रों में एवकार से ठक् की व्यावृत्ति हुई है ।

१७३७ संशयमापन्नः ५।१।७३।

मशयविषयीभूतोऽर्थ साशयिक ।

द्वितीयात् संशयशब्द से प्राप्तिकर्ता अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । एक विशेष्य में अनेक विशेषण विशिष्ट धान को संशय कहते हैं । स्थाणुरां पुरुषो वा यदा इदंन्व से न शत वस्तु में स्थाणु स्वप्रकारक, पुरुषत्व प्रकारक धान द्वय भासमान है । संशययुक्त को साशयिक कहते हैं ।

१७३८ योजनं गच्छति ५।१।७४।

योजनिक । ॐ क्राशशतयोजनशतयोरुपसङ्ख्यानम् ॐ । क्रोशशत गच्छति क्रीशशतिक । योजनशतिक । ॐ ततोऽभिगमनमर्हतीति वक्तव्यम् । क्रोशशतादभिगमनमर्हतीति क्रोशशतिको भिक्षु । योजनशतिक आचार्य ।

गमन कर्ता है इस अर्थ में द्वितीयात् समर्थे योजन शब्द से पर ठञ् प्रत्यय होता है योजन गच्छति योजनिक, ठञ्, आदि वृद्धि आदि कार्य हुए ।

द्वितीयात् क्रोशशत एव योजनशत शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है । पञ्चम्यन्त क्रोशशत योजनशत से बुलाने योग्य है इस अर्थ में भी ठञ् होता है । विरागी स्थाणी भिक्षु को क्रोशशत से बुलाने योग्य में क्रीशशतिक भिक्षु । योजनशत से आह्वान कर बुलाने योग्य आचार्य को योजनशतिक कहते हैं ।

१७३९ पथः फन् ५।१।७५।

पो ङीपर्थः । पन्थानं गच्छति पथिकः । पथिकी ।

द्वितीयान्त पथिन् शब्द से गमनकर्ता है इस अर्थ में प्कन् प्रत्यय होता है । खोलिङ्ग में ङीप् के लिए प्रकार अनुबन्ध है ।

१७४० पन्थो ण नित्यम् ५।१।७६।

पन्थानं नित्यं गच्छति पान्थः । पान्था ।

द्वितीयान्त पथिन् शब्द से नित्य गमन कर्ता है इस अर्थ से णप्रत्यय होता है । पान्थः यहां पथः पन्थ यह आदेश होता है । कदाचित् गमन में पथिकः होता है । भाषा में नित्य ग्रहण का प्रत्याख्यान है कदाचित् गमन में भी पान्थः होता है ।

१७४१ उत्तरपथेनाहृतश्च ५।१।७७।

उत्तरपथेनाहृतम् औत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन गच्छति औत्तरपथिकः ।
ॐ आहृतप्रकरणे वारिजङ्गलस्थलकान्तारपूर्वादुपसङ्ख्यानम् ॐ । वारिप-
थिकम् ।

आहृत = लाया गया इस अर्थ में एवं गमनकर्ता इस अर्थ में तृतीयान्त उत्तरपथ शब्द से ठञ् प्रत्यय होता है । अप्रत्ययान्त उत्तरपथ से टञ् प्रत्यय हुआ, आदि वृद्धि आदि का कार्य से औत्तरपथिकम् । लाया गया इस अर्थ में तृतीयान्त वारिपूर्वक जङ्गलपूर्वक कान्तार पूर्व पथिन् से पर ठञ् प्रत्यय होता है । यथा वारिपथिकम् ।

१७४२ कालात् ५।१।७८।

व्युष्टादिभ्योऽणित्यनः प्रागधिकारोऽयम् ।

व्युष्टादिभ्योऽण् सूत्र से पूर्व तक कालात् का अधिकार है । यहां काल पद से रूपग्रहण नहीं है । क्योंकि—‘तमधीष्ट’ सूत्र में अत्यन्त संयोग में द्वितीय निर्देश से । ‘मासाद् वयसि न मास का काल विशेषण बोधन है अतः स्वरूप का ग्रहण नहीं है ।

१७४३ तेन निर्वृत्तम् ५।१।७९।

अह्ना निर्वृत्तम् आहिन्कम् ।

तृतीयान्त समर्थ से सम्पादित अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । दिवस से निर्वृत्त कार्य में अहन् ठक् आदि वृद्धि उपधा का आकारलोप ‘अहोऽपोऽनः’ से हुआ । यहां टिलीप न हुआ क्योंकि ‘अह्नेष्टखोरेव आहिन् इस सूत्र कृत नियम से । नित्यकर्म सन्ध्यावदनादिक को भी दिवस से सम्पादित कर्म आहिन्क है ।

१७४४ तमधीष्टो भृतो भूतो भावी ५।१।८०।

अधीष्टः = सत्कृत्य व्यापारितः । भृतः—वेतनेन क्रीतः । भूतः = स्वस-
त्तया व्यापारकालः । भावी = तादृश एवानागतकालः । मासमधीष्टो मासिकोऽ-
ध्यायकः । मासं भृतो मासिकः कर्मकरः । मासं भूतो मासिको व्याधिः । मासं
भावी मासिक उत्सवः ।

द्वितीयान्त से अधीष्ट, भृत भूत एवं भावी इन अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है सत्कारपूर्वक कार्य में नियोजित को अधीष्ट कहते हैं । वेतन आदि से खरीदा हुआ को भृत कहते हैं । स्वसत्ता द्वारा

व्यास काल को भूत कहते हैं। यविष्यत् काल को भावी कहते। मासिकः = अष्टपापकः। मासिकः कर्मकरः। मासिको व्याधिः मासिकः उत्सवः।

१७४५ मासाद् वयसि यत्सौज ५।१।८१।

मामं भूतो मास्यः। मामीनः।

वयः अर्थ में द्वितीयान्त मास से यत् एवं सञ् प्रत्यय होता है। मास्यः। मामीनः।

१७४६ द्विगोर्यप् ५।१।८२।

मासाद् वयसीत्यनुवर्तते। द्वौ मासौ भूतो द्विमास्यः।

मासात् द्विगु समास से वयः अर्थ में वप् प्रत्यय होता है। द्विमास्यः।

१७४७ षण्मासाण्यन्च ५।१।८३।

वयसीत्येव। यष्यनुवर्तते। चाट्ठञ्। षण्मास्यः। षण्मास्यः।

षण्मासिकः।

षण्मास 'ठाट्ठ' से वयः अर्थ में 'यष्य' होता है, 'चाट्ठ' से ठञ्, 'षण्' वप् भाँ होता है।

१७४८ अवयसि ठञ् ५।१।८४।

षाण्यत्। षण्मासिको व्याधिः। षण्मास्यः।

वयः भिन्न अर्थ में षण्मास के उत्तर में ठञ् प्रत्यय होता है। वयः अर्थ में भी होता है। व्याधि अर्थ में षण्मासिकः। षष्ठ में ष्यत् षण्मास्यः।

१७४९ समायाः खः ५।१।८५।

समामघोष्टो भूतो भूतो भायी वा समीनः।

द्वितीयान्त समासे खप्रत्यय होता है, भूत भूत एवं भायी अर्थ में।

१७५० द्विगोर्वा ५।१।८६।

समायाः = इत्येव। तेन परिजग्येत्यतः प्राक् निर्वृत्तारिषु पञ्चस्यर्थेषु प्रत्ययाः। द्विसमीनः। द्वैसमिकः।

समान्त द्विगु से पर खप्रत्यय होता है। तेन परिजग्य सूत्र के पूर्व तक निवृत्त आदि पाँच अर्थों में समस्त प्रत्यय होते हैं।

१७५१ रात्र्यहः संवत्सराच्च ५।१।८७।

द्विगोरित्येव। द्विरात्रीणः। द्वैरात्रिकः। द्वयहीनः। द्वैयद्विज्ञकः। समासान्त-विधेरनित्यत्वान्न टच्। द्विसंवत्सरीणः।

रात्रि, अहन् संवत्सर वे हे अन्त में जिसको ऐसा द्विगु से पर खप्रत्यय एवं ठञ् प्रत्यय होता है। यहाँ 'रात्र्याह' सूत्र से टच् समासान्त प्रत्यय अनित्य होने से न हुआ।

१७५२ सङ्ख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य च ७।१।१५।

संख्याया उत्तरपदस्य वृद्धिः स्यात् विदादौ । द्विसांवत्सरिकः । द्वे षष्ठी भृतो द्विषाष्टिकः । संख्यायाः परिमाणान्तस्येत्येव सिद्धे संवत्सरग्रहणं परिमाणग्रहणे कालपरिमाणस्याग्रहणार्थम् । तेन 'द्वैसमिकः' इत्युत्तर-पदवृद्धिर्न ।

अिद् अिद् किद् तद्धित पर रहने द्विगु में संख्यावाचक से पर शब्द के आदि अच् की वृद्धि होती है । परिमाणान्तस्य से ही संवत्सर के आदि अच् की वृद्धि होती तो भी यहां संवत्सर ग्रहण क्यों किया ? वह व्यर्थ होकर शापन करता है कि - परिमाण से कालरूप परिमाण का ग्रहण नहीं होता है । अतः 'द्वैसमिकः' में उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि न हुई ।

१७५३ वर्षाल्लुक् च ५।१।८८।

वर्षशब्दान्ताद् द्विगोर्वा खः । पक्षे ठञ् वा च लुक् । त्रीणि रूपाणि । द्विवर्णीणो व्याधिः । द्विवाषिकः । द्विवर्षः ।

वर्षशब्दान्त द्विगु से विकल्प स्वप्रत्यय होता है । पक्ष में ठञ् उसका विकल्प से लुक् होता है । तीन रूप हुए—ख, ठक्, लुक् युक्त ।

१७५४ वर्षस्याभविष्यति ७।३।१६।

उत्तरपदस्य वृद्धिः । द्विवाषिकः । भविष्यति तु द्वैवर्षिकः । अधीष्टभूतयो रभविष्यतीति प्रतिषेधो न, गम्यते हि तत्र भविष्यत्ता न तु तद्धितार्थः । द्वैवर्षे अधीष्टो भृतो वा कर्म करिष्यतीति द्विवाषिको मनुष्यः ।

भविष्यद् भिन्न अर्थ में उत्तरपदस्य वर्ष के आदि अच् की वृद्धि होती है । द्विवाषिकः । भविष्यद् अर्थ में द्वैवर्षिकः । भविष्यत् में नहीं वह निषेध अधीष्ट एवं भृत अर्थ में नहीं लगता है, उक्त स्थल में यथाकथञ्चित् भविष्यत्ता की प्रतीति होने पर भी वह तद्धितार्थ नहीं है ।

परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः

द्वौ कुड्वौ प्रयोजनमस्य द्विकौडविकः । द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसौ-वर्णिकम् । द्विनैष्ठिकम् । असंज्ञेत्यादि किम्, पञ्च कलापाः परिमाणमस्य पाञ्चकलापिकम् । तद्धितान्तः संज्ञा । द्वैशाणम् । कुलिजशब्दमपि केचित् पठन्ति । द्वैकुलिजकः ।

असंज्ञा तथा शाण उत्तर में न रहे वहां परिमाण वाचक शब्द के आदि अच् की अर्थात् उत्तरपद की वृद्धि होती है । द्विसौवर्णिकम् । संज्ञा में पाञ्चकलापिकम् । तद्धितान्त शब्द ही संज्ञाभूत है । द्वैशाणम् । कौड-कौड इस मूल में कुलिज का भी पाठ पढ़ता है ।

१७५५ चित्तवति नित्यम् ५।१।८९।

वर्षशब्दान्ताद् द्विगोः प्रत्ययस्य नित्यं लुक् स्यात् चेतने प्रत्ययार्थे । द्विवर्षो दारकः ।

यदि प्रत्ययार्थ चेतन पदार्थ हो तो द्विगु समास संशक वर्षान्त प्रातिपदिक से उत्तर तद्धित प्रत्यय का नित्यम् । लुक् होता है । द्विवर्षो दारकः = पुत्यः ।

१७५६ षष्ठिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ५।१।९०।

बहुवचनमतन्त्रम् । षष्ठिको धान्यविशेषः । तृतीयान्तात् कन् रात्रशब्द-
लोपश्च निपात्यते ।

६० रात्रि में एक कर तैयार होनेवाला इस अर्थ में षष्टिरात्र शब्द जो तृतीयान्त है उससे
कन् एवं रात्र का लोप होकर षष्ठिक = साठी का धान । यहाँ बहुवचन अविवक्षित है ।

१७५७ तेन परिज्यलभ्यकार्यसुकरम् ५।१।९१।

मासेन परिज्यो जेतुं शक्यो मासिको व्याधिः । मासेन तभ्यं कार्यं
सुकरं वा मासिकम् ।

तृतीयान्त पद से उत्तर ठन् प्रत्यय होता है जीतने के लिए शक्य अर्थ लभ्य, कार्य, एवं सुकर
हल अर्थों में ।

१७५८ तदस्य ब्रह्मचर्यम् ५।१।९४।

द्वितीयान्तात् कालवाचिनोऽस्येत्यर्थे प्रत्ययः स्यात् । अत्यन्तमयोगे
द्वितीया । मास ब्रह्मचर्यम् अस्य स मासिको ब्रह्मचारी । अर्द्धमासिकः । यद्वा,
प्रथमान्तादस्येत्यर्थे प्रत्यय । मासोऽस्येति मासिक ब्रह्मचर्यम् । ॐ महा-
नान्स्यादिभ्यः पठ्यन्तेभ्य उपसङ्ख्यानम् ॐ । महानान्भ्यो नाम विदामधवन्नि-
त्याद्या ऋचः । तासां ब्रह्मचर्यमस्य महानाग्निकः । हरदत्तस्तु 'भस्यादे' इति
पुत्रद्वभाषांमहानामिक—इत्याह । ॐ चतुर्मासाण्यो यज्ञे तत्र भव इत्यर्थे ॐ ।
चतुर्षु मासेषु भवन्ति चातुर्मास्यानि यज्ञकर्माणि । ॐ सज्ञायामण् ॐ ।
चतुर्षु मासेषु भवति चातुर्मासी आपाढी = पौर्णमासी । अण्णन्तत्वाञ्छीप् ।

ब्रह्मचर्य अर्थ में द्वितीयान्त कालवाचक प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में ठन् प्रत्यय होता है । यहाँ
द्वितीया 'कालाध्वनो' से अत्यन्त संयोग में हुई है । मास पर्यन्त लगातार ब्रह्मचर्यवाला मासिकः ।
१५ दिन पर्यन्त अस्खलित ब्रह्मचर्य युक्त जो है वह अर्धमासिक । अथवा प्रथमान्त कालवाचक
प्रातिपदिक से 'अस्य' = षष्ठ्यर्थ में ठन् प्रत्यय होता है । मासोऽस्येति मासिक ब्रह्मचर्यम् । * षष्ठ्यन्त
महानान्भ्यो आदि से ठन् प्रत्यय होता है । विदामधवन् आदि ऋचाओं को महानान्भ्यो कहते हैं ।
तासां ब्रह्मचर्यम् अस्य महानाग्निकः । आचार्य हरदत्त कहते हैं कि 'भस्यादे'
से पुत्रद्वभाषा करके महानाग्निक रूप होता है । * चतुर्मासाण्यो यज्ञे तत्र भव इत्यर्थे * । इस वार्तिक से
षष्ठ्यर्थ कर चातुर्मास्यानि होता है । वार्तिकार्थ — सप्तम्यन्त से भव अर्थ में दश में चतुर्मास से
षष्ठ्य प्रत्यय होता है । * सज्ञा होने पर अण् प्रत्यय एवं अण् प्रत्ययान्त में स्त्रीलिङ्ग में छीप् हुआ है ।

१७५९ तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः ५।१।९५।

द्वादशाहस्य दक्षिणा द्वादशाहिकी । आख्याग्रहणादकालादपि । आग्निष्टो-
मिकी । घाजपेयिकी ।

उसकी दक्षिणा इस अर्थ में यज्ञसङ्गक शब्द है पर ठन् प्रत्यय होता है । आख्याग्रहण से काल—
वाचक उत्तर में जहाँ नहीं वहाँ भी ठन् प्रत्यय होता है । यथा आग्निष्टोमिकी आदि ।

१७६० तत्र च दीयते कार्यं भववत् ५।१।९६।

प्रावृषि दीयते कार्यं वा प्रावृषेण्यम् । शारदम् ।

इति कालाधिकारस्य पूर्णोऽवधिः ।

सप्तम्यन्त से दानकर्म रूप अर्थ में कार्य प्रतीयमान रहे तब जिनसे जो प्रत्यय भव अर्थ में हुए हैं वे इस अर्थ में भी होंगे । यथा—एण्य प्रत्यय प्रावृट् से भव में विहित वह दीयते कार्य में सप्तम्यन्त प्रावृट् से हुआ प्रावृषेण्यः । शरद् से अण् 'सन्धिवेला' से भवार्थ में विहित है वह यहाँ दीयते कार्यन् में हुआ । शारदम् ।

पं० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में ठञ् के अधिकार में कालाधिकार समाप्त ।

—१७६०—

अथ ठाधिकारप्रकरणम्

१७६१ व्युष्टादिभ्योऽण् ५।१।९७।

व्युष्टे दीयते कार्यं वा वैयुष्टम् । व्युष्ट, तीर्थ, सभाम प्रवास इत्यादि ।

सप्तम्यन्त व्युष्टादिगणपठित शब्दों से पर दीयते कार्यम् अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । व्युष्ट कहते हैं प्रभात मुख को, प्रातः काल के कुछ पूर्व समय को । 'उष् विवासे' विवास = समाप्ति — रात्रि की समाप्ति एवं प्रातः काल का उदय । निष्ठा प्रत्यय छ है वि उष् यण् व्युष्ट यश्च अण् प्रत्यय कर आदि शक्ति को बाधकर ऐच् से वैयुष्टम् । क्रोवकार ने वस् को अनेकार्थक मान कर एव इडागम को अनित्य मानकर व्युष्ट को जो सिद्धि की है वह पञ्च असङ्गत है । एव किष्ट है इति शोपश्लोचिन ।

१७६२ तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां णयतौ ५।१।९८।

यथाकथाचेत्यभ्ययसघातात् एतीयान्ताद् हस्तराब्दाच्च यथासख्य णयतौ स्तः । ॐ अर्थाभ्यां तु यथासङ्ख्य नेप्यते ॐ । यथाकथाच दीयते कार्यं वा यथाकथाचम् । अनादरेण देय कार्यं चेत्यर्थः । हस्तेन दीयते कार्यं वा हस्त्यम् ।

'यथा कथा च' इस अभ्यय सघात से उत्तर एव एतीयान्त इति शब्द हैं दीयते कार्यम् अर्थ में कमण् ण एव यत् प्रत्यय होता है । यद्वा प्रत्यया में यवासख्य है, अर्थद्वय में यथासख्य नहीं है अतः उभय अर्थ में प्रत्येक से प्रत्यय होता है । अनादरपूर्वक दानकर्म में यथाकथाचम् । हस्त से दानकर्म में हस्त्यम् ।

१७६३ सम्पादिनि ५।१।९९।

ठन् तेनेत्येय । कर्णवेष्टकाभ्यां सपादि कार्णवेष्टकिक मुखम् । कर्णालङ्काराभ्यामवश्यं शोभते इत्यर्थः ।

उसके द्वारा सम्पादित यह अर्थ होने पर ठन् प्रत्यय होता है । मुख एवं दोनों कान अवश्य सुशोभित अलङ्कार से होते हैं इस अर्थ में कार्णवेष्टकिकम् हुआ ।

१७६४ कर्मत्रेपाद्यत् ५।१।१००।

कमणा सम्पादि कर्मण्य शौर्यम् । वेपेण सम्पादि वेभ्यो नट । वेप = कृत्रिम आकारः ।

उससे सम्पादिनि अर्थ में एतीयात् कर्म एव वष से यत् प्रत्यय होता है । कर्मण्यम् । वेभ्यः । कृत्रिम आकार को वेप कहते । वनावटी क्रिया से सम्पन्न को कृत्रिम कहते हैं ।

१७६५ तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः ५।१।१०१।

सन्तापाय प्रभवति सान्तापिक । सामामिक ।

चतुर्थ्यन्त सन्तापादि शब्दों से तस्मै प्रभवति = इस कार्य के लिये वह समर्थ है इस अर्थ में ठन् प्रत्यय होता है । सामाय प्रभवति सामामिक ।

१७६६ योगायञ्च ५।१।१०२।

चाट्ठञ् । योगाय प्रभवति योग्यः । यौगिकः ।

‘तस्मै प्रभवति’ इस अर्थ में चतुर्थ्यन्त योग से यत् प्रत्यय एवं चकार से ठञ् प्रत्यय होता है ।

१७६७ कर्मण उक्ञ् ५।१।१०३।

कर्मणे प्रभवति कार्मुकम् ।

तस्मै प्रभवति इस अर्थ में चतुर्थ्यन्त कर्मन् से उक्ञ् प्रत्यय होता है । कर्म करने के लिए समर्थ कार्मुकम् ।

१७६८ समयस्तदस्य प्राप्तम् ५।१।१०४।

समयः प्राप्तोऽस्य सामयिकम् ।

प्रथमान्त समर्थ समयशब्द से षष्ठ्यर्थे गम्य रहे प्राप्ति कर्म अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है । इस कार्य करने का समय सम्प्राप्त हुआ वहां सामयिकम् ।

१७६९ ऋतोरण् ५।१।१०५।

ऋतुः प्राप्तोऽस्य आर्तवम् ।

प्रथमान्त ऋतु से अस्य प्राप्त = इसकी प्राप्ति कर्ता इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

१७७० कालाद्यत् ५।१।१०७।

कालः प्राप्तोऽस्य काल्यं शीतम् ।

प्रथमान्त काल शब्द से अस्य प्राप्तम् अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।

१७७१ प्रकृष्टे ठञ् ५।१।१०८।

कालादित्येव । तदस्येति च । प्रकृष्टो दीर्घः कालोऽस्येति कालिकं वैरम् ।

प्रथमान्त काल से दीर्घ अर्थ में ‘अस्य’ = षष्ठ्यर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ।

१७७२ प्रयोजनम् ५।१।१०९।

तदस्येत्येव । इन्द्रमहः प्रयोजनमस्य ऐन्द्रमहिकम् । प्रयोजनम् = फलम् , कारणञ्च ।

प्रथमान्त से अस्य प्रयोजन अर्थ में ठञ् होता है । फल या कारण को प्रयोजन कहते हैं ।

१७७३ विशाखापाठादण् मन्थदण्डयोः ५।१।११०।

आभ्यामण् स्यात् प्रयोजनमित्यर्थे क्रमान् मन्थदण्डयोरर्थयोः । विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः । आपाठो दण्डः । ऋ चूडादिभ्य उपसङ्ख्यानम् ऋ । चूडा चौडम् । श्रद्धा श्राद्धम् ।

प्रथमान्त विशाखा एवं आपाठा से अस्य प्रयोजन इसका यह फल इस अर्थ में क्रमशः मन्थ एवं दण्ड अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।

प्रथमान्त चूडा आदि से भी अस्य प्रयोजन में अण् प्रत्यय होता है ।

१७७४ अनुप्रवचनादिभ्यश्च ५।१।१११।

अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्य अनुप्रवचनीयम् ।

अस्य प्रयोजनम् अर्थ में अनुप्रवचनादि से छ प्रत्यय होता है ।

१७७५ समापनाद् सपूर्वात् ५।१।११२।

व्याकरण समापन प्रयोजनमस्य व्याकरणसमापनीयम् ।

अस्य प्रयोजन अर्थ में सपूर्वक समापनशब्दान्त प्रातिपदिक से ॥ प्रत्यय होता है ।

१७७६ ऐकागारिकट् चोरे ५।१।११३।

एकम् = असहायम् अगारम् = गृहम् अस्य = मुमुषिषोः ॥ ऐकागारिकः-

चोरः ।

अस्य प्रयोजन अर्थ में ऐकागार शब्द से चोर अर्थ में ठब्ब प्रत्यय टकार अनुबन्ध जुक्त होता है । अर्थात् दिवामात्र में दिव्यातिदेश बोधन से टित प्रयुक्त क्रील्लि में जीप् । जिस गृह में अन्य कोई नहीं ऐसा सुनसान मकान तस्कर के लिए उपादेय होता है वहां सुगमता से चोर घुसकर चोरी करता है ।

१७७७ आकालिकडाघन्तवचने ५।१।११४।

समानकालावाघन्तौ यस्येत्याकालिक । समानकालस्य आकाल आदेशः ।

आशुचिनाशीत्यर्थ । पूर्वदिने मध्याह्नादावुत्पद्य दिनान्तरे तत्रैव नश्वर इति वा । ॐ आकालाद् ठच्च ॐ । आकालिका विद्युत् ।

इति प्राग्वतीयस्य ठब्बः पूर्णोऽवधिः ।

आदि एव अन्त समान होने पर समानकाल शब्द से पर ठब्ब प्रत्यय होता है । एवं समान काल के स्थान में आकाल आदेश होता है । एव टकार अनुबन्ध अन्त में है । समानकालौ आघन्तौ यस्य आकालिकः = शीघ्रविनाशशीलः । पूर्वदिन के मध्याह्न में उत्पन्न होकर दूसरे दिन के ठीक मध्याह्न में नष्ट हो भी 'आकालिक' कहते हैं । आकाल शब्द से भी ठब्ब प्रत्यय होता है । आकालिका विद्युत् ।

प० श्री वा० कु० पञ्चोक्तिविरचित रत्नप्रभा में ठब्बधिकार समाप्त ।



अथ भावकर्मार्थकप्रकरणम्

१७७८ तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः ५।१।११५।

ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवद्धीते । क्रिया चेदिति किम्, गुणतुल्ये मा भूत् । पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ।

तृतीयान्तात् से तुल्य अर्थ में यत् प्रत्यय होता है जो तुल्य है वह क्रिया रहे तब । जिस प्रकार ब्राह्मण अध्ययन करता है उसी प्रकार क्षत्रियादि अध्ययन करते हैं उसमें वति प्रत्यय तृतीयान्त ब्राह्मण से हुआ । क्रियाकृत सादृश्य में ही । अर्थात् गुणकृत सादृश्य में वति नहीं, वहां वाक्य ही रहता है ।

१७७९ तत्रतस्येव ५।१।११६।

मथुरायामिव मथुरावत् सुध्ने प्राकारः । चैत्रस्येव चैत्रवन्मैत्रस्य गावः ।

सप्तम्यन्त एवं षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से इव = सदृश अर्थ में वतिप्रत्यय होता है । मथुरा के सदृश कीला सुध्ने में है । चैत्र की गाय के समान मैत्र की गाय है । उभयत्र वति हुआ ।

१७८० तदर्हम् ५।१।११७।

विधिम् अर्हति विधिवत् पूज्यते । क्रियाग्रहणं मण्डूकप्लुत्याऽनुवर्तते । तेनेह न, राजानम् अर्हति च्छत्रम् ।

द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'अर्हति' अर्थ में वत् प्रत्यय होता है । क्रिया कृत सादृश्य रहे तब इसकी प्रवृत्ति होती है । क्रिया का विच्छेद पूर्व में था किन्तु यहां मण्डूकप्लुति से अनुवृत्ति होती है । मेढक बूद बूद कर चलते हैं बीच को भूमि को कुछ छोड़ देते हैं तथैव अनुवृत्ति को मण्डूकगति = प्लुति कहते हैं । राजा को छत्र योग्य है, वहां वति न हुआ, वाक्य ही रहा ।

१७८१ तस्य भावस्त्वतर्लो ५।१।११९।

प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः । गोर्भावो गोत्वम् । गोता । त्वान्तं क्लीबम् । तलन्तं स्त्रियाम् ।

षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से भाव अर्थ में त्वप्रत्यय एवं तल् प्रत्यय होता है त्वप्रत्ययान्त नपुंसक एवं तल् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग होता है । प्रत्यय की जो प्रकृति उससे प्रतीयमान अर्थ में विशेषणीभूत अर्थ को भाव कहते हैं । गोत्वाग्रय गोपदार्थ है उसमें आश्रय अर्थ में विशेषणता से भासमान जातिरूप अर्थ को त्व एवं तल् कहते हैं ।

१७८२ आचत्वात् ५।१।१२०।

'ब्राह्मणस्त्वः' इत्यतः प्राक् त्वतलावधिक्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थं गुणवचनादिभ्यः कर्मणि विधानार्थं चेदम् । चकारो नञ्स्त्वञ्भ्यामपि समावेशार्थः । स्त्रिया भावः स्त्रीणम् । स्त्रीत्वम् । स्त्रीता । पौंस्यम् । पुंस्त्वम् । पुंस्ता ।

'ब्राह्मणस्त्वः' इस के पूर्व तक त्व एवं तल् का अधिकार है । अपवाद भूतप्रत्यय के विषय में भी इसका अधिकार होने से अपवाद के अभाव पक्ष में त्व एवं तल् इनका भी समावेश होता है ।

अधिकार के अभाव में अपवाद विषय में इनकी अनुपस्थिति होती, निराकाङ्क्ष होने के कारण से । एवं गुणवाचक से कर्म में एवं एवं तत् विधान के लिए भी अधिकार आवश्यक है । सूत्र में चकार से नञ् रन्ञ् का भी समावेश है । अतः तीन रूप हुए । यथा खैणम् । खीत्वम् । खीता । पीत्नम् । पुस्त्वम् । पुस्ता ।

१७८३ न नञ्पूर्वात् तत्पुरुषादचतुरसङ्गतलवणवटयुधकतरस-
लसेभ्यः ५।१।१२१।

इतः पर ये भावप्रत्ययास्ते नञ्त्तत्पुरुषाश्च स्युश्चतुरादीन् वर्जयित्वा । अपतित्वम् । अपदुत्त्वम् । नञ्पूर्वात् किम् , बार्हस्पत्यम् । तत्पुरुषात् किम् , नास्य पटवः सन्तीत्यपटु , तस्य भाय आपटवम् । अचतुरेति किम् , आचा-
तुर्यम् । आसङ्गत्यम् । आलषण्यम् । आबट्यम् । आयुध्यम् । आकत्यम् । आर-
स्यम् । आलस्यम् ।

इस सूत्र के बाद जो भाव प्रत्यय बड़े जायेंगे वे नञ् तत्पुरुष से नहीं होते हैं किन्तु चतुर, लवण, सङ्गत, वट, युध, कल, रत्न, कस प्रत्यय नञ् तत्पुरुष में होते हैं । अपतित्वम् , यहाँ 'पत्यन्त' से यक् न हुआ । अपदुत्त्वम् , इगन्ताच्च कञ्पूर्वात् से अण् न हुआ । आचातुर्यम् में आङ्गणवित्त्व के कारण ध्यञ् हुआ ।

नञ् तत्पुरुष न होने से यक प्रत्यय बार्हस्पत्यम् में हुआ । बहुमीदि अपटु से अण् वृद्धि गुण अबादेश आपटवम् । अचतुरादि कहने से ध्यञ् से आचातुर्यम् आदि में सर्वत्र ध्यञ् हुआ है ।

१७८४ पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ५।१।१२२।

धावचनम् अणादिसमावेशार्थम् ।

पृथ्वादिगणपठित शब्द से भाव अर्थ में इमनिच् प्रत्यय विकल्प से होता है । वा ग्रहण सूत्र में अण् आदि प्रत्ययों के समावेशार्थ है ।

१७८५ ऋतो हलादेर्लघोः ६।४।१६१।

हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्यात् इष्टेमेयस्सु ।

इहन् , इनन् एवं ईयस्सन् प्रत्यय पर रहते हल् अक्षर आदि में है जिसको ऐसा हल् ऋकार को रेफादेश होता है ।

१७८६ टेः ६।४।१५५।

भस्य टेलोप स्याद् इष्टेमेयस्सु ।

प्रथोर्भावं प्रथिमा । पार्थवम् । अदिमा । मार्दवम् ।

इहन् इमन् ईयस्सन् पर रहते मसङ्गक शब्द को टि का लोप होता है । भाव अर्थ में षष्ठ्यन्त पृष्ठ से पर इमनिच् रेफादेश लकार लोप प्रथिम् का अवस्था एववचन में प्रथिमा । अण् पष्ठ में पार्थवम् । अदिमा । मार्दवम् ।

१७८७ वर्णदृढादिभ्यः प्यञ्च ५।२।१२३।

चादिमनिच । शौक्ल्यम् । शुक्लिमा । दाढ्यम् । ऋष्टुमृदुभृशकृशदृढ-
परिवृढानामेव रत्वम् ऋ । द्रढिमा । पो ङीपर्यः । औचित्ती । याथाकामी ।

पठ्यन्त वर्णवाचक शब्द एवं दृढादि शब्द इनसे भाव अर्थ में व्यञ् प्रत्यय होता है। शुक्लस्य भावः शौक्ल्यम्। इमनिच् शुक्लिमा। दृढस्य भावः दाढ्यम्। वार्तिककार परिगणन करते हैं कि वार्तिक में पठित शब्दों के ऋकार को रादेश होता है, अन्यत्र नहीं। व्यञ् में पकार ङीपार्थ है। औचितो यद्वा व्यञ् प्रत्यय कर इलस्तद्धितस्य से यलोप ङीप् औचितो याथाकम्प्य ङीप् यलोप याथाकामी। वेद्यातलाममतिमनःशारदानाम्। वि से उत्तर इन शब्दों से व्यञ् प्रत्यय होता है। वियात्यम्। वियातता आदि। इगन्त से अण् भी होता है—वैमतम्। 'समो मतिमनसोः'। सन् से पर कति एवं मनस् से व्यञ् होता है। संमत्तित्वम्। संमत्तित्ता।

१७८८ गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५।१।१२४।

चाद्भावे। जडस्य कर्म भावो वा जाड्यम्। मृदस्य भावः कर्म वा मौढ्यम्। ब्राह्मण्यम्। ऋ अर्हतो नुम च। ऋ अर्हतो भावः कर्म वा आर्हन्त्यम्। आर्हन्ती। ब्राह्मणादिराकृतिगणः।

पठ्यन्त गुण वाचक शब्द एवं ब्राह्मणादि शब्द से भाव एवं कर्म में व्यञ् प्रत्यय होता है। कर्म पद से क्रिया एवं कार्य का बोध करना। शरीर आवास मात्र साध्य जो शौचादि उसको क्रिया कहते हैं। शास्त्र से विहित यागादि को कार्य कहते हैं। यही क्रिया एवं कार्य का भेद है। शीत उष्ण आदि का बोध जिससे हों उसे गुणवचन कहते हैं। पठ्यन्त अर्हन् से नुम् एवं व्यञ् प्रत्यय होता है। आर्हन्त्यम्। खीलिद्भ में ङीप् प्रकार लोप आर्हन्ती। ब्राह्मणादि आकृतिगण है।

१७८९ यथातथायथापुरयोः पर्यायेण ७।३।३१।

ननः परयोरेतयोः पूर्वोत्तरपदयोः पर्यायेणादेरचो वृद्धिर्विदादौ। अयथा-तथाभावः=आयथातथ्यम्। अयथातथ्यम्। आयथापूर्यम्। अयथा-पूर्यम्। आपादसमाप्ते भावकर्माधिकारः। ऋ चतुर्वर्णादीनां उपसङ्ख्यानम् ऋ। चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्। चातुराश्रम्यम्। त्रैस्वर्यम्। पाङ्गुण्यम्। सैन्यम्। सान्निध्यम्। सामीप्यम्। आप्म्यम्। त्रैलोक्यम्, इत्यादि। सर्वे वेदाः सर्व-वेदास्तान् अधीते सर्ववेदः। 'सर्वादेः' इति लुक् स एव सार्ववेद्यः। ऋ चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च ऋ। चतुरो वेदान् अधीते चतुर्वेदः, स एव चातुर्वेद्यः। 'चतुर्विचस्य' इति पाठान्तरम्, चतुर्विच एव चातुर्विचः।

नन् से पर यथातथ एवं यथापुर इनके पर्याय से पूर्वपद एवं उत्तरपद के आदि अच् की वृद्धि होती है जिदादि तद्धित प्रत्यय पर रहते। तृतीय पाद की समाप्ति तक भाव एवं कर्म का अधिकार है। * चतुर वर्णादि शब्दों से स्वार्थ में=प्रवृत्त्यर्थ में व्यञ् होता है। चातुर्वर्ण्यम्। सर्ववेदान् अधीते इसमें 'सर्वादेः' से अध्ययनार्थक प्रत्यय का 'सर्वादेः' से लुक् हुआ है स्वार्थ में व्यञ्। चतुर्वेद से व्यञ् उभयपद के आदि अच् की वृद्धि चतुर्वेदः। तद्धितार्थे द्विगुः द्विगोर्ल-गनपत्ये से अण् का लुक्। चातुर्विचः विधान्त लक्षण ठक् उसका लुक्।

१७९० स्तेनाद्यच् न लोपश्च ५।१।१२५।

नेति संघातग्रहणम्। स्तेन चाँर्ये पचाद्यच्। स्तेनस्य भावः कर्म वा

स्तेयम् । स्तेनादिति योग विभज्य 'स्तैन्यम्' इति ध्यवन्तमपि केचि-
दिच्छन्ति ।

षष्ठ्यन्त स्तेन शब्द से भाव एव कर्म अर्थ में यद् प्रत्यय होता है एवं 'न' सम्पूर्ण का लोप होता है । अच् प्रत्ययान्त उत्त्कर अर्थ में स्तेन शब्द है । उसमें भाव एव कर्म में यद् होता है । 'स्तेयम्' । 'स्तेनात्' इतने अक्ष का योगविभाग कर ध्यञ् की अनुवृत्ति से स्तेन से ध्यञ् मी होता है । स्तेन्यम् । ऐसा भी प्रयोग होता है ऐसी कुछ लोग इच्छा करते हैं ।

१७९१ सख्युर्थः ५।१।१२६।

सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् । ॐ दूतवणिग्भ्याञ्च ॐ । दूतस्य भावः कर्म वा दूत्यम् । वाणिज्यम् इति काशिका । माघवस्तु वणिज्याशब्दः स्वभावा-
त्स्त्रीलिङ्ग । भाव एवाय प्रत्ययो न तु कर्मणीत्याह । भाष्ये दूतवणिग्भ्याम्
इति नास्त्येय । ब्राह्मणादित्वाद् वाणिज्यमपि ।

षष्ठ्यन्त सखि से पर भाव एव कर्म अर्थ में य प्रत्यय होता है । सख्यम् । षष्ठ्यन्त दूत एवं वणिक् से य प्रत्यय भाव एव कर्म में होता है । माघवाचार्थ वणिज्या शब्द शब्दशक्ति स्वभाव से ही स्त्रीलिङ्ग है इससे भाव में ही प्रत्यय होता है, कर्म में नहीं । भाष्यगत में 'दूतवणिग्भ्याम्' नहीं है । ब्राह्मणादित्वात् प्रयुक्त ध्यञ् से 'वाणिज्यम्' होता है ।

१७९२ कपिज्ञात्योर्ढक् ५।१।१२७।

कापेयम् । ज्ञातेयम् ।

षष्ठ्यन्त कपि एव ज्ञाति से ढक् प्रत्यय होता है भाव एव कर्म अर्थ में । कपेः भाव कर्म वा कापयन् । ज्ञातेयम् ।

१७९३ पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५।१।१२८।

सैनापत्यम् । पौरोहित्यम् । ॐ राज्ञोऽसे ॐ । राजशब्दोऽसमासे यक्
लभत इत्यर्थः । राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम् । समासे तु ब्राह्मणादित्वात्
प्यञ् । आधिराज्यम् ।

षष्ठ्यन्त पतिशब्दान्त एव पुरोहितादि से भाव एव कर्म अर्थ में यक् प्रत्यय होता है असमास में । राजन् शब्द यक् को प्राप्त करता है, भाव एव कर्म में । समास में ब्राह्मणादित्वात् प्रयुक्त ध्यञ् होता है ।

१७९४ प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ५।१।१२९।

प्राणभृज्जाति—आश्वम् । औष्टम् । वयोवचन—कौमारम् । वैशोरम् ।
औद्गात्रम् । औन्नेत्रम् । सौष्टवम् । दीष्टवम् ।

प्राणधारण कर्त्री जातिवाचक शब्द से वयोवाचक से एव उद्गात्रादि से भाव एव कर्म में अञ् प्रत्यय होता है ।

१७९५ हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ५।१।१३०।

द्वैहायनम् । त्रैहायनम् । यौवनम् । स्याविरम् । ॐ श्रोत्रियस्य यलो-

पञ्च ँ । श्रौत्रम् । कुशलचपलनिपुणपिशुनकुतूहलक्षेत्रज्ञा युवादिषु ब्राह्म-
णादिषु च पठ्यन्ते । कौशल्यम् । कौशलम् ।

हायन शब्द है अन्त में जिसको ऐसे शब्द युवादि शब्द से भाव एवं कर्म में अण् प्रत्यय होता है । श्रोत्रिय शब्द से भाव एवं कर्म में अण् प्रत्यय होता है एवं यकार लोप से श्रौत्रम् । कुशलादि शब्द युवादि में एवं ब्राह्मणादि में पठित है । अतः इनसे अण् एवं ध्यञ् होता है दो रूप ।

१७९६ इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ५।१।१३१।

शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् । मौनम् । कथं काव्यम् ? कविशब्दस्य ब्राह्म-
णादित्वान् प्यञ् ।

लघु संज्ञक वर्ण है पूर्व जिसको ऐसे पठ्यन्त इगन्त शब्द से भाव एवं कर्म में अण् प्रत्यय होता है । कवि शब्द से ब्राह्मणादित्वप्रयुक्त प्यञ् है काव्यम् ।

१७९७ योषधाद् गुरुपोत्तमाद् बुञ् ५।१।१३२।

रामणीयकम् । आभिधानीयकम् । ँ सहायाद् वा ँ । साहाय्यम् ।
साहायकम् ।

योषध जो गुरुपोत्तम (जिसके अन्त्यवर्णसे पूर्व वर्ण गुरुसंज्ञक है उसे गुरुपोत्तम कहते हैं) पठ्यन्त प्रातिपदिक से भाव या कर्म में बुञ् प्रत्यय होता है ।

१७९८ द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ५।१।१३३।

शौच्योपाध्यायिका । मानोज्ञकम् ।

द्वन्द्व समास निष्पन्न शब्द एवं मनोज्ञादि शब्द उनसे भाव एवं कर्म में बुञ् होता है ।

१७९९ गोत्रचरणान्छ्लाघात्याकारतद्वेतेषु ५।१।१३४।

अत्याकारोऽधिक्षेपः तद्वेतस्ते गोत्रचरणयोर्भावकर्मणी प्राप्तः, अवगतवान्
चा, गार्गिकया श्लाघते । गार्ग्यत्वेन विकृत्यत इत्यर्थः । गार्गिकयाऽत्याकुरुते ।
गार्गिकामवेतः ।

प्रशंसा, अवमान, तदवगत विषय में गोत्रवाचक एवं चरण वाचक प्रातिपदिक से पर भाव एवं कर्म में बुञ् प्रत्यय होता है । तद्वेत में गोत्र एवं चरण से भाव एवं कर्म में प्रत्यय प्राप्त है । अवगतः शान की प्राप्ति कर्ता = अवगतवान् । तात्पर्य यह है कि गोत्र एवं चरण से भाव एवं कर्म में प्रत्यय प्राप्त है अथवा 'उसके शान को प्राप्त हुआ मैं' । गार्ग्य गोत्र सम्भूत होने से प्रशंसित होता है गार्गिकया श्लाघते । अपमान में गार्गिकयाऽत्याकुरुते । अवगत में गार्गिकाम् अवेतः ।

१८०० होत्रादिभ्यश्छः ५।१।१३५।

होत्राशब्दः ऋत्विग्याची स्त्रीलिङ्गः । बहुवचनाद् विशेषग्रहणम् ।
अच्छ्लावाकस्य भावः कर्म वा अच्छ्लावाकीयम् । मैत्रावरुणीयम् ।

ऋत्विग्याची शब्द से भाव एवं कर्म में छप्रत्यय होता है । यहाँ बहुवचन से ऋत्विग्विशेष का ग्रहण करना चाहिए ।

१८०१ ब्रह्मणस्त्वः ५।१।१३६।

होत्रावाचिनो ब्रह्मन् शब्दात् त्वः स्यात् । छस्यापवादः । ब्रह्मत्वम् ।
नेति वाच्ये व्यवचनं तलो वाचनार्थम् । ब्राह्मणपर्यायब्रह्मन्-शब्दात् त्वतलो ।
ब्रह्मत्वम् । ब्रह्मता ।

इति नव्स्नञ्जोरधिकारः समाप्तः

होत्रा वाचक ब्रह्मन् शब्द से भाव एवं कर्म में छप्रत्यय को बाधकर त्वप्रत्यय होता है । 'न'
कह कर छ को बाध करते, पुनः त्वप्रत्यय इस किष्ट किया है कि तल् की निवृत्ति हो जाय ।
अन्यथा सन्निधोपदिष्ट न्याय से तल् भी होता जो इष्ट नहीं है । ब्राह्मण पर्याय जो ब्रह्मन् इससे
१४ एवं तल् होता ही है ।

पं० श्रीश्री० कृ० पञ्चोक्तिविरचित रत्नप्रभा में भावकर्मार्थक प्रकरण समाप्त ।



अथ पाञ्चमिकप्रकरणम्

१८०२ धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५।२।१।

भवत्यस्मिन्निति भवनम् । मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम् ।

पठ्यन्त समर्थ धान्य वाचक शब्द से पर उत्पत्ति का आधार क्षेत्र रहे तब खञ् प्रत्यय होता है । धान्य विशेष वाचक मृग वाचक मुद्ग का उत्पत्ति स्थान खेत अर्थ में खञ्, अकारकी ह्रस्व संज्ञा लोप, आदि वृद्धि, ख को ईनादेश, भसंज्ञा, अकार लोप नपुंसक में मौद्गीनम् । प्राणिनाथक धिवि धातु से 'कृत्यस्वुद्योर्दुलन्' से कर्ता में ण्यत्, इसी निपातन से अन्त्य लोप रकार को अकार हुआ धिनोति = धान्यम् । धान्य शब्द घटित मन्त्र भी है—“धान्यमसि धिनुहि देवान्” । कृदन्त अधिकरण ल्युटन्त भवन के योग में कर्तरि षष्ठी 'धान्यानाम्' में है । पठ्यन्त समर्थ से प्रत्ययोत्पत्ति होती है । शब्द स्वरूप निरास के लिए बहुवचन है । क्षेत्र ग्रहण ज्ञानार्थ से यहाँ भूधातु उत्पत्ति वचन है । क्षेत्र ग्रहण से 'धान्यानां भवनं कुसूलः' यहाँ नहीं प्रत्यय हुआ, धान्यवाचक के अभाव से । 'वृणानां भवनं क्षेत्रम्' यहाँ भी वाक्य ही रहा ।

१८०३ ब्रीहिशाल्योर्दक् ५।२।२।

ब्रैह्यम् । शाल्यम् ।

पठ्यन्त ब्रीहि एवं शालि शब्द से भवन अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है यद्भवनपठ क्षेत्रवाचक रहे । यहाँ भी भवनापेक्षया प्रकृति से । षष्ठी दुर्ग है । ब्रीहोणान् भवनं क्षेत्रम् ब्रैह्यम् । तथा शाल्यम् ।

१८०४ यवयवकपट्टिकाद् यत् ५।२।३।

यवानां भवनं क्षेत्रम्-यव्यम् । यवक्यम् । पट्टिक्यम् ।

पठ्यन्त यव, यवक, पट्टिका इन से उत्पत्ति का अधिकरण यदि क्षेत्र = खेत है तो यत् प्रत्यय होता है । यव्यम् । यवकानां भवनं क्षेत्रं यवक्यम् । पट्टिकानां भवनं क्षेत्रम्-पट्टिक्यम् ।

१८०५ त्रिभाषा तिलमाषामाभङ्गाण्यः ५।२।४।

यद् वा स्यात् पक्षे खञ् । तिल्यम् । तैलीनम् । माष्यम् । माषीणम् । उन्न्यम् । औमीनम् । भङ्ग्यम् । भाङ्गीनम् । अणव्यम् । आणवीनम् ।

नित्य खञ् प्राप्त था उसको विकल्प से दाधकार यत् प्रत्यय विधानार्थ यह सूत्र है । पठ्यन्त समर्थ तिल, माष, उन्ना, भङ्ग एवं अणु से उत्पत्ति का स्थान खेत रहे तो विकल्प से यत् प्रत्यय होता है । पक्ष में खञ् प्रत्यय हुआ है । उदाहरण स्पष्ट ही है । सत्रह प्रकार के धान्य होते हैं, उनमें उन्ना एवं भङ्ग का भी परिगणन है । बारह प्रकार के धान्य है यह मत ठीक नहीं है ।

१८०६ सर्वचर्मणः कृतः खख् ५।२।५।

अज्ञानार्थेऽपि निपातनान् समासः । सर्वचर्मणा कृतः सर्वचर्मणः । सार्वचर्मणः ।

यहाँ 'खख्' इतना ही कहने पर 'यव' का भी अनुकर्षण होता अतः 'खख्' कहा है । यहाँ सर्व पदार्थ का कृतार्थ में अन्वय है, चर्मण शब्दार्थ के साथ अनन्वय है तो भी

सौत्रनिर्देश सामर्थ्यप्रयुक्त असाधारण्य में भी समास हुआ है। कृषात्वर्थ उत्पत्तिजनकव्यापारार्थक है, उसका फल—उत्पत्ति है—“स फलाश्रय को कृष कहते हैं। तृतीयान्त सर्वचर्मन् से कृत अर्थ में ख एव खन् प्रत्यय होते हैं। सर्वचर्मीण ख पक्ष में। खन् पक्ष में सार्वचर्मीण। चर्मणा सर्व कृत यह विग्रह सूत्रकाराभिप्रेत है। सर्वेण चर्मणा कृत यह नहीं है। अभिप्रेतार्थ की असिद्धि होगी।

१८०७ यथामुखसंमुखस्य दशनः खः ५।२।६।

मुखस्य सदृश यथामुखम् प्रतिबिम्बम्। निपातनात् सादृश्येऽव्ययीभावः। सम सर्वं मुख समुखम्। समशब्दस्यान्त्यस्रोपो निपात्यते। यथामुख दर्शने यथामुखीन। सर्वस्य मुखस्य दर्शन समुखीन।

दशन अर्थ में यथामुख एव समुख में खप्रत्यय होता है। यहाँ निपातन से सादृश्य अर्थ में अव्ययीभाव है। अव्ययीभाव समास होने पर भी दर्शनक्रिया का कर्म मुख है। मुख से कर्मणि षष्ठी है ‘कृत्कर्मणो कृति’ से उस षष्ठी को ‘नाम्नयीभावात्’ से अमादेश है। सम सर्वं मुख सम्मुखम् यह। समके अन्त्य का लोप है। वमयत्र खप्रत्यय ईनादेश है। सर्वस्य मुखस्य दर्शन समुखीन।

१८०८ तत्सर्गादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ५।२।७।

सर्गादे पथ्याद्यन्ताद् द्वितीयान्ताद् एव स्यात्। सर्वपत्रीण सर्वपथीन। सर्वाङ्गीण। सर्वकर्मिण। सर्वपत्रीण। सर्वपात्रीण।

सर्व शब्द है आदि में अिनको ऐसे पथिन्, अङ्ग कर्म, पत्र, एव पात्र तदन्त द्वितीयात् से व्याप्त होता है इस अर्थ में ख प्रत्यय होता है। सर्वपथीन। पूर्वकारिक से समास है। ‘कच् पूरन्ध्र’ से अ प्रत्यय है।

१८०९ आप्रपदं प्राप्नोति ५।२।८।

पाठस्याप्र प्रपद तन्मर्यादीकृत्य आप्रपदम्, आप्रपदीन पठ।

प्राप्त करता है इस अर्थ में द्वितीयात् आप्रपद से खप्रत्यय होता है। पैर के आगे के हिस्से को प्रपद कहते हैं। एव तदवधिक को आप्रपद कहते हैं। पैर के अप्र भाग तक व्याप्त होने वाला अर्थात् पैरने वाले बल को आप्रपदीन पठ कहते हैं।

१८१० अनुपदसर्वाभ्यायानयं बद्धाभक्षयतिनेयेषु ५।२।९।

अनुरायामे सादृश्ये च। अनुपद बद्धा अनुपदीना उपानत्। सर्वाभ्यानि भक्षयति सर्वाङ्गीनी भिक्षु। आयायनय = स्थलविशेष तन्नेय आयायनीन शार।

बन्धन क्रियान्वय फलाश्रय कर्म को लोकिङ्ग में बद्धा कहते हैं। वह खाता है उसको भक्षयति कहते हैं। तयनक्रियान्वयफलाश्रय = कर्म को नेय कहते हैं।

बद्धा अर्थ में द्वितीयान्त अनुपद से, भक्षयति अर्थ में सर्वाङ्गीन से, स्थलविशेषार्थक आयायनय से नेय अर्थ में खप्रत्यय होता है। अनुपदब्द दीर्घता एव सादृश्यात्क है। उपानद = जुता अर्थ में अनुपदीना जो सम्पूर्ण पैर को व्याप्ति क्रिया द्वारा बन्धन का कर्म है। चप्पल को जुता नहीं कहते हैं। सर्वविध जन्तु को खानेवाला भिक्षुक को सर्वाङ्गीन। आयायनय =

स्थल विशेष को ले जाने योग्य अर्थ में आयायनीनः शारः । 'अनुपदम्' में चस्य चायामः से समाप्त है । सर्वान्न में सर्वशब्द प्रकार कात्स्न्य अर्थ में है, शीत या उष्ण, सरस या रसरहित जो अन्न पाता है उसको खाता है भिक्षुक । अयः = प्रदक्षिण गमन को कहते हैं । अनयः = प्रसव्य गमन को कहते हैं । प्रदक्षिण प्रसव्यगमनशील शारों को जिन पादों में असमावेश रहे उस स्थान को 'आयायनयः' कहते हैं । 'तं नेयः' में अप्रधान कर्म से द्वितीया है । फलक के शिर में स्थित यह अर्थ काशिकाकार ने किया है ।

१८११ परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ५।२।१०।

परांश्चावरांश्चानुभवतीति परोवरीणः । अवरस्योत्वं निपात्यते । परांश्च परतरांश्चानुभवति परम्परीणः । प्रकृतेः परम्परभावो निपात्यते । पुत्रपौत्रान् अनुभवति पुत्रपौत्रीणः । परम्पराशब्दस्तु अव्युत्पन्नं शब्दान्तरं स्त्रीलिङ्गं तस्माद्देव स्वार्थे ण्यञ्चि पारम्पर्यम् । कथं पारोवर्यवदिति ? असाधुरेव, खप्रत्ययसन्नियोगेनैव परोवरेति निपातनात् ।

यह अनुभव करता है इस अर्थ में द्वितीयान्त परोवर, परम्पर, एवं पुत्रपौत्रइन से पर खप्रत्यय होता है । परांश्च = ज्येष्ठान् अवरांश्च = कनिष्ठान् अनुभवति मे खप्रत्यय एवं अवर के आदि अकार को उकारादेश निपातन से होता है । परोवरीणः ज्येष्ठ एवं ज्येष्ठतमों को अनुभव करता है उस अर्थ में खप्रत्यय पर परतर को परम्पर आदेश निपातन से होता है । खप्रत्यय सन्नियोग यह आदेश प्रकृति को होता है । अन्यत्र नहीं । परम्परीणः । पुत्रों एवं पौत्रों का अनुभव करता है इसमें पुत्रपौत्रीणः । अव्युत्पन्न स्त्रीलिङ्ग परम्परा शब्द है उससे तो स्वार्थ में ण्यञ् प्रत्यय होता है । उसका पारम्पर्यरूप होता है । 'पारोवर्यवत्' यह असङ्गत रूप है । यहां खप्रत्यय सन्नियोग में परोवरशब्द निपातन प्रयुक्त सिद्ध होता है अन्यत्र नहीं ।

१८१२ अवारपारात्यन्तानुकामं गामी ६।२।११।

अवारपारं गामी अवारपारीणः । अवारीणः । पारीणः । पारावारीणः । अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः । भृशं गन्तेत्यर्थः । अनुकामं गामी अनुकामीनः । यथेष्टं गन्ता ।

यह गमन कर्ता है इस अर्थ में द्वितीयान्त अवारपार शब्द से खप्रत्यय होता है, अवारपार, अवार, पार, पारावार से भी खप्रत्यय होता है समुदाय, पृथक् विपरीत से । एवं द्वितीयान्त अत्यन्त एवं अनुकाम से गामी अर्थ में खप्रत्यय होता है ।

अवार पार गमनकर्ता को अवारपारीणः । शीघ्रगमनकर्ता अर्थ में अत्यन्तीनः । यथेष्टगमनकर्ता अर्थ में अनुकामीनः । गामी गन् = धातु से इति प्रत्यय वह णिद्धत्वे से वृद्धि गामी । गमनकर्ता — उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारकर्ता यह अर्थ है ।

१८१३ समां समां विजायते ५।२।१२।

यत्तोपोऽवशिष्टविभक्तेरलुक् च पूर्वपदे निपात्यते । समांसमीना गौः । 'समांसमीना सा यैव प्रतिवर्षं प्रसूयते ।' ॐ खप्रत्ययानुत्पत्ता यत्तोपो वा वक्तव्यः ॐ । समांसमां विजायते, समायां समायां वा ।

वह उत्पन्न करता है—विजायते में विपूर्वक नजी प्रादुर्भाव का वर्तमान का रूप है। यहाँ गर्भ की सुक्तिपूर्वक प्रसव अर्थ है। यहाँ प्रसव रूप अर्थ सत्सत्तर=वर्ष का व्यापक नहीं है। अन् अन्तम्=विरामम् अतिक्रान्त = अत्यन्त स चासी सयोग इति अत्यन्तसयोग = अविच्छिन्नसयोग वह न होने से कालवाचक समा=जो वर्ष वाचक है उससे द्वितीयाविमक्ति न हुई किन्तु सप्तमी से समायां द्विवचन में 'समायां समायाम्' रूप प्राप्त है, किन्तु सूत्र निर्देश से यकार का छोप एवं विभक्ति के स्थान में जायमान आदेश आम् का अलुक् हुआ है। पूर्वपद में ही 'समाम्' यह निपातन है। गर्भविमोचन करती है—इस अर्थ में खप्रत्यय होता है, एवं प्रकृति भाग में 'समायां समायाम्' को पूव भाग में यकार छोप एवं विभक्ति का अलुक् हुआ। समां समा हि खप्रत्यय विभक्ति लुक् ईनादेश दाप् समांसमीना गौ = जो प्रतिवर्ष नियमित प्रसव करने वाली है उसे 'समांसमीना' कहते हैं। • खप्रत्यय की अनुत्पत्ति में यलोप विकल्प से होता है पूर्वपद में। समांसमां विजायते, समायां समायाम्।

१८१४ अद्यधीनागृह्ये ५।२।१३।

अद्य श्रो या विजायते अद्यधीना बहवा । आभ्रप्रसवेत्यर्थः । केचित्तु 'विजायते' इति नानुवर्तयन्ति । अद्यधीन मरणम् = आसन्नमित्यर्थः ।

अद्यध्या का अर्थ है समीप = आसन्न इस अर्थ में 'अद्यधीना' यह निपातन होता है। आज या कल प्रसव करने वाली बहवा=अथपत्नी मोड़ी अर्थ में खप्रत्यय खन् की टिका छोप दाप् अद्यधीना बहवा समीपप्रसव वाली। यहाँ 'विजायते' सम्बन्ध न कर आसन्नमात्र अर्थ में निपातन कर आज या कल होने वाले मरण में भी अद्यधीन मरणम् ऐसा प्रयोग होता है ऐसा कोई कहते हैं।

१८१५ आगवीनः ५।२।१४।

आहूपूर्वाद् गो कर्मकरे खप्रत्ययो निपायते । गो. प्रत्यर्पणपर्यन्त य कर्म करोति स आगवीनः ।

कर्मकर अर्थ आहू पूर्वक जो गोशब्द उससे पर खप्रत्यय होता है। गाय के प्रत्यर्पण पर्यन्त जो कार्य करता है उसको आगवीन सेवक कहते हैं।

१८१६ अनुगलङ्गामी ५।२।१५।

अनुगु = गो यश्चात्पर्याप्त गच्छति अनुगवीनो गोपालः ।

अनुगता गावी यस्य अनुगु अर्थात् गाय के पीछे अत्यन्त गमनक्रिया कर्ता को अनुगु कहते हैं। खप्रत्यय अनुगवीन = गोरक्षक । यहाँ 'अलम्' शब्द पर्याप्त्यर्थक है। गाय के पीछे सीधे पर्याप्त गमनकर्ता गोपाल अर्थ हुआ।

१८१७ अध्वनो यत्सौ ५।२।१६।

अध्वानम् अल गच्छति अध्वन्य । अध्वनीनः । 'ये चामावकर्मणो' 'आत्माध्वानौ खे' इति सूत्राभ्या प्रकृतिभावः ।

द्वितीयान्त मार्गवाचक अध्वन् शब्द से पर्याप्त गमनकर्ता है इस अर्थ में यत् प्रत्यय एवं खप्रत्यय होता है। आदि उदाहरण अध्वन्य, यहाँ यत् प्रत्यय करने के बाद 'नगदिते' से प्राप्त टिछोप का 'ये चामावकर्मणो' से प्रकृतिभाव हुआ अर्थात् स्वरूपावस्थान रहा। 'अध्वनीन' यहाँ खप्रत्यय परक होने से 'आत्माध्वानौ खे' प्रकृतिभाव हुआ है—अध्वनीनः ।

१८१८ अभ्यमित्राच्छ च ५।२।१७।

चाद् यत्खौ । अभ्यमित्रीयः । अभ्यमित्र्यः । अभ्यमित्रीणः । अमित्राभि-
मुखं सुष्ठु गच्छतीत्यर्थः ।

‘लक्षणेनाभिप्रती आमिमुख्ये’ से अव्ययीभाव समास है । शत्रु के सम्मुख अच्छे प्रकार से गमन-
कर्ता में छप्रत्यय, यत् प्रत्यय, एवं खप्रत्यय से क्रमशः तीन रूप हुए—यथा—अभ्यमित्रीयः ।
अभ्यमित्र्यः । अभ्यमित्रीणः । ‘अभ्यमित्रम्’ में क्रियाविशेषण होने से द्वितीया विभक्ति हुई है ।
यहां क्रियापद फलपरक है ।

१८१९ गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे ५।२।१८।

गोष्ठो भूतपूर्वः गौष्ठीनो देशः ।

भूतपूर्व अर्थ में गोष्ठ शब्द से खञ् प्रत्यय होता है । गायें जहां रहती हैं उस देश को गोष्ठ
कहते हैं = गावस्तिष्ठन्ति यत्र स गोष्ठः यहां घञर्थे कविधानम् से स्थाधातु से कप्रत्यय उपपदसमास
पत्व ष्टुत्व से गोष्ठ रूप हुआ है । जिस देश में पूर्वकाल में गायों की स्थिति उस स्थान को
‘गौष्ठीनः’ कहते हैं ।

१८२० अथस्यैकाहगमः ५।२।१९।

एकाहेन गम्यते इत्येकाहगमः । आश्वीनोऽध्वा ।

एक दिन में जाने योग्य (मार्ग) इस अर्थ में पठयन्त अथ शब्द से खञ् प्रत्यय होता है । अथ के
एक दिन गमन करने योग्य मार्ग को आश्विनः कहते हैं ।

१८२१ शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः ५।२।२०।

शालाप्रवेशमर्हति शालीनः = अधृष्टः । कूपपतनमर्हति कौपीनं पापम्,
तत्साधनत्वात् तद्वद् गोप्यत्वात् पुरुषलिङ्गमपि । तत्सम्बन्धात् तदाच्छाद-
नमपि ।

अधृष्ट अर्थ में शालीन एवं अकार्य अर्थ में यहां निपातन से ख प्रत्यय होता है । ‘अधृष्ट पुरुष
शाला में प्रवेश करने योग्य है यहां शालीनः हुआ ।

अकार्य करण में कूपकर्मक पतन योग्य में कौपीनम् = पापम् । पाप का साधनत्व एवं पाप की
तरह गोप्यत्व के कारण पुरुष का लिङ्ग अर्थात् मूत्रेन्द्रिय एवं उससे संयुक्त वस्त्र लङ्गोटा को भी कौपीन
कहते हैं । अर्थात् लक्षणा से मूत्रेन्द्रिय में एवं लंगोटा अर्थ में कौपीनत्व का आरोप है आरोप में
बीज गोप्यत्व एवं पाप साधनत्व एवं तद्आच्छादकावादि धर्म हैं ।

१८२२ व्रातेन जीवति ५।२।२१।

व्रातेन = शरीरायासेन जीवति न तु बुद्धिवैमवेन स व्रातीनः ।

वह प्राणधारण करता है इस अर्थ में शरीर से परिश्रम पूर्वक जीवन निर्वाह में तृतीयान्त व्रात से
खप्रत्यय होता है । कठोरपरिश्रम से जीता है, बुद्धिरूपी वैमव = सम्पत्ति से प्राणधारण नहीं ।

१८२३ साप्तपदीनं सख्यम् ५।२।२२।

साप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीनम् ।

मैत्री अर्थ में 'साप्तदीनम्' निपातित होता है अर्थात् तृतीयान्त सप्तपद से क्षप् प्रत्यय होता है। परस्पर वार्तालाप के सात पदों से प्राप्त होने वाली मित्रता में साप्तपदीनम् = सप्त्यम्। सज्जनों की परस्पर मैत्री वार्तालाप से होती है।

१८२४ हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ५।२।२३।

ह्योगोदोहस्य हियङ्गुरादेशो विकारार्थे खञ्च निपात्यते। दुश्चत इति दोहः = क्षीरम्। ह्योगोदोहस्य विकारो हैयङ्गवीनम् = नवनीतम्।

सञ्ज्ञा अर्थ में ह्योगोदोह के स्थान में हियङ्गु आदेश होता है एवं उससे विकार अर्थ में खञ्च होता है। दोहन किया कम को दोह कहते हैं अर्थात् दूध। यतदिन में गाय का दोहन से निकाला गया ओ दुग्ध वस्तु को खमाकर दही द्वारा मन्थन किया गया जो मक्खन = नवनीत उसकी सञ्ज्ञा में 'हैयङ्गवीनम्' हियङ्गु खम् रेंनादेश, वृद्धि ओरुण से गुण आदेश नपुंसक में हैयङ्गवीनम्। नवीन मक्खन। अनीत दिन को 'द्यम्' कहते हैं वह अन्यय है।

१८२५ तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कृणञ्जाहचौ ५।२।२४।

पील्वा पाक पीलुवृणः। कर्णस्य मूल कर्णजाहम्।

पञ्चमन्त समर्थ पीलुवृणन्व पीलु शब्द एवं वर्णपठित शब्द से एवं कर्णादि शब्द से क्रमशः १ कृणप् एवं आहच् प्रत्यय होता है।

पीलुवृण। कर्णजाहम्।

१८२६ पश्चात् तिः ५।२।२५।

मूलग्रहणमात्रमनुवर्तते। पञ्चस्य मूलं पञ्चतिः।

पञ्चमन्त पक्ष से मूल अर्थ में तिप्रत्यय होता है। एकदेश में स्वरितत्वरूप प्रतिष्ठा से मूलमात्र की ही वहाँ अनुवृत्ति है।

१८२७ तेन वित्तश्चुचुपचणपौ ५।२।२६।

यकारः प्रत्यययोरादौ लुप्रनिदिष्टस्तेन चस्य नेत्सञ्ज्ञा। विद्यया वित्तो विद्याधुञ्चु। विद्याचणः।

तृतीयान्त समर्थ से पर जाना गया इत अर्थ में चुचुप एवं चणप् प्रत्यय होता है। प्रत्ययों के आदि में यहा यकार है। उसका झोप करने से प्रत्यय का आदि यकार है चकार नहीं, अतः 'चुट्' से यकार की इस सञ्ज्ञापूर्वक झोप न हुआ।

१८२८ विनञ्म्यां नानाभि न सह ५।२।२७।

असहाये पृथग्भावे वर्तमानाभ्या स्वार्थे प्रत्ययौ। विना। नाना।

असहाय पृथक्भाव में वर्तमान वि एवं नच् से स्वार्थ में अर्थात् प्रकृति के अर्थ में ना एवं नान् प्रत्यय होते हैं। विना। नाना।

१८२९ वेः शालच्छङ्कटचौ ५।२।२८।

२० सि० द्वि०

क्रियाविशिष्टसाधनवाचकात् स्वार्थे विस्तृतम् = विशालम् । विशङ्कटम् ।

क्रियाविशिष्ट साधनवाचक वि शब्द से प्रकृत्यर्थ में शालच् एवं शङ्कच् होता है । क्रियाजन्य विस्तार रूप फल का साधन = उपकारक अर्थ में विद्यमान वि-से शालच् विशालम् = विस्तृतम् । विशङ्कटम् = विस्तृतसाधन ।

१८३० सम्प्रोदश्च कटच् ५।२।२९।

सङ्कटम्, प्रकटम्, उत्कटम्, चाद् विकटम् । ॐ अलावूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसङ्ख्यानम् ॐ । अलावूनां रजः अलावूकटम् । ॐ गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्यः ॐ । गवां स्थानं गोगोष्ठम् । ॐ संघाते कटच् ॐ । अवीनां संघातोऽविकटः । ॐ विस्तारे पटच् ॐ । अविपटः । ॐ द्वित्वे गोयुगच् ॐ । द्वौ चट्ठौ चट्ठगोयुगम् । ॐ पट्त्वे पङ्गवच् ॐ । अश्वपङ्गवम् । ॐ स्नेहे तैलच् ॐ । तिलतैलम् । सर्पपतैलम् । ॐ भवने क्षेत्रे शाकटशाकिनौ ॐ । इक्षुशाकटम् । इक्षुशाकिनम् ।

सन्, प्र, उद् एवं वित्से कटच् प्रत्यय होता है रजः अर्थ में पठ्यन्त अलावू, तिल, उमा, भङ्गा इनसे कटच् प्रत्यय होता है । स्थान आदि अर्थ में पशुनामवाचक शब्द से पर गोष्ठच् प्रत्यय होता है । • संघात अर्थ में पशुवाचक शब्द से कटच् प्रत्यय होता है । विस्तार अर्थ में पटच् प्रत्यय होता है । द्वित्वविशिष्ट संख्येय अर्थ में गोयुगच् प्रत्यय होता है । पट्त्व अर्थ में पङ्गवच् प्रत्यय होता है । • स्नेहार्थ में तैलच् प्रत्यय होता है । • भवन एवं क्षेत्र अर्थ में शाकट एवं शाकिन् प्रत्यय होता है ।

१८३१ अवात्कुटारच्च ५।२।३०।

चात्कटच् । अवाचीनोऽवकुटारः । अवकटः ।

अव शब्द से पर कुटार एवं कटच् प्रत्यय होता है ।

१८३२ नते नासिकायाः संज्ञायां टीट् नाटज्भ्रटचः ५।२।३१।

अवादित्येव । नतम् = नमनम् । नासिकाया नतम् अवटीटम् । अवनान्दम् । अवभ्रटम् । तद्व्योगान्नासिका अवटीटा । पुरुषोऽप्यवटीटः ।

संज्ञा में नासिका के नमन अर्थात् नत अर्थ में अवशब्द से टीट्, नाट्, भ्रट् प्रत्यय होते हैं । नमन = नत के संयोग में नासिका में भी प्रत्यय से अवटीटा = नासिका । नत युक्त नासिका युक्त पुरुष में भी अवटीट आदि प्रयोग होता है ।

१८३३ नेर्विडज्विरीसचौ ५।२।३२।

निभिडम् । निबिरीसम् ।

निशब्द के उत्तर निडच् एवं विरीसच् प्रत्यय होते हैं ।

१८३४ इनच् पिटच्चिकचि च ५।२।३३।

नेरित्येव । नासिकाया नतेऽभिधेये इनच् पिटचौ प्रत्ययौ प्रकृतेश्चिक चि इत्यादेशौ च । ॐ कप्रत्ययचिकादेशौ च वक्तव्यौ । चिकिनम् । चिपिटम् ।

चिक्कम् । ऋ क्लिन्नस्य चिल् पिल् लश्चास्य चक्षुपी ऋ । क्लिन्ने चक्षुपी
अस्य चिल्लः । पिल्लः ऋ चुल् च ऋ चुल्लः ।

नासिका के नमन अर्थ में विशब्द से पर इनच एव चिट् प्रत्यय होते हैं, एवं प्रकृतिभूत नि
शब्द को चिक् एव चि आदेश होते हैं । च प्रत्यय एव चिआदेश होता है यह भी कहना चाहिये ।
नि को चिआदेश हुआ है । इसके दोनों नेत्र मीलों रहते हैं इस अर्थ में छ प्रत्यय एव चिट्न्न को
चिर् पिल् आदेश होते हैं । चिट्न्न को पूर्व अर्थ में चुल् आदेश एव छप्रत्यय होता है—चुछः ।

१८३५ उपाधिभ्यां त्यक्त्रासन्नारूढयोः ५।२।३४।

सहायामित्यनुवर्तते । परंतस्यासन्न स्थलम् उपत्यका । आरूढं स्थलम् =
अधित्यका ।

यथा प्रतीयमान रहते आसन्न = समीर आरूढ = उपरिभाग इन अर्थों में क्रमशः वर्तमान
उप एव अपि से त्यक्न् प्रत्यय होता है । 'त्यक्नश्च प्रतिषेध' इससे यहाँ 'प्रत्ययत्वात्' से इकारा-
देश न हुआ । परंतुसमीरदेश को उपत्यका कहते हैं । परंत के उपरिभाग को अधित्यका कहते हैं ।

१८३६ कर्मणि घटोऽठच् ५।२।३५।

घटत इति घटः, पचाथच् । कर्मणि घटते कर्मठः = पुरुषः ।

'घट चेठावान्' से पचादित्प्रयुक्त अच् प्रत्यय कर्ता में है । घटते घट—चेठावान् । कर्म में
चेठायुक्त कर्मठः ।

सप्तम्यन्त कर्मन् से चेठायुक्त अर्थ में अठच् प्रत्यय होता है । कर्म में नियुक्त पुरुषार्थी पुरुषः ।

१८३७ तदस्य संज्ञातं तारकादिभ्य इत्च् ५।२।३६।

तारका संज्ञाता अस्य तारकितं नमः । आकृतिगणोऽयम् ।

समर्थ प्रथमान्त तारकादि शब्दों से इसको कर्तव्य (अस्व संज्ञात) अर्थ में इत्च् प्रत्यय होता
है । ताराओं से संयुक्त आकाश = तारकित नमः ।

१८३८ प्रमाणे द्वयसज्ज्दध्नन्मात्रचः ५।२।३७।

तदस्येत्यनुवर्तते । ऊरु प्रमाणम् अस्य ऊरुद्वयसम् । ऊरुदध्नम् । ऊरु-
मात्रम् । ऋ प्रमाणे ल ऋ । शमः । दिष्टिः । वितस्तिः । ऋ द्विगोर्नित्यम् ऋ ।
द्वौ शमी प्रमाणम् अस्य द्विशमम् । ऋ प्रमाणपरिमाणाभ्यां सख्यायाश्चापि
सशये मात्रज् वक्तव्यः । शममात्रम् । प्रस्यमात्रम् । पञ्चमात्रम् । ऋ वत्त्वन्तात्
स्वार्थे द्वयसज्मात्रचौ बहुलम् । ऋ तावदेव तावद्द्वयसम् । तावन्मात्रम् ।

प्रमाण अर्थ में प्रथमान्त से विद्यमान द्वयसच् दध्नच् एव मात्रच् प्रत्यय वक्तव्य में होते हैं ।
ऊरु प्रमाणस्य ऊरुद्वयसन् आदि । प्रमाण अर्थ में द्वयसच् आदि प्रत्ययों का लुक् होता है ।
शम दिष्ट विवस्ति शब्द प्रमाण वाचक हैं । इससे विहित का लुक् हुआ है । प्रमाणान्त द्विगु से
द्वयसच् आदि का नित्य लुक् होता है । प्रमाण, परिमाण, एव सख्या वाचक शब्दों से सशय अर्थ
में मात्रच् प्रत्यय होता है । शमप्रमाण स्वात् न वेति सशये शममात्रम् । वद्वच् प्रत्ययान्त से
स्वार्थे द्वयसच् एव मात्रच् प्रत्यय होता है । यहाँ प्रमाण से परिच्छेदकमान का ग्रहण होता

है। अत्य से प्रमेय अर्थ की प्रतीति होती है। प्रमेय रूपार्थ में तीनों प्रत्यय होते हैं। द्वयसच् दधन्च् ऊर्ध्वमान में ही होते हैं।

प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतो मम।

ऊर्ध्वावस्थितेन येन मीयते ऊर्ध्वमानम् यथा ऊर्वादि। इससे तिर्थङ्मान में 'दण्डद्वयसं क्षेत्रन्' यह प्रयोग असाधु ही है। द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः यहाँ मात्रच् का लुक् है। द्वयसच् का लुक् कथन वहाँ सर्वथा असंगत है।

उत्तरोत्तर मुन्यभिप्रेतार्थ में पूर्व-पूर्व मुनियों की सम्मति है, अतः भाष्यकारोक्ति ही यहाँ मान्य है। शमः आदि में मात्रच् का ही लुक् है अन्य प्रत्ययद्वय का नहीं। शमादि अनुर्ध्वमान है।

१८३९ पुरुषहस्तिभ्यामण् च ५।२।३८।

पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम्। पुरुषद्वयसम्। हास्तिनम्। हस्तिद्वयसम्।

प्रमाण अर्थ में पुरुष एवं हस्तिन् से अत्य = पष्ठार्थ में अण् प्रत्यय एवं द्वयसच् आदि प्रत्यय होते हैं। हास्तिनम् में 'श्नण्यपत्ये' से प्रकृति भाव है।

१८४० यत् तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५।२।३९।

यत् परिमाणम् अस्य यावान्। तावान्। एतावान्।

कोर्ष ङावतुप् प्रत्यय करते हैं। परिमाण वाचक प्रथमान्त समर्थ यद्, तद्, एतद् शब्द से पर पष्ठार्थ में वतुप् प्रत्यय होता है। यावान् = जितना। तावान् = तितना, यहाँ 'आसर्वनाम्नः' से आत्व है।

१८४१ किमिदम्भ्यां वो घः ५।२।४०।

आभ्यां वतुप् स्याद् वस्य च घः। कियान्। इयान्।

प्रथमान्त परिमाण वाचक किम् शब्द से एवं इदम् शब्द से वतुप् प्रत्यय होता है एवं वकार को घकारादेश होता है। उस घ को इयादेश होता है। 'किमः कः' से कादेश क इयान् अकार-लोप कियान्। इदम् इयान् इदम् को इश् आदेश सर्वविश १+इयान् यस्येति च से इकारलोप इयान्। स्त्रीलिङ्ग में उगितश्च से ङोप् 'इयती' होता है।

१८४२ किमः संख्यापरिमाणे ङिति च ५।२।४१।

चाद्वतुप्, तस्य च वस्य घः स्यात् का संख्या येषां ते ङिति। कियन्तः।

किम् शब्द से उत्तर संख्या के परिमाण अर्थ में ङिति प्रत्यय होता है। चकार से वतुप् होता है। वतुप् के वकार को घ आदेश होता है। कियान्। इयान्।

१८४३ संख्याया अवयवे तयप् ५।२।४२।

पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयं दारु।

समर्थ प्रथमान्त संख्या वाचक शब्द से अवयवार्थ में तयप् प्रत्यय होता है पष्ठार्थ में। पाँच अवयवों से युक्त काष्ठ पञ्चतयं दारु।

१८४४ द्वित्रिभ्यां तयस्यायञ्वा ५।२।४३।

द्वयम् । द्वितयम् । त्रयम् । त्रितयम् ।

दि एवं त्रिशब्द से उत्तर तयप् प्रत्यय के स्थान में विकल्प से अयच् प्रत्यय होता है ।

१८४५ उभादुदात्तो नित्यम् ५।२।४४।

उभशब्दात् तयपोऽयच् स्यात् स चाद्युदात्तः । उभयम् ।

उभ शब्द से उत्तर तयप् के स्थान में अयच् आद्युदात्त आदेश होता है । उभयम् । 'उभौ अवयवौ अस्य' यह विग्रह है ।

१८४६ तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ५।२।४५।

एकादश अधिका अस्मिन् एकादशम् । ॐ शतसहस्रयोरेवेष्यते ॐ । नेह, एकादश अधिका अस्यां विंशतौ । ॐ प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः समानजा-
तीयत्वं एवेष्यते ॐ । नेह, एकादश मापा अधिका अस्मिन् सुवर्णशते ।

दशन्शब्दान्त प्रथमान्त समर्थ से 'इनमें अधिक' इस अर्थ में ङ प्रत्यय होता है । एकाधिका दश एकादश वे अधिक है जिनमें ङ प्रत्यय टिळोप एवादशम् । • शत एवं सहस्र वाक्य होने पर ही यह विधि दृष्ट है । अन्यत्र नहीं । प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्यय का अर्थ वे दोनों तुल्यभावीय रहे वहाँ यह विधि दृष्ट है । न्यारद् माप सुवर्ण अधिक है जिसमें ऐसा जो सुवर्णशत वहाँ वाक्य ही रहा ।

१८४७ शदन्तविंशतेश्च ५।२।४६।

ङः स्यादुक्तेऽर्थे । त्रिंशदधिका अस्मिन् त्रिंशं शतम् । विंशम् ।

प्रथमान्त शदन्त एवं विंशति से 'इसमें अधिक' अर्थ में ङ प्रत्यय होता है । ङ प्रत्यय एवं टिळोप से त्रिंशम् । विंशम् । वहाँ 'ति' का लोप हुआ है ।

१८४८ संख्याया गुणस्य निमाने मयट् ५।२।४७।

भागस्य मूल्ये वर्तमानात् प्रथमान्तात् संख्यावाचिनः पञ्चमर्थे मयट् स्यात् । यवानां द्वौ भागौ निमानमस्योदन्धिद्भागस्य द्विमयम् उदन्धिद् यवानाम् । गुणस्येति किम्, द्वौ श्रीहियवौ निमानमस्योदन्धितः । निमाने किम्; द्वौ गुणौ क्षीरस्य एकस्तैलस्य द्विगुण क्षीर पच्यते तैलेन ।

गुण का अर्थ है भाग, कषणक्रिया वा साधन मूल्य को निमान कहते हैं । निनोयते = क्लीयते येनेति निमानम् = मूल्यम् । करणे स्युट् । मेङ् प्रथिदाने को । भाग का मूल्य अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त संख्यावाचक शब्द से पर षष्ठ्यर्थ में मयट् प्रत्यय होता है । यव को दो हिस्से अर्थात् भाग मूल्य है जिस मट्टे के दो भागों का वहाँ मयट् संख्यावाचक द्वि से हुआ द्विमयम् । जहाँ द्रव्य का मूल्य प्रतीयमान रहे वहाँ मयट् नहीं । द्वौ श्रीहियवौ निमान-मस्य उदधित । यहाँ वाक्य ही रहा । जहाँ मूल्य अर्थ गम्यमान नहीं वहाँ भी वाक्य ही रहता है मयट् नहीं ।

१८४९ तस्य पूरणे ङट् ५।२।४८।

षष्ठ्यन्त से पूरण अर्थ में ङट् प्रत्यय होता है । पूर्यतेऽनेनेति पूरण षष्ठ्यन्त से करण में स्युट् । न्यारद्वौ संख्या को परिपूर्ण करने वाला अर्थ में एकादशः । ङट्प्रकृत अवयव मेङ् प्रकृत्यर्थे यहाँ

है, अवयव प्रत्ययार्थ है। जिस संख्यावाचक शब्द से प्रत्यय पूरणार्थक करना है उस प्रकृत्यर्थ गतप्रवृत्ति निमित्तरूप धर्म के पूरण में प्रत्यय होता है, यथा प्रकृत में एकादशत्व धर्म पूर्यर्थ प्रत्यय हुआ। प्रत्ययोत्पत्ति बिना उसमें एकादश नहीं था।

१८५० नान्तादसंख्यादेर्मट् ५।२।४९।

डटो मडागमः स्यात् । पञ्चानां पूरणः पञ्चमः । नान्तात् किम्, विंशः । असंख्येत्यादेः किम्, एकादश ।

नहीं है संख्यावाचक शब्द आदि में जिसको ऐसा जो पष्ठयन्त संख्यावाचक नान्त शब्द उससे पर जो डट् प्रत्यय उसको मट् आगम होता है। पञ्चन् आम् डट् (अ) प्रा० सं० वि० लुक् मट् (न्) आगम पदसंज्ञा नलोप पञ्चमः। पञ्चत्वरूप प्रवृत्ति निमित्त धर्म सम्पादक डट् यहाँ है जिसके होने से प्रकृत्यर्थगत पञ्चत्व की परिपूर्ति हुई। विंशतित्व सम्पादक डट् है किन्तु यहाँ मट् नान्त न होने से न हुआ किन्तु 'तिविंशतेः' से तिका लोप अलोप विंशः। एकादशः यहाँ संख्यावाचक एक शब्द आदि में होने से डट् तो हुआ किन्तु मट् का आगम न हुआ।

१८५१ षट्कृतिकतिपयचतुरां थुक् ।

एषां थुगागमः स्यात् डति । षण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपय-
शब्दस्यासंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकात् डट् । कतिपयथः । चतुर्थः ।
चतुश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च ऋ । तुरीयः । तुर्यः ।

संख्यावाचक षष्ठयन्त षप् कति कतिपय चतुर् इनको थुक् आगम होता है, डट् प्रत्यय पर रहते। यद्यपि 'डटः' पूर्वत्र षष्ठयन्त है किन्तु डट् को थुगागम में जडत्वादि अतिप्रसङ्ग को वारणा-
र्थ षडादि को ही थुक् आगम किया है, अर्थ वश विभक्ति का विपरिणाम हुआ 'डति' इति।
षप् आम् ष् डट् (अ) वि० लु० ष्टुत्व से षष्ठः। कतिपय शब्द संख्यावाचक यद्यपि नहीं है, अतः
डट् को अप्राप्ति प्रयुक्त थुक् की अप्राप्ति स्वतः है, किन्तु थुगागम विधानार्थ सूत्र में कृत जो कतिपय
शब्द वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि कतिपय शब्द असंख्यावाचक है तो भी डट् प्रत्यय उससे
होता है। चतुर्णां पूरणः चतुर्थः। षष्ठयन्त संख्यावाचक चतुर् शब्द से पूरणार्थक छप्रत्यय
पवं यत् प्रत्यय होता है। एवं चतुर्थ का सस्वर आदि अक्षर का लोप होता है। तुरीयः।
तुर्यः।

१८५२ बहुपूगगणसङ्ख्यस्य तिथुक् ५।२।५२।

डटीत्येव । पूगसङ्ख्योरसंख्यात्वेऽप्यत एव डट् बहुतिथि इत्यादि ।

डट् प्रत्यय पर रहते बहु, पूग, गण, संघ इनको तिथुक् आगम होता है। तिथुक् आगम
विधान करने से पूग एवं संघ संख्या वाचक नहीं है तो भी डट् प्रत्यय हुआ।

१८५३ त्रितोरिथुक् ५।२।५३।

डटीत्येव । यावतिथिः ।

तुप् प्रत्ययान्त को डट् पर रहते थुक् आगम होता है। यावतिथिः।

१८५४ द्वेस्तीयः ५।२।५५।

डटोऽपवादः । द्वयोः पूरणो द्वितीयः ।

संख्यावाचक षष्ठ्यन्त द्विशब्द से पूरण अर्थ में ङट् को वाचकर तीव्रप्रत्यय होता है। द्वित्व-संख्या की पूर्ति में दि से तीव्र द्वितीयः।

१८५५ त्रैः सम्प्रसारणञ्च ५।२।५५।

तृतीयः।

संख्यावाचक षष्ठ्यन्त त्रिशब्द से पूरणार्थक तीव्र प्रत्यय होता है, एवं त्रिषट्क रेफ का सम्प्रसारण होता है। अथानां पूरणः तृतीयः। त्रित्वसंख्याविशिष्टसंख्येवायः।

१८५६ विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् ५।२।५६।

एभ्यो ङट्सुतमडागमो वा स्यात्। विंशतितमः। विंशः। एकविंशतितमः।, एकविंशः।

विंशति आदि शब्द से पर ओ ङट् वत्तको तमड् भागम विकल्प से होता है। 'पङ्क्ति' सूत्र में^३ निपातित विंशति आदि का ग्रहण यहां करना, लोकप्रसिद्ध का नहीं।

१८५७ नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च ५।२।५७।

शतस्य पूरणः शततमः। एकशततमः। मासादेरन्त एव ङट्, मास-तमः।

शतादि शब्द, मास, अर्धमास संवत्सर इनसे पर ङट् को तमड् भागम मिले होता है। ङट् को तमडागम विधान सामर्थ्यात् मासादि संख्यावाचक नहीं है तो भी ङट् प्रत्यय करना यह स्थापन है।

१८५८ षष्ठ्यादेश्चाऽसंख्यादेः ५।२।५८।

षष्ठितमः। संख्यादेस्तु विंशत्यादिभ्य इति विकल्प एव एकषष्ठितमः। एकषष्ठः।

संख्यावाचक शब्द पूर्व में न रहें ऐसे को षष्टि आदि शब्द सबसे पर ओ ङट् वत्तको तमडा-गम होता है। संख्यादि जहां षष्टि आदि रहेगे वहां ङट् को 'विंशत्यादिभ्यः' से विकल्प से ङट् को तमडागम होगा।

१८५९ मतौ छः सूक्तसाम्नोः ५।२।५९।

मत्वर्थे छः स्यात् अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति अच्छावाकीयं सूक्तम्। वारवन्तीयं सूक्तम्।

सूक्त एवं साम अर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक से मत्तुप् प्रत्ययार्थ में छ प्रत्यय होता है। अच्छावाक शब्द घटित सूक्त, वारवन्त शब्द घटित साममन्त्र में छप्रत्यय हुआ वर्तमान काठिक सप्ता विशिष्टार्थक प्रातिपदिक से अच्छावाकीयम्। वारवन्तीयम्।

१८६० अध्यायानुवाकयोर्लुक् ५।२।६०।

मत्वर्थस्य छस्य। अत एव स्थापकात् तत्र छः। विधानसामर्थ्याच्च विकल्पेन लुक्। गर्दमाण्डः। गर्दमाण्डीयः।

अध्याय एवं अनुवाक वाच्य होने पर मत्वर्थ से विहित छ प्रत्यय का लुक् होता है यहाँ छ प्रत्यय विधायक सूत्र ही नहीं है तो भी छ प्रत्यय के लुक् विधान जो किया है अतः इन अर्थों में छ प्रत्यय भावार्थ में करना चाहिये एवं उसका लुक् विधानसामर्थ्य प्रयुक्त विकल्प से करना चाहिये, लुक् के अभाव में विधीयमान छ प्रत्यय का श्रवण रहेगा ।

१८६१ विमुक्तादिभ्योऽण् ५।२।६१।

मत्वर्थेऽण् स्याद् अध्यायानुवाकयोः । विमुक्तः शब्दोऽस्मिन्नस्ति वैमुक्तः ।
देवासुरः ।

अध्याय एवं अनुवाक अर्थ में विमुक्त आदि प्रथमान्त शब्दों से पर मत्वर्थ में अण् प्रत्यय होता है । जिस अध्याय में विमुक्त शब्द है ऐसा जो अध्याय उसको वैमुक्त कहते हैं । देवासुर शब्द है जिस अनुवाक में ऐसा जो अनुवाक उसे देवासुर कहते हैं ।

१८६२ गोपदादिभ्यो वुन् ५।२।६२।

मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयोः । गोपदकः । श्पेत्वकः ।

प्रथमान्त गोपदादि शब्दों से मत्वर्थ अध्याय एवं अनुवाक वाच्य हो तो वुन् प्रत्यय होता है । गोपदशब्द घटित अध्याय में वुन् से गोपदकः । 'स्पेत्वा' शब्द घटित अनुवाक में श्पेत्वकः ।

१८६३ तत्र कुशलः पथः ५।२।६३।

वुन् स्यात् । पथिकुशलः = पथिकः ।

समर्थ सप्तम्यन्त पथिन् शब्द से कुशल अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है ।

१८६४ आकर्षादिभ्यः कन् ५।२।६४।

आकर्षे कुशलः आकर्षकः । 'आकर्षादिभ्यः' इति रेफरहितो मुख्यः पाठः ।
आकर्षो निकपः ।

सप्तम्यन्त आकर्षादि शब्द से पर कुशल अर्थ में कन् प्रत्यय होता है । वुन् से अकारान्त शब्द से कार्यनिर्वाह होता पुनः कन् विधान इकारान्त उकारान्त के लिये है । रेफरहित आकर्ष यही प्रधान पाठ सूत्र में है कसौटी के पत्थर को आकर्ष = निकप कहते हैं ।

१८६५ धनहिरण्यात् कामे ५।२।६५।

कामः = इच्छा । धने कामो धनको देवदत्तस्य । हिरण्यकः ।

इच्छार्थ में सप्तम्यन्त धन एवं हिरण्य से कन् प्रत्यय होता है । देवदत्त की धन प्राप्ति विषयक इच्छा इसमें धनकः । देवदत्त की सुवर्ण प्राप्ति विषयक इच्छा में हिरण्यकः ।

१८६६ स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते ५।२।६६।

केशेषु प्रसितः केशकः = तद्वरचनायां तत्पर इत्यर्थः ।

प्रसित अर्थात् उस कार्य में तत्पर अर्थ में स्वाङ्गवाचक सप्तम्यन्त से कन् होता है वालों की सजावट में तत्पर अर्थ में 'केशकः' हुआ ।

१८६७ उदराट्ठन् आद्यूने ५।२।६७।

अविजिगीषौ ठक् स्यात् कनोऽपवाद । धुमुक्षयाऽत्यन्तपीडित उदरे प्रसित औदरिकः । आद्युने किम्, उदरकः । उदरपरिमार्जनादौ प्रसक्त इत्यर्थः ।

आद्युन = अर्थात् अविजिगीषा अर्थ में सप्तम्यन्त उदर से प्रसित अर्थ में कन् को बाधकर क् प्रत्यय होता है । भूख से अतीव दुःखयुक्त होकर उदर पोषण कार्य में तत्पर को औदरिकः कहते हैं । पेट की सफाई में प्रवृत्त अर्थ में कन् प्रत्यय से उदरकः ।

१८६८ सस्येन परिजातः ५।२।६८।

कन् स्मर्यते न तु ठक् । सस्यशब्दो गुणवाची, न तु धान्यवाची । शस्ये-
नेति पाठान्तरम् । सस्येन = गुणेन परिजातः = सम्बद्धः सस्यकः साधुः ।

गुण से सम्बद्ध = युक्त अर्थ में लुगोपान्त सस्य से कन् का स्मरण करना चाहिये, ठक् का नहीं । अर्थात् कन् प्रत्यय होता है । यहां सस्य शब्द गुणार्थक है, धान्यार्थक नहीं है । कहीं 'शस्येन' यैसा तात्कथ्य शकारघटित भी पाठ है ।

१८६९ अंशं हारी ५।२।६९।

हारीत्यावश्यकं णिनिः । अत एव सद्युयोगे पट्टी न । अशको दायाद् ।

अवश्य हरणकर्ता = ग्रहणकर्ता इस अर्थ में द्वितीयान्त अश शब्द से कन् प्रत्यय होता है । यहा हारी में आवश्यक अर्थ में णिनि प्रत्यय है, 'अकेनो' से षष्ठी का निषेध से अश से द्वितीयात्मिकी की उत्पत्ति हुई है । दायम् = अशम् आदत्ते = गृह्णाति दायाद् । अश हरति अशकः = पितामहादि से आगत सम्पत्ति के अश की वक्ष्य अवश्य अपने माग की ग्रहण करता ही है दायाद् ।

१८७० तन्त्रादचिरापहृते ५।२।७०।

तन्त्रकः पटः । प्रत्यय इत्यर्थः ।

तन्त्रुर्मा का विस्तार जिसमें हो उसको तन्त्र = अर्थात् तन्तुबाधशलाका कहते हैं । अचिर = शीघ्र काल = समय उपहृत निकला हुआ पट अर्थात् प्रत्यय = मवीन पट अर्थ में तन्त्रक = पट = नूतन । अचिरः कालोपहतस्तरिमन्, 'काला परिभाणिना' से समास है । 'अचिरापहत' अर्थ में तन्त्र से पर कन् प्रत्यय होता है—मवीन वस्त्र अर्थ में ।

१८७१ ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम् ५।२।७१।

आयुधजीविनो ब्राह्मणा यस्मिन् देशे स ब्राह्मणकः । अल्पम् अन्नं यस्यां सा उष्णिका यवागू । अन्नशब्दस्य उष्णादेशो निपात्यते ।

सज्ञा अर्थ में ब्राह्मणक एव उष्णिक निपातन से सिद्ध होते हैं । जिस देश में शस्त्रविद्या से ब्राह्मण लोग जीवन निर्वाह करते हैं उस देश को 'ब्राह्मणक' कहते हैं । अल्प अन्न युक्ता ऊप्सी को उष्णिका कहते हैं, यहां अन्न शब्द के स्थान में उष्ण आदेश एव कन् प्रत्यय टाप् 'प्रत्ययस्थाप' से इकार उष्णिका यवागू = ऊप्सी ।

१२७२ शीतोष्णाम्यां कारिणि ५।२।७२।

शीत करोतीति शीतकोऽलसः । उष्ण करोतीति उष्णकः शीघ्रकारी ।

करता है इस अर्थ में द्वितीयान्त शीत एवं उष्ण से कन् प्रत्यय होता है। आलस्ययुक्त पुरुष मोचन में विलम्ब कर भोज्यपदार्थों को शीत करता है शीतकः। शीघ्रकार्यं कर्ता जल्दी गर्म गर्म भोज्य पदार्थों को खा लेता है यहाँ 'उष्णक' हुआ है। उभयत्र कन् प्रत्यय हुआ।

१८७३ अधिकम् ५।२।७३।

अध्यारूढशब्दात् कन् उत्तरपदलोपश्च ।

अध्यारूढ शब्द से कन् प्रत्यय होता है एवं आरूढ का लोप से अधिकम् प्रयोग सिद्ध होता है, यह अर्थ अधिकम् इस निपातन लब्ध अर्थ है। अध्यारूढ—'गत्यर्थकर्मक' से रूढ धातु से कर्तरि या कर्मणि क्त प्रत्यय है। कर्ता में क्त प्रत्यय होता है इस पक्ष में कर्म का अनभिधान है। अतः अध्यारूढ शब्द के योग में द्वितीया 'अध्यारूढो द्रोणः खारीम्' 'ग्रामं गतः' इतिवत्। कर्म में क्त पक्ष में 'अधिका खारी द्रोणेन'। कर्म उक्त होने से पञ्चमी एवं सप्तमी नहीं हुई।

१८७४ अनुकामिकाभीकः कामिता ५।२।७४।

अन्वभिभ्यां कन् अभेः पाक्षिको दीर्घश्च । अनुकामयते अनुकः । अभिका-मयते अभिकः । अभीकः ।

इच्छा करता है इस अर्थ में अनु अभि इनसे कन् प्रत्यय होता है एवं अभिके इकार का विकल्प से दीर्घ होता है।

१८७५ पार्श्वेनान्विच्छति ५।२।७५।

अनुजुरुपायः = पार्श्वम्, तेनान्विच्छति पार्श्वकः ।

तिर्यग् अवस्थान से पार्श्वम् = अनुजुः उसके साधर्म्य से कठोर उपाय को भी पार्श्व कहते हैं। गौण = अमुख्यार्थक से ही प्रत्यय होता है, मुख्यार्थ में अनभिधान से प्रत्यय नहीं होता। पार्श्वकः। तृतीयान्त पार्श्व से अन्विच्छति अर्थ में कन् प्रत्यय होता है।

१८७६ अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ ५।२।७६।

तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलं तेनान्विच्छति आयःशूलिकः = साहसिकः । दण्डा-जिनं दम्भः तेनान्विच्छति दाण्डाजिनिकः ।

'अन्विच्छति' अर्थ में तृतीयान्त अयःशूल एवं दण्डाजिन से क्रमशः ठक् एवं ठञ् प्रत्यय होता है। कठोर उपाय को अयःशूल कहते हैं। उसके द्वारा प्राप्त करने की इच्छा वाला साहस युक्त पुरुष में ठक् आयःशूलिकः। दम्भ से प्राप्त करने की इच्छायुक्त पुरुष में ठञ् दाण्डाजिनिकः। प्राणनिरपेक्षं कर्म साहसम्।

१८७७ तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा ५।२।७७।

कन् स्यात् पूरणप्रत्ययस्य लुग् वा । द्वितीयकं द्विकं वा ग्रहणं देवदत्तस्य । द्वितीयकेन रूपेण ग्रहणम् इत्यर्थः । ॐ तावतिथेन गृहातीति कन् वक्तव्यो नित्यञ्च लुक् ॐ । पष्ठेन रूपेण गृहाति पट्को देवदत्तः । पञ्चकः ।

ग्रहण इस अर्थ में तृतीयान्त पूरणप्रत्ययान्त शब्द से कन् प्रत्यय होता है एवं प्रकृति घटक पूरणार्थक प्रत्यय का लुक् होता है विकल्प से। तीय का लुक् कन् द्विकम्। लोप के अभाव में

द्वितीयम् । दूसरी बार देवदत्त का ग्रहणकर्ता । तृतीयान्त पूरणार्थक से कन् प्रत्यय होता है । एवं पूरणार्थक प्रत्यय का नित्य लुक् होता है । ट् का लुक् षट् को मान कर युक् भागम की निवृत्ति, कन् प्रत्यय षट्क । पञ्चमक का पञ्चन ।

१८७८ त एषां ग्रामणीः ५।२।७८।

देवदत्तो मुख्योऽस्य देवदत्तकः । त्वत्कः । मत्कः ।

नापित, श्रेष्ठ ग्राम के अधिपति में ग्रामणी शब्द है । वह इसका ग्रामणी माने श्रेष्ठ है इस अर्थ में प्रथमान्त से कन् प्रत्यय होता है । देवदत्त है मुख्य = प्रधान जिसका वह 'देवदत्तक' कहा जाता है । पुन मुख्य हो जिसका मैं मुख्य हूँ जिसका उसने कन् प्रत्यय एवं पुष्पाद अस्माद के म पर्यन्त माग को त्व एवं म आदेश होकर त्वत्क, मत्क, होता है ।

१८७९ शृङ्खलमस्य बन्धनं करमे ५।२।७९।

शृङ्खलकः करमः ।

शृङ्खल से इसका बन्धन है इस अर्थ में करम वाच्य होने पर प्रथमासमर्थ वचनोपाधिक शृङ्खल शब्द से कन् प्रत्यय होता है । लट् के बाधक को करम कहते हैं । काष्ठमय पाशक बन्धन है अर्थात् बन्धते तद् शृङ्खलम् = लट् के बन्धने के पेर में लकड़ी से बना हुआ पाशरूपी जो लगाया जाता है उसको शृङ्खल कहते हैं । शृङ्खल शब्द यहाँ शृङ्खलवती रज्जुआदि परक है, लकड़गा शृङ्खल सज्जित बन्धन का भी शृङ्खल कहते हैं । अस्वतन्त्रीकरणम् = बन्धनम् । रस्सी में अस्वतन्त्रीकरणत्व है, शृङ्खल में नहीं शृङ्खल के बिना केवल रज्जु से बन्धन नहीं । अतः काष्ठ निर्मित शृङ्खल में भी करणत्व बन्धन निरूपित है । अथवा शृङ्खल से रज्जु लेना ।

१८८० उत्क उन्मनाः ५।२।८०।

सदुगतमनस्कवृत्तेरुत्कृष्टात्स्वार्थं कन् । उत्क उत्कण्ठितः ।

उत्कण्ठित है मन की वृत्ति जिसमें इस अर्थ का बोधक वद से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है । उत्कः = उत्कण्ठितः ।

१८८१ कालप्रयोजनाद् रोगे ५।२।८१।

कालवचनात् प्रयोजनवचनाच्च कन् स्याद् रोगे । द्वितीयेऽहनि भवो द्वितीयको ज्वरः । प्रयोजन कारण रोगस्य फलं वा । विषपुष्पैर्जनितो विष-पुष्पकः । सृष्ण कार्यमस्य सृष्णकः । रोगे किम्, द्वितीयो दिवसोऽस्य ।

रोग अर्थ में सप्तम्यन्त कालवाचक शब्द से एवं प्रयोजन वाचक शब्द से कन् प्रत्यय होता है । यद्यपि द्वितीय शब्द कालवाचक नहीं है, तो भी अर्थ प्रकरणादि से उचित प्रत्ययरूप वृत्ति विषय में काल में विद्यमान है । शब्दशक्ति स्वभावात् से साधारण कालवाचक मासादि शब्द से प्रत्यय नहीं होता है । यहाँ उच्छर सूत्र से सृष्ण का अणुर्ण है यह भी प्रमाण है । अतरोया ज्वर जो आता है उसमें 'द्वितीयक' दूसरे दिन में आनेवाला बुखार । यह उस ज्वर की सहा है । प्रयोजन = कारण को कहते हैं, अथवा रोगादिक के फल को भी प्रयोजन कहते हैं । विप्रेले फलों को सुधने से होनेवाला रोग । यहाँ रोग की उत्पत्ति में विषपुष्प कारण है । प्रयोजन का अर्थ कार्य है—यथा सृष्ण कार्य है इसका यहाँ कन् सृष्णक । रोगरूप अर्थ की यहाँ अप्रतीति है यहाँ कन् नहीं—जैसे इसका दूसरा दिन है ।

१८८२ तदस्मिन्तन्नं प्राये संज्ञायाम् ५।२।८२।

प्रथमान्तात् सप्तम्यर्थे कन् स्यात् यत्प्रथमान्तम् अन्नं चेत् प्रायविषयं तत् । गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां गुडापूपिका पौर्णमासी । ॐ वटकेभ्य इनि-
र्वाच्यः ॐ । वटकिनी ।

संज्ञा में प्रायविषयीभूत अन्न वाचक हो तो सप्तम्यर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय होता है । गुडमिश्रित पूजा प्रायः खाये जाते हैं जिस पूर्णिमा को ऐसी पूर्णिमा को गुडापूपिका कहते हैं कन् टाप् इत्व । प्रायः संज्ञा में वटक शब्द से प्राप्त कन् को बाधकर इनि प्रत्यय पूर्वोक्तार्थ में होता है । बड़ा खाये जाते हैं जिस पूर्णमासी को उसको वटकिनी कहते हैं ।

१८८३ कुल्मापादन् ५।२।८३।

कुल्मापाः प्रायेणान्नमस्यां कौल्माषी ।

पूर्वोक्त अर्थ में कुल्माप से अन् प्रत्यय होता है । कुल्माप से गोधूम = गेहूँ का ज्ञान करना । कौल्माषी पौर्णमासी ।

१८८४ श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते ५।२।८४।

श्रोत्रियः । वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः ।

अध्ययन करता है इस अर्थ में द्वितीयान्त छन्दस् शब्द से ण् प्रत्यय एवं छन्दस् के स्थान में श्रोत्र आदेश होता है । इसमें 'वा' की अनुवृत्ति है, अतः पक्ष में अण् प्रत्यय भी होता है । वेदकर्मक अध्ययन कर्ता को 'श्रोत्रियः' कहते हैं । पक्ष में छान्दसः । यहाँ अण् । ण् अण् का बाधक है, किन्तु वैकल्पिक वह है ।

ण् में नकार आद्युदात्त के लिए है । वेदोक्त कर्मानुष्ठान कर्ता में भी श्रोत्रियः प्रयोग होता है ।

१८८५ श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ ५।२।८५।

श्राद्धी । श्राद्धिकः ।

'इसने खाया है' इस अर्थ में श्राद्ध से इनि एवं ठन् प्रत्यय होता है । जिस कर्म में श्राद्ध रहे उस पितरों को उद्देश्य कर किया हुआ कर्म को श्राद्ध कहते हैं । 'प्रशाश्रद्धादिभ्यो णः' से णप्रत्ययान्तश्राद्ध शब्द है । तो भी श्राद्ध का साधन द्रव्य को गौणो वृत्ति से श्राद्ध शब्द कहता है । मुख्य श्राद्धरूप कर्म का भोजन असम्भव है । श्राद्ध के लिए निमित्त अन्नादि कर्मक भोजन सम्भव है । इनि में श्राद्धी । ठन् में श्राद्धिकः । अद्यतन में ही यह प्रयोग होता है । आज भोजन श्राद्ध का कर काल 'श्राद्धिकः' यह प्रयोग नहीं होता है । भोजन क्रिया के समान काल में ही श्राद्धी श्राद्धिकः । भोजनजन्यवृत्तिर्यस्मिन् काले भवति तत्रैवायं प्रयोग इति धेयः ।

१८८६ पूर्वादिनिः ५।२।८६।

पूर्वं कृतमनेन पूर्वी ।

क्रियाविशेषण वाचक द्वितीयान्त पूर्व से कृत अर्थ में इनि प्रत्यय होता है । कृष् पात्वर्थ उत्पत्तिजनक व्यापार है, इसका फल उत्पत्ति है, उस उत्पत्ति रूप फल में अभेद सम्बन्ध से अन्वयी पूर्वपदार्थ है फल भी व्यपदेशिवद्भाव से फलाश्रय है । अतः 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वम्' से पूर्व से द्वितीया विभक्ति है पूर्वकालोद्भव उत्पत्तिरूप व्यापार जनक कर्ता को पूर्वी कहते हैं ।

१८८७ सपूर्वाच्च ५।२।८७।

कृतपूर्वी ।

कृत अर्थ में सपूर्व पूर्व से इति प्रत्यय होता है । कृत-कटः पूर्वम् अनेन यद्वा कृतपूर्व से न कृतपूर्वी ।

वस्तुनः कृतपदार्थ कटपदार्थ में सापेक्ष यद्वा है, 'सापेक्षम् असमर्थयत्' है समास एवं तद्धित प्रत्यय इति दोनों एकाधीभावस्य सामर्थ्य के अभाव से यहाँ अप्राप्त है तथापि भाष्यप्रयोग के अनुरोध से प्रथम कटादि कर्म की अविवक्षा कर अकर्मक कृष्णात्तु को मानकर भाव में कप्रत्यय से 'कृतः' बनाकर समास करना । तदनन्तर तद्धित प्रत्यय इति कृतपूर्वी बना कर अब कटादि कर्म की विवक्षा करना । इन सब प्रकार में 'कृतपूर्वी' भाष्यप्रयोग ही प्रमाण है । अन्यत्र ऐसी विवक्षा नहीं होती है ।

यहाँ शङ्का करते हैं कि पूर्वादिनि में तदन्त विधि से ही कृतपूर्वी आदि की सिद्धि होगी पुनः 'सपूर्वाच्च' यह योग विभाग क्यों किया ?

उत्तरम् अनुवृत्त्यर्थ है तो एक योग कर सपूर्वपर स्वरितत्व करने से अनुवृत्ति तावन्मात्र की होगी पुनः दो सूत्र १५५० क्यों किया ? या 'सपूर्वाच्च' क्यों किया ? तदन्तविधि से दो कार्य सिद्ध होगा यह व्यर्थ पर स्थापन करता है कि 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' यह परिभाषा प्रत्यय विधिविधया है ।

१८८८ इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८।

इष्टमनेन इष्टी । अधीती ।

इस अर्थ में दुतीयान्त समर्थ इष्टादि से इति प्रत्यय होता है । इन् + क सम्प्रसारण पूर्व-कर्म पक्ष 'इत्त्व' से यजन कर्म = इष्ट पदार्थ है, कर्म क प्रत्यय से बह्व है, कर्ता अनुक्त अतः दुतीया इति अनेन ।

१८८९ छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि ५।२।८९।

लोके तु परिपन्थिशब्दो न न्याय्यः ।

छन्द में शत्रुपर्याय पर्यवस्थात् शब्द से स्वार्थ में इति प्रत्यय होता है एवं अवस्थात् शब्द को पन्थ एवं पर आदेश निपातन से होते हैं । अपत्यन् = परिपन्थिनन् । 'आत्मा परिपरिणो विदम्' । लोक में परिपन्थि शब्द उचित नहीं है ।

१८९० अनुपद्यन्वेष्टा ५।२।९०।

अनुपदम् अन्वेष्टा अनुपदी गवाम् ।

अन्वेष्टा अर्थ में अनुपद शब्द के उत्तर इति प्रत्यय होता है । 'अनुपदम्' में 'पदस्य पश्चाद' पश्चादर्थ में अव्ययीभाव समास है । 'गवाम्' में परापेक्षया षष्ठी है । गोपद से पश्चात् अन्वेष्टेण गोभों का ही होता है । अतः शुक्णादि के अन्वेष्टेण में इति प्रत्यय नहीं होता है ।

१८९१ साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् ५।२।९१।

साक्षाद् द्रष्टा साक्षी ।

संज्ञा में द्रष्टा अर्थ में साक्षात् शब्द से पर इति प्रत्यय होता है । 'अव्ययानां भगवते टिलोपः' से साक्षात् की टिसंज्ञक भाव का इति पर रहते लोप हुआ साक्षी । साक्षात् शब्द सूत्र में अव्यय

है। 'प्रकृतिवदनुकरणम्' पक्ष से अनुकार्य वृत्ति अव्ययत्व अनुकरण में है। अतः साक्षात् से आगत पञ्चमी का लुक् 'अव्ययात्' सूत्र से हुआ है। 'उदः स्थास्थम्भोः' 'अवाद्यालम्बना' यहाँ 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' पक्ष को न माना गया अर्थात् 'न भवति' को माना गया। अतः इन स्थलों में पञ्चमी का लुक् न हुआ अनव्ययप्रयुक्त। दो पक्ष अनुकरण में है। इष्टानुरोध से उचित व्यवस्था होती है। साक्षात् द्रष्टा तीन होते हैं। १ दाता २ ग्रहीता ३ उपद्रष्टा। तां भी संशयद्वा यहाँ होने से उपद्रष्टा ही 'साक्षी' पद से कहा जाता है।

१८९२ क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः ५।२।९२।

क्षेत्रियो व्याधिः। शरीरान्तरे चिकित्स्यः। अप्रतीकार्य इत्यर्थः।

क्षेत्र शब्द का अर्थ है शरीर। शरीरान्तरे में चिकित्सा करने योग्य अर्थ में क्षेत्रियच् निपातन होता है। तात्पर्य यह है कि सप्तम्यन्त पर क्षेत्र शब्द से चिकित्सा अर्थ में घञ् प्रत्यय होता है एवं परक्षेत्र के स्थान में पर का लोप होता है। क्षेत्रियो व्याधिः = रोग जो इस वर्तमान शरीर में चिकित्सा करने योग्य नहीं है। असाध्य होने के कारण मृत्यु के बाद जो शरीर पुनः उत्पन्न होगा उसमें ही चिकित्सा होगी यह भावार्थ है। अप्रतीकार्य यही फलितार्थ कथन हुआ।

कोई कहता है कि 'परक्षेत्रे चिकित्स्यः' अर्थ में 'क्षेत्रियच्' का ही निपातन होता है। क्षेत्रिय शब्द का अनेकत्र प्रयोग है, यथा—क्षेत्रियं विषम्, जो शरीरान्तरे में संक्रमण होकर चिकित्सायोग्य—होगा। क्षेत्रियाणि तृणानि यानि सस्यानि क्षेत्रे जातानि चिकित्स्यानि = विनाशयितव्यानि। क्षेत्रियः = पारदारिकः। परदाराः = परक्षेत्रम्। तत्र चिकित्स्यः = निग्रहीतव्यः। वे सभी पक्ष भाष्योक्त हैं।

१५९३ इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति

चा ५।२।९३।

इन्द्र = आत्मा, तस्य लिङ्गं करणेन कर्तुरनुमानात्। इतिशब्दः प्रकारार्थः।

इन्द्रेण दुर्जयम् इन्द्रियम्।

इन्द्रलिङ्ग, इन्द्रदृष्ट, इन्द्रसृष्ट, इन्द्रजुष्ट, इन्द्रदत्त, इन अर्थों में इन्द्र से पर घञ् प्रत्यय होता है। यहाँ इन्द्र से आत्मा गृहीत है। उसके अनुमापक को इन्द्रिय कहते हैं। इस स्थल में करण से कर्ता का अनुमान हुआ है। तात्पर्य यह है कि आत्मा इन्द्रिय द्वारा सुख दुःखादि का जनक है, इन्द्रियों स्वयं जड़ हैं वे ज्ञान का आश्रय साक्षात् नहीं हो सकती हैं। अतः ज्ञान करण इन्द्रियों से आत्मसाधक अनुमान होता है 'यत् यत् करणम् तत्तत् कर्तृजन्यम् यथा कुठारादि' वृक्षच्छेदन में कुठार करण है वह कर्तृवृत्ति व्यापार की अपेक्षा करता है वह स्वतः द्विधामवनरूप व्यापार में अक्षम है अचेतन है गृहकोण में स्थापित कर्तृव्यापार अन्य कुठार में कार्यजनकत्व नहीं है तथैव इन्द्रियों में भी इन्द्रियों का आश्रय ज्ञान का अधिष्ठाता इन्द्रियमिन्द्र आत्मा है। आत्मनिरूपण में विस्तृत वर्णन विशेष जिज्ञासुओं के लिए है। इन्द्रेण दृष्टम् = ज्ञातम् = ममेदं चक्षुः श्रोत्रम् इस क्रम से अदृष्ट द्वारा सृष्ट, जुष्ट, प्रीणित, सेवित। यथायथं विषयेभ्यः, दत्तम्। यद्यपि इन्द्रिय शब्द शानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय में रूढ है, किन्तु यथा कथञ्चित् इसका व्युत्पादन किया है। यहाँ इति शब्द प्रकारार्थक है। इन्द्रेण दुर्जयम् अर्थ में भी इन्द्रिय हुआ।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलिविरचित रत्नप्रभा में इति तद्विनेषु पाश्चात्तिकाः

अथ तद्धितेषु मत्वर्थीयाः

१८९४ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुप् ५।२।९४।

गावोऽस्यास्मिन् वा सन्ति गोमान् ।

“भूमनिन्दापशस्ताम् निस्वयोगेऽतिशयने ।

संसर्गेऽस्ति विन्यासा भवन्ति मत्तुबादय ॥”

वर्तमान कालिक सत्ताविशिष्ट प्रथमान्त समर्थ से इसका (अत्य) इसमें (अस्मिन्) इन अर्थों में मत्तुप् प्रत्यय होता है । यहाँ अस्ति का अर्थ मत्तुप् प्रत्यय की जो प्रकृति उसका जो अर्थ उसमें विशेषणभूत है अर्थात् प्रकरयर्थापाधि है । अस्ति में प्रथम पुरुष एक वचन की अविवक्षा है । वर्तमान काल अस्ति में जो आख्याताय है वह विवक्षित है, काल अवच्छेदक = व्यावर्तक है, कृपा अवच्छेदक = व्यावर्त्य है । काल एवं क्रिया का अवच्छेदावच्छेदक भाव सम्बन्ध है । वर्तमान काल की विवक्षा से धन चला गया या धन भविष्य में होगा वहाँ धनवान् का प्रयोग नहीं होता है, किन्तु धन की वर्तमान काल में सत्ता रहे वहाँ ही धनवान् प्रयोग होता है । गोमान् आसीत् गोमान् भविता यह प्रयोग असाधु है ।

मत्तुबादि प्रत्यय किन किन अर्थों में होते हैं वह कटिच्छ प्रदर्शित करती है । भूमा अर्थ में मत्तुप् होता है भूमा माने बहुवचन अर्थ । यहाँ बहुत्व आपेक्षिक है, साधारण गृहस्थ मत्तुष्य के लिए ५ या ९ गावें में बहुत्व है वही राजा के लिए अस्परव है । गाव सन्ति अत्य गोमान् यह बहुवचनार्थक भूमा का उदाहरण है । निन्दा में ककुदावर्तिनी कम्पा यहाँ इन् प्रत्यय मत्वर्थ है । प्रशस्ता में—रूपवान् । निस्वयोग में क्षीरिणी वृक्षा । अतिशयन में उदरिणी कम्पा । संसर्ग में दण्डी । संसर्ग = संयोग उससे संयुक्त दण्ड है । संयोग सम्बन्धित होने पर ही ‘दण्डी पुरुष’ यही होता है, पुरुषो दण्ड नहीं होता है, क्षुत्तिनियामक विलक्षण सम्बन्ध दण्ड के ही साथ है पुरुष के साथ नहीं । ‘मत्तुबादय’ यहाँ आदि पद से इन् ठक् आदि एतत्प्रकरणस्थ प्रत्ययों का ग्रहण है ।

१८९५ रसादिभ्यश्च ५।२।९५।

मत्तुप् । रसवान् । रूपवान् । अन्यमत्वर्थीयनिवृत्त्यर्थं वचनम् । रस, रूप, ध्वनि, गन्ध, स्पर्श, शब्द, स्नेह, (ग) गुणात् (ग) एकाच । स्ववान्, गुणग्रहण रसादीना विशेषणम् ।

प्रथमान्त अस्ति उपाधिक रसादि शब्दों से अत्य, अस्मिन्, अर्थ में अन्यप्राप्त मत्वर्थीय प्रत्ययों की निवृत्ति पूर्वक मत्तुप् होता है । रसवान् । रूपवान् । गुणग्रहण रसादि वाच्य जो अर्थ उसमें गुणरूप अर्थ विशेषण है । गुणवाचक रसादि से ही मत्तुप् होता है । एक स्वरयुक्त शब्द से मत्तुप् प्रत्यय होता है, यथा स्ववान् ।

१८९६ तसौ मत्वर्थे १।४।१९।

तान्तसान्तौ मसहौ स्वो मत्वर्थे प्रत्यये परे । तसौ सम्प्रसारणम् ।

विदुष्मान् । ॐ गुणवचनेभ्यो मनुपो लुगिष्टः ॐ । शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति
शुक्लः पटः । कृष्णः ।

मत्वर्थक प्रत्यय पर में रहते तकारान्त सकारान्त की मसंज्ञा होती है । प्रथमान्त विदस्
शब्द से मनुप् (मत्) मसंज्ञा, 'वत्तोः' से सम्प्रसारण पूर्वल्प पत्व विदुष्मान् ।
• गुण में एवं गुणी (द्रव्य) में प्रसिद्ध जो शब्द शुक्लादि उनसे विदित मनुप् का
लुक् होता है । शुक्लगुणवान् पट में गुणवाचक शुक्ल से मनुप् का लुक् हुआ तो भी
'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थमिधायी' न्याय से शुक्लगुणाश्रयरूप अर्थ का शुकृ प्रतिपादक है । शुकृः
पटः । कृष्णः पटः । यहाँ भी मनुप् का लुक् है ।

विमर्श—नैयायिक वैयाकरणों की मनुप् लुगादि प्रक्रिया से अनभिज्ञता के कारण गुणवाचक
शुक्लादि शब्दों की गुणी में अर्थात् द्रव्य में लक्षणा है ऐसा कहते हैं वह सर्वथा असङ्गत है,
शब्दार्थ दाध में लक्षणा होती है यहाँ तो शक्त्या ही गुणिवाचकत्व है, जघन्या लक्षणारूप वृत्ति का
अवलम्बन सर्वथा अनुचित है । शुकृगुणाश्रयामिन्नः पटः इस प्रकार एकार्थबोधकत्वरूप सामाना-
धिकरण्य की उपपत्ति शक्ति से ही हुई ।

१८९७ मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।९।

मवर्णोऽवर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जात्परस्य मतोर्मस्य वः
स्यात् । किम्बान् । ज्ञानवान् । विद्यावान् । लक्ष्मीवान् । यशस्वान् । भास्वान् ।
यवादेस्तु यवमान् । भूमिमान् ।

मवर्णान्त एवं अवर्णान्त तथा मकारोपध, एवं अकारोपध जो शब्द इनसे पर मनुप् के मकार
को वकार आदेश होता है, किन्तु यवादिवर्णपठित शब्द से पर मनुप् के मकार को वकारादेश
नहीं होता है । मकारान्त का उदाहरण किम्बान् । अकारान्त का उदाहरण ज्ञानवान् ।
मकारोपध का उदाहरण—लक्ष्मीवान् । अकारोपध का उदाहरण यशस्वान् । भास्वान् । यवादि
से पर मकार को वकार नहीं यवमान् ।

१८९८ झयः ८।२।१०।

अयन्तान्मतोर्मस्य वः स्यात् । अपदान्तत्वान्न जश्त्वम् । विद्युत्वान् ।

झयन्त से पर जो मनुप् का मकार उसको वकारादेश होता है । विद्युत्वान् । यहाँ पदान्त
जल् न होने से तकार को दकारादेश जश्त्व से न हुआ ।

१८९९ संज्ञायाम् ८।२।११।

मतोर्मस्य वः स्यात् । अहीमती । मुनीवती । शरादीनाञ्चेति दीर्घः ।

संज्ञा में मनुप् के मकार को वकारादेश होता है । 'शरादीनाम्' से दीर्घ
अहीमती । मुनीवती ।

१९०० आसन्दीवदष्टीवचक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वचर्मण्वती ८।२।१२।

एते पट् संज्ञायां निपात्यन्ते । आसनशब्दस्य आसन्दीभावः । आसन्दी-
वान् ग्रामः । अन्यत्र आसनवान् । अस्थिशब्दस्याष्टीभावः । अष्टीवान्
नाम ऋषिः । अस्थिमान् अन्यत्र । चक्रशब्दस्य चक्रीभावः । चक्रीवानाम

राजा । चक्रवान् अन्यत्र । ॐ कक्ष्याया सम्प्रसारणञ्च ॐ । कक्षीवान् नाम ऋषिः । कक्ष्यावान् अन्यत्र । लवणशब्दस्य रुमण्भावः । रुमण्वान् नाम पर्वतः । लवणवान् अन्यत्र । चर्मणो नलोपाभावो णत्वञ्च । चर्मण्वती नाम नदी । चर्मवती अन्यत्र ।

आमन्दीवत्, अष्टीवत्, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, चर्मण्वत् वे छ मत्पु प्रत्ययान्त सहा में निपातन से सिद्ध होते हैं । आसन से मत्पु आमन्दी आदेश आसन को हुआ । मकार को 'मादुपधायाश्च' से वकारादेश आसन्दीवान् प्राप्त । अन्यत्र आसनवान् । अस्थि से मत्पु कर प्रकृति को अष्टी आदेश मकार को वकारादेश अष्टीवान् ऋषि । अन्यत्र अस्थिमान् । चक्र से मत्पु चक्र को चक्रीमात्र निपातन से । वकारादेश चक्रीवान् राजा । अन्यत्र चक्रवान् । कक्ष्या से मत्पु एव ण् को कक्ष्या का है उसको सम्प्रसारण पूर्वरूप दीर्घ कक्षीवान् ऋषि । अन्यत्र कक्ष्यावान् । लवण से मत्पु प्रकृति को रुमण् भाव होता है । रुमण्वान् पर्वत । अन्यत्र लवणवान् । चर्मन् से मत्पु नलोपा- भाव एव णत्व से नदी अर्थ में चर्मण्वती । अन्यत्र चर्मवती ।

१९०१ उदन्वान् उदघौ च ८।२।१३।

उदकस्य उदन्भावो मतो उदघौ सहाया च । उदन्वान् समुद्रः ऋषिश्च । उदक शब्द को उदन् आदेश होता है, मत्पु पर रहते, समुद्र एव सहा में उदन्वान् समुद्र एव ऋषि ।

१९०२ राजन्वान् सौराज्ये ८।२।१४।

राजन्वती भूः । राजवान् अन्यत्र । सौराज्य में मत्पु पर रहते राजन् का जोप नहीं होता है । खीळिङ्ग में जीप् राजन्वती भू । अन्यत्र राजवान् ।

१९०३ प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ५।२।९६।

चूडालः । चूडावान् । प्राणिस्थान् किम्, शिखावान् दीपः । आत किम्, हस्तवान् । प्राण्यक्तादेशः । नेह—मेधावान् । प्रत्ययस्यरेणैव सिद्धे अन्तोदात्तत्वे चूडालोऽसीत्यावौ स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादाविति स्वरितबाधनार्थश्चकार ।

प्रथमान्त प्राणिस्थ आकारान्तशब्द म 'अस्य अस्मिन्' अर्थ में लच प्रत्यय होता है विकल्प से । पक्ष में मत्पु । चूडालः । चूडावान् । प्राणित्व कहने से दीप में शिखावान् ही हुआ । आकारा-न्तप्राण्यक्क हस्त नहीं अतः मत्पु हस्तवान् । मेधा प्राणित्व किन्तु हस्तादिवत् अङ्ग नहीं अतः लच् न हुआ । मत्पु मेधावान् ।

'चित्' अन्तोदात्त करने के लिए 'लच्' में चकार को श्रमशा हुई है । यहाँ शङ्का करते हैं कि 'प्रत्यया आनुदात्ता' से लकाराकार को उदात्तत्व सिद्ध ही है । गुण प्रत्यय में वकारोच्चारण क्यों किया ? समाधान—चूडालस्य अस्ति यद्वा अस्ति को 'तिवृत्तित्व' से निपात = अनुदात्त का विधान किया, म् को व उसको उकार हुआ, व्यञ्जन सप्तम चर्मयुक्त होने से अनुदात्त सकार है स्थानिगुणक आदेश व अनुदात्त उमके स्थान में उकार भी अनुदात्त है आद्यगुण से गुण हुआ । अकार उदात्त उकार अनुदात्त इनके स्थान में गुणरूप एकादेश 'एकादेश' सूत्र से उदात्त हुआ ओकार उदात्त है । उसके बाद 'एव पदान्तादिति' से पूर्वरूप एकादेश हुआ उसको 'स्वरितो वाऽनुदात्ते' से स्वरित

प्राप्त हुआ। उसको वाधकर चित्त से अन्तोदात्त होकर उदात्तत्व के लामार्थ चकार यहां किया है। 'चूढालोऽसि'।

१९०४ सिध्मादिभ्यश्च ५।२।९७।

लज्वा स्यात्। सिध्मलः। सिध्मवान्। अन्यतरस्यां ग्रहणं मतुप्समुच्चयार्थं न तु प्रत्ययविकल्पार्थम्। तेनाकारान्तेभ्य इनिठनौ न। ऋ वातदन्त-बलललाटानामूङ् च ऋ। वातूलः।

प्रथमान्त सिध्म आदि से विकल्प से लच् प्रत्यय होता है। यहां पूर्व सूत्र से 'अन्यतरस्यान्' की अनुवृत्ति है, वह मतुप् प्रत्यय का समुच्चय के लिए ही है। विकल्प से अन्यान्य प्रत्यय विधानार्थ नहीं है। अतः इस गण में पठित अकारान्त शब्द से इन् एवं ठन् प्रत्यय न हुआ। * वात आदि शब्दों से ऊङ् होता है। वातूलः।

१९०५ वत्सांसाभ्यां कामवले ५।२।९८।

आभ्यां लज्वा स्याद्यथासंख्यं कामवति बलवति चार्थे। वत्सलः। अंसलः। कामवान् बलवान् अर्थ में प्रथमान्त वत्स एवं अंस से 'अस्य अस्मिन्' अर्थ में लच् प्रत्यय विकल्प से होता है। वत्सलः। अंसलः।

१९०६ फेनादिलच् च ५।२।९९।

चाल्लच्। अन्यतरस्यां ग्रहणं मतुप्समुच्चयार्थमनुवर्तते। फेनिलः। फेनलः। फेनवान्।

वर्तमान कालिक सत्ताविशिष्ट प्रथमान्त समर्थ फेन से अस्य अस्मिन् अर्थ में इलच् प्रत्यय विकल्प से होता है। चकार से लच् भी होता है। अन्यतरस्यां की अनुवृत्ति मतुप् प्रत्यय के समुच्चय के लिए है। तीन रूप हुए।

१९०७ लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः श्नेलचः ५।२।१००।

लोमादिभ्यः शः। लोमशः। लोमवान्। रोमशः। रोमवान्। पामादिभ्यो नः। पामनः। अङ्गात् कल्याणे अङ्गना। लक्ष्म्या अरुच। लक्ष्मणः। विष्व-गित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः। विपुणः। पिच्छादिभ्यः इलच् पिच्छिलः। पिच्छवान्। उरसिलः। उरस्वान्।

प्रथमान्त लोमादि शब्दों से श प्रत्यय होता है मत्वर्थ में। पामादि से न प्रत्यय, अङ्ग से कल्याण अर्थ में न प्रत्यय होता है। लक्ष्मी से न प्रत्यय एवं ईकार को अर् अदेश होता है। अकृत सन्धिक विपु अच् से न प्रत्यय होता है एवं उत्तरपद का लोप होता है। पिच्छादि से इलच् प्रत्यय मत्वर्थ में होता है।

१९०८ प्रज्ञाश्रद्धार्याभ्यो णः ५।२।१०१।

प्राज्ञो व्याकरणम्। प्राज्ञा। श्राद्धः। आर्चः। ऋ वृत्तेश्च ऋ वार्तः।

प्रथमान्त प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा से 'अस्यास्ति' में ण प्रत्यय होता है। वृत्ति से भी ण प्रत्यय होता है।

१९०९ तपःसहस्राभ्यां विनीनौ ५।२।१०२।

विनीन्योरिकारो नकारपरिग्राणार्थः । तपस्वी । सहस्री । असन्तत्वाददन्त-
त्वात् सिद्धे पुनर्वचनमणा बाधा मा भूदिति । सहस्रात्तु ठनोऽपि बाध-
नार्थम् ।

वर्तमान कालिक सत्ता विशिष्ट प्रथमान्त जो तपस् एव सहस्र शब्द उत्तरे मत्वर्थ में क्रमशः
विनि एव इति प्रत्यय होता है । उभयत्र शकारान्त प्रत्यय विधान का यह फल है कि नकार
प्रत्ययान्त नहीं है अतः 'हलन्त्वम्' की अप्राप्ति से नकार को सुरक्षा हुई, नान्तप्रत्यय करते तो
नलोप रूप आपत्ति होती है । 'अस्मायामेधा' से तपस् को विनि प्रत्यय सिद्ध हो या एव अकारान्त
सहस्र शब्द से 'अत इतिठनी' से इति प्रत्यय सिद्ध हो या पुनः यदा 'विनीनौ' का विधान
हस्तक्षिप्त किया है कि अण् से बाध न हो । अन्य भी प्रयोजन कहते हैं सहस्र शब्द से प्राप्त ठम्
का भी बाध रूप यहाँ प्रयोजन है ।

१९१० अण् च ५।२।१०३।

योगविभाग उत्तरार्थः । तापसः । साहस्र । ऋज्योत्स्नादिभ्य उपसङ्ख्या
नम् ऋज्योत्स्न । तामिस्र ।

प्रथमान्त तपस एव सहस्र से पर अण् प्रत्यय मत्वर्थ में होता है । यह योग विभाग उत्तरार्थ है ।
एव विनि इति का वधासक्य सम्पादनार्थ भी है । ज्योत्स्नादि से भी अण् प्रत्यय होता है ।

१९११ सिकताशर्कराभ्याश्च ५।२।१०४।

सैकतो घटः । शार्करः ।

प्रथमान्त सिकता ॥ शर्करा से मत्वर्थ में अण् प्रत्यय केवल होता है ।

१९१२ देशे लुबिलचौ च ५।२।१०५।

आदण् मनुप् च । सिकता सन्त्यस्मिन् देशे सिकता । सिकतिल ।
सैकत सिकतावान् एव शर्करेत्यादि ।

देश अर्थ में सिकता एव शर्करा से पर अण् का लुप होता है । एव इलच् प्रत्यय, चकार से
से अण् एव मनुप् भी होता है । चार रूप हुए । इसी प्रकार शर्करा । शार्करिक । शार्कर ।
शर्करावान् ।

१९१३ दन्त उन्नत उरच् ५।२।१०६।

उन्नता दन्ता सन्ति अस्य दन्तुरः ।

उन्नत अर्थ में प्रथमान्त दन्त से 'अस्य सन्ति' अर्थ में उरच् प्रत्यय होता है ।

१९१४ ऊपसुपिमुष्कमधो रः ५।२।१०७।

ऊपर । सुपिर । मुष्क = अण्ड । मुष्कर । मधु = माधुर्यम् । मधुर ।
ऋ रप्रकरणे खमुखकुब्जोभ्य उपसङ्ख्यानम् ऋ । खर । मुखर । कुब्जो =
हस्तिहनु । कुष्ठरः । नगपासुपाण्डुभ्यश्च ऋ । नगरम् । पासुर । पाण्डुर ।
पाण्डुरशब्दस्तु अव्युत्पन्न एव । ऋ कच्छ्वा ह्रस्वत्व च ऋ । कच्छुरः ।

प्रथमान्त ऊय, झुपि, मुष्क, मधु से पर र प्रत्यय होता है। अण्डकोप को मुष्क कहते हैं। मधुशब्द माधुर्घ्य गुणवाचक है। ख, मुख एवं कुञ्ज से पर र प्रत्यय होता है। कञ्जशब्द से हाथी की दाढ़ी जानना। नग, पांशु एवं पाण्डु से पर र प्रत्यय होता है। पाण्डर अव्युत्पन्न प्रातिपदिक व्युत्पत्ति सिद्ध नहीं है। कच्छ से उत्तर र प्रत्यय होता है एवं ऊकार का छत्त्व होता है।

१९१५ द्युभ्यां मः ५।२।१०८।

द्युमः। द्रुमः।

दिवका द्यु बना है। द्रुः = वृक्षः या शाखा द्रुमः।

द्यु एवं द्रु से मत्वर्थ में म प्रत्यय होता है।

१९१६ केशाद् वोऽन्यतरस्याम् ५।२।१०९।

प्रकृतेनान्यतरस्याग्रहणेन मनुषि सिद्धे पुनर्ग्रहणमिति नोः समावे-
शार्थम्। केशवः। केशी। केशिकः। केशवान्। ❀ अन्येभ्योऽपि दृश्यते ❀।
मणिवो नागविशेषः। हिरण्यवो निधिविशेषः। ❀ अर्णसो लोपश्च ❀। अर्णवः।

वर्तमान कालिक सत्ताविशिष्ट प्रथमान्त केश शब्द से अस्य अर्थ में व प्रत्यय विकल्प से होता है। पूर्व में अनुवृत्त 'अन्यतरस्यान्' से मतुप् प्रत्यय होता पुनः इनमें 'अन्यतरस्यान्' से इन् एवं ठन् का भी समावेश होता है। वार रूप द्वय। व प्रत्यय, इन् प्रत्यय ठन् प्रत्यय एवं मतुप्। अन्य शब्द से भी व प्रत्यय होता है। नागविशेष में 'मणिवः'। निधिविशेष में 'हिरण्यवः' हुआ। अर्णस् से व प्रत्यय होता है। एवं अन्त्यका लोप हुआ। अर्णवः।

१९१७ गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम् ५।२।११०।

ह्रस्वदीर्घयोर्यणा तन्त्रेण निर्देशः। गाण्डिवम्। गाण्डीवम्। अर्जुनस्य
धनुः। अजगवम् = पिनाकः।

संज्ञा में गाण्डि, गाण्डी, अजग से व प्रत्यय होता है। सूत्र में ह्रस्वान्त एवं दीर्घान्त गाण्डि एवं गाण्डी का तन्त्र करके यण् घटित निर्देश है। अर्जुन के धनुस् को गाण्डिवम् कहते हैं शङ्कर जी के धनुस् को अजगव कहते हैं।

१९१८ काण्डाण्डादीरन्नीरचौ ५।२।१११।

काण्डीरः। आण्डीरः।

प्रथमान्त काण्ड एवं आण्ड से क्रमशः ईरन् एवं ईरच् होता है।

१९१९ रजःकृष्यासुतिपरिपदो वलच् ५।२।११२।

रजस्वला स्त्री। कृषीवलः। वल इति दीर्घः। आसुतीवलः शौण्डिकः।
परिषद्वलः। पर्षदिति पाठान्तरम्। पर्षद्वलम्। ❀ अन्येभ्योऽपि दृश्यते ❀।
मातृवलः। पुत्रवलः। शत्रुवलः। 'वल' इत्यत्र 'संज्ञायाम्' इत्यनुवृत्तेर्नेह दीर्घः।

रजस्, कृषि, आसुति, परिषद् इनसे पर मत्वर्थ में वलच् प्रत्यय होता है। कृषीवलः = कृषकः यहाँ 'वले च' से संज्ञा में दीर्घ हुआ है। शौण्डिक अर्थ में आसुतीवलः। पर्षद् ऐसा पाठान्तर भी है। पूर्वोक्त शब्दों से भिन्न शब्दों से भी वलच् प्रत्यय होता है। संज्ञा में ही 'वले' सूत्र दीर्घ करता है अतः मातृवलः आदि में दीर्घ न हुआ।

१९२० दन्तशिखात् संज्ञायाम् ५।२।११३।

दन्तावलो हस्ती । शिखावल केकी ।

संज्ञा में दन्त एवं शिखा से पर बलच् प्रत्यय होता है । बलच् से दीर्घ हुआ है ।

१९२१ ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन् नूर्जस्वलगोमिन्मलिन- मलीमसः ५।२।११४।

मत्वर्थे निपात्यन्ते । ज्योतिष उपघालोपो नञ् प्रत्ययः । ज्योत्स्ना । तमस उपघाया इत्वं रञ्, तमिस्रा, स्त्रीत्वमतन्त्रम् । तमिस्रम् । शृङ्गादिनच्, शृङ्गिणः । ऊर्जसो बलच् । तेन बाधा भा भत् इति विनिरपि । ऊर्जस्वलः । ऊर्जस्वी । ऊर्जोऽसुगागम इति वृत्तिस्तु चिन्त्या । ऊर्जस्वतीतिषदसुमन्तत्वे-
नैवोपपत्तेः । गोशब्दान्मनिः गोमी । मलाशब्दादिनच्, मलिनः । ईमसञ्च
मलीमसः ।

ज्योत्स्ना, तमिस्रा, शृङ्गिण, ऊर्जस्विन्, ऊर्जस्वल, गोमिन्, मलिन, मलीमस, ये शब्द निपातन से मत्वर्थ में सिद्ध होते हैं । ज्योतिष् शब्द की उपधा का लोप एवं न प्रत्यय होता है । निमित्त बल में इकार था उसके जाश से मूर्धन्य बलच् की निवृत्ति से दस्य सकार की स्थिति हुई टाप् दीर्घ ज्योत्स्ना । तमस् शब्द से र प्रत्यय एवं उपधा की हकारादेश टाप् दीर्घ । त मिस्रा । सूत्र में स्त्रीत्वनिर्देश अविवक्षित है अतः नपुंसक में भी तमिस्रम् हुआ । शृङ्ग से इनच् अकारलोप नकारको गकार शृङ्गिण । ऊर्ज से बलच् ऊर्जस्वल । बलच् से बाध न हो एतदर्थं विनि प्रत्यय भी होता है - ऊर्जस्विन् का ऊर्जस्वी । ऊर्ज की असुक् आगम होता है यह माषदृष्टि चिन्तनीय है । ऊर्जस्वती जिस प्रकार असुक् से सिद्ध हुआ उसी प्रकार यह भी सिद्ध हो ही जाता है । गोशब्द से निनिप्रत्यय से गोमी । मलशब्द से इनच् प्रत्यय मलिन । मल से ईमस् से मलीमस ।

१९२२ अत इनिठनौ ५।२।११५।

दण्डी । दण्डिकः ।

प्रथमान्त समर्थ वर्तमान काठिक सत्ताविशिष्ट हस्ताक्षरान्त प्रातिपादिक से मत्वर्थ में इन् एवं ठन् प्रत्यय होता है । दण्ड अस्ति अत्य दण्डी, दण्डिकः ।

१९२३ व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६।

व्रीही, व्रीहिक । न सर्वभ्यो व्रीह्यादिभ्य इनिठनाविष्येते, किं तहि ?
शिश्यामालासज्ञादिभ्य इनिः ॥ शिशुवत्त्वदादिभ्य इक् । अन्येभ्य उभयम् ।

मत्वर्थ में प्रथमान्त व्रीहि आदि से इनि एवं ठन् प्रत्यय होता है । सम्पूर्ण व्रीहि आदि से नहीं किन्तु शिखा, मात्रा संज्ञादि से इनि एवं यव सुदिर आदि से ठन् अन्य से उभय प्रत्यय होता है ।

१९२४ तुन्दादिभ्य इलच् ५।२।११७।

चाद् इनिठनौ मतुप् च । तुन्दिलः । तुन्दी । तुन्दिकः । तुन्दवान् । उदर,
पिचण्ड, यव, व्रीहि । ॐ स्वाङ्गाद्विवृद्धौ ॐ । विवृद्धयुपाधिकास्वाङ्गवाचिन
इलजादयः स्युः । विवृद्धौ कर्णौ यस्य स ऋणिलः । कर्णी । कणिकः ।
कर्णवान् ।

प्रथमान्त तुन्दादि से गत्यर्थ में इलच् प्रत्यय होता है । चकार से इनि, ठन् एवं मतुप् होता
है । विवृद्ध उपाधिक स्वाङ्गवाचक प्रथमान्त से मत्वर्थ में इलच् आदि प्रत्यय होते हैं ।

१९२५ एकगोपूर्वाद् ठञ् नित्यम् ५।२।११८।

एकशतमस्यास्तीति ऐकशतिकः । ऐकसहस्रिकः । गौशतिकः । गौस-
हस्रिकः ।

एकपूर्वक एवं गोपूर्वक शब्द से मत्वर्थ में ठञ् प्रत्यय नित्य होता है ।

१९२६ शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् ५।२।११९।

निष्कात् परौ यो शतसहस्रशब्दौ तदन्तात्प्रातिपदिकाद् ठञ् स्यान्मत्वर्थे ।
नैष्कशतिकः । नैष्कसहस्रिकः ।

निष्कशब्द से पर जो शत एवं सहस्र शब्द तदन्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में ठञ् प्रत्यय
होता है ।

१९२७ रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् ५।२।१२०।

आहतं रूपमस्यास्तीति रूप्यः कार्पापणः । प्रशस्तं रूपमस्यास्तीति
रूप्यो गौः । आहतेति किम्, रूपवान् । ॐ अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॐ । हिम्याः
पर्वताः । गुण्याः ब्राह्मणाः ।

आहत एवं प्रशस्त अर्थ में मत्वर्थ में रूप से यप् प्रत्यय होता है । आहत अर्थ न होने पर
रूपवान् रूप हुआ । आहत का अर्थ ताढन है । ताढनक्रियानञ् रूपयुक्त से रूप्यः = कार्पापणः ।
अन्य शब्दों से भी यप् होता है 'भूमा' अर्थ में हिम से यप् हिम्याः = अधिक हिमयुक्त पर्वत ।
प्रशस्त गुणयुक्त ब्राह्मण में गुण्याः ।

१९२८ अस्मायामेधास्रजो विनिः ५।२।१२१।

यशस्वी । यशस्वान् । मायावी । व्रीह्यादिपाठादिनिठनौ मायी । मायिकः ।
क्विन्नन्तत्वात्कुः स्रग्वी । ॐ आमयस्योपसंख्यानं दीर्घश्च ॐ । आमयावी ।

ॐ शृङ्गवृन्दारकाभ्यामारकन् ॐ । शृङ्गारकः । वृन्दारकः । ॐ फलवर्हाभ्या-
मिनच् ॐ । फलिनः । बहिणः । ॐ हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम् ॐ । इन्ठनौ
मतुप् च हृदयालुः हृदयी । हृदयिकः । हृदयवान् ।

शीतोष्णवृष्टेभ्यस्तदसहने ॐ । शीतं न सहते शीतालुः । उष्णालुः ।
स्फायितञ्चीति रक् वृषः = पुरोडाशः तं न सहते वृषालुः वृषम = दुःखम्
इति माधवः । हिमाच्चेलुः । हिमं न सहते हिमेलुः । ॐ बलादूलः ॐ । बलं
न सहते बल्लुः ।

ॐ वातात् समूहे च ॐ । वात न सहते वातस्य समूहो वा वातूलः । क्लृप्तं पर्वमरुद्व्याम् ॐ । पर्वतः । मरुतः ।

प्रथमान्त समर्थ असन्त शब्द, माया, मेघा, सज इन प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में विभिन्न प्रत्यय होता है । पक्ष में मत्तुप् । माया शब्द का ग्रीहि आदि गण में पाठ से शनि एव ठन् भी होता है । सज् शब्द हिन् प्रत्ययान्त से विभिन्न कर 'चो-कु' से कुत्व से सत्वी । आमयशब्द से विभिन्नप्रत्यय एव प्रकृति के अन्त्यवर्णों का दोष होता है आमयावी । आमय = रोग को कहते हैं । गृह्ण एव हृन्दारक से मत्वर्थ में आरकन् प्रत्यय होता है । फल एव नई से इनच् होता है । हृदय से आहु प्रत्यय होता है विकल्प से पक्ष में इन् प्रत्यय, ठन्, एव मत्तुप् से चार रूप हुए । असहन् अर्थ में शीत, ठण, तृप् से पर आहु प्रत्यय होता है । तृप् में ङादि रक् है । तृप् का अर्थ है घुरोडाश । माधवाचार्य के मत में तृप् का अर्थ है दुःख । हिम शब्द से पर एह् प्रत्यय होता है । बल शब्द से समूह अर्थ में कल प्रायय होता है । वातशब्द से समूह अर्थ में एव चकार से असहन् सर्व में कल प्रत्यय होता है । पर्व एव मरुद्व्या शब्द से पर तप् प्रत्यय होता है ।

१९२९ ऊर्णाया युस् ५।२।१२३।

सिक्वातपदत्वम् । ऊर्णाया । अत्र छन्दसीति केचिदनुवर्त्यन्ति । युक्त चैतत् । अन्यथा हि अहशुभमोरित्यत्रैवोर्णापहणं कुर्यात् ।

ऊर्णा शब्द ने युस् प्रत्यय होता है, प्रत्यय सिद्ध होने से 'सिति' च'से प्रकृति की पद सहा हुई । यहाँ कोई छन्द की अनुवृत्ति होती है ऐसा कहते हैं । छन्द की अनुवृत्ति पचित ही है । यदि छन्दसि की अनुवृत्ति यहाँ न होती तो 'अह शुभमोरित्' यहाँ ही ऊर्णा का भी पाठ कर देने से प्रयोगसिद्धि होती यह एवम् सूत्रनिर्माण व्यर्थ ही होता ।

१९३० वाचो ग्मिनिः ५।२।१२४।

वाग्मी ।

प्रशस्ता वागीयुक्त वाक् शब्द से मत्वर्थ में ग्मिनि प्रत्यय होता है । प्रशस्ता युक्तियुक्त वाक् अर्थ में वाग्मी यहाँ ककार का अक्षर से गकार अतः दो गकारयुक्त रूप है । एक गकार बटित ओ रूप लिखते हैं वह असंगत कम है एव असंगतप्रयोग है ।

१९३१ आलजाटचौ बहुमापिणि ५।२।१२५।

ॐ कुत्सित इति वक्तव्यम् । कुत्सित बहु भाषते वाचाक्षः । वाचाटः । यस्तु सम्यग् बहुभाषते स 'वाग्मी' इत्येव ।

बहुभाषणकर्ता अर्थ में प्रथमान्त वाक् से मत्वर्थ में आलच् एव आटच् प्रत्यय होता है । कुत्सित अर्थ में 'पूर्वोक्त' प्रत्यय द्रष्टव्य होता है । यस्याः अन्त्यम् । अन्त्ये । १. युक्तियुक्त, अच्छे वचनों को अधिक बोलने वाला में वाग्मी होता है । "मूक करोति वाचालम्" यहाँ प्रसिद्धार्थ जो है वह असङ्गत है यगवत्कृपा अन्य फल यह है कि वाचाल जन मूक करोति, अनुचित भाषणकर्ता बानी होकर मूक बनता है अर्थात् मौनव्रत को धारण करता है, एव शर शर इच्छाओं की पूर्ति के लिए अयणकिदा कर्ता बहुतों के समान बनकर परमात्मा का ध्यान करता है यही अर्थ पचित है ।

१९३२ स्वामिन्नैश्वर्ये ५।२।१२६।

ऐश्वर्यवाचकात् स्वशब्दान् मत्वर्थे आमिनच् । स्वामी ।
ऐश्वर्यं वाचकं जो स्वशब्द उत्तसे मत्वर्थे में आमिनच् प्रत्यय होता है ।

१९३३ अर्शआदिभ्योऽच् ५।२।१२७।

अर्शास्यस्य विद्यन्ते अर्शसः । आकृतिगणोऽयम् ।

मत्वर्थ में प्रथमान्त अर्श आदि गणपठित शब्दों से पर अच् प्रत्यय होता है । आकृति गण यह है ।

१९३४ द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात् प्राणिस्थादिनिः ५।२।१२८।

द्वन्द्वः-कटकवल्यिनी । शङ्खनूपुरिणी । उपतापो=रोगः । कुष्ठी ।
किलासी । गर्ह्यम् = निन्द्यम् । ऋकुदावर्ती । काकतालुकी । प्राणिस्थात् किम्,
पुष्पफलवान् घटः । ऋ प्राण्यङ्गान्न ऋ । पाणिपादवती । अत इत्येव ।
चित्रकललाटिकावती । सिद्धे प्रत्यये पुनर्वचनं ठनादिबाधनार्थम् ।

प्राणिस्थ=प्राणी में विद्यमान है इस अर्थ में द्वन्द्वसमास निष्पन्न शब्द । उपताप=रोग वाचक जो शब्द, एवं निन्दा का कर्म=निन्द्य शब्द, इनसे मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है । पुष्प एवं फलों से युक्त घड़ा यहां प्राणिस्थ न होने से मत्तुप् ही हुआ । प्राणी के अवयव वाचक से इनि नही जाता है पाणिपादमस्ति यस्याः यहां मत्तुप् ङीप् । एस्व अकार अन्त में रहे वहां ही इनि होता है । आकारान्त से नहीं । प्रत्यय सिद्ध था पुनः वचन ठन् के बाधनार्थ है अन्यथा एन् ठन् दोनों सामान्य शास्त्र से होते ।

१९३५ वातातीसाराभ्यां कुक् च ५।२।१२९।

चादिनिः । वातकी । अतीसारकी । ऋ रोगे चायमिष्यते ऋ । नेह,-
वातवती गुहा ऋ पिशाचाच्च ऋ । पिशाचकी ।

मत्वर्थ में वात एवं अतीसार शब्द से पर इनि प्रत्यय होता है एवं इन दोनों शब्दों को कुक् आगम होता है । रोग में यही इसकी प्रवृत्ति होती है । वायु से युक्ता गुहा यहां मत्तुप् मकार को वकारादेश ङीप् वातवती । मत्वर्थ में प्रथमान्त पिशाच शब्द से इनि प्रत्यय एवं प्रकृति को कुक् आगम होता है ।

१९३६ वयसि पूरणात् ५।२।१३०।

पूरणप्रत्ययान्तान्मत्वर्थे इनिः स्याद् वयसि द्योत्ये । मासः संवत्सरो वा पञ्चमोऽस्यास्तीति पञ्चमी ङट् । ठन्बाधनार्थमिदम् । वयसि किम्, पञ्चम-
वान् ग्रामः ।

वयः= अवस्था प्रतीयमान होने पर पूरण प्रत्ययान्त शब्द से पर मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है । पांचमास या पांच वर्ष से युक्त ऊंट अर्थ में ङट् प्रत्ययान्त पञ्चम से इन् प्रत्यय से पञ्चमी ङट् । 'अत इनिठनौ' से इनि सिद्ध था पुनः इनि का विधान ठन् के बाधनार्थ है । जहां वय गम्यमान नहीं है यथा पञ्चत्व संख्या को परिपूर्ण करने वाला जो पुरुष उत्तसे संयुक्त जो ग्राम इसमें पञ्चमवान् ग्रामः यहां मत्तुप् हुआ ।

१९३७ सुखादिभ्यश्च ५।२।१३१।

इनिर्मत्वर्थे । सुखी । दुःखी । माला चेषे माली ।

मत्वर्थे में सुखादि प्रथमान्त से इनि प्रत्यय होता है । माला शब्द से निन्दा में इनि ।

१९३८ धर्मशीलवर्णान्ताच्च ५।२।१३२।

धर्माद्यन्तादिनिर्मत्वर्थे । ब्राह्मणधर्मी । ब्राह्मणशीली । ब्राह्मणवर्णी ।

धर्म, शोक, वर्ण इ अन्त में जिसको ऐसा जो प्रथमान्त प्रातिपदिक शब्द उससे मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है । ब्राह्मण का जो धर्म उससे युक्त, ब्राह्मण का शीक = स्वभाव उससे युक्त, ब्राह्मण का जो वर्ण उससे जो युक्त वहां इनि प्रत्यय हुआ ।

१९३९ हस्ताज्जातौ ५।२।१३३।

हस्ती । जातौ किम्, हस्तवान् पुरुषः ।

जाति अर्थ में हस्त से पर इनि प्रत्यय होता है । जाति से भिन्न में मनुप् होता है । यहां प्रकृति प्रत्यय युक्त से हस्तित्व जाति की प्रतीति है अतः हस्ती । हाथ से युक्त में हस्तवान् ।

१९४० वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ५।२।१३४।

वर्णी ।

ब्रह्मचारी अर्थ में वर्ण से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है । ब्रह्मचर्य से युक्त वर्णी ।

१९४१ पुष्करादिभ्यो देशे ५।२।१३५।

पुष्करिणी । पाद्वनी । देशे किम्, पुष्करवान् करी । ॐ बाहूरुपूर्वाद्

बलात् । बाहुबली । ऊरुबली । सर्वदेश्च ॐ । सर्वधनी । सर्वभोजी । अर्थाच्चा-
सन्निहिते अर्थी । सन्निहिते तु अर्थवान् । तदन्ताच्च । धान्यार्थी । हिरण्यार्थी ।

देश अर्थ में पुष्कर आदि से पर इनि प्रत्यय होता है । नदी में पुष्करिणी । पविनी ।
शृण्वाद्यण्ड युक्त शब्दी में मनुप् + देश नहीं है पुष्करवान् करी । बाहु एवं ऊरु से पर जो जो
बल शब्द तदन्त समर्थ प्रथमान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है । बाहु का ही
बलवान् अर्थ में बाहुबली । शरीर का ही बलवान् में ऊरुबली, पलायन क्रिया में निपुण । सर्व है
आदि में जिसको ऐसा जो प्रथमान्त प्रातिपदिक शब्द से इनि । वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध से
भिन्न सम्बन्ध से युक्त को असन्निहित कहते हैं । शब्द वाचक है अर्थ वाच्य है शब्दाधे का
वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध है, वहां इन् नहीं होता है यथा अर्थवान् । अर्थ = द्रव्य उस का
स्वामी यहां स्वत्वाभिभाव सम्बन्ध की प्रतीति से असन्निहितत्व की प्रतीति से इनि प्रत्यय हुआ
अर्थी । अर्थ शब्द है अन्त में जिसको उससे भी इनि प्रत्यय होता है यथा धान्यार्थी ।
सुवर्णार्थी ।

१९४२ बलादिभ्यो मतुबन्धतस्स्याम् ५।२।१३६।

बलवान् । बली । उत्साहवान् । उत्साही ।

प्रथमान्त समर्थ बलादि से मतुप विकल्प से होता है, पञ्च में इनि प्रत्यय ।

१९४३ संज्ञायां मन्माम्याम् ५।२।१३८।

मन्नन्तान्मान्ताच्चेनिमत्वर्थे । प्रथमिनी । दामिनी । होमिनी । सोमिनी ।
संज्ञायां किम् , सोमवान् ।

मन्नन्त एवं मान्त से मत्वर्थ में इति प्रत्यय होता है संज्ञा में । अहां असंज्ञात्व है वहां मतुप्
यथा सोमवान् ।

१९४४ कंशंभ्यां वभयुस्तितुतयसः ५।२।१३८।

कं शमिति मान्तौ । कमित्युदकसुखयोः । शमिति सुखे । आभ्यां सप्त
प्रत्ययाः स्युः । युस्यसोः सकारः पदत्वार्थः । कंबः । कंभः । कंयुः । कंतिः ।
कंतुः । कंतः । कंयः । शंबः । शंभः । शंयुः । शंतिः । शंतुः । शंतः । शंयः ।
अनुस्वारस्य वैकल्पिकः परसवर्णः । वकारयकारपरस्यानुनासिकौ वयौ ।

जलार्थककम् से एवं सुखार्थक शम् से पर व, भ, युस्, ति, तु, त, युस् सात प्रत्यय होते
हैं । युस् एवं यस् में सकार को इव संज्ञा से 'सिति च' से पूर्व प्रकृति की पदसंज्ञा
होती है । कंब्, वः । कम्भः । कय् युः । कन्तिः । कन्तुः । कन्तः । कय् यः । शंबः । शम्भः ।
शय् युः । शन्तिः । शन्तुः । शन्तः । शय् यः । अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण होता है । वकार
एवं यकार पर रहते व् एवं य् अनुनासिक होता है ।

१९४५ तुन्दिबलिवटेर्भः ५।२।१३९।

वृद्धा नाभिः = तुन्दिः । मूर्द्धन्योपधोऽयमिति माधवः । तुन्दिभः । बलिभः ।
वटिभः । पामादित्वाद् बलिनोऽपि ।

तुन्दि, बलि एवं वटि से मत्वर्थ में मप्रत्यय होता है । प्रवृद्ध नाभि को तुन्दि कहते हैं ।
माधवाचार्य जी के मत से यह 'तुन्दि' ऐसा मूर्द्धन्य णकारोपध है । बलि का पामादिगण में पाठ
है अतः न प्रत्यय भी इससे होता है ।

१९४६ अहंशुभमोर्युस् ५।२।१४०।

'अहम्' इति मान्तम् अव्ययम् अहङ्कारे । 'शुभम्' इति शुभे । अहंयुः =
अहङ्कारवान् । शुभंयुः = शुभान्वितः ।

इति मत्वर्थायाः ।

अहङ्कार अर्थ में मान्त अव्यय अहम् से एवं शुभलक्षणों से युक्त अर्थ में विद्यमान शुभम् से
से पर मत्वर्थ में युस् प्रत्यय होता है । अहंयुः = अहङ्कार से युक्त शुभंयुः = शुभगुणों से उपेत ।

पं० श्री वा० कृ० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में मत्वर्थीय प्रकरण समाप्त



अथ प्राग्दिशीयप्रकरणम्

१९४७ प्राग्दिशो विभक्तिः ५।३।१।

दिक्शब्देभ्य इत्यतः प्राग् वक्ष्यमाणा प्रत्यया विभक्तिसंज्ञा स्युः ।

अथ स्वायिका प्रत्यया

समर्थानामिति, प्रथमादिति च निवृत्तम् । वेति त्वनुवर्तत एव ।

दिक्शब्देभ्य ५।३।२७ इत्यते पूर्व कहे गायेंग ओ प्रत्यय बलकी विभक्ति सहा होती है । अब स्वायिक प्रत्यय कहते हैं । स्वयत् से प्रकृति वसका अर्थ = प्रकृत्यर्थ वसमें होने वाला जो प्रत्यय वसे स्वायिक प्रत्यय कहते हैं । समर्थानाम् एव प्रथमात् की अनुवृत्ति हुई । अब केवला वससे वा की अनुवृत्ति होती है । विभक्तिसंज्ञानिमित्तक कार्य करने के लिए इस प्रकरण के प्रत्ययों की विभक्ति सहा का विधान किया ।

१९४८ किंसर्वनामबहुभ्योऽङ्घ्यादिभ्यः ५।३।२।

किम् सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते ।

दि, शुभम् अशुभम्, मवत् से मिन किन्शब्द सर्वनामशब्द, एव बहुशब्द के वत्तर प्राग्दिश का अधिकार चलेगा ।

१९४९ इदम् इष् ५।३।३।

प्राग्दिशीये परे ।

प्राग्दिशीय प्रत्यय पर में रहते इदम् शब्द के स्थान में इष् आदेश होता है ।

१९५० एतेतौ रथोः ५।३।४।

इदम् शब्दस्य एत इत इत्यादेशो स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे इशोऽपवादः ।

रेफादि एव थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय पर में रहते इदम् शब्द के स्थान में एत एव इत आदेश होते हैं । एत एव इत आदेश इस आदेश के वाचक है ।

१९५१ एतदोऽन् ५।३।४।

योगविभाग कर्तव्यः । एतद् एतेतौ स्तो रथो । 'अन्' एतद् इत्येव । अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः । न लोप प्रातिपदिकान्तस्य ।

इस सूत्र में योगविभाग करना चाहिये यथा—'एतद्' एकसूत्र है । एतद् शब्द के स्थान में एत एव इत आदेश होता है रेफादि या थकारादि प्रत्यय पर में रहते । द्वितीयांश—'अन्' एतद् शब्द के स्थान में अन् आदेश होता है । 'अन्' भी अनेकाल है सर्वादेश हुआ, नकार का 'न लोप' से लोप हुआ ।

१९५२ सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५।३।६।

प्राग्दिशीये दकारादौ प्रत्यये परे सर्वस्य सो वा स्यात् ।

दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय पर में रहते सर्वशब्द के स्थान में स आदेश विकल्प से होता है ।

१९५३ पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७।

पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल् स्याद् वा ।

पञ्चमी विभक्ति है अन्त में जिनसे ऐसे किमादि शब्दों से पर तसिल् प्रत्यय स्वार्थ में विकल्प से होता है ।

१९५४ कुति होः ।

किमः कुः स्यात् तादौ हादौ च विभक्तौ परतः । कुतः । कस्मात् । यतः । ततः । अतः । इतः । अमुतः । बहुतः । द्वयादेस्तु द्वाभ्याम् ।

तकारादि एवं हकारादि प्राग्दिशीय तद्धित प्रत्यय पर में रहते किन् शब्द के स्थान में कु आदेश होता है विकल्प से । कहाँ से तुम आए ? यहाँ कस्मात् इति किन् शब्द पञ्चम्यन्त से तसिल् (तस्) कु आदेश कुतः । पक्ष में कस्मात् । यस्मात् इति यतः यव अस् तस्, प्रा० सं० वि० लुक् त्यदादीनामः से अकारादेश पररूप यतः । यस्मात् तस्मात् इति ततः । एतस्मात् इति अतः । अन् आदेश नलोप । अस्मात् इति इतः । अमुष्मात् इति अमुतः । द्वि से तो प्रत्यय नहीं द्वाभ्याम् ।

१९५५ तसेश्च ५।३।८।

किसर्वनामबहुभ्यः परस्य तसेस्तसिलादेशः स्यात् । स्वरार्थं विभक्त्यार्थञ्च वचनम् ।

किन्, सर्वनाम एवं बहु से पर तसि के स्थान में तसिल् आदेश होता है । 'लिति' से स्वर करने के लिए एवं विभक्ति संज्ञा के लिए तसिको यहाँ तसिल् आदेश का विधान है । रूप में तो भेद न था ।

१९५६ पर्यभिभ्याञ्च ५।३।९।

आभ्यां तसिल् स्यात् । ❀ सर्वोभयार्थाभ्यामेव ❀ । परितः = सर्वत इत्यर्थः । अभितः = उभयत इत्यर्थः ।

सर्वार्थक परि एवं उभयार्थक अभि से तसिल् प्रत्यय होता है ।

१९५७ सप्तम्यास्त्रल् ५।३।११।

कुत्र । यत्र । तत्र । बहुत्र ।

सप्तमी विभक्त्यन्त किमादि से पर प्राग्दिशीय त्रल् प्रत्यय होता है । कस्मिन्निति - कुत्र ।

१९५८ इदमो हः ५।३।११।

त्रलोऽपवादः ।

इशादेशः । इह ।

सप्तम्यन्त इदम् से स्वार्थे में इ प्रत्यय होता है। यह बल्क वाचक है। अस्मिन् इति इह यद्वा इदम् को इहादेश भी पूर्वसूत्र से है।

१९५९ किमोऽपि ५।३।१२।

वा ग्रहणमपरूप्यते। सप्तम्यन्तात् किमोऽद्वा स्यात्। पक्षे प्रत्। इस सूत्र में वा की अनुवृत्ति है। सप्तम्यन्त किम् शब्द से स्वार्थे में अत् प्रत्यय होता है विकल्प से। पक्ष में प्रत् होता है।

१९६० क्वाति ७।२।१०५।

क्विमः क्वादेशः स्यादति। क। कुत्र। अत् प्रत्यय पर में रहते किम् को क्वादेश होता है विकल्प से। कस्मिन् इति क। कुत्र।

१९६१ वाह च च्छन्दसि।

कुह स्य। कुह जग्मथु। वेद में किम् शब्द से पर इप्रत्यय विकल्प से स्वार्थे में होता है। कस्मिन् इति कुह स्या क प्रत्यय आकार छोड़ कुहस्य। कुम दोनों किस स्थान में गये थे। कुह जग्मथु।

१९६२ एतद्वत्तसोऽत्रतसौ चानुदाचौ २।४।३३।

अन्वादेशादिपये एतदोऽर्त् स्यान् स चानुदाचत्तसोः परतः, तौ चानुदाचौ स्त। एतस्मिन् ग्रामे सुख वसाम्, अथात्राभीमहे अतो नगन्तास्म।

त्र एवं तत् प्रत्यय पर रहते कश्चित् कथन रूप अन्वादेश के विषय में एतद् शब्द के स्थान में अहा आदेश होता है, एवं त्र ५० त्रस पर रहते अद् अनुदाच होता है। इस ग्राम में हम लोग सुखपूर्वक निवास करते हैं इसलिये यहाँ अध्ययन करते हैं। अब यहाँ से नहीं जाय है।

१९६३ इतराम्योऽपि दृश्यन्ते ५।३।१४।

पञ्चमी सप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते। इति ग्रहणाद्भवदादि योग एव। स भवान्=ततो भवान् तत्र भवान्। त भवन्तम्=ततो भवन्तम्=तत्र भवन्तम्। एव दीर्घायुः। देवानाप्रिय। आयुःप्मानि।

पञ्चम्यन्त एवं सप्तम्यन्त से मित्र विभक्त्यन्त से भी तसिलादि प्रत्यय होते हैं। इतिमहा से भवत् आदि के योग में प्रत्यय करना चाहिये।

यथा प्रथमान्त से द्वितीयान्त से भी तसिल एवं बल्कृत्वा। भवदादि में आदि से यथा दीर्घायु देवाना प्रिय आयुप्मान् का ग्रहण करना चाहिये।

१९६४ सर्वेकान्यकियत्तदः काले दा ५।३।१५।

सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थं दा स्यात् । सर्वस्मिन् काले सदा । सर्व-
दा । एकदा । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । काले किम् ? सर्वत्र देशे ।

सप्तम्यन्त कालवाचक सर्व, एक, अन्य, किम्, यद्, तद्, से पर स्वार्थ में दा प्रत्यय होता है । सर्व को सादेश विकल्प से होने से सदा, सर्वदा । एकस्मिन् काले एकदा । अन्यस्मिन् काले अन्यदा । त्यदादीनामः । अकारादेश । कस्मिन् काले कदा । यस्मिन् काले यदा । तस्मिन् काले तदा । काल नहीं वहां सर्वत्र देशे ।

१९६५ इदमोहिल् ५।३।१६।

सप्तम्यन्तात् काले इत्येव । हस्यापवादः । अस्मिन् काले एतर्हि । काले
किम् ? इह देशे ।

सप्तम्यन्त कालवाचक इदम् शब्द से पर हिल् प्रत्यय होता है । यह सूत्र 'इदमो हः' का वाचक है । अस्मिन् काले एतर्हि यहां 'एतौ रयोः' से एत आदेश होता है । एतर्हि । अस्मिन् देशे इह । यहां कालरूपार्थ की अप्रतीति है अतः हिल् न हुआ ।

१९६६ अधुना ५।३।१७।

इदमः सप्तम्यन्तात्कालवाचिनः स्वार्थेऽधुना प्रत्ययः स्यात् । इश् ,
यस्येति लोपः । अधुना ।

सप्तम्यन्त कालवाचक इदम् शब्द से अधुना प्रत्यय होता है, इदम् को इश् आदेश उस इकारका 'यस्येति च' से लोप केवल प्रत्यय मात्र ही अवशिष्ट रहा, अस्मिन् काले अधुना ।

१९६७ दानीं च ५।३।१८।

इदानीम् ।

सप्तम्यन्त काल वाचक इदम् से पर स्वार्थ में 'दानीम्' प्रत्यय होता है । अस्मिन् काले इदानीम् ।

१९६८ तदो दाच ५।३।१९।

तदा । तदानीम् । तदो दावचनमनर्थकम्, विहितत्वात् ।

सप्तम्यन्त कालवाचक तद् शब्द से दाप्रत्यय एवं दानीम् प्रत्यय होता है । 'सर्वैकान्य' से दाप्रत्यय तद् को सिद्ध है पुनः दाप्रत्यय विधान इसको व्यर्थ ही है ।

१९६९ अनद्यतने हिलन्यतरस्याम् ५।३।२१।

कर्हि । कदा । यर्हि । यदा । तर्हि । तदा । एतस्मिन् काले एतर्हि ।

अनद्यतन काल में सप्तम्यन्त किमादि से पर हिल् विकल्प से होता है, पक्ष में दा होता है । कस्मिन् काले कर्हि । कदा । यस्मिन्, तस्मिन्, एतस्मिन् वा काले यर्हि, यदा, तर्हि, तदा, एतर्हि ।

१९७० सद्यःपरुत्परार्येपमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरित-
रेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः ५।३।२२।

एते निपात्यन्ते । समानस्य सभावो द्यस् चाहनि ॐ । समानेऽहनि सद्यः ।

पूर्वपूर्वतरयो' पर चदारी च सवत्सरे ः । पूर्वस्मिन् वत्सरे परत् । पूर्वतरे वत्सरे परारि । इदम् इश् समसण् प्रत्ययश्च सवत्सरे ः । अस्मिन् सवत्सरे ऐषम । परस्माद् एद्यव्यहनि ः । परस्मिन्नहनि परेषवि । ः इदमोऽश् चश्च । अस्मिन् अहनि अद्य । पूर्वादिभ्योऽष्टभ्योऽहन्येद्यस् । पूर्वस्मिन् अहनि पूर्वद्युः । अन्यस्मिन्नहनि अन्येद्युः । उभयोरहोरुभयेद्युः । द्युश्चो भयाद् वक्तव्य । उभयेद्युः ।

अहां काल अथ को प्रतीति रहे वहां सच आदि को निपातन से सिद्धि होती है । समान दिन में सच । यहां समान को सादेश एव वत् प्रत्यय हुआ । पूर्व वर्ष में पद्य । यहां पूर्व को पर आदेश एव उद्य प्रत्यय हुआ । पूर्वतर अर्थात् परिवार इसमें पूर्वतर को पर आदेश आदि प्रत्यय से परारि । सवत्सर अर्थ में सप्तम्वन्त इदम् को इश् आदेश एव समसण् प्रत्यय से ऐषम । 'अस्मिन् सवत्सरे' में । सप्तम्वन्त पर शब्द से अहन् अर्थ में एद्यवि प्रत्यय होता है । परस्मिन् अहनि परेषवि । दिन अर्थ में सप्तम्वन्त इदम् से चप्रत्यय होता है एव प्रकृति को अश् आदेश होता है । अस्मिन् अहनि अद्य । दिन अर्थ में पूर्व आदि आठ शब्दों से एद्यस् प्रत्यय होता है । उभय शब्द से द्युस् होता है । उभयेद्युः ।

१९७१ प्रकारवचने थाल् ५।३।२३।

प्रकारवृत्तिभ्य' किमादिभ्यस्थाल् स्यात् स्वार्थे । तेन प्रकारेण तथा । यथा । सामान्यस्य भेदक प्रकार । प्रकारवृत्ति वाचक तृतीयान्त किम् आदि से पर थाल् प्रत्यय होता है । सामान्य का भेदक = स्वावर्तक को प्रकार कहते हैं यथा आक्षेपण का भेदक माठरत्न एव कौण्डिन्यत्व है । उसके सादृश तथा । जिसके सादृश तथा ।

१९७२ इदमस्थमुः ५।३।२४।

थालोऽपवादः । ः एतदो वाक्य । अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्यम् । प्रकार वचन में तृतीयान्त इदम् शब्द से पर थमुप्रत्यय होता है । यह पूर्व सूत्र से प्राप्त थाल् का वाचक है । तृतीयान्त एतद् शब्द से भी प्रकार वचन में थमु होता है । थमु में उकारोच्चारण मकार की रक्षार्थ है, इल-स्थम् से मकार की रक्षणा कोप होता अतः अन्त्यस्य के अभावार्थे उकार है । यद्यपि 'न विमत्तौ तुलना' से इत्सङ्गामात्र होता पुन उकारोच्चारण व्यर्थ होकर शापन करता है कि 'न विमत्तौ' सूत्र अनित्य है ।

१९७३ किमश्च ५।३।२५।

केन प्रकारेण कथम् ।

इति प्राग्दिशीयप्रकरणम्

तृतीयान्त विभुशब्द से प्रकारार्थ में थमु प्रत्यय होता है । केन प्रकारेण कथम् ।

१० श्रीना० कु० पञ्चोलिविरचित्ररत्नप्रभा में प्राग्दिशीय प्रकरण समाप्त ।

अथ प्रागिवीयप्रकरणम्

१९७४ दिक्छन्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकाले-
ष्वस्तातिः ५।३।२७।

सप्तम्याद्यन्तेभ्यो दिशि रुढेभ्यो दिग्देशकालवृत्तिभ्यः स्वार्थेऽस्ताति
प्रत्ययः स्यात् ।

सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त, प्रथमान्त दिशा अर्थ में रुढ दिक् वाचक, देश वाचक, काल वाचक जो
शब्द उत्तरे पर अस्ताति प्रत्यय होता है ।

१९७५ पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ५।३।३९।

एभ्योऽस्तात्यर्थेऽसिप्रत्ययः स्यात् तद्वयोगे चैषां क्रमात्पुर, अध्, अव्,
इत्यादेशः स्युः ।

पूर्व, अधर, अवर से पर अस्ताति के अर्थ में असि प्रत्यय होता है, एवं पूर्व के स्थान में
पुर, अधर के स्थान में अध्, अवर के स्थान में अव्, आदेश होता है ।

१९७६ अस्ताति च ५।३।४०।

अस्तातौ परे पूर्वादीनां परादयः स्युः । पूर्वस्यां पूर्वस्याः पूर्वा वा दिक्
पुरः । पुरस्तात् । अधः । अधस्तात् । अवः । अवस्तात् ।

अस्ताति शब्द पर रहते पूर्वादि के स्थान में पुर् अध् अव् आदेश होता है । असि प्रत्यय
एवं अस्ताति में दो रूप हुए ।

१९७७ विभापाऽवरस्य ५।३।४१।

अवरस्यास्तातौ परेऽव् स्याद् वा । अवस्तात् । अवरस्तात् । एवं देशे काले
च । दिशि रुढेभ्यः किम्, ऐन्द्र्यां वसति । सप्तम्याद्यन्तेभ्यः किम्, पूर्वं ग्रामं
गतः । दिगादिवृत्तिभ्यः किम्, पूर्वस्मिन् गुरौ वसति । अस्ताति चेति ह्याप-
काद् असिरस्ताति न बाधते ।

अस्ताति प्रत्यय पर रहते अवर शब्द के स्थान में विकल्प से अव् आदेश होता है । अवस्तात् ।
अवरस्तात् । इसी प्रकार देश, एवं कालविषय में भी होता है । दिशारूपी अर्थ में रुढ न होनेपर
इन्द्रो देवता अस्या सा ऐन्द्री तस्यां वसति यहां वाक्य ही रहा । सप्तमी, पञ्चमी एवं प्रथमा तदन्त
न होने से 'पूर्वं ग्रामं गतः' यहां वाक्य ही रहा । दिक् देश काल वाचक न होने से 'पूर्वस्मिन्
गुरौ वसति' में न हुआ यह कार्य किन्तु वाक्य ही रहा । 'अस्ताति च' इस सूत्र से शापन होता
है कि असि प्रत्यय अस्ताति को बाध नहीं करता है । अन्यथा अस्ताति परका पूर्वादि मिलेंगे ही
नहीं पूर्वादि को आदेश विधान व्यर्थ ही होता ।

१९७८ दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ५।३।२८।

अस्तातेरपवादः । दक्षिणतः । उत्तरतः ।

दक्षिण एव उत्तर से अतमुच् प्रत्यय अस्ताति के विषय में होता है। यह अस्ताति का भावक है।

१९७९ मिमाषा परावराभ्याम् ५।३।२९।

परत । अउरत । परस्तान् । अवरस्तात् ।

अस्ताति के विषय में पर ॥ अवर से पर अतमुच् विवरण से होता है। पञ्च में अस्ताति ।

१९८० अञ्चेर्लुक् ५।३।३०।

अञ्चत्यन्ताद् दिक्शब्दाद् अस्तातेर्लुक् स्यात् । लुक् तद्धितलुकि । प्राच्या प्राच्या प्राची वा दिक । प्राक् । उदक् । एव देशे काले च ।

अञ्च् धातु है अन्त में जिसको ऐसे दिग्वाचक शब्द से उत्तर अस्ताति का लुक् होता है। लीप् की निवृत्ति हुई। इसी प्रकार देश एव काल में भी रूप प्राक् उदक् हुआ।

१९८१ उपयुपरिष्ठात् ५।३।३१।

अस्तातेर्विषये ऊर्ध्वशब्दस्योपादेशः स्याद् रिक् रिष्ठातिलौ च प्रत्ययौ ।
उपरि—उपरिष्ठाद्वा यस्य आगतो रमणीय वा ।

अस्तानि के विषय में ऊर्ध्व के स्थान में उप आदेश होता है एव वससे पर रिक् एव रिष्ठातिल् प्रत्यय होता है। वास-किया-कर्ता उपरिमाण में स्थित है। या उपरिमाण से आया है। या उपरि-माण रमणीय है।

१९८२ पश्चात् ५।३।३२।

अपरस्य पश्चभाच्च, आतिश्च प्रत्ययोऽस्तातेर्विषये ।

अस्ताति प्रत्यय के विषय में अपर को पश्च आदेश होता है, एव उसके उत्तर आतिप्रत्यय होता है।

१९८३ उत्तराधरदक्षिणादातिः ५।३।३४।

उत्तरान् । अधरान् । दक्षिणान् ।

अस्ताति के विषय में उत्तर, अधर, दक्षिण से आति प्रत्यय होता है।

१९८४ एनवन्पतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः ५।३।३५।

उत्तरादिभ्य एनब् वा स्यादवच्यमधिमतो सामीप्ये पञ्चम्यन्त विना ।
उत्तरेण । अधरेण । दक्षिणेन । पक्षे यथास्व प्रत्यया । इह केचिद् उत्तरादीन्
अननुवत्य दिक्शब्दमात्राद् एनपमाहुः । पूर्वोण ग्रामम् । अपरेण ग्रामम् ।

अवधि एव अवधिभूत पदार्थ के सामीप्य में उत्तर, अधर, दक्षिण से पर विकल्प से एनप् प्रत्यय होता है, किन्तु पञ्चम्यन्त के उत्तर में एनप् नहीं होता है। पक्ष में—यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं। कोह आचार्य यहां उत्तरादि की अनुवृत्ति नहीं करते हैं उनके मत में दिग्वाचक सभी से एनप् प्रत्यय होता है। पूर्वोण अपरेण ग्रामम् ।

१९८५ दक्षिणादाच् ५।३।३६।

अस्तातेर्विषये । दक्षिणा वसति । अपञ्चम्या इत्येव दक्षिणादागतः ।
अस्ताति के विषय में दक्षिण शब्द अपञ्चम्यन्त से आच् प्रत्यय होता है ।

१९८६ आहि च दूरे ५।३।३७।

दक्षिणात् दूरे आहिः स्यात् चादाच् । दक्षिणाहि । दक्षिणा ।
दूरार्थक में दक्षिण शब्द से आहि एवं आच् प्रत्यय होता है ।

१९८७ उत्तराच्च ५।३।३८।

उत्तराहि । उत्तरा ।
दूरार्थक उत्तर शब्द से आहिप्रत्यय होता है । पक्ष में आच् प्रत्यय होता है ।

१९८८ सङ्ख्याया विधार्थे धा ५।३।४२।

क्रियाप्रकारार्थे वर्तमानात् संख्याशब्दात् स्वार्थे धा स्यात् । चतुर्धा ।
पञ्चधा ।

क्रिया-प्रकारार्थ में विद्यमान संख्यावाचक से स्वार्थ में धा प्रत्यय होता है ।

१९८९ अधिकरणविचाले च ५।३।४३।

द्रव्यस्य संख्यान्तरापादने संख्याया धा स्यात् । एवं राशिं पञ्चधा कुरु ।
द्रव्य के मित्र संख्याप्रतिपादन में संख्यावाचक शब्द से धा प्रत्यय होता है ।

१९९० एकाद्धो ध्यमुञ्जन्यतरस्याम् ५।३।४४।

ऐक्यम् । एकधा ।

क्रिया-प्रकारार्थ में विद्यमान एक शब्द से पर धा प्रत्यय को विकल्प से ध्यमुञ् आदेश होता है ।

१९९१ द्वित्रयोश्च धमुञ् ५।३।४५।

आभ्यां धा इत्यस्य धमुञ् स्याद् वा । द्वेधम् । द्विधा । त्रैधम् । त्रिधा ।
ॐ धमुञ्जन्तात् स्वार्थेऽङ् दर्शनम् ॐ । पथि द्वैधानि ।

द्वि एवं त्रिशब्द के उत्तर धा के स्थान में धमुञ् आदेश विकल्प से होता है । धमुञ् है अन्त में जिसको ऐसे शब्द से स्वार्थ में ङ प्रत्यय होता है । द्वित्व प्रयुक्त टिलोप होता है ।

१९९२ एधाच्च ५।३।४६।

द्वेधा । त्रेधा ।

द्वि एवं त्रिशब्द से एधाच् प्रत्यय होता है ।

१९९३ याप्ये पाशप् ५।३।४७।

कुत्सितो भिपक् भिपक्पाशः ।

निन्दा अर्थ में प्रथमान्त से पाशप् प्रत्यय होता है । निन्दित कर्मकर्ता चिकित्सक ।

१९९४ पूरणाद् भागे तीयादन् ५।३।४८।

द्वितीयो भागो द्वितीय । तृतीय । स्वरे विशेष । ॐ तीयादीकस्वार्थे वा वाच्य ॐ । द्वैतीयोक्त । द्वितीय । तार्तीयोक्त । तृतीय । ॐ न विद्याया । द्वितीया तृतीया विद्येत्येव ।

पूरणार्थकतीयप्रत्ययान्त भागवाचक शब्द से स्वार्थ में अन् प्रत्यय होता है, स्वर में आद्य दाक्षत्व प्रयुक्त विशेष है । रूप में तो विशेषामात्र ही है । तीयप्रत्ययान्त से स्वाय में ईकक् विकल्प से होता है । रूपद्वय होगा । द्वितीय एव तृतीय विद्यार्थक रहे वहाँ ईकक् नहीं । द्वितीया विद्या ।

१९९५ प्रागेकादशम्योऽल्लन्दसि ५।३।४९।

पूरणप्रत्ययान्ताद् भागेऽन् । चतुर्थ । पञ्चम ।

लोक में एकादश से पूर्व पञ्च पूरण प्रत्ययान्त संख्यावाचक से पर अन् प्रत्यय होता है ।

१९९६ पष्ठाष्टमाभ्यां न च ५।३।५०।

षाडन् । षष्ठो भाग षाष्ठ । षष्ठ । आष्टम । अष्टम ।

मागार्थक षष्ठ एव अष्टम से न प्रत्यय एव अन् प्रत्यय होता है ।

१९९७ मानपञ्चङ्गयोः कन्लुको च ५।३।५१।

षष्ठाष्टमशब्दाभ्या क्रमेण कन्लुको स्तो माने पञ्चङ्गे च वाच्ये । षष्ठको भागो मान चेत् । अष्टमो भागः पञ्चङ्गं चेत् । अस्य अनो वा लुक । चकाराद् यथाप्राप्तम् । षाष्ठ षष्ठ । आष्टम — अष्टम । महाविभाषया सिद्धे लुग्वचन पूर्वत्र भानौ नित्याविति ज्ञापयति ।

परिमाण एव षष्ठ के अङ्ग होने पर षष्ठ एव अष्टम के उत्तर यथाक्रम कन् एव लुक् होता है । न एव अन् का विकल्प से लुक् होता है । चकार से यथाप्राप्त न एवं अन् का अवगण रहता है । महा विभाषा का अधिकार से प्रत्यय वैकल्पिक होंगे भावाभाव उभय सिद्ध है पुन यहाँ विधान किया हुआ लुक न्यय होकर स्थापन करता है कि पूर्व सूत्र से विशेष अप्रत्यय एवं अन् प्रत्यय नित्य ही है । अतः लुक् विधान एक षष्ठ में प्रत्ययों का अवगणन सार्थक हुआ ।

१९९८ एकादाकिनिच्चासहाये ५।३।५२।

चात् कन्लुको । एक । एकात्री । एकक ।

सत्रातीय सहायक वहाँ न रहे वहाँ एक शब्द से आकिनिच प्रत्यय होता है, एव चकार से षष्ठ में कन् तथा लुक् से तीन रूप हुए । एकात्री द्व्यमात्राशु पुरुष का वहाँ सत्रातीय अर्थ नहीं है ।

१९९९ भूतपूर्वे चरट् ५।३।५३।

आढयो भूतपूर्व आढयचर ।

भूतपूर्वार्थ में प्रयमान्त से चरट् प्रत्यय होता है । भूत काल में धनी अर्थ में आढयचर ।

२००० षष्ठ्या रूप्य च ५।३।५४।

षष्ठ्य ताद् भूतपूर्वेऽर्थे रूप्य स्याच्चरट् च । कृष्णस्य भूतपूर्वो गौ कृष्णरूप्य । कृष्णचर । तसिलादिषु रूप्यस्यापरिगणितत्वान्न पुनत् । शुभ्राया भूतपूर्व शुभ्रा रूप्य ।

२००१ अतिशयने तमघिष्ठनौ ५।३।५५।

अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः । अयमेवामतिशयेनाढ्य आढ्य-
तमः । लघुतमः । लघिष्ठः ।

अतिशय से युक्त स्वार्थ में स्थित जो शब्द उससे स्वार्थ में तमप् एवं श्ठन् प्रत्यय होता है ।
इन सबों में यह अधिक सम्पन्न या धनयुक्त है आढ्यतमः । अतिशयेन लघुः लघिष्ठः 'टि' से टिलोप हुआ ।

२००२ तिङन्त ५।३।५६।

तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात् ।

अतिशयरूप अर्थ प्रतीयमान रहे वहां तिङन्ततदादि से पर तमप् प्रत्यय होता है ।

२००३ तरप्ततमपौ घः १।१।२२।

एतौ घसंज्ञौ स्तः ।

तरप् एवं तमप् को घ संज्ञा होती है ।

२००४ क्रिमेत्तिङव्ययघादाभ्यद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११।

किम् एदन्तात् तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्तादामुः स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे ।
किन्तमाम् । प्राहेतमाम् । पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्यप्रकर्षे तु
उच्चैस्तमस्ततः ।

द्रव्य-प्रकर्ष न होने पर किम् शब्द, एदन्त, तिङन्त, अव्यय इनसे उत्तर जो घसंज्ञक प्रत्यय
तरप् एवं तमप् तदन्त से आमु प्रत्यय होता है । धृष्टादि जो द्रव्य तद्गत जो प्रकर्ष वह प्रतीय-
मान रहे वहां घान्त से आमु प्रत्यय नहीं होता है ।

२००५ द्विवचनविभज्योपपदे तरवीयसुनौ ५।३।५७।

द्वयोरेकस्यातिशये विभक्त्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्तः । पूर्वयो-
रपवादः । अयमनयोरतिशयेन लघुर्लघुतरः । लघीयान् । उदीच्याः प्रा-
च्येभ्यः पटुतराः । पटीयांसः ।

दो के मध्य में एक के अतिशय होने पर विभजनीय उपपद में विद्यमान मुदन्त एवं तिङन्त
पद से पर तरप् एवं श्यञ् प्रत्यय होता है । पूर्वोक्त तमप् एवं श्ठन् का यह वाचक है ।

२००६ अजादी गुणवचनादेव ५।३।५८।

इष्टुर्नीयसुनौ गुणवचनादेव स्तः । नेह, पाचकतरः । पाचकतमः ।

गुणवाचक शब्द से ही श्ठन् एवं श्यञ् प्रत्यय होते हैं । अतिशयपाकक्रिया कर्ता यहाँ
द्रव्यवाचक है अतः तरप् तमप् ही इष्टु । पाचकतरः । पाचकतमः ।

२००७ तुञ्जन्दसि ५।३।५९।

तृन्-तृजन्ताद् इष्टुर्-इयसुनौ न्तः ।

वेद में तृजन्त एवं तृजन्त से अतिशय अर्थ में श्ठन् एवं श्यञ् होते हैं ।

२००८ तुरिष्टेमेयः सु ६।४।१५४।

तृशब्दस्य लोपः स्यादितिष्टेमेयस्सु परेषु अतिशयेन दोग्धी दोहीयसी ।
चगितश्च से क्षीप् ।

२००९ प्रशस्यस्य श्रः ५।३।६०।

अस्य आदेशः स्यादजायोः ।

अजादि प्रत्यय पर रहते प्रशस्यशब्द को अ आदेश होता है ।

२०१० प्रकृत्यैकाच् ३।४।६३।

इष्टादिप्लेकाच् प्रकृत्या स्यात् । श्रेष्ठः । श्रेयान् ।

इष्टन् आदि प्रत्यय पर में रहते प्लेकाच् का प्रकृतिभाव होता है । अर्थात् टिकोपादि विकारात्मक कार्य के अभावपूर्वक स्वरूप स्थिति रहती है । अवमतिशयेन प्रशस्य इति आदेश इष्टन् पर रहते हुए 'टि' से टिकोप न हुआ श्रेष्ठः । श्रेयस्सु में श्रेयान् । अदन्त आदि आदेश-विधान-सामर्थ्य से ही टिकोप नहीं होता । इसी प्रकार प्रकृत्यैकाच् सूत्र साध्य यावत् उदाहरणों का खण्डन कर इस सूत्र की अनावश्यकता माध्यकार ने की है ।

२०११ ज्य च ५।३।६१।

प्रशस्यस्य ज्यदेशः स्याद् इष्टेयसोः । ज्येष्ठः ।

इष्टन् एवं श्रेयस्सु प्रत्यय पर में रहते प्रशस्य को ज्य आदेश होता है ।

२०१२ ज्यादादीयसः ६।४।१६०।

आदेः परस्य । ज्यायान् ।

ज्य शब्द से पर श्रेयस्सु प्रत्यय के आदि वर्ण को आद्य होता है । ज्यायान् ।

२०१३ षृद्धस्य च ५।३।६२।

ज्यदेशः स्यादजायोः । ज्येष्ठः । ज्यायान् ।

इष्टन् एवं श्रेयस्सु प्रत्यय पर रहते षृद्ध के स्थान में ज्य आदेश होता है । ज्यमनयोरिति-
शयेन षृद्ध इति ज्येष्ठः । ज्यायान् ।

२०१४ अन्तिकवाटयोर्नेदसाधौ ५।३।६३।

अजायोः । नेदिष्ठः । नेदीयान् । साधिष्ठः । साधीयान् ।

इष्टन् एवं श्रेयस्सु प्रत्यय पर रहते ययाकम् अन्तिक एवं वाट के स्थान में नेद एवं साधु आदेश होता है । अतिशयेन अन्तिकः नेदिष्ठः नेदीयान् । अतिशयेन वाटश्च इति साधिष्ठः साधीयान् ।
यहाँ साधु शब्दवचक उच्चारण 'टि' से ओप हुआ है ।

२०१५ स्थूलदूरयुवहस्वक्षिप्रशुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः

६।४।१५६।

एषां यणादिपूर्वं लुप्यते, पूर्वस्य च गुण इष्टादिषु । स्थविष्ठः । दविष्ठः ।

इण् एव ईयसन् प्रत्यय पर रहते विन् एव मनुप् का लुक् होता है ।

२०२१ प्रशंसायां रूपम् ५।३।६६।

सुबन्तात् तिङन्ताच्च । प्रशस्तः पटुः पटुरूपः । प्रशस्त पचति पचतिरूपम् ।

प्रशसा अर्थ में सुबन्त एव तिङन्त से रूपम् प्रत्यय होता है ।

२०२२ ईपदसमाप्तौ कल्पवृक्षदेशीयरः ५।३।६७।

ईपदूनो विद्वान् विद्वत्कल्प । यशस्कल्पम् । यजुस्कल्पम् । विद्वद्देश्यः । विद्वद्देशीय । पचतिकल्पम् ।

ईपद् असमाप्ति अर्थ में कल्पवृक्ष एव देशीयर् प्रत्यय होता है । कुछ विद्वत्ता में न्यूनता वहाँ विद्वत्कल्प । आदि प्रयोग होते हैं ।

२०२३ विमापा सुपो बहुच् पुरस्तात् ५।३।६८।

ईपदसमाप्रविशिष्टेऽर्थे सुबन्ताद् बहुच् वा स्यात् स च प्रागेव, न तु परतः । ईपदूनः पटुर्बहुपटु । पटुर्कल्पः । सुप किम्— यजतिकल्पम् ।

ईपद् ऊर्ध्वार्थ में सुबन्त से विकल्प बहुच् प्रत्यय प्रकृति के पूर्व में होता है पर में नहीं । सूत्र में 'पुरस्ताद्' ग्रहण-सामर्थ्य से वहाँ 'प्रत्यय परतः' की अप्रकृति है । अन्यथा पुरस्ताद्-ग्रहण ही व्यर्थ होगा ।

२०२४ प्रकारवचने जातीयर् ५।३।६९।

प्रकारवर्ती चायम् । याल् तु प्रकारमात्रे । पटुप्रकारः पटुजातीयः ।

सादृश्य एव भेद को प्रकार कहते हैं । प्रकारविशिष्ट अर्थ में जातीयर् प्रत्यय होता है । यह प्रकारविशिष्टविवक्षक ही है । केवल प्रकार की वहाँ प्रतीति वहाँ याल् प्रत्यय होता है ।

पटुजातीयः । जातीयर् का तीव्र अनर्थक है । सम्पूर्ण प्रत्यय ही अर्थवान् है ।

२०२५ प्राग्विवात् कः ५।३।७०।

इवे प्रतिकृतावित्यत प्राक् काधिकारः ।

'इवे प्रतिकृती' सूत्र के पूर्वपठेन कप्रत्यय का अधिकार है ।

२०२६ अण्यसर्वनाम्नामरूच् प्राक् टेः ५।३।७१।

तिङ्श्चेत्यनुवर्तते ।

अण्य एव सर्वनामसञ्ज्ञक जो शब्द उनका जो टिसञ्ज्ञक वर्ण उसके पूर्व में अकच् प्रत्यय होता है ।

२०२७ कस्य च दः ५।३।७२।

कान्ताण्यस्य दकारोऽन्तादेशः स्यादकश्च ।

ककारान्त अन्यसञ्ज्ञक शब्द को दकार अन्तादेश होता है, एव टि के पूर्व अकच् होता है । यहाँ तिङ्श्च की अनुवृत्ति होती है ।

२०२८ अज्ञाते ५।३।७३।

कस्यायमश्वोऽश्वकः । उच्चकैः । नीचकैः । सर्वकैः । विश्वकैः । ॐ ओकार-
सकारभकारादौ सुपि सर्वनामप्रेः प्रागकच् ॐ । युवकयोः आवकयोः ।
युष्मकासु । अस्मकासु । युष्मकाभिः । अस्मकाभिः । ओकारेत्यादि किम् ,
त्वयका । मयका । ॐ अकच्प्रकरणे तूष्णीमः काम्बक्त्यः ॐ । मित्त्वादन्त्या-
दचः परः । तूष्णीकामास्ते । ॐ शीले को मलोपश्च ॐ । तूष्णीशीलस्तूष्णीकः ।
पचतकि । जल्पतकि । धक्ति । हिरकुत् ।

अज्ञात अर्थ में कप्रत्यय होता है । अज्ञात अश्व में— अश्वकः । अधिकरण-शक्तिप्रधान अव्यय
जो उच्चैस् उससे कप्रत्यय अज्ञात में कर उच्चकैः । अधिकरण में नीचकैः । अज्ञाताः सर्वे =
सर्वकैः । विश्वकैः । * ओकार सकार, भकारादि विभक्ति पर में रहने पर सर्वनाम की टि के पूर्व
में अकच् प्रत्यय होता है । अन्यत्र नुपन्त की टि को अकच् होता है । यया - त्वयका । मयका ।
* अकच् के प्रकरण में तूष्णीम् को काम् होता है । मित्त्व के कारण अन्त्य अच् से पर 'काम्'
होगा । तूष्णीम् से शील में कप्रत्यय होता है । एवं मकार का लोप होता है । पचति = पचतकि ।
जल्पति = जल्पतकि । धिक् = धक्ति । आदि ।

२०२९ कुत्सिते ५।३।७४।

कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः ।

निन्दा अर्थ में कप्रत्यय होता है ।

२०३० संज्ञायां कन् ५।३।७५।

कुत्सिते कन् स्यात् तदन्तेन चेत्संज्ञा गम्यते । शूद्रकः । राधकः । स्वरार्थ
वचनम् ।

प्रकृतिप्रत्ययान्त में संशाल्प अर्थ की प्रतीति रहे एवं निन्दा गम्य रहे वहां कन् प्रत्यय
होता है ।

२०३१ अनुकम्पायाम् ५।३।७६।

पुत्रकः । अनुकम्पितः पुत्र इत्यर्थः ।

अनुकम्पा = दया = कृपा अर्थ में कन् प्रत्यय होता है ।

२०३२ नीतौ च तद्युक्तात् ५।३।७७।

सामदानादिरूपा नीतिस्तस्यां गम्यमानायामनुकम्पायुक्तात् कप्रत्ययः
स्यात् । हन्त ते धानकाः । गुडकाः । एद्रकि । अद्रकि । पूर्वैणानुकम्प्यमानात्
प्रत्ययः, अनेन तु परम्परासम्बन्धेऽपीति विशेषः ।

सामदानादि उपाय को नीति कहते हैं । नीति अर्थ में अनुकम्पा-युक्त से कन् प्रत्यय होता है ।
पूर्वनृत् से अनुकम्पायमान से कन् , इससे परम्परा सम्बन्ध में नी प्रत्यय कन् होता है । यह
विशेष है ।

२०३३ बह्वचो मनुष्यनान्नष्ट्या ५।३।७८।

पूर्वसूत्रद्वयविषये ।

पूर्व पठिन दो सूत्र के विषय में अनेक स्वरयुक्त जो अनुष्वाचकस्य वन से पर विकल्प से ठच प्रत्यय होता है ।

२०३४ घनिलचौ च ५।३।७९।

सत्रेय ।

पूर्वसूत्र के विषय में वन ए० इल्च् प्रत्यय होता है ।

२०३५ ठाजादावूर्च द्वितीयादचः ५।३।८३।

अस्मिन् प्रकरणे यष्टोऽजादिप्रत्ययश्च तस्मिन् प्रत्यये परे प्रकृतेद्वितीयादच ऊर्ध्वं सर्वं लुप्यते । अनुकम्पितो देवदत्तो देविक । देविय । देविल । देवदत्तक । अनुकम्पितो वायुदत्तो वायुक । ठमहणमुको द्वितीयत्वे कविधानार्थम् । वायुदत्तो वायुक । पितृक ।

चतुर्थ्यादच ऊर्ध्वस्य लोपो वाच्यः । अनुकम्पितो बृहस्पतिवत्तो बृहस्पतिक । अनपादी च विभाया लोपो वक्तव्यः । देवकः । देवदत्तक । लोप पूर्वपदस्य च । दत्तिक । दत्तिय । दत्तिल । दत्तक ।

यिनापि प्रत्यय पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्यः । दत्त । देव । देवदत्त । भामा । सत्या । सत्यभामा । उवर्णाञ्ज इलस्य च । भानुल । भानुदत्त । ऋगर्णादपि । सवितृल । सवित्रिय ।

यष्टोऽजादी च लोप पूर्वपदस्य च ।

अप्रत्यये तयैवेष्ट उवर्णाञ्ज इलस्य च ॥

इत प्रकरण में जो ठप्रत्यय एवं अभादि प्रत्यय कहे गये हैं वस प्रत्यय पर में रहते प्रत्यय को जो प्रकृति उसका द्वितीय अथ उससे परवर्ती को सम्पूर्ण अथ उसका लोप होता है । अनुकम्पा युक्त जो देवदत्त उससे ठच प्रत्यय इकादेश दत्त का लोप नकार का लोप देविक । यन् में देविय । इल्च् में देविल । कन् में देवदत्तक । वायुदत्त से वायुक । वहा दत्त का लोप ठच् को कादेश हुआ है । पितृक ।

चतुर्थ अच् से परवर्ती का लोप होता है । अनुकम्पायुक्त को बृहस्पतिदत्त ठक् इकादेश दत्त का लोप इकार लोप बृहस्पतिक । अभादि मित्र प्रत्यय पर में रहते विकल्प से लोप होता है । देवक । देवदत्तक । पूर्वपद का भी लोप होता है । ठच दत्तिक । यन् दत्तिय । इल्च् दासल । कन् दत्तक । देव का लोप हुआ है । प्रत्यय पर में न रहते भी पूर्वपद या उत्तर पद का विकल्प लोप होता है । सत्या । भामा । सत्यभामा । उवर्ण से पर इल्च् के स्थान में ल आदेश होता है ।

भानुल । भानुदत्त । ऋगर्णान्त में पर इल्च् को श्देश होता है । सवितृल । यन् सवित्रिय । कारिकायां —अनजादि प्रत्यय के विषय में चतुर्थ अच् से परवर्ती भाग का लोप होता है । उसी प्रकार प्रत्यय पर में न रहते हुए भी लोप होता है । पूर्वपद का भी लोप होता है । उवर्ण से पर इल्च् का आदेश होता है । ऋवर्ण से पर इल्च् को आदेश होता है ।

२०३६ प्राचाभुपादेरद्वज्जुचौ च ५।३।८०।

उपशब्दपूर्वान् प्रातिपदिकात् पूर्वविषये अटच् वुच् एतौ स्तः । चाद् यथा-
प्राप्तम् । प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् । अनुकम्पितः उपेन्द्रदत्तः उपडः । उपकः ।
उपिकः । उपियः । उपिलः । उपेन्द्रदत्तकः । षड् रूपाणि ।

उपशब्द है पूर्व में जिसको ऐसा जो प्रातिपदिक उससे पर पूर्व विषय में अटच् एवं वुच्
प्रत्यय होता है । चकार से यथाप्राप्त प्रत्यय भी होते हैं । अनुकम्पायुक्त जो उपेन्द्रदत्त यहाँ
अटच् एवं इन्द्रदत्त का लोप अकार का यत्वेति च से लोप उपडः । वुच् अकारदेश उपकः । टच्
उपिकः । ण् उपियः । इल्च् उपिलः । कन् उपेन्द्रदत्तकः । छः रूप इति प्रकार हुए ।

२०३७ जातिनाम्नः कन् ५।३।८१।

मनुष्यनाम्न इत्येव । जातिशब्दे यो मनुष्यनामधेयस्तस्मान् कन् स्यात्
अनुकम्पायां नीतौ च । मिहकः । शरभकः । रामभकः । छेद्वितीयं मन्व्यक्षरं
चेत् नदादेर्लोपो वक्तव्यः । कहोडः । कहिकः । छेदकाक्षरपूर्वपदानामुत्तर-
पदलोपो वक्तव्यः वागाशीर्दत्तः वाचिकः । कथ 'षडङ्गुलिदत्तः षडिकः' इति ?
षपष्टाजादिवचनात् सिद्धम् ।

जातिवाचक जो शब्द वह मनुष्य-नामवाचक हो तो उससे पर अनुकम्पा एवं नीति अर्थ
में कन् प्रत्यय होता है । 'श्च्' को सन्व्यक्षर संज्ञा प्राचीन के मत में है 'ए ओ ऐ औ' की ।
द्वितीय सन्व्यक्षर ही तो तदादि का लोप होता है । एकपद में ही इसकी प्रवृत्ति होती है । एक
अक्षर = अच् युक्त पूर्वपद रहते उत्तरपद का लोप होता है । आशीर्दत्त का लोप वाचिकः । ठच् ।

विमर्श—षडङ्गुलिदत्तः षडिकः यह कैसे हुआ ? शङ्का करने वाले का अभिप्राय यह है कि—
अनुकम्पा या नीति में षडङ्गुलिदत्त से ठच् प्रत्यय करने पर 'एकाक्षरपूर्वपदानाम्' से उत्तर पद
अङ्गुलिदत्त का लोप करने पर षप्—इक यहाँ 'त्वादियु' सूत्र से प्राप्त पद संज्ञा की बाधकर यच्चिभन्
से संज्ञा षप् की होने से अस्तव न होना चाहिये अपदान्त प्रकार होने से । एवञ्च 'षपिकः'
होना चाहिये ।

समाधान यहाँ 'षपष्टाजादिवचन' से द्वितीयाच् षप् उससे उत्तर 'ङुलिदत्त' का ही लोप है
अतः 'षप्' अकारान्त की संज्ञा ही सङ्गीत है न षप् की । तथाच अकारान्त में भव रहे 'षप्' इसमें
त्वादियु से पदत्व रहे विरोध नहीं एक की ही पदसंज्ञा संज्ञा एक काल में प्राप्त नहीं अतः
पदत्व-निवन्धन जडत्व होकर 'षडिकः' रूप निर्वाह सिद्ध हुआ । समानावधिक संज्ञाद्वय में ही
वाच्यबाधजना होती है । अत्र अकारान्ते तिष्ठतु मत्वम् । षप् इति व्यञ्जनान्ते तिष्ठतु पदत्वम् नास्ति
विरोध इति पदत्वेन जडत्वं भवत्येव ।

२०३८ शेषलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात् ५।३।८४।

एषां मनुष्यनाम्नां राजादीं परे तृतीयादच ऊर्ध्व लोपः न्यान् । पूर्वस्या-
पवादः । अनुकम्पितः शेषलदत्तः शेषलिकः । शेषलियः । शेषलिलः । सुपरिकः ।
विशालिकः । वरुणिकः । अर्यमिकः ।

नीति एवं अनुकम्पा में अजादि प्रत्यय पर में रहते मनुष्य-नामवाचक शेषल, सुपरि,
विशाल, वरुण, अर्यमन् इनके तीसरे अच् से परवर्ती अंश का लोप होता है । शेषलदत्त में 'दत्तः'
का लोप शेषलिकः । ठच्-प्रत्ययान्त यह रूप है । ण्, इल्च् का क्रमशः रूप शेषलियः । शेष-
लिलः । आदि ।

२०३९ अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च ५।३।८२।

अजिनान्तान्मनुष्यनाम्नोऽनुकम्पाया कन् तस्य चोत्तरपदलोप । अनु कम्पितो व्याघ्राजिनो व्याघ्रक । सिंहक ।
मनुष्यनामवाचक ओ अजिनान्त प्रातिपदिक उससे अनुकम्पायर्थ में उत्तरपद का लोप होता है । कन् प्रत्यय अजिन उत्तरपद का लोप व्याघ्रक सिंहाजिन + ॥ उ० ५० लोप सिंहक ।

२०४० अल्पे ५।३।८५।

अल्प तैल तैलकम् ।
अल्पाध में कन् प्रत्यय होता है । तिल का विकार तैल है तदन्त अल्पत्व की प्रतीति में तैलकम्

२०४१ ह्रस्वे ५।३।८६।

ह्रस्वो वृक्षो वृक्षक ।
ह्रस्वाध में कन् प्रत्यय होता है । वृक्षक ।

२०४२ संज्ञायां कन् ५।३।८७।

ह्रस्वहेतुका या संज्ञा तस्या गम्यमानाया कन् । पूर्वस्यापवाद । वशक ।
वैणुक ।
ह्रस्वत्व प्रयुक्त ओ संज्ञा वह प्रतीयमान रहे कन् प्रत्यय होता है पूर्व का वद अपवाद है ।
वशक । वैणुक ।

२०४३ कुटीशमीशुण्डाम्यो रः ५।३।८८।

ह्रस्वा कुटी कुटीर । शमीर । शुण्डार ।
ह्रस्व रूपार्थ में कुटी शमी एवं शुण्डा से रप्रत्यय होता है ।

२०४४ कुत्ता डुपच् ५।३।८९।

ह्रस्वा कुतू कुतुप । कुतू = कुत्ते स्नेहपात्र 'ह्रस्वा सा कुतुप पुमान् ।'
ह्रस्वाध में कुतू से डुपच प्रत्यय होता है । कुतू शब्दाध—पामे का बना हुआ तैल का वर्तन ।
वह छोटा होने से कुतुप = कुप्पी कुतुप शब्द प्रसिद्ध है ।

२०४५ कासूगोणीम्या एरच् ५।३।९०।

आयुधविशेष कासू । ह्रस्वा सा कासूतरी । गोणीतरी ।
ह्रस्वार्थ में कासू एवं गोणी से एरच प्रत्यय होता है । आयुध विशेष को कासू कहते हैं । गोणी से घा व आदि के रखने का पात्र कुठिला ।

२०४६ वत्सोक्षादगर्भमेभ्यश्च तनुत्वे ५।३।९१।

व सतर = द्वितीय वय प्राप्त । वक्षतर । अश्वतर । मृषभतर । प्रवृत्ति निमित्ततनुत्वे एवायम् ।

तनुत्व अर्थात् द्वितीयवय प्राप्ति होने पर वत्स वृक्ष अथ, मृषभ इनसे एरच प्रत्यय होता है । दूसरी अवस्था को प्राप्त हुआ वृक्ष में वत्सतर । द्वितीय वय प्राप्तिपूर्व को वत्सा कहते

हैं वह तुनीयवयःप्राप्तवान् रहते तत्र उत्तरः । अतः अश्वाति का तनुत्व = अन्यपितृत्वप्रयुक्त अपकर्ष । भार ढोने वाला बैरु को ऋषभ कहा जाता है, वहन में उसकी न्यूनशक्ति होने पर 'ऋषभतर' कहते हैं ।

२०४७ क्रियत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ५।३।९२।

अनयोः कतरो वैष्णवः । यतरः । ततरः । महाविभाषया यः, कः, सः ।

दोनों के मध्य में एक का निर्धारण = पृथक्करण में किम्, यत्, तत्, से डतरच् (अतर) होता है । इन दोनों के मध्य में कौन वैष्णव है ? कतरः, डित्त्वात् टिलोप इतो प्रकार यतरः । ततरः । महाविभाषा = यथात् विभाषा सूत्र का जहाँ अधिकार से डतरच् न हुआ वहाँ यः, कः, सः हुआ ।

२०४८ वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५।३।९३।

बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमच् वा स्यात् । 'जातिपरिप्रश्ने' इति प्रत्याख्यातमाकरे । कतमो भवतां कठः । यतमः । ततमः । वाग्रहणम-कजर्थम् । यकः । सकः । महाविभाषया यः, सः । किमोऽस्मिन् विषये डतर-जपि । कतरः ।

बहुनों के मध्य में एक का जाति-निर्धारण होने पर किम्, यत्, तत्, इनसे विकल्प करके डतमच् प्रत्यय होता है । भाष्यकार ने इनमें जो 'जातिपरिप्रश्ने' का प्रत्याख्यान किया है । कठप्रोक्त शाखा का अध्ययन करने वाले को कठ कहते हैं । वैशम्पायनान्तेवासित्व—प्रयुक्त णिनि उसका कठचरकात् से लुक् 'गोत्रश्च चरणैः सह' से जातित्व उसका परिप्रश्न में किम् डतमच् टिलोप कतमः । यतमः । ततमः । पक्ष में अच् होता है 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' से एकः । सकः । महाविभाषा से यः सः । अनेकेषां मध्य में एक का जातिपरिप्रश्न में किम् से डतमच् प्रत्यय होता है कतमः ।

२०४९ एकाच्च प्राचाम् ५।३।९४।

डतरच्, डतमच् च स्यात् । अनयोरेकतरोमैत्रः । एषामेकतमः ।

प्राचीन आचार्यों के मत में एक शब्द से पर डतमच् प्रत्यय होता है । एकतरः । एकतमः । अनयोः मैत्रः ।

२०५० अवक्षेपणे कन् ५।३।९५।

व्याकरणेन गर्वितः व्याकरणकः । येनेतरः कुत्स्यते तदिहोदाहरणम् । स्वतः कुत्सितन्तु 'कुत्सिते' इत्यस्य ।

इति प्राग्वीयानां पूर्णोऽवधिः

गर्वित होने पर कन् प्रत्यय होता है । व्याकरणकः यहाँ व्याकरण के ज्ञान से चैत्र गर्वयुक्त है । अन्य से गर्वित होने पर इससे कन् । स्वयं कुत्सित में कन् कुत्सित से ।

प्राग्वीयप्रकरण समाप्त



अथ स्वार्थिकप्रकरणम्

२०५१ इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६।

कन् स्यात् । अथ इव प्रतिकृति अश्वकः । प्रतिकृतौ किम्, गौरिव गवयः ।

उपमान अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय होता है यदि उपमेय प्रतिकृति हो तब । अश्व के सदृश प्रतिकृति अश्वक । गौरिव गवय वहाँ प्रतिकृतिरूपोपमेय की अप्रतीति से कन् न हुआ । उपमानत्ववती प्रकृति एव उपमेय प्रतिकृति जहाँ रहे वहाँ ही कन् । मिट्टी आदि की बनी हुई प्रतिमा की प्रतिकृति कहते हैं । उपमान अव्ययमिन्न यह 'अश्वक' ॥ शेष हुआ । यह श्वाथ में प्रत्यय विधान नहीं करता है 'स्वार्थिक' यह प्रकरण से विरोध होगा ।

२०५२ संज्ञायाञ्च ५।३।९७।

इवार्थे कन् स्यात् समुदायरचेत्सज्ञा । अप्रतिकृत्यर्थमारम्भ । अश्वसदृशस्य सज्ञा अश्वक । छप्पूकः ।

इवार्थ में सज्ञा प्रतीयमान रहे वहाँ कन् प्रत्यय होता है, प्रकृति प्रत्यय समुदाय से ज्ञान प्रती य-मान है । अप्रतिकृति के लिए यह सूत्र है । अश्वसदृश-व्यक्तिविशेष अश्वक छप्पूक ।

२०५३ लुम्ननुष्ये ५।३।९८।

सज्ञाया च विहितस्य कनो लुप् स्यान्मनुष्ये वाच्ये । 'चञ्चा मृणमयः पुमान्' । चञ्चेष मनुष्यश्चञ्चा । वधिका ।

मनुष्य अर्थ की प्रतीति होने पर सज्ञा में विहित जो कन् प्रत्यय उसका लुप् होता है । लुण्मय पुरुष की चञ्चा कहते हैं चञ्चा-मदृश मनुष्य में कन् लुप् चञ्चा । अत्र लुप्त्वं प्रकृतिवत्किञ्च कं लिए है । वचन तो विशेष्य की तरह ही । चर्ममय रज्जु की बनी कहत है । कन् हरव वधिका लुक्तवद्भाव हुआ ।

२०५४ जीविकार्थे चापण्ये ५।३।९९।

जीविकार्थे यद्विक्रीयमाण तस्मिन् वाच्ये कनो लुप् स्यात् । वासुदेवः । शिवः । स्वप्नः । देवलकाना जीविकार्यासु देवप्रतिकृतेष्विदम् । अपण्ये किम् ? हस्तिकान् विक्रीणीते ।

जीविका के लिए जो विक्रीयमाण तद्विषय अर्थ मर््यात् विक्रय से मित्र जीविका होने पर कन् प्रत्यय का लुप होता है । यथा—वासुदेव आदि । भिन प्रतिपाद्यों को लेकर इस गृह से दूसरे गृह को मिथार्थ धूमते ॥ उन प्रतिमाओं को वासुदेव आदि कहते हैं कन् उसका लुप् हुआ । यहाँ देवलकपद से प्रतिमा को लेकर भ्रमणशील ही लिए जाते हैं । देव प्रतिमन्त्र-विधि द्वारा स्थापित मूर्तियाँ जहाँ हैं वहाँ उत्तर सूत्र से कन् का लुप् होता है । कहा गया भी है कि—

मर््यासु पूननामसु चित्रकर्मण्येषु च ।

इवे प्रतिकृतौ लोप कनो देवपथादिषु ॥

देवमन्दिर में पूजनार्थं स्थापित जो प्रतिमाएँ वहाँ कन् का लुप् देवपथादित्व के कारण होता है। यथा—शिवः। विष्णुः। चित्र कर्म में अर्जुनः। दुर्योधनः। ध्वज में कपिः। गरुडः। सिंहः। राजाओं के ध्वज में सुवर्ण सिंह एवं मकारादि चिह्न होने हैं। अपण्ये किम् का उदाहरण हस्तिकान् विक्रीणीते। यहाँ लुक् न हुआ। हस्तिकान् की तरफ कन् का लुक् नहीं होना चाहिये वहाँ लुक् करके प्रयोग करना एवं अशुद्ध प्रयोग में अशुद्धि का ज्ञान-रहित विद्वान् जिसका पाण्डित्य व्यर्थ है ऐसा उस विद्वान् को धिक्कार है। यथा

“रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थं विक्रीणीते यो नरस्तत्र धिक् धिक्।

अस्मिन् पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रश्नं पण्डितं तं च धिग धिग्” ॥

कन् का अपत्य में लुक् होता है। पण्य में नहीं अतः ‘रामकम्’ ‘सीतिकम्’ लक्ष्मणकम्’ होना उचित है। वे ही साधुशब्द हैं। ‘रामम्’ ‘सीताम्’ तदर्थ में असाधु है।

२०५५ देवपथादिषु च ५।३।१००।

कनो लुप् स्यात्। देवपथः। हंसपथः। आकृतिगणोऽयम्।

देवपथादिगण पठित शब्द से पर कन् का लुप् होता है।

देवपथ इव प्रतिकृतिः हंसपक्ष इव प्रतिकृतिः यहाँ कन् उसका लुप् देवपथः। हंसपथः। यह आकृतिगण है।

२०५६ वस्तेढञ् ५।३।१०१।

इवेत्यनुवर्तत एव। प्रतिकृताविति निवृत्तम्।

वस्तिरिव वास्तेयम्। वास्तेयी।

वस्तिशब्द से पर इवार्थ में ढञ् प्रत्यय होता है। इस सूत्र में केवल ‘इव’ की अनुवृत्ति है। प्रतिकृति की निवृत्ति हुई। नामि के नीचे के भाग को वस्ति कहते हैं। सीनिलका में छोप् वास्तेयी।

२०५७ शिलायाः ढः ५।३।१०२।

‘शिलायाः’ इति योगविभागात् ढञ् अपि इत्येके। शिलेव शिलेयम्। शैलेयम्।

इवार्थ में शिला से ढप्रत्यय होता है। योगविभाग से पूर्व से ढञ् से शैलेयम् भी होता है ऐसा आचार्य कहते हैं। रूपद्वय हुआ।

२०५८ शाखादिभ्यो यः ५।३।१०३।

शाखेव शाख्यः। मुख्यः। जघनमिव जघन्यः। अग्रयः। शरण्यः।

शाखा आदि से इवार्थ में यप्रत्यय होता है। शाखा इव शाख्यः। मुखम् इव मुख्यः। जघन्यः = नीच। शरणमिव शरण्यः।

२०५९ द्रव्यञ्च भव्ये ५।३।१०४।

द्रव्यम् = अयं ब्राह्मणः।

अभिप्रेतार्थ के पात्रभूत रूप भव्यार्थ में द्रुशब्द से यप्रत्यय होता है। अर्थात् भव्य में द्रव्य निपातन होता है। श्रेष्ठब्राह्मण इत्यर्थः।

२०६० कुशाग्राच्छः ५।३।१०५।

कुशाग्रमिव कुशाग्रीया बुद्धिः ।

इयार्थं में कुशाग्र से छपत्यव होता है । कुशाग्र अथवा उदय बुद्धि कुशाग्रीया । सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय को क्षणित प्रश्न करने वाली बुद्धि को कहते हैं । यहाँ कुश का अग्र भाग तीक्ष्ण धारा युक्त है जल्दी सयुक्त होने पर शरीरावयव में प्रवेश करता है । अतः समय का सादृश्य प्रयोजन यहाँ है । वर्मानोपमेय यावत् सुसङ्गत है ।

२०६१ समामाच्च तद्विपयात् ५।३।१०६।

इद्विपयान् समामाच्छ स्यात् । काकतालीयो देवदत्तस्य वध । इह काकतालसमागमसदृशचोरसमागम इति समामासार्थः । तत्प्रयुक्तः काकमरण-सदृशस्तु प्रत्ययार्थः । अजाकृपाणीय । अतर्कितोपनत इति फलितोऽर्थः ।

सादृश्य विषयार्थं समास के पर छ प्रत्यय होता है । काकतालीयो देवदत्त का वध है यहाँ काक का लाल फल बनका जो सयोग अचानक हुआ उसी प्रकार अचानक चोर का सयोग हुआ यह तो समासवाच्य अर्थ है । प्रत्यय ॥ है तदर्थ उसके समागम से अर्थात् लाल फल काक के उपरि गिरने के कारण जिस प्रकार काक का वध = मरण हुआ उसी प्रकार चोर के समागम से देवदत्त की मृत्यु यह अर्थ है ।

प्रकृत सूत्र से शापित यहाँ इयार्थ में समास है । जबवा 'मुपसृपा' से समास है । यह समास विशेष संधानोंसे विनिर्मुक्त ही है । आते हुए काक के उपरि लाल फल गिरने से अकरमाद वध हुआ, आकस्मिक चोर-समागम से देवदत्त का वध । अजाकृपाणीय । आती हुई अजा = बकरी पर कृपाण = लकड़ार गिरने से जैसा आकस्मिक वध हुआ तद्वत् मरण यही फलितार्थ है । अर्थात् सादृष्टिक अभिन्नितोपपन्न घटनाविशेष में इन न्यायों का प्रयोग होता है ।

२०६२ शर्करादिभ्योऽण् ५।३।१०७।

शर्करेव शर्करम् ।

इयार्थ = सादृश्य में शर्करादिगण पठित शब्दों से उत्तर अण् प्रत्यय होता है । नङ्ग को शर्करा कहते हैं, शर्करा सदृश में अण् शर्करम् ।

२०६३ अङ्गुल्यादिभ्यष्टक् ।

अङ्गुलीय आङ्गुलिक । मरुजेव मारुजिकः ।

अङ्गुल्यादि शब्द से पर सादृश्य अर्थ में कन् प्रत्यय होता है । आङ्गुलिक ।

२०६४ एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम् ५।३।१०९।

एकशालाशब्दादिष्वर्थे ठञ्वा । पठे ठक् । एकशालेज एकशालिक । एकशालिक ।

एकशाला शब्द से इयार्थ में ठञ् विकल्प से होता है, पठे में ठक् भी होता है ।

२०६५ कर्कलोहितादीकृक् ५।३।११०।

कर्क शुक्रोऽयम् । स इव कार्कीकः । लौहितीकः = स्फटिकः ।

सफेद घोड़ावाचक कर्क से एवं स्फटिकवाचक लोहित शब्द से इवार्थ = सादृश्य अर्थ में ईकक् प्रत्यय होता है ।

२०६६ पूगान् ज्योऽग्रामणीपूर्वात् ५।३।१११

इवार्थो निवृत्तः । नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽथकामप्रधानाः सङ्घाः = पूगास्तद्वाचकात्स्वार्थे ज्यः स्यात् । लोहितध्वजः ।

ग्रामणी शब्द पूर्व में न रहते पूगवाचक शब्द से पर इवार्थ में व्यप्रत्यय होता है । इस सूत्र में इवार्थ = सादृश्य की निवृत्ति हुई । भिन्न भिन्न जातियों से युक्त, एवं निश्चित जीविका से रहित अर्थ-कामना के प्राधान्य से युक्त जो संघ = अर्थात् समूह उसको पूग कहते हैं । लोहित = रक्तवर्ण युक्त ध्वज = झण्डा से युक्त = लोहितो ध्वजो यस्य सप्तस्य स लोहितध्वजः स एव लोहितध्वजः ।

विमर्श—इस प्रयोग से प्राचीन भारतीय समाज का एक वर्ग की सेना ऐसी थी, जिनका लाल झण्डा रहा, एवं अर्थ-कामना-प्राधान्य युक्त से ईश्वरभक्तिबहिर्मुख वह संघ सेना का था एवं उन सैनिकों को निश्चित जीविका वेतनदानादि न रही । ‘कमन्यूट’ पार्टी का उद्भव स्थान सर्वप्रथम भारत में रहा । बाद में रूस आदि देशों में उसका प्रचार हुआ । यह इससे स्पष्ट सिद्ध होता है । लाल ध्वज चिह्न एवं ईश्वरभक्ति-बहिर्मुख एक समाज भारत में रहा । बौद्धधर्म का उद्भव स्थान भारत एवं समाजवाद साम्यवाद आदि सभीवादों का उद्भवस्थान महान् देश यह भारत रहा । यहां से ही विश्व में अनेक मतान्तर गये हैं । वह अनेक वाद अच्छे हैं या नहीं वह यहां विवेचनीय विषय नहीं है । पूग से स्वरूप-ग्रहण नहीं है ‘अग्रामणीपूर्वात्’ यह वचन से । पूर्वशब्द अवयववाचक है । देवदत्तकः ।

२०६७ व्रातच्छ्फिजोरक्षियाम् ५।३।११२।

व्रातः = कापोतपाक्यः । च्छ्फज्—कौञ्जायन्यः । ब्राध्रायन्यः ।

खील्लि से भिन्न अर्थ में व्रातवाचक एवं च्छ्फज् प्रत्ययान्त से व्य प्रत्यय होता है । व्रात का उदाहरण कापोतपाक्यः = कपोत का पाक है जीविकासाधन जिनका शरीर के आयास = परिश्रम से जीवन निर्वाह करने वालों को व्रात कहते हैं । उत्तेषजीवित्वन् = व्रातत्वन् । उत्तेषः = शरीरायासः । यह पूग से इसका भेद है । च्छ्फज् प्रत्ययान्त से व्य का उदाहरण—कौञ्जायन्यः । ब्राध्रायन्यः । यहां गोत्र में च्छ्फज् प्रत्यय ‘गोत्रे कुञ्जादिन्यः’ से हुआ है ।

२०६८ आयुधजीविसङ्घान् ज्यङ् वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् ५।३।११४।

वाहीकेषु च आयुधजीविसङ्घस्तद्वाचिनः स्वार्थे ज्यङ् । क्षौद्रक्यः । मालव्यः । टित्त्वाम्हीप् । क्षौद्रकी । आयुषेति किम्, मल्लाः । सङ्घेति किम्, सम्राट् । वाहीकेषु किम्, शवराः । अब्राह्मणेति किम्, गोपालकाः । शालङ्कायनाः । ब्राह्मणे तद्विशेषग्रहणम् । राजन्ये स्वरूपग्रहणम् ।

वाहीक में जो आयुधजीवियों का समूह उसका वाचक जो शब्द उससे स्वार्थ में व्य प्रत्यय होता है किन्तु वह शब्द ब्राह्मणराजन्य न हो तब । क्षुद्रक से व्य प्रत्यय आदि, वृद्धि आकार लोप क्षौद्रक्यः । मालव्यः । खील्लि से लोप् एलस्तद्धितस्य से यलोप क्षौद्रकी । मल्लाः वे आयुध

जीवी वाचक नहीं। सम्राट् सय वाचक नहीं। शबरा वे बाहीक में नहीं है। गोपालरा माक्षण विषयक है यहा माक्षणविशेष का ग्रहण शिष्टोक्त व्याख्यान से है। राजन्य में स्वस्वरूपग्रहणमात्र है यहा शाहकायना।

२०६९ वृकाहेण्यण् ५।३।११५।

आयुधजीविसयवाचकात्स्वार्थे। वार्केण्य। आयुधेति किम्, जातिशब्दा न्मा भूत्।

आयुध से जीवन निर्वाह करने वाली के समूह वाचक जो वृकशब्द उससे पर स्वार्थ में हेण्यण् प्रत्यय होता है। वृक एण्य आदि वृद्धि आर् अलोप वार्केण्य। आयुधजीवि जो नहीं है किन्तु वाचक जो शब्द है वृकत्व प्रवृत्ति निमित्त उससे यह प्रत्यय होता है।

२०७० दामन्यादित्रिगर्तपष्ठाच्छः ५।३।११६।

दामन्यादिभ्यस्त्रिगतपष्ठेभ्यश्चायुधजीविसङ्घवाचिभ्य स्वार्थे छ स्यात्। त्रिगर्त पष्ठो वर्गो येपान्ते त्रिगर्तपष्ठा।

आहुक्त्रिगर्तपष्ठास्तु कौण्डोपरवादाण्डकी।

कौण्डकिर्जाकमानिश्च त्रिगुप्तोऽय आककि ॥

दामनीय। दामनीयौ। दामनय। औलपि औलपीय। त्रिगर्त-त्रिगर्तीय। कौण्डोपरधीय। णण्डकीय।

आयुध जीवि सय वाचक दामन्यादि, एव त्रिगर्तपष्ठ शब्दों से स्वार्थ में छप्रत्यय होता है। सूत्र में समाहार द्वन्द्व से पञ्चमी है। आयुध जीवियों से वस्तुगतवर्ग है। यह वर्ग तो त्रिगर्त है। त्रिगर्त पष्ठ कौन है यह होगी आकाङ्क्षा उसकी पूर्ति के लिए प्रत्यकार कह रहे हैं—कौण्डोपरध, दाण्डकी, कौण्डकि, जाकमानि, त्रिगुप्त, आककि वे शब्द त्रिगत कहे जाते हैं। छप्रत्यय—दामनीय। औलपीय। त्रिगर्तीय। त्रिगर्त में प्रथम शब्द एव पञ्चम शब्द जो है वे शिवादिप्र प्रयुक्त अण् प्रत्ययात् है, अय इय प्रत्ययात् है। कौण्डोपरधीय। दाण्डकीय। बहुवचन में कौण्डोपरधा यही हाता है तद्वतत्वं प्रयुक्त प्रत्ययवृत्ता लुक्। दाण्डक्य। यही हुआ। दामनय आदि रूप होते हैं। आककि या आककि द्विविधपाठ मिलते हैं।

२०७१ पश्चादियौधेयदिभ्योऽणञौ ५।३।११७।

आयुधजीविसङ्घवाचिभ्य एभ्य क्रमादणञौ स्त स्वार्थे। पार्श्व। पार्श्वौ। पार्श्व। यौधेय। यौधेयौ। यौधेया।

आयुधजीविसयवाचक पश्चादि से एव यौधेय दि से कमश स्वार्थ में अण् एव अण् प्रत्यय होते हैं। जनपद वाचकपञ्चमशब्द है, उससे अपत्य में अण् प्रत्यय द्वयभ्यस्य ॥ हुआ, बहुवचन में तद्वराजत्व प्रयुक्त लुक्। पुन सय विवक्षा में पशु से इस सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ उसी अण् का भी बहुवचन में तद्वराजत्व प्रयुक्त लुक् हुआ। बहुवचन में पश्व। यौधेय यहा शुष्यते असी शुधा इगुपथ लक्षण वप्रत्यय लुङ करने वाली सी, उसका अपत्य शुधाया अपत्यम् 'दधच' से ढक यौधेय से सय विवक्षा में इससे अण् प्रत्यय है। यहा मूल प्रकृति यौधेय है। अत बहुवचन में वृथ्व रूप का स्वरूप नहीं है। आदि उदात्त यौधेय शब्द है।

२३ सि० द्वि०

२०७२ अभिजिद्विदभृच्छालावच्छिखावच्छमीवद् ऊर्णावच्छु-
मदणो यञ् ५।३।११८।

अभिजिदादिभ्योऽणन्तेभ्यः स्वार्थे यञ् स्यात् । अभिजितोऽपत्यम् अभि-
जित्यः । वैदभृत्यः । शालावत्यः । शैखावत्यः । शामीवत्यः । और्णावत्यः ।
श्रौमत्यः ।

अभिजित्, विदभृत्, शालावत्, शिखावत्, शमीवत्, ऊर्णावत्, श्रुमत् इन अण् प्रत्ययान्त शब्दों
से पर स्वार्थ में यञ् प्रत्यय होता है । अभिजित का अपत्य अभिजित उससे यञ् अभिजित्यः ।
विदभृत् अण् यञ् वैदभृत्यः । उसी प्रकार इन अणन्त से यञ् में पूर्वोक्त रूप हुए ।

२०७३ ज्यादयस्तदराजाः ५।३।११९।

पूगाञ् व्य इत्यारभ्य उक्ता एतत्संज्ञाः स्युः । तेनास्त्रियां बहुषु लुक् ।
लोहितध्वजाः । कपोतपाकाः । कौश्लायनाः । ब्राधायनाः ।

‘पूगाञ्’ सूत्र के व्य से आरम्भ कर कहे गये जो प्रत्यय उनकी तदराज संज्ञा होती है । अतः
‘तदराजस्य बहुषु’ से बहुत्व में स्त्री भिन्न में तदराज संज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है । ‘पूगाञ्’ से
से विहित प्रत्यय का लुक् ‘लोहितध्वजाः’ आदि ।

२०७४ पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च ५।४।१।

लोपवचनमनंमिक्तित्वार्थम् । अतो न स्थानिवत् । पादः पत् । ‘तद्धितार्थे’
इति समासे कृते प्रत्ययः । वुन्नन्तं स्त्रियामेव । द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकाम् ।
द्विशतिकाम् । पादशतग्रहणमनर्थकम् , अन्यत्रापि दर्शनात् । द्विमोदकिकाम् ।

संख्यावाचक शब्द पूर्व में रहते पाद एवं शत शब्द से पर वीप्सा में वुन् प्रत्यय होता है,
एवं पाद तथा शत इनका अन्त्यवर्ण का लोप होता है । इस सूत्र से जो अन्यवर्ण का लोप होता
है वह किस निमित्त को मानकर नहीं है । अतः परनिमित्तकत्व का अभाव होने से इस लोप
का स्थानिवद् भाव नहीं होता है । अतः पादशब्द के स्थान में ‘पादः पत्’ से पदादेश हुआ ।
‘द्वौ द्वौ पादौ ददाति’ तद्धितार्थ के विषय में समास करने पर प्रत्यय हुआ, वुन् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग
है । सूत्र में पाद शत ग्रहण व्यर्थ है क्योंकि अन्यत्र भी वुन्नन्त प्रयोग दिखा गया है । यथा द्वौ
द्वौ मोदकौ ददाति द्विमोदकिकाम् वीप्सारूपार्थं वुन् घोट्य है बाधिकी तदर्थ की यद्यपि प्रकृति
ही है ।

२०७५ दण्डव्यवसर्गयोश्च ५।४।२।

वुन् स्य त ! अवीप्सार्थमिदम् । द्वौ पादौ दण्डितः । द्विपदिकां द्विशतिकां
व्यवसृजति = ददातीत्यर्थः ।

दण्ड एवं दान अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है । यह सूत्र अवीप्सार्थ है । क्रियासाकल्येन
सम्बन्धुमिच्छा वीप्सा तदभिन्न में इसकी प्रवृत्ति होती है । द्विपाद से वुन् अकार लोप, अकादेश
टाप् इव द्विपदिकाम् । यह दण्ड का उदाहरण है । अपरोदाहरण दान का है ।

२०७६ स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन् ५।४।३।

जातीयरोपवाद । स्थूलक । अणुक । ॐ चञ्चद्बृहत्तोरुपसख्यानम् ॐ ।
चञ्चत्क । बृहत्क । ॐ सुराया अहौ ॐ । सुरावर्णोऽहि सुरक ।

स्थूलादि शब्द के पर में सादृश्यार्थ में चातीयर प्रत्यय को बाधकर कन्प्रत्यय होता है ।
स्थूल सदृश स्थूलक । अणुसदृश अणुक । चञ्चत् एव बृहत् से कन् प्रत्यय होता है सदृशार्थ
में । सुरा = मदिरा तत्सदृश सर्प इस अर्थ में कन् प्रत्यय से सुरक । केज से हत्व हुआ ।

२०७७ अनत्यन्तगतौ क्तात् ५।४।४।

छिन्नकम् । भिन्नकम् । अमिन्नकम् ।

अनत्यन्तगति में क्तान्त से कन् प्रत्यय होता है । अन्त कहते हैं विराम को अन्तम् = विरामम्
अतिक्रान्ता अत्यन्ता सा चासी गतिश्च अत्यन्तगति सा न भवति यत्र अनत्यन्तगति दिवामवन
व्यापारजन्य जो कर्म काष्ठादि अर्थ में छिदिर से क्त प्रत्यय कर्म में हुआ । दकार तकार को
नकारादेश छिन्न हुआ ईषत् छिन्न में अनत्यन्तगतिरूप अर्थ प्रतीयमान है कन् प्रत्यय हुआ
छिन्नकम् । इषद् मिन्नम् मिन्नकम् । क्तप्रत्यय को जो प्रकृति तद्दान्या जो क्रिया उससे क्तप्रत्यय
वाच्य साधन = कारक को व्याप्ति को अत्यन्तगति कहते हैं वह यथा नहीं है ।

२०७८ न सामिगचने ५।४।५।

सामिपठ्याये उपपदे क्तान्तान्न कन् । सामिगुनम् । अर्थगुनम् । अनत्यन्त-
गतेरिह प्रकृत्यैवाभिधानात्पूर्वेण कप्त प्राप्त । इदमेव निषेधसूत्रमत्यन्तस्वार्थि
कमपि क्तन ज्ञापयति । बहुतरकम् ।

सामि का अर्थ है आधा = अर्ध । सामिपठ्यायवाचक शब्द उपपद में रहते क्तान्त से कन्
प्रत्यय नहीं होता है । यहाँ अर्धार्थक प्रकृति से ही अनत्यन्तगतिरूप अर्थ प्रतीयमान होने से
'वक्तव्यानामप्रयोग' वाद से तदर्थ में कन् अप्राप्त है, पुन कन् निषेधक यह सूत्र क्यों किया ?
यह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अत्यन्त स्वाधिक भी कन् प्रत्यय होता है । यथा बहुतर से
कन् । वस्तुतः सामिगुन शब्दकान्ततदादि यही है अतः यह अत्यन्त स्वाधिक कन् में ज्ञापक एव
निषेधक ही है । पूर्व सूत्र का निषेध नहीं है ।

२०७९ बृहत्या आच्छादने ५।४।६।

कन् स्यात् । 'द्वौ प्रावारात्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा' । आच्छादने
किम्, बृहती छन्द ।

आच्छादन अर्थ में बृहती शब्द से कन् प्रत्यय होता है । बृहतिका शब्दार्थ का निर्देयनवर
णार्थक वृज् धातु से करण में घञ् प्रत्यय से वार 'वृणेतेराच्छादने' भुव से घञ प्रत्यय प्रविष्टते
इति 'प्रावार' उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये से प्रके अकार का दोष हुआ है । ऊर्ध्वभाग में आसजन
कर्मभूत वञ् उपरिवस्त्र । बृहती = वसनान्तरे = दोहर । उपरिभाग में ओदने का वक्षविशेष में
कन् हत्व बृहतिका । छन्दोविशेष में वृहतीच्छ ।

२०८० अपडक्षाक्षितङ्म्वलङ्कर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात्सः ५।४।७।

स्वार्थे । अवटक्षीणो मन्त्र । द्वाभ्यामेव कृत इत्यर्थे । आशिता गावोऽ-
स्मिन्निति आशितङ्गवीनम् अरण्यम् । निपातनात् पूर्वपदस्य सुम् । अलङ्कर्मणे

अलङ्कर्मिणः । अलंपुरुषीणः । ईश्वराधीनः । नित्योऽयं ख; उत्तरसूत्रे विभाषा ग्रहणात् । अन्येऽपि केचित्स्वार्थिकाः प्रत्यया नित्यामप्यन्ते—तमत्रादयः प्राक्कनः, व्यादयः प्राग्वुनः, आमादयः प्राङ्मयटः, बृहतीजात्यन्ताः समासान्ताश्चेति ।

अपठक्ष, आशितहु, अलङ्कर्मन्, अलंपुरुष एवं अधिशब्द है उत्तर पद में जिसको ऐसा शब्द इनसे स्वार्थ में ख प्रत्यय होता है । यहां अधिशब्द नेत्र वाचक नहीं है किन्तु शब्द प्राइक श्रोत्रेन्द्रिय = कर्णपरक है । छः कानों तक न गया हुआ मन्त्र अर्थात् दो मनुष्यों से चिन्तित या विचरित अर्थ में—अविद्यमानानि पठक्षीणि यस्मिन् यस्मिन् इति बहुव्रीहि समासनिष्पन्न अपठक्ष है यह पच् प्रत्ययान्त है, 'बहुव्रीहो सकृद्व्यङ्गोः' से । तदन्त से ख प्रत्यय ईनादेश अकारलोपणत्व अपठक्षीणो मन्त्रः । छः कान पर कोई बात जाती है वह फूट जाती है । 'पट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः, चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत् । तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पट्कर्णं वर्जयेत् सुधीः ॥' राजनीति में मन्त्र गोपन का अतीव महत्व है । भोजनार्थक अश्धातु से प्यन्तात् क प्रत्यय आशित = भोजन करवायी गईं जो गायें । आशिताः गावो यस्मिन् अरण्ये यहां—आशितगो से ख प्रत्यय एवं पूर्व पद को सुमागम उसका अनुस्वार परसवर्ण से आशितद्गवीनन् = अरण्यन् । जिस वन में स्वामिद्वारा भोजन करायी गईं गायें हैं वह अरण्य आशितद्गवीन कहते हैं । अरण्य अर्थ में प्रत्यय हुआ है, अन्यपदार्थ प्रधान बहुव्रीहि है यहां अन्यपदार्थ अरण्य है । प्रकृत्यर्थ ही अरण्य है अतः स्वार्थ में ही प्रत्यय हुआ ।

अलङ्कर्मन् से ख प्रत्यय अलङ्कर्मिणः । कार्य करने में पर्याप्त = समर्थ । अलंपुरुषीणः । पर्यादयः से चतुर्थीसमास । पुरुष के लिए पर्याप्त । ईश्वरे अधि, शौण्डादिगण में अधिका पाठ है समास ख प्रत्यय ईश्वराधीनः । ईश्वर एवं अधि का विग्रह नहीं होता है विना विग्रह समास स्वरूप निर्णय नहीं, अधिशब्द समास में उत्तरपद नहीं तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होगी यह शङ्का कर मगवान् भाष्यकार ने पूर्वपक्ष में सधीनर् प्रत्यय विधान किया ईश्वर सप्तम्यन्त से सधीनर् सकार की इत् संज्ञा रेफ की इत्संज्ञा 'ईश्वराधीनः' बनाकर शङ्का की सकार की इत्संज्ञा न होगी ।

अतः प्रत्ययान्तर विधान उचित नहीं है एवं सूत्र भेद भी अनुचित है ततः यथाश्रुतन्यास कर विग्रह नहीं होता है । उसमें कारण यह है कि नित्यसमास में स्वपद विग्रह कथमपि नहीं होता है । यह खप्रत्यय नित्य प्रत्यय है । कौन से नित्य प्रत्यय है पतदर्थ जिज्ञासा निवृत्ति के लिए परिगणन किया है—'अतिशायने' के तमप् से लेकर 'अवक्षेपणे' के कन् तक, पूगात् के व्य से लेकर 'पादशत' के बुन् के पूर्वतक । 'किनेत्तिट्' के आन् से मयट् के पूर्व तक । वृद्ध्या आच्छादने के कन् अपठक्ष का ख प्रत्यय, जात्यन्ताच्छ से विहित छ प्रत्यय एवं अन्य समासान्त प्रत्यय वे नित्य हैं । इनके विषय में महाविभाषा का सम्बन्ध नहीं । एवं विग्रह बोधक वाक्य भी नहीं होता है ।

प्रकृत में अण्युत्तर पदयुक्त प्रकृति ही नहीं है ख प्रत्ययान्त ईश्वराधीन का ही प्रयोग होता है । ईश्वरे इति ईश्वराधीनः ।

२८१ विभाषाश्चरदिक् स्त्रियाम् ५।४।८।

अदिक् स्त्रीवृत्तेरञ्जत्यन्तात् प्रातिपदिकात् खः स्याद् वा स्वार्थे । प्राक् = प्राचीनम् । प्रत्यक् = प्रतीचीनम् । अवाक् = अवाचीनम् । निकृष्टप्रतिकृष्टावरेफ-

यात्यावमाधमाः । अर्धन्तमश्नतीति अर्वाक् अर्वाचीनम् । अदिक् स्त्रिया किम् , प्राची दिक् । उदीची दिक् । दिग् ग्रहण किम् , प्राचीना ब्राह्मणी ! स्त्रीग्रहणं किम् , प्राचीन ग्रामादाघ्नः ।

दिक् रूप स्त्री वृत्ति न हो ऐसे विन् प्रत्ययान्त मञ्जुषात्वन्त प्रातिपदिक उससे ख प्रत्यय होता है विकल्प से स्वार्थ में । निष्कृष्ट आदि शब्द अघम = नीचार्थक है । अर्धन्त शब्द नीचार्थक है । नीच के प्रति गमनशील को अर्वाक् कहते हैं । इन सभी शब्दों से ख प्रत्यय स्वार्थ में हुआ — प्राक् = प्राचीनम् आदि इनमें अर्थभेद नहीं है । दिक् रूप स्त्री वृत्ति होने पर प्राची दिक् । उदीची दिक् । दिक् शब्द के ग्रहण करने से प्राचीना ब्राह्मणी वहाँ प्रत्यय हुआ यह प्रयोजन दिक् का है । नहीं तो अस्त्री वृत्ति न होने से प्रत्यय नहीं होता । स्त्री ग्रहण क्यों किया ? प्राचीन ग्रामाद आघ्न वहाँ प्रत्यय हुआ ।

२०८२ जात्यन्ताच्छ बन्धुनि ५।४।९।

ब्राह्मणजातीयः । बन्धुनि किम् , ब्राह्मणजातिः शोभना । जातेव्यञ्जक द्वय बन्धु ।

जाति का अभिव्यञ्जक जो द्वय उसको बन्धु कहते हैं । बन्धुअर्थ में जात्यन्त शब्द से छप्रत्यय होता है । ब्राह्मणजातीय । वहाँ ब्राह्मण शब्द मात्र प्रधान अर्थात् ब्राह्मणत्व जातिपरक है । ब्राह्मणत्वन् जा तर्कस्य स ब्राह्मण जाति छप्रत्यय से ब्राह्मणत्व जात्याचार पिण्ड यह अर्थ हुआ अर्थात् ब्राह्मण है । षष्ठीतत्पुरुष में ब्राह्मणस्य जाति वहाँ बन्धु अर्थ की अप्रतीति है । प्रत्यय न हुआ ।

२०८३ स्थानान्ताद् विभाषा सस्थानेनेति चेत् ५।४।१०।

सस्थानेन = तुल्येन चेत् स्थानान्तरम् अर्थरद् इत्यर्थः । पितृस्थानीयः । पितृस्थानः । सस्थानेन किम् , गोः स्थानम् ।

तुल्य = समुद्य अर्थ में जो स्थान शब्द तदन्त से विकल्प से छप्रत्यय होता है । पिता के तुल्य पितृस्थानीय । पितुरिव स्थानमस्य पितृस्थान = पितृतुल्य । गो का स्थान = निवास का अधिकरणप्रदेश, वहाँ वाक्य ही रहा गो स्थानम् ।

२०८४ अनुगादिनष्टक् ५।४।१३।

अनुगदतीत्यनुगादी । स एवानुगादिकः ।

अनुपूर्वक गदधातु से णिनि प्रत्यय 'अप्यपातो' से हुआ है, यह ठक् नित्य है, केवल प्रकृति स्वरूप प्रदर्शनार्थ प्रकृति का उपादान है । केवल प्रयोगार्थ शब्द नहीं है । अनुगदति अनुगादिन् ठक् इकादेशादि आनुगादिकः ।

२०८५ विसारिणो मत्स्ये ५।४।१६।

अण् स्यात् । विसारिणः । मत्स्येति किम् , विसारी देवदत्तः ।

मत्स्यरूप अर्थ में विसारिन् शब्द से अण् प्रत्यय होता है । णिनि प्रत्ययान्त विसारिन् जो मत्स्यायक है उससे अण् विसारिणो मत्स्ये । मत्स्य से विज्ञायक में देवदत्तो विसारी इत्येव भवति ।

२०८६ संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ५।४।१७।

अभ्यावृत्तिः = जन्म । क्रियाजन्मगणनवृत्तेः संख्याशब्दात् स्वार्थे कृत्वसुच् स्यात् । पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । संख्यायाः किम् भूरिवारान् भुङ्क्ते ।

क्रिया की जो उत्पत्ति उसकी जो गणना उसमें वृत्ति जो संख्या वाचक शब्द उससे स्वार्थ में कृत्वसुच् प्रत्यय होता है । दिवस में पाँच बार वह भोजन करता है यहाँ क्रियागत उत्पत्तिगत संख्यावाचक पञ्चन् से कृत्वसुच् प्रत्यय हुआ पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । अनेकवार दिन में वह खाता है इत अर्थ में भूरिवारान् भुङ्क्ते यहाँ भूरिवार शब्द संख्यावाचक न होने से कृत्वसुच् न हुआ ।

२०८७ द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५।४।१८।

कृत्वसुचोऽपवादः । द्विर्भुङ्क्ते । त्रिः । रात्सस्य । चतुः ।

वृत्वसुच् प्रत्यय को वाधकर द्वि, त्रि एवं चतुर् शब्द संख्या वाचक रहते इन शब्दों से उत्तर सुच् प्रत्यय होता है ।

दिन में दो बार वह खाता है द्विर्भुङ्क्ते यहाँ सुच् = स् रू-रेफ । अव्यय संज्ञा त्रिर्भुङ्क्ते । चतुर्भुङ्क्ते यहाँ रेफ के बाद जो सुच् का सकार था उसको लोप हुआ रात्सस्य सूत्र से । भोजन पदार्थ क्या है—गलबिलाधः संयोग जनक व्यापार है । खाद्य पदार्थ को मुख के भीतर जो गल में बिल है उसके नीचे = भीतर ले जाने का व्यापार भोजन है ।

२०८८ एकस्य सकृच्च ५।४।१९।

सकृदित्यादेशः स्याच्चात् सुच् । सकृद् भुङ्क्ते । संयोगान्तस्येति सुचो लोपः नतु हलङ्याबिति, 'अभैत्सीत्' इत्यत्र सिच इव सुचोऽपि तदयोगात् ।

एक शब्द के स्थान में सकृत् आदेश होता है । चकार से सुच् भी होता है । सकृत् आदेश कर सुच् जो हुआ है उसके सकार का संयोगान्त लोप हुआ । यहाँ 'दृङ्याप्' की अप्राप्ति ही है । ति साश्चर्य से सिप् का ही सकार का वह लोप करता है अतः सिच् का लोप जैसे उसने न किया तथैव सुच् का भी लोप वह नहीं करता है ।

२०८९ विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले ५।४।२०।

अविप्रकृष्टः = आसन्नः । बहुधा बहुकृत्वो वा दिवसस्य भुङ्क्ते । आसन्नकाले किम्, बहुकृत्वो मासस्य भुङ्क्ते ।

आसन्नकाल में बहुशब्द से विकल्प धा प्रत्यय होता है । पक्ष में कृत्वसुच् प्रत्यय होता है । रूपद्वय हुए-बहुधा । बहुकृत्वः । आसन्न = समीप काल में अनेक बार भोजन में ही इसकी प्रवृत्ति होती है । अन्यथा नहीं मास में अनेक बार भोजन वह करता है यहाँ आसन्न काल नहीं प्रत्यय न हुआ ।

२०९० तत्प्रकृतवचने मयट् ५।४।२१।

प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतं तस्य वचनम् = प्रतिपादनम् । भावेऽधिकरणे वा ल्युट् । आद्ये—प्रकृतमन्नम् अन्नमयम् । अपूपमयम् । यवागूमयी, द्वितीये—अन्नमयो यज्ञः । अपूपमयं पूर्वं ।

प्राचुर्यं से जो प्रस्तुत हो उसको प्रकृत कहते हैं उसका वचन = प्रतिपादक की प्रकृतवचन कहते हैं। उसमें प्रातिपदिक से मयट् प्रत्यय होता है। वचन में भाव में स्तुट् है या अधिकरण में। भाव स्तुट् प्रत्ययान्त पक्ष में प्रकृतम् अन्नम् अन्नमयम्। यहाँ मयट् प्रत्यय हुआ। खी रहे यहाँ खीय। अधिकरण स्तुट्प्रत्ययान्त पक्ष में उच्यमानता प्रकृतता च प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। स्तुट्प्रत्यय जो अधिकरण है वह मयट् का अर्थ है। इसलिये विशेष्य के अधीन ही लिङ्ग होगा है। अन्न प्रकृतमुच्यते यस्मिन् इति अन्नमयो यश्च । प्रकृता अपूषा यस्मिन् पर्वाणि तद पर्व अन्नमयम्।

२०९१ समूहवच्च बहुषु ५।४।२२।

सामूहिका. प्रत्यया अतिदिरयन्ते। चान्मयट्। मोटकाः प्रकृताः मौदकिकम्। मोदकमयम्। शाकुलिकम्। शकुलीमयम्। द्वितीयेऽर्थे मौदकिको यज्ञ. मोदकमयः

बहुत्व अर्थ में समूहवत् प्रत्यय होते हैं, चकार से मयट् प्रत्यय भी होता है। वचन में भाव मयट् एवं अधिकरण मयट् से यहाँ भी दो अर्थ हैं। उपमागत से प्रकृत बोध्य रहे तक प्रत्यय होता है। स्वाधिक होने से प्रकृत्यर्थगत लिङ्ग एवं वचन होता है। द्वितीय में उच्यमानता एवं प्रकृतता प्रकृत्यर्थ में प्रकाराभूत है। स्तुट्प्रत्यय प्रायःप्रायः है। मौदकिकम्, शाकुलिकम्, यथा 'अविच्छिन्ति-धेनोदक' से ठक् प्रत्यय हुआ है। मोदका प्रकृता यस्मिन् यश्च मौदकिको यश्च । मोदकमयः ।

२०९२ अनन्ताप्तसथेतिहमेपजाज ज्यः ५।४।२३।

अनन्त एवानन्त्यम्। आसथ एवासथ्यम्। इति हेति निपातसमूहः। तिहाम्। भेपजमव भैपज्यम्। निपातनात् एकारः।

अनन्त, अवसथ, इति ह, भेपज इनसे पर स्वार्थ में ज्य प्रत्यय होता है। अनन्त एवं आनन्त्यम्। अवसथ एवासथ्यम्। निपात समुदाय से स्वार्थ में प्रत्यय अतीत घटनाओं का वल्लेख जिसमें रहे उसे ऐतिहास कहते हैं।

२०९३ देवतान्तात् तादर्थ्ये यत् ५।४।२४।

तदर्थ एव तादर्थ्यम्। स्वार्थे ध्वम्। अग्निदेवतायै इदम् अग्निदेवत्यम्। पितृदेवत्यम्।

देवतान्त शब्द के उत्तर तादर्थ्य में यत् प्रत्यय होता है। तदर्थ से स्वार्थ में ध्वम् से तादर्थ्य की सिद्धि हुई। अग्निश्च देवता च ताभ्यां इदम् = कर्म अग्निदेवत्यम्। पितरश्च ता देवता ताभ्यां इदम्। पितृदेवत्यम्।

२०९४ पादार्थम्याञ्च ५।४।२५।

पादार्थमुदक् पाद्यम्। अर्च्यम्। ऋ नयस्य नू आदेशः त्त्नप् तनप् स्वाश्च प्रत्यया वक्तव्याः ऋ नूतनम्। नूतनम्। नवीनम्। ऋनश्चपुराणे प्रात्। पुराणार्थे वर्तमानात् प्रशब्दान्तो वक्तव्यः। चात्पूर्वोक्ता। प्रणम्। प्रत्नम्। प्रतनम्। प्रीणम्। ऋ भागरूपनामधेयो घेयः ऋ। भागधेयम्। रूपधेयम्। नामधेयम्।

ॐ आग्नीध्रसाधारणादब् ॐ । आग्नीध्रम् । साधारणम् । स्त्रियां ङीप् । आग्नीध्री । साधारणी ।

पाद एवं अर्ध शब्द से यत् प्रत्यय होता है । पापम् अर्धम् । अर्धशब्द मूल्य एवं पूजा विधि में है ।

नव शब्द को स्थान में नू आदेश होता है । एवं उसके उत्तर त्नप्, तनप् एवं खप्रत्यय होता है । पूरणार्थक प्रश्नशब्द से पर न प्रत्यय होता है, एवं चकार से पूर्वोक्त प्रत्यय भी होते हैं । भाग, रूप, नाम हस्तसे उत्तर घेय प्रत्यय होता है स्वार्थ में । आग्नीध्र एवं साधारण शब्द के उत्तर अब् प्रत्यय होता है । स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होता है ।

२०९५ अतिथेज्यः ५।४।२६।

तादर्थ्य इत्येव । अतिथये इदम् आतिथ्यम् ।

अतिथि शब्द से तादर्थ्य में व्य प्रत्यय होता है । अतिथि के लिण यह कार्य में आतिथ्यम् । जिसके आगमन की तिथि प्रथम से निश्चित न हो उसको अतिथि कहते हैं । उसका सम्मान सत्कार करना गृहस्थ का धर्म है । न करने पर प्रत्यवाय लगता है । जिसके घर से अतिथि अस्तकृत जाता है वह पापयुक्त होता है । प्राचीन भारत में अतिथि सत्कार के लिए कभी कभी अपना सर्वस्व त्याग करते थे ।

२०९६ देवात्तल् ५।४।२७।

देव एव देवता ।

देवशब्द के उत्तर स्वार्थ में तल् प्रत्यय होता है । देव एव देवता । देवता शब्द के सन्बोधन में दो रूप होते हैं हे देवते हे देवत ! एवं सप्तमी के एक वचन में दो रूप देवते देवतायाम् । यद्वा 'अन्वार्थनयोर्हस्वश्च' सूत्र पर वार्तिक है कि विभक्ति एवं सम्बुद्धि में एस्व विकल्प से होता है । तल् प्रत्ययान्त शब्दशक्ति स्वभाव से स्त्रीलिङ्ग होता है ।

२०९७ अवेः कः ५।४।२८।

अविरेवाविकः ।

अविशब्द से स्वार्थ में कप्रत्यय होता है । अविकः ।

२०९८ यावादिभ्यः कन् ५।४।३०।

याव एव यावकः । मणिकः ।

यावादि शब्द से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है ।

२०९९ लोहितान्मणौ ५।४।३०।

लोहित एव मणिः लोहितकः ।

मणि अर्थ में लोहित शब्द से स्वार्थ में कप्रत्यय होता है ।

२१०० वर्णे चानित्ये ५।४।३१।

लोहितकः कोपेन । ॐ लोहिताल्लिङ्ग बाधनं वा ॐ । लोहितिका । लो-
हितिका कोपेन ।

अनित्यवर्ण होने पर ओहित शब्द से कन् प्रत्यय होता है। कोष से लाल वर्ण युक्त वह है। यदा लाल वर्ण स्थायी नहीं है कोष शान्त होने पर पूर्ण जो वर्ण था वही रहता है रक्तवर्ण मष्ट होता है। अन् अनित्य वह है। ध्वस का जो प्रतियोगी हो वह अनित्य है। ध्वस प्रतियोगित्वम् अ अनित्यत्वम्। ध्वस प्रतियोगित्व नित्यत्वम्। जिसका समाप्त रहे वह प्रतियोगी है। प्रतियोगी शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त है। सम्बन्ध का जो प्रतियोगी होता है। स्त्रीलिङ्ग में ओहित शब्द की विकल्प से लिङ्ग का वाच होता है। अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में 'वर्णादिनुदात्त' सूत्र से ओप् एव तकार को नकारादेश से ओहिनी बनता है कन् प्रत्यय करने पर लिङ्ग बोधक वार्त्ताभाव विकल्प से रूपश्च हुप।

२१०१ रक्ते ५।४।३२।

लाभादिना रक्ते यो लोहितशब्दस्तस्मात् कन् स्यात्। लिङ्गवाचन चेत्येष लोहितिका लोहिनिका शाटी।

छाद्यादि से रक्त अर्थ में विद्यमान ओहित शब्द से कन् प्रत्यय होता है। विकल्प से लिङ्ग वाचन भी होता है।

२१०२ कालाच्च ५।४।३३।

धर्णे चानित्ये, रक्ते इति द्वयम् अनुवर्तते। कालक मुख वैलक्ष्येण। कालक पट। फालिका शाटी।

अनित्य वर्ण में एव छाद्यादि रक्त होने पर काल से कन् प्रत्यय होता है। यदा वर्ण चानित्ये एव रक्त की अनुवृत्ति से पूर्वोक्तार्थ हुआ।

२१०३ विनयादिभ्यष्टक् ५।४।३४।

विनय एव वैनयिक। सामयिक। उपायो ह्रस्वत्वञ्च। औपयिक। स्वार्थ में विनय आदि प्रथमान् ने ठक् प्रत्यय होता है। समय एव सामयिक। उपाय शब्द से ठक् प्रत्यय एव उपाय के पा के आकार का ह्रस्व अकारादेश होता है।

२१०४ वाचो व्याहृतायाम् ५।४।३५।

सदिप्रार्थाया वाचि विद्यमानाद् वाक्शब्दात् स्वार्थे ठक् स्यात्। सदेशाद्वाग् वाचिक स्यात्।

सदिप्रार्थ वचन में विद्यमान वाक् शब्द से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय होता है। सदेशाद्वाग् वाचि कन् कहते हैं।

२१०५ तद्व्युक्तात् कर्मणोऽण् ५।४।३६।

कर्मैव कर्मणम्। वाचिक श्रुत्वा क्रियमाण कर्मैत्यर्थः। स्वार्थिक प्रत्यय में कही लिङ्ग एव वचन का व्यत्यास होता है वागौ दया सदेश सुनकर तद नन्तर क्रियमाण जो कर्मन् हस्तमें विद्यमान कर्मन् शब्द से स्वार्थ में प्रत्यय होता है। कर्मणम्। अन् से प्रकृतिभाव हुआ।

२१०६ ओपधेरत्वात् ५।४।३७।

स्वार्थेऽण । ओपधं पिबति । ओपधयः क्षेत्रे रुढाः ।

जाति मित्र अर्थ में ओपधि प्रथमान्त से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है । ओपधित्व जाति प्रवृत्तिनिमित्त जहां नहीं वह अण् का अभाव है ।

२१०७ प्रज्ञादिभ्यश्च ५।४।३८।

प्रज्ञ एव प्राज्ञः । प्राज्ञी स्त्री । दैवतः । बान्धवः ।

प्रज्ञादि शब्दों से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । स्त्री में ङीप् प्राज्ञी । देवता एव दैवतः । बन्धुरेव बान्धवः । ओगुणः से गुण हुआ है । प्रपूर्वक ज्ञा अवबोधने से क प्रत्यय आकार लोप उपपदसमास प्रज्ञः ।

२१०८ मृदस्तिकन् ५।४।३९।

मृदेव मृत्तिका ।

मृद् शब्द से स्वार्थ में तिकन् प्रत्यय होता है । मिट्टी अर्थ में मृत्तिका ।

२१०९ सस्नौ प्रशंसायाम् ५।४।४०।

रूपोऽपवादः । प्रशस्ता मृत् मृत्सा । मृत्स्ना । उत्तरसूत्रेऽन्यतरस्यां प्रहणान्नित्योऽयम् ।

प्रशंसा अर्थ में मृत् से स एवं स्न प्रत्यय होता है । मृत्सा । मृत्स्ना ।

२११० बहुलपार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् ५।४।४१।

बहूनि ददाति बहुशः । अल्पानि अल्पशः । बहुलपार्थात् मङ्गलामङ्गल-वचनम् ॐ । नेह—बहूनि ददत्यानिष्टेषु । अल्पं ददत्याभ्युदयिकेषु ।

बहु एवं अल्पार्थक कारको से पर शस् प्रत्यय विकल्प से होता है । वह अधिक देता है बहुशः । वह अल्प दान करता है अल्पशः । यहां वार्तिककार कहते हैं कि मङ्गल समय में अधिक दाता में ही बहुशः । एवं अमङ्गल अर्थात् अनिष्ट में अल्पदाता में अल्पशः होता है । अन्यथा नहीं । इससे विपरीत क्रम की प्रतीति में वाक्य ही रहता है । शस् नहीं होता है ।

२१११ संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ५।४।४२।

द्वौ द्वौ ददाति द्विशः । मापं मापं मापशः । प्रस्थशः । परिमाणशब्दा वृत्तावेकार्था एव । संख्यैकवचनात् किम्, घटं घटं ददाति । वीप्सायां किम्, द्वौ ददाति । कारकादित्येव । द्वयोर्द्वयोः स्वामी ।

वीप्सार्थ में संख्यावाचक शब्द एवं एकार्थ प्रतिपादक शब्द इनसे शस् प्रत्यय होता है । द्वौ द्वौ ददाति द्विशः यह शस् से वीप्सा उक्त है । मापम् मापम् मापशः । प्रस्थं प्रस्थं प्रस्थशः । परिमाण वाचक शब्द तद्धित प्रत्ययरूप वृत्ति में एकत्व संख्याविशिष्ट संख्येयार्थक ही है । घटं घटं ददाति यहां वाक्य ही रहा क्योंकि संख्येकवाचक घट शब्द नहीं है । वीप्सा की अप्रतीति से द्वौ ददाति । द्वयोः द्वयोः स्वामी यहां क्रिया जनक स्वरूप कारकत्व पष्ठयन्त को नहीं है । कारक छः है । पष्ठौ कारक विभक्ति नहीं है ।

२११२ प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ५।४।४३।

प्रतिना कर्मप्रवचनीयेन योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात् तसिः स्यात् । प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रति । ॐ आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् । आदौ आदितः । मध्यतः । अन्ततः । पृष्ठतः । पार्श्वतः । आकृतिगणोऽयं स्वरेण स्वरतः वर्णतः । कर्मप्रवचनीय प्रति के योग में जो पञ्चमी विहित है तदन्त से तसि प्रत्यय होता है । 'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' सूत्र से प्रति को कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा विहित है एवं 'प्रतिनिधि-प्रतिदाने च यस्मात्' कृष्ण से पञ्चमी है । तद से प्रातिपदिकत्वं प्रयुक्त पञ्चमी का लुक् कृष्णतः को अवयव संज्ञा है । सकार का रुक्त्विसर्ग । * आदि आदि शब्दों के वस्तर तसि प्रत्यय होता है । आदौ आदित आदि । आकृतिगण से स्वरतः वर्णतः यहां तृतीयान्त से तसि प्रत्यय हुआ ।

२११३ अपादाने चाहीयरुहोः ५।४।४५।

अपादाने या पञ्चमी तदन्तात् तसिः स्यात् । प्रामादागच्छति प्रामतः । अहीयरुहोः किम् , स्वर्गादधीयते । पयतादधरोहति ।

अपादान में विहित जो पञ्चमी तदन्त से तसि प्रत्यय होता है, हीय एवं हइ योग में नहीं । प्रामत । हीय, हइ के योग में वाक्य ही रहता है ।

२११४ अतिग्रहाव्ययनक्षेपेध्वकर्तरि तृतीयायाः ५।४।४६।

अकर्तरि तृतीयान्ताद्वा तसिः स्यात् । अतिक्रम्य ग्रहोऽतिग्रहः । चारित्र्ये-णातिगृह्यते = चारित्र्यतोऽतिगृह्याति । चारित्र्येणान्यान् अतिक्रम्य वर्तत इत्यर्थः । अव्ययनम् = अवचलनम् । वृत्तेन न व्ययते = वृत्ततो न व्ययते । वृत्तेन न चलतीत्यर्थः । क्षेपे—वृत्तेन क्षिप्तः = वृत्ततः क्षिप्तः । वृत्तेन निन्दित इत्यर्थः । 'अकर्तरि' इति किम् , देवदत्तेन क्षिप्तः ।

अतिग्रह, अव्ययन, निन्दा अर्थ में कर्तृकारक मित्र तृतीयान्त से विकल्प से तसि प्रत्यय होता है । अतिक्रम पूर्वक ग्रहण को अतिग्रह कहते हैं । अपने चारित्र्य से अन्यजनों को वल्लुन करके रहता वह है । यहां चारित्र्यतः हुआ । अव्ययन का अर्थ है अवचलन । वृत्त से च्युत नहीं होता है वृत्ततो न व्ययते । वृत्तेन क्षिप्तः = निन्दितः । वृत्त आचरण से निन्दापात्र । कर्तृ तृतीयान्त से देवदत्तेन क्षिप्तः यहां तसि न हुआ किन्तु वाक्य ही रहा ।

२११५ हीयमानपापयोगाच्च ५।४।४७।

हीयमानपापयुक्तादकर्तरि तृतीयान्ताद्वा तसिः । वृत्तेन हीयते, वृत्तेन पापः = वृत्ततः । क्षेपस्याविवक्षायामिदम् । क्षेपे तु पूर्वेण सिद्धम् । अकर्तरीति किम् देवदत्तेन हीयते ।

२ हीयमान एवं पापयुक्त कर्तृवाचक मित्र जो तृतीयान्त उससे विकल्प से तसि प्रत्यय होता है । आचरण से त्यक्त एवं आचरण से पापी अर्थ में वृत्ततः । निन्दा की अविवक्षा में यह सूत्र प्रवृत्त होता है । निन्दा में पूर्व सूत्र से ही तसि प्रत्यय होता है । कर्तृ तृतीयान्त से तसि का अभाव—देवदत्तेन हीयते ।

२११६ पृष्ठया व्याश्रये ५।४।४८।

पष्ठयन्ताद्वा तसिः स्यान्नानापक्षसमाश्रये । देवा अर्जुनतोऽभवन् ।

आदित्याः कर्गंतोऽभवन् । अर्जुनस्य कर्गस्य पक्षे इत्यर्थः । व्याश्रये किम्, वृक्षस्य शाखा विभिन्नपक्ष के अवलम्बन अर्थ में पष्ठयन्त पद से विकल्प तसि प्रत्यय होता है । देवगण अर्जुन के पक्षपाती हुए । अर्जुनतः । आदित्य कर्ग के पक्षपाती हुए कर्गंतः । जहाँ व्याश्रय नहीं वहाँ तसिका अभाव है यथा वृक्षस्य शाखा ।

२११७ रोगाच्चापनयने ५।४।४९।

रोगवाचिनः पष्ठयन्ताद्वा तसिश्चिकित्सायाम् । प्रवाहिकातः कुरु । प्रति-
कारंमस्याः कुवित्यर्थः । अपनयने किम्, प्रवाहिकायाः प्रकोपनं करोति ।

चिकित्सार्थ में रोगवाचक पष्ठयन्त से उत्तर विकल्प तसि प्रत्यय होता है । वित्तुचिका को प्रवाहिका कहते हैं । प्रच्छदिका वमनव्याधिको कहते हैं । वित्तुचिका को प्रतिकार की चिकित्सा तुम करो । अपनयन = दूरीकरण जहाँ नहीं वहाँ तसिका अभाव है । यथा प्रवाहिकायाः प्रकोपनं करोति ।

२११८ कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः ५।४।५०।

अभूततद्भावे इति वक्तव्यम'क्ष । विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतां
वर्तमानाद् विकारशब्दात् स्वार्थे च्विर्वा स्यात्करोत्यादिभिर्योगे ।

कृ भू अत् धातु निष्पन्नरूप के योग में विकारपना को प्राप्त हुई प्रकृति में वर्तमान विकार-
वाचक शब्द से पर विकल्प से च्वि प्रत्यय होता है । जो घटना नहीं हुई उसके कथन को अभूत-
तद्भाव कहते हैं । अभूत का भूतरूप से कथन अर्थात् मिथ्या कथन या तद्भाव में तदनकारक
ज्ञान का आरोप करना ।

२११९ अस्य च्वौ ७।४।३२।

अवर्णस्य ईत् स्यात् च्वौ । वेलोपः । च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम् । अकृष्णः
कृष्णः सम्पद्यते, तं करोति कृष्णीकरोति । ब्रह्मीभवति । गङ्गीस्यात् । अकृष्ण-
यस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम् । दोषाभूतमहः । दिवाभूता रात्रिः । एतच्चा-
व्ययीभावश्चेति सूत्रे भाष्ये उक्तम् ।

च्वि प्रत्यय पर रहते अकार एवं आकार के स्थान में ईकार होता है । च्वि प्रत्यय का सर्वा-
पहारी लोप होता है । प्रत्यय लक्ष्मण प्रदुक्त यहाँ च्वि प्रत्ययान्तत्व प्रयुक्त अव्यय संज्ञा । कृष्ण-
त्वगुणाश्रयद्रव्य का अभाव यहाँ है वह कृष्णत्व प्रकारक ज्ञान में कृष्णीभवति । च्वि, ईः । अव्यय
को च्वि प्रत्यय पर रहते ईत्व का अभाव ही रहता है । यह विषय अव्ययीभावश्च सूत्र के भाष्य
में चर्चित है ।

२१२० क्यच्व्योश्च ६।४।१५२।

हलः परस्यापत्ययकारस्य लोपः स्यात् क्वे च्वौ च परतः । गार्गीभवति ।

हल् से पर अपत्य अर्थ में विहित तद्धित प्रत्यय के यकार का लोप होता है । यच् प्रत्ययान्त
गार्गं शब्द से ह्रस्व करके च्वि प्रत्यय यकार का लोप हुआ ईत्व से ईकार के व्यवधान से 'आप-
त्य' से यलोप यहाँ अप्राप्त है ।

२१२१ चो च ७।४।२६।

चो परे पूर्वस्य दीर्घः स्यात् । शुचीभवति । पट्टस्यात् । अव्ययस्य दीर्घत्व नेति केचित् । तन्निर्मूलम् । स्वस्ति स्यादिति तु महाविभाषया च्वे-
भावात्सिद्धम् ।

स्वस्तीस्यादित्यपि पक्षे स्यादिति चेदस्तु । यदि नेष्यते तर्ह्यनभिधानात्
च्वरेव नोत्पद्यते इत्यस्तु । रीळ ऋतः । मात्रीकरोति ।

च्विप्रत्यय पर में रहते पूर्वपद के अन्य अच् का दीर्घ होता है । शुचीभवति । कोर् कहते हैं कि अव्यय का दीर्घ नहीं होता है । यह कथन निर्मूल है । महाविभाषा का अधिकार से च्वि का अभाव से 'स्वस्ति स्यात्' की सिद्धि होगी ही है । यदि पक्ष में दीर्घ इष्ट नहीं है तो अनभिधान मानना कहा है कि "यथाकृष्णन् अप्रयुक्ते" अप्रयुक्त कृष्ण में कृष्ण प्रवृत्ति का अभाव है, अर्थात् कृष्ण की प्रवृत्ति नहीं होगी । किन्तु से अप्रयुक्त निष्ठासा में शिष्टो द्वारा अकथित शब्द । यदि अनभिधान है तो 'स्वस्तीत्यात्' होता ही है ।

ऋकारान्त शब्द से 'रीळ ऋतः' से रीणदेश मात्रीकरोति इति ।

२१२२ अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहो रजसां लोपश्च ५।४।५१।

एषा लोपः स्यात् च्विश्च । अरुक्करोति । उन्मनीस्यात् । उच्चक्षूकरोति ।
विचेत्तीकरोति । विरहीकरोति । विरजीकरोति ।

अरुक्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस्, रजस् इत्येको च्विप्रत्यय होता है एवं सकार का लोप होता है । अस्य चो से रकार होता है ।

२१२३ विभाषासाति कात्स्न्ये ५।४।५२।

च्विप्रत्यये सातिर्वा स्यात् साकल्ये ।

च्विप्रत्यय के विषय में विकल्प से साति प्रत्यय होता है साकल्य अर्थ में ।

२१२४ सात्पदाद्योः ८।३।१११।

सस्य पदं न स्यात् । दधि सिञ्चति । कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यतेऽ-
ग्निसाद् भवति । अग्नीभवति । महाविभाषया वाक्यमपि । कात्स्न्ये किम् ,
एकदेशेन शुक्लीभवति पटः ।

इति ॥ पर साति प्रत्यय के सकार को एवं पदादि सकार को वक्षरादेश नहीं होता है । दधि सिञ्चति यद्वा 'आदेशप्रत्यययोः' से प्राप्त पत्व का इसने निषेध किया । सम्पूर्णशस्त्र अग्निस्वरूप होता है अग्निसाद् भवति यद्वा भी कल्पामात्र हुआ । पक्ष में च्वि दीर्घ अग्नीभवति । महा-
विभाषा से पक्ष में प्रत्ययरहित वाक्य भी होता है । साकल्य से भवन नहीं किन्तु एकदेश = एका-
दयव शुक्लत्व को प्राप्त हुआ वहाँ केवल च्वि एवं दीर्घ 'शुक्लीभवति पटः एकदेशेन' ।

२१२५ अमित्रिघौ सम्पदा च ५।४।५३।

सम्पदा कृभ्वस्तिमिश्र योगे सातिर्वा स्याद् व्याप्ती । पक्षे कृभ्वस्तियोगे
च्वि । सम्पदा तु वाक्यमेव । अग्निसात् सम्पद्यते । अग्निसाद् भवति शस्त्रम् ।

अग्नीभवति । जलसात् सम्पद्यते जलोभवति लवणम् । एकस्या व्यक्तेः
सर्वोवयवावच्छेदेनाऽन्यथा भावः = कात्स्न्यम् । बहूनां व्यक्तोनां किञ्चिद-
वयवावच्छेदेनान्यथात्वं त्वभिविधिः !

अभिविधि (व्याप्ति) में सम्पूर्वक पद धातु एवं कृ भू अस् धातुओं के योग में विकल्प से
साति प्रत्यय होता है । पक्ष में कृ, भू, अस् के योग में च्वि प्रत्यय होता है । सम्पूर्वक पद
धातु के योग में तो पक्ष में वाक्य ही रहता है ।

एक व्यक्ति का सर्वोवयव का अन्यथाभाव = वैपरीत्य को कात्स्न्य कहते हैं । अनेक व्यक्तियों में
एक का अन्यथा भाव के अभिविधि कहते हैं ।

२१२६ तदधीनवचने ५।४।५४।

सातिः स्यात् कृभ्रस्तिभिः सम्पदा च योगे । राजसात् कराति । राजसात्
सम्पद्यते । राजाधीनमित्यर्थः ।

उक्त अधिकार में है ऐसा कथन में कृ, भू, अस्, एवं सम्पूर्वक पद धातुओं के योग में
साति प्रत्यय होता है । राजा के अधीन करता है - राजसात् करोति आदि ।

२१२७ देये त्रा च ५।४।५५।

तदधीने देये त्रा स्यात् सातिश्च कृभ्वादियोगे । विप्राधीनं देयं करोति
विप्रत्रा करोति । विप्रत्रा सम्पद्यते । पक्षे विप्रसात् करोति । देये किम्, राजसाद्
भवति राष्ट्रम् ।

तदधीनरूप अर्थ में एवं दानकर्मरूप देय अर्थ में कृ, भू, अस् एवं सम्पूर्वक पद धातु के योग में
त्रा एवं साति प्रत्यय होता है ।

वह दान किया जन्म फलश्रय वस्तु अर्थात् देय को ब्राह्मण के अधीन करता है अर्थात्
अपना स्वत्व को निश्चित पूर्वक ब्राह्मण का उत्तर पर स्वत्व उत्पन्न करता है वह त्रा प्रत्यय एवं
साति प्रत्यय से विपुत्रा करोति । विप्रसात् करोति । देय नहीं वहाँ त्रा प्रत्यय नहीं । यथा
राष्ट्र राजा के अधीन प्रभाव से है यहाँ देय नहीं अतः 'राजसात्' यही हुआ ।

२१२८ देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्

५।४।५६।

एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यश्च त्रा स्यात् । देवत्रा वन्दे रमे वा ।
बहुलोक्तेरन्यत्रापि । बहुत्रा जीवतो मनः ।

द्वितीयान्त एवं सप्तम्यन्त देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु, मर्त्य इनसे पर त्रा प्रत्यय होता है ।
यथा देवत्रा वन्दे रमे वा । मूत्र में बहुल प्रदण से अन्यत्र गो त्रा प्रत्यय होता है । जीवन धारण
करने वाले मनुष्य का मन अनेक सांसारिक विषयों में लगा रहता है यहाँ बहुत्रा जीवतो मनः
हुआ । सूत्र में पुरुषशब्द बहुपर्याय है ।

२१२९ अव्यक्तानुकरणाद् द्वयज्वरार्थादनितौ डाच् ५।४।५७।

द्वयच् अवरं न्यूनं न तु ततो न्यूनम् अनेकाजिति यावत् तादृशम् अद्व

यस्य तस्माद्भाच स्यात् कृष्णस्तिभिर्योगे । ङाचि विवक्षिते द्वे बहुलम् ङ ।
 ङ नित्यमात्रेडिते ङाचीति वक्तव्यम् ङ : ङाच पर यदात्रेडित तस्मिन् परे
 पूर्वपरयोर्धनयोः पररूपं स्यात् । इति तकारपकारयो पकार । पटपट करोति ।
 अव्यक्तानुकरणात् किम्, टपत्करोति । द्वयनवराधात् किम्, अत्करोति ।
 अवरोति किम्, खरटखरटा करोति । त्रपटत्रपटाकरोति । अनेकाच इत्येव
 सूत्रयितुमुचितम् । एव हि ङाचीति परमप्रत्येव द्वित्वे सुवचेत्यवधेयम् ।
 अनितौ किम्, पटिति करोति ।

ह, अ अत धातुओं के योग में दो अच् से न्यून अर्धमाग न रहे अर्थात् अनेकाच् आधा भाग है
 जिसका ऐसा अव्यक्त अनुकरण प्रातिपदिक से पर ङाच् प्रत्यय होता है, किन्तु इति शब्द के
 योग में नहीं होता है ।

ङाच् प्रत्यय विवक्षित होनेपर बहुत करके दित्व होता है । ङाचि विषय सप्तमी है पर
 सप्तमी नहीं, अत ङाच् करने के प्रथम ही दित्व ङाच वे विषय में होता है । ङाच प्रत्यय परक
 जो आत्रेडित उससे पूर्ववर्ण एव आत्रेडित पर माग का आदि वर्ण का पररूप होता है । प्रकृत में
 तकार ५थ पकार का पररूप पकार हुआ है ।

ध्वनि का अनुकरण सट्टश शब्दार्थक अव्यक्त जो पट्ट उसका दित्व से पट्टपट्ट करोति ।
 यद्वा ङाच् टिका लोप पट्ट पटा करोति यद्वा 'तस्य परमात्रेडित्' से परमाग की आत्रेडित
 सहा तकार पकार का पकाररूप पर रूप पट्टपट्टकरोति । टपट्ट करोति यद्वा टपट्ट अव्यक्त
 अनुकरण नहीं है ।

पकाच् शब्द है । अत यद्वा अत्करोति यही रहा । न्यून द्वयच् नहीं है, यथा खरटखरटा
 करोति । यद्वा अनेकाच् यही पद करना चाहिये । एव ङाचि पर सप्तमी ही है, विवक्षित सप्तमी
 में प्रमागभाव है, माध्यकारने कहा है कि "तस्मिन्निति परिमाणायां आगस्कायां सत्यां
 सत्सप्तम्याश्रयणमुक्तम्" यद्वा सप्त पद अन्य सप्तमी का उपलक्षण है । दित्व में पर सप्तमी से
 ङाच् करने के बाद दित्व करना अधिक है । 'पटिति' यद्वा पट्ट इति टि = अच् के स्थान में पर
 इकाररूप हुआ है ।

२१३० कृओ द्वितीयतृतीयशम्बवीजात् कृषौ ५।४।५८।

द्वितीयादिभ्यो ङाच् स्यात् कृञ एव योगे कर्षणेऽर्थे । बहुलोक्तेरव्यक्तानु-
 करणादन्यस्य ङाचि न द्वित्वम् । द्वितीय तृतीय कर्षण करोति = द्वितीया
 करोति । तृतीया करोति । शम्बशब्द = प्रतिशोभ । अनुलोम कृष्ट क्षेत्र
 पुन प्रतिलोम कर्षति शम्बाकरोति । बीजेन सह कर्षति बीजाकरोति ।

➤ कृषिकर्म कर्षणरूप अर्थ में कृषातु के योग में द्वितीय, तृतीय, शम्ब, बीज इनसे पर ङाच्
 प्रत्यय होता है । पूर्वत्र बहुत ग्रहण से अव्यक्तानुकरण से अन्यत्र ङाच् प्रत्यय पर में रहते दित्व
 नहीं होता है । खेत को दूसरी बार या तीसरी बार हल द्वारा कर्षण करता है यद्वा ङाच् से
 द्वितीया करोति तृतीया करोति हुआ । खेत में उलटकर हलचलाकर कर्षण किया जाय इस अर्थ
 में शम्ब शब्द है । सीधा कर्षण किया हुआ खेत को उलट कर कर्षण में शम्बाकरोति खेत को बीज
 के साथ कर्षण करता है वह है बीजाकरोति ।

२१३१ संख्यायाश्च गुणान्तायाः ५।४।५९।

कृञो योगे कृषौ डाच् स्यात् । द्विगुणा करोति क्षेत्रम् । क्षेत्रकर्मकं द्विगुणं कर्षणं करोतीत्यर्थः ।

गुण शब्द है अन्त में जिसको ऐसा संख्यावाचक शब्द से पर कृधात्वर्थ क्रिया के योग में डाच् प्रत्यय होता है । खेत को दूना कर्षण करता वह है अर्थ में द्विगुणाकरोति डाच् प्रत्यय हुआ ।

२१३२ समयाच्च यापनायाम् ५।४।६०।

कृपाविति निधृत्तम् । कृञो योगे डाच् स्यात् । समया करोति = कालं यापयतीत्यर्थः ।

कृधातु के योग में समय शब्द से यापनार्थ में डाच् प्रत्यय होता है । समयाकरोति यहाँ टाच् प्रत्यय हुआ । कालयापन = समय बिताना है ।

२१३३ सपत्रनिष्पन्नादतिव्यथने ५।४।६१।

सपत्राकरोति मृगम् । सपुङ्खशरप्रवेशेन सपत्रं करोतीत्यर्थः । निष्पन्नाकरोति = सपुङ्खस्य शरस्यापरपार्श्वे निर्गमनान्निष्पत्र करोतीत्यर्थः । अतिव्यथने किम् , सपत्रं निष्पत्रं वा करोति भूतलम् ।

अत्यन्त पीड़ा अर्थ में कृधातु के योग में सपत्र एवं निष्पत्र से डाच् प्रत्यय होता है । सपत्राकरोति = पुङ्ख सहित बाण का प्रवेश कराकर मृग को सपत्र करता है । निष्पत्रा करोति = सपुङ्ख बाण को दूसरे पार्श्व में प्रवेश कराकर मृग को निष्पत्र करता है । अतिशय पीटा न होने पर भूतल को सपत्र करता है या निष्पत्र करता है वहाँ वाक्य ही रहता है ।

लक्ष्ये शराः पतन्ति अनेन इति पद्यम् । शराणां पुङ्खगती वर्धः ।

२१३४ निष्कुलान्निष्कोपणे ५।४।६२।

निष्कुलाकरोति दाडिमम् । निर्गतं कुलम् अन्तरवयवानां समूहो यस्मादति बहुव्रीहेर्डाच् ।

भीतरी अवयवों का वृद्धिः निस्तारणरूप निष्कोपण अर्थ में निष्कुल शब्द से पर टाच् प्रत्यय होता है । अनार के भीतरी समस्त दाने थे उसको बाहर निकालने का व्यापार वह करता है यहाँ 'निष्कुला करोति' होता है । यहाँ बहुव्रीहि समास है यथा—अन्तस्थ अवयवों का जिससे निष्काशन है निर्गतं कुलम् = अन्तरवयवानां समूहो यस्मात् यहाँ निष्कुल से डाच् हुआ ।

२१३५ सुखप्रियादनुलोम्ये ५।४।६३।

सुखाकरोति । प्रियाकरोति गुरुम् = अनुकूलाचरणेनानन्दयतीत्यर्थः ।

अनुकूलाचरणरूप अनुलोम्यार्थ में सुख एवं प्रिय से कृधातु के योग में टाच् प्रत्यय होता है । अनुकूल आचरण से गुरु को आनन्दित शिष्य करता है इस अर्थ में सुखा करोति डाच् हुआ ।

२१३६ दुःखात्प्रातिलोम्ये ५।४।६४।

दुःखाकरोति स्वाभिन्नम् = पीडयतीत्यर्थः ।

प्रतिह्लाचरण अर्थ में दुःख से बाच् प्रत्यय होता है । विपरीत आचरण से स्वामी को दुःखयुक्त वह करता है यद्वा बाच् दुःखाकरोति ।

२१३७ शूलात्पाके ५।४।६५।

शूलाकरोति मांसम् । शूलेन पचतीत्यर्थः ।

पाकरूप अर्थ में शूल से कृषातु के योग में बाच् प्रत्यय होता है । शूल से मांस को पकाता है यद्वा बाच् शूलाकरोति मांसम् । पच् बात्वर्थ = विविलिप्ति जनक व्यापार है । रूपान्तर प्राप्ति को विविलिप्ति कहते हैं । विविलिप्तिरूपकक अन्य है व्यापार उसका जनक है एवं व्यापार का जनक यद्वा कर्ता = वह है ।

२१३८ सत्यादशपथे ५।४।६६।

सत्याकरोति भाण्डं वणिक् क्लेशन्यमिति सध्य करोतीत्यर्थः । शपथे तु सत्यं करोति विप्रः ।

शपथ अर्थ न होने पर सत्य शब्द से कृषातु के योग में बाच् प्रत्यय होता है । क्लेशन करके वस्तु को सध्य करता है वणिक् = वैश्य इसमें 'सत्याकरोति' । यहाँ भाण्ड का अर्थ क्लेशन किया अन्यपक्षादय रत्नादि वस्तु समूह है । शपथ अर्थ में सत्य करोति विप्रः यद्वा बाच् न हुआ । मैं इसको खरीदूँगा एतदर्थ नवाना देकर सौदा पक्का करता है यद्वा ही सत्याकरोति । अन्यत्र नहीं ।

२१३९ मुद्रात् परिधापणे ५।४।६७।

मद्रशब्दो मङ्गलार्थः । परिधापणम् = मुण्डनम् । मद्राकरोति = माङ्गल्यं मुण्डनेन सस्करोतीत्यर्थः । ॐ मद्राच्चेति वक्तव्यम् ॐ । मद्राकरोति । अर्थः प्राग्वत् । परिधापणे किम्, मद्र करोति ।

इति स्वार्थिकप्रकरणम्

इति तद्धितप्रकरणं समाप्तम्

यद्वा मङ्गलार्थे मुण्डन सत्कार करता है = मुद्राकरोति मङ्गलार्थक मद्र से मुण्डन में बाच् प्रत्यय होता है । अर्थ इसका भी पूर्ववत् ही है । मुण्डन से मन्त्र मङ्गल वह करता है यद्वा 'मद्र करोति' हुआ । इसी प्रकार मद्र करोति । प्रकृत्यर्थ में होने वाले प्रत्ययों का प्रकरण समाप्त हुआ ।

स्वार्थिकप्रकरण समाप्त

एवं तद्धितप्रकरण समाप्त



अथ द्विरुक्तप्रकरणम्

२१४० सर्वस्य द्वे ८।१।१।

इत्यधिकृत्य ।

यह अधिकार सूत्र है । उत्तर पठित सूत्र में इसका सम्बन्ध है एवं कहेगा कि सम्पूर्ण पद का द्वित्व होता है । स्वयं कार्य न करके उत्तरत्र पठित शास्त्रों के साथ एकवाक्यता द्वारा अर्थ बोधक को अधिकार कहते हैं । यह सामान्य लक्षण है ।

विमर्ज—सर्वशब्द से स्वरूप ग्रहण यहां नहीं है नात्रेष्टितस्य सूत्रारम्भ सामर्थ्य से । वृक्षाभ्याम् यहां प्रकृतिमात्र पद संशक है, उसका द्वित्ववारणार्थ सर्वग्रहण है । यहां स्थाने द्विवचन पक्ष है । अतः द्विवचन युक्त समुदाय में स्थानिवद्भाव से पदत्व रहता है स्थाने द्विवचन पक्ष में । एवं सर्व द्विः उच्चारयेत् यह भी एक पक्ष है । उस पक्ष में अनस्तमितावयवक आदेश होता है अवयव गत नष्ट न होकर उसका द्विवार उच्चारण होता है—“द्विः प्रयोगो द्विवचनम्” उसी का केवल द्विवार उच्चारण है । प्रथम पक्ष में पदत्व निवन्धन कार्य अवयव नहीं होंगे, होना इष्ट है—अपचनद् अपचन् यहां पूर्व में डमुदागम होता है । वृक्षान् वृक्षान् में पदान्तत्व-प्रयुक्त णत्व-निषेध इष्ट है । ‘अग्रेऽग्रे’ में पदान्तत्व प्रयुक्त पूर्वरूप इष्ट है । पूर्वपक्ष स्थान्यादेश में ‘पयः पयः’ यहां सोऽपदादी से सत्त्वापत्ति आदि अनेक दोष हैं ।

२१४१ नित्यवीप्सयोः ८।१।४।

आभीक्ष्ये वीप्सायाश्च द्योत्ये पदस्य द्विवचनं स्यात् । आभाक्ष्यं तिङन्ते-
ष्वव्ययसंज्ञककृदन्तेषु च । पचति पचति । भुक्त्वा भुक्त्वा । वीप्सायाम्—
वृक्षं वृक्षं सिद्ध्यति । ग्रामो ग्रामो रमणीयः ।

आभीक्ष्य एवं वीप्सा द्योत्य रहे वहां पद का द्वित्व होता है । तिङन्त एवं अव्यय संज्ञक कृदन्त में आभीक्ष्य की प्रतीति होती है । पुनः पुनः को आभीक्ष्य कहते हैं । पीनः पुन्यं नृशार्थश्च आभीक्ष्यम् ।

यह द्विवचन वदिरद्ग है यह अन्तरद्ग है अतः यह जो क्रियासमभिव्याहृत में विधीयमान है उसको द्विवचन बाध नहीं करता है । क्रियानिष्ठ धर्म आभीक्ष्य है । क्रियाप्रधानार्थक पद ‘पचति’ उसका इससे द्वित्व हुआ—पचति पचति । पुनः पुनः पचति, अथवा जितनी विट्ति अपेक्षित है उससे अधिक विट्ति में भी आभीक्ष्य की प्रतीति है फलगत अतिशय में । देवदत्ताभिन्न एकत्व-विशिष्ट जो कर्ता तद्बुद्धि एवं तण्डुलाभिन्न जो कर्म तन्निष्ठा जो विट्ति तत्जनक वर्तमान कालिक व्यापार यह अर्थ पचति है ।

यहां तिके तीन अर्थ हैं—कर्ता संख्या = एकत्व एवं काल । धात्वर्थ दो हैं फल = विट्ति एवं व्यापार । तण्डुलपदान्तर द्वितीयाय कर्म है प्रकृत्यर्थ का कर्म में अभेद सम्बन्ध है, फल का व्यापार में निष्ठत्व सम्बन्ध है । काल अवच्छेदक = व्यावर्तक वर्तमान काल है क्रिया = व्यावर्तक अर्थात् अवच्छेदक है । विस्तृत विवरण श्री वा० कृ० पञ्चोलिङ्गन वैयाकरण भूषण को व्याख्या प्रमा से अवगत करना चाहिये ।

भुक्त्वा भुक्त्वा यहां भी आभीक्ष्य में द्वित्व हुआ । गलबिलाषःसंयोगजनक व्यापार भुज् धात्वर्थ है ‘गतः’ आदि का अध्याहार करके पूर्व कालिकत्व की विवक्षा में जहां अनेक क्रियाओं का एक कर्ता रहे वहां पूर्वकालोद्गम जो क्रिया तद्वाचक जो धातु उससे ‘समानकर्तृकयोः’ से क्त्वाप्रत्यय होता है । अव्ययकृतो भावे से भाग्यं क्त्वा प्रत्यय है । भुक्त्वा की अव्यय संज्ञा द्वित्व से ‘भुक्त्वा भुक्त्वा’ रूप हुआ है ।

वीप्सा में दित्व हुआ । 'वृष्ट वृष्टम् सिञ्चति । किया साकत्वेन सम्बन्धमिच्छा वीप्सा । संसार स्थित सकल वृष्ट का सिञ्चन सम्भव नहीं है, किन्तु यहाँ सर्व शब्द सकुचितार्थ प्रतिपादक यथा 'सर्वं भुक्तम्' यहाँ संसार स्थित सकल अवकर्मक भोजन सम्भव नहीं है । अतः जो घर में पकाया गया था वह सब खा लिया तबैव प्रकृत में स्व उद्यान=वाटिका में जो वृष्ट है उनको सेचन किया द्वारा व्याप्त करता है, उस उद्यान के किन्ती भी वृष्ट को वह सेचन रहित नहीं करता है । सर्वान् वाटिकास्थान् वृष्टान् सिञ्चति यही अर्थ हुआ । इसी प्रकार सर्व शब्द अनेक स्थलों में सकुचितार्थ प्रतिपादक है ।

'सर्वे ब्राह्मणा आमन्त्रिता' यहाँ भी भूमण्डल से सकल ब्राह्मणों का आमन्त्रण सम्भव नहीं, अतः स्वग्रामस्थ ब्राह्मणों का आमन्त्रण यही अर्थ प्रतीयमान है । वीप्सा का अपर उदाहरण—ग्रामो ग्रामो रमणीयः । प्रत्येक ग्राम सौन्दर्य से भुक्त है । यत्र वत्र ग्रामस्य तत्र तत्र रमणीयत्वम् यह व्याप्ति वीप्सापदार्थव्याप्ति प्रतिपादन निषेधक इच्छा है ।

२१४२ परेर्वर्जने ८।१।५।

परिपरि वज्रेभ्यो वृष्टो देव । वज्रान् परित्यजेत्यर्थः । ॐ परेर्वर्जने वा वचनम् ॐ । परि वज्रेभ्यः ।

वर्जनार्थक परि शब्द का दित्व होता है । वज्र प्रदेश को छोड़कर मेघ ने वर्षण किया भी वहाँ 'दित्व परिपरि वज्रेभ्यः । वर्जन में परित्याग विकल्प से दित्व होता है । यहाँ एक और वाक्यिक भी है • परेर्वर्जनेऽसमाप्ते • । समाप्त-पठक परि का दित्व नहीं होता है—यथा परित्रिगतं वृष्टो देव ।

२१४३ उपर्यध्यधसः सामीप्ये ८।१।७।

उपर्युपरि ग्रामम् । ग्रामस्योपरिष्ठात् । समीपे देशे इत्यर्थः । अधधि सुखम् । सुखस्योपरिष्ठात् । समीपकाले दुःखमित्यर्थः । अधोऽधो लोकम् । लोकस्याधस्तात् समीपे देश इत्यर्थः ।

सामीप्य अर्थ में उपरि, अधि अध, इनका दित्व होता है । ग्राम के ऊपर समीप देश में = उपरि उपरि ग्रामम् । सामीप्य का अर्थ है प्रत्यासत्ति, वह देशकृत एव कालकृत है । अधधि सुखम्—सुख के अनन्तर काल में दुःख यहाँ कालकृत सामीप्य है । उपरि चन्द्रमा यहाँ सामीप्य नहीं अतः दित्वामात्र है । उपरि शिरसो पट धारयति वहाँ वास्तविक सामीप्य है, किन्तु उसकी अविवक्षा से दित्वामात्र है । अविवक्षा ही शब्द प्रयोग में प्रधान कारण है । 'अधोऽधो लोकम्' यहाँ दित्व है । अध—लोक के अधस्तल के समीप देश में । वहाँ देश कृत प्रत्यासत्ति है ।

२१४४ वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनमर्त्सनेषु ८।१।८।

असूयायाम्—सुन्दर सुन्दर वृथा ते सौन्दर्यम् । सम्मती—देव देव वन्द्योऽसि । कोपे—दुविनीत दुविनीत इदानीं ज्ञास्यसि ।

कुत्सने—घानुष्क घानुष्क वृथा ते धनु ।

मर्त्सने—चोर चोर घातयिष्यामि त्वाम् ।

असूया, सम्मति, कोप, कुत्सा, मत्सन अर्थ में वाक्य के आदि में स्थित आमन्त्रित संज्ञक पद का दित्व होता है । यहाँ कोप एव असूया से पृथक् कुत्सन एव मर्त्सन व्यर्थ ही है, क्योंकि

असूया के बिना कुत्सन नहीं होता है, एवं कोप के बिना कोई टाटा नहीं जाता। अतः भर्त्सन कोप पूर्वक ही है। यहां यह कथन उचित नहीं है हितवृद्ध्या गुरुजन अकुपित होते हुए भी भर्त्सन शिष्यों का करते हैं। एवं असूया बिना भी कुत्सा वे करते हैं। अतः कुत्सन, भर्त्सन सूत्र में आवश्यक है।

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विपोकृतैः। लालनाश्रयिणो दोषास्ताटनाश्रयिणो गुणाः ॥

गुरुजन अमृतयुक्त हाथों से शिष्यों का ताटन करते हैं, विष से युक्त करों से। लालन को आश्रय करने वाले दोष हैं, एवं ताटन को आश्रय करने वाले गुण हैं। यह भी कहा है कि पाँच वर्ष तक ताटन करें १६ वर्ष के पुत्रादिक में ताटन निषिद्ध है, उसको समझा बुझाकर हितका उपदेश करें।

सूत्र के उदाहरण स्पष्ट ही हैं। १—कुत्सित कर्म कर्ता का सौन्दर्य वृथा है। अतः असूया गम्यमान है। २—सम्मति में हे देव तुम पूज्य हो = अभिवादन योग्य। ३—कांप में हे अविनय-शील अब तुम अविनय का फल जानोंगे। ४—में धनुष् विद्या में निपुण तुम्हारा धनुष् धारण व्यर्थ में = गरीब निरपराधी को सताने पर यह कहा गया है। ५—हे चोर, अब तुम तस्कर वृत्ति का फल प्राण वियोग व्यापार रूप हनन को प्राप्त होगे।

२१४५ एकं बहुव्रीहिवत् ८।१।९।

द्विरुक्ते एकशब्दो बहुव्रीहिवत्। तेन सुबलोपपुंवद्भावौ। एकैक-मक्षरम्। इह द्वयोरपि सुपोर्लुकि कृते बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वात्समुदायात् सुप्। एकैकया आहुत्या। इह पूर्वभागे पुंवद्भावादवग्रहे विशेषः।

न बहुव्रीहावित्यत्र पुनर्वहुव्रीहिग्रहणं मुख्यबहुव्रीहिलाभार्थम्। तेनातिदिष्टबहुव्रीहौ सर्वनामताऽस्त्येवेति प्राञ्चः। वस्तुतस्तु भाष्यमते प्रत्याख्यातमेतत्। सूत्रमतेऽपि बहुव्रीह्यर्थेऽलौकिके विग्रहे निषेधकम्, न तु बहुव्रीहावितिहातिदेशशङ्कैव नास्ति। एकैकस्मै देहि।

द्विरुक्ते = द्वित्वनिष्पन्न एक शब्द बहुव्रीहि समान होता है। इस कारण सुप् का लोप पुंवद्भाव होता है। एवं पूर्वपदप्रकृति स्वर भी होता है। यथा—एकम् का द्वित्व से ‘एकम् एकम्’ यहां बहुव्रीहि समान होने से समासत्व प्रयुक्त प्रातिपदिकत्व है एवं प्रातिपदिकत्व प्रयुक्त उभय सुप् का ‘सुपो धातुप्रातिपदिकयोः’ से लुक् हुआ। एवं बहुव्रीहि भाव प्रयुक्त प्रातिपदिकत्व निबन्धन ‘एकैक’ समुदाय से सुप् विभक्ति एकवचन प्रथमा का आया है। एवं खिलिद्ध में एकया का द्वित्व बहुव्रीहिवद्भाव विभक्ति द्वय का लोप एवं पुंवद्भाव हुआ “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः” से अथवा ‘स्त्रिया माषितपुंस्कात्’ से। एकैका से तृतीया एकैकया आहुत्या। यहां ‘एक एकया, यह विशेष पुंवद्भाव प्रयुक्त है। अन्यथा एका ऐसा पूर्वभाग में अवग्रह होता जो इष्ट नहीं है।

एकं बहुव्रीहिवत् सूत्र बहुव्रीहिवद् भाव का अतिदेश करता है तो भी न बहुव्रीहौ से साध्य-कार्य जो सर्वनाम का निषेध यहां नहीं होता है अर्थात् यहां सर्वनाम संज्ञा होती ही है। कारण कि “विभाषा दिकसमासे बहुव्रीहौ” १।१।२८ से बहुव्रीहि की ‘न बहुव्रीहौ’ १।१।२८ में अनुवृत्ति आती पुनः न बहुव्रीहौ में क्रियमाण बहुव्रीहि ग्रहण व्यर्थ होकर, ‘शब्दाधिकात् अर्थाधिक्यम्’ अर्थात् अधिक शब्द प्रयुक्त यहां अधिक अर्थ होगा वह यह है कि मुख्य = प्रधान जहां बहुव्रीहिवत् है, वहां ही वह सर्वनाम संज्ञा का निषेध करता है, अतः आरोपित बहुव्रीहिवत् में सर्वनाम संज्ञा होती है प्राचीन आचार्यों का मत है।

वस्तुतः 'न बहुव्रीहौ' सूत्र का माध्यकार ने प्रत्याख्यान ही किया है। उनके मत में सूत्र ही नहीं अतः सर्वनाम सत्ता का उससे निषेध की शङ्का ही निर्मूलक है। सूत्रकार के मत में "न बहुव्रीहौ" सूत्र यद्यपि है कि तु वह बहुव्रीहि समासात् जो अलौकिक विग्रह वाक्य तद्घटक जो सर्वादि उनकी सर्वनाम सत्ता निषेधक है। न कि बहुव्रीहि समास में, क्योंकि समास करने पर समास घटक सर्वाद्यर्थ विशेषणोभूत रूप उपसर्जन न होने पर सञ्ज्ञोपसर्जन का सर्वादि में बाध नहीं सूत्र-वधे होगा।

अतः वहा तादर्थ्य में बहुव्रीहिपद है अर्थात् बहुव्रीहि समास के लिए अलौकिक विग्रह परक है। अतः अतिदेश के विषय में सर्वनाम सत्ता का निषेधविषयिणी शङ्का का यहाँ अवसर ही नहीं है। अब शङ्का का ही अवसर ऐसी परिस्थिति में समाधान प्रयास न्यय है। अतः एकैकस्मै यहाँ सुप्त लुक् बद्धाव बहुव्रीहिरव के अतिदेश से द्वित्व के बाद हुआ किन्तु सर्वनामत्व का अभाव न हुआ, उसे को स्मै आदेश हुआ है। दानकिवा का उद्देश्य में चतुर्वी विभक्ति है प्रत्येक को उद्देश्य कर सुप्त दान दो यह अर्थ है।

२१४६ आनाधे च ८।१।१०।

पीडाया चोत्थाया द्वे स्ता बहुव्रीहिवचव । गतगत । विरहात् पीड्यमान-
स्येयमुक्ति । बहुव्रीहिवद्भावात् सुबल्लुक् । गतगत । इह पुबद्धभावः ।

इहजनवियोग प्रयुक्तपीडा = दुःख गम्यमान रहे वहा द्वित्व होता है, एवं बहुव्रीहिसमान होता है गत यहा गन् वातु गन् के मकार का 'अनुदात्तोपदेश' से लोप है। गत = का अर्थ सयोगजनकम्याधारकर्ता अर्थ है, द्वित्व से गत, गन् हुआ बहुव्रीहिसम्भाव से प्रातिपदिक सत्ता कर्म्यसुप्त का लोप समुदाय से सु नत्व विसर्ग से गतवन = विरहजन्य पीडायुक्त इहजन की उक्ति यह है। इसी प्रकार खोलिह में गता, गता दाबन्त है द्वित्वादि पुबद्ध भाव समुदाय से विभक्ति उसका लोप 'गतगता' का या आदि के विरहजन्यपीडावती माता की उक्ति है। कन्या समुदाय आती है उस समय माता को कह होता है अतः पीडा गम्यमान यहा है।

२१४७ कर्मधारयवदुत्तरेषु ८।१।११।

इत उत्तरेषु द्विवचनेषु कर्मधारयवत् कार्यम् । प्रयोजन सुबन्तोपपुबद्ध
भावान्तोदात्तत्वानि ।

इतसे परवर्ती द्विरुक्त स्थल में कर्मधारय समास समान अर्थ होता है। कर्मधारयत्व के अति देश का प्रयोजन ये हैं-सुबद्ध का लोप, 'पुबद्ध कर्मधारयवातोयेषु' से पुबद्धभाव, एवं 'समासस्य' सूत्र से अन्तोदात्तत्व है।

२१४८ प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२।

सादृश्ये चोत्थे गुणवचनस्य द्वे स्तस्तथा कर्मधारयवत्, 'कर्मधारयवत्'
उत्तरेष्वित्यधिकारात् । तेन पूर्वभागस्य पुबद्धभावः । समासस्यान्तोदात्तत्वञ्च ।
पटुपट्वी । पटु पटुः । पटुसदृशः, ईपत् पटुरिति यावत् । गुणोपसर्जनद्रव्य
वाचिनः केवलगुणवाचिनश्चेह गृह्यन्ते । शुक्लशुक्ल रूपम् शुक्लशुक्ल
पटः । ॐ आनुपूर्व्ये द्वे वाच्ये ॐ । मूले मूले स्थूलः ।

सादृश्याय में गुण वाचक का द्वित्व होता है। एवं 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' के यहाँ अधिकार होने से कर्मधारय समान होता है। अतः खोलिह में पूर्व भाग में पुबद्धभाव एवं 'समासस्य' सूत्र

से अन्तोदात्तत्व भी होता है। वोटोगुणवचनात् में ङीप् पट्वा का द्वित्व पुंवदभाव, अन्तोदात्त, पटुपट्वा। पुल्लिङ्ग में पटुः का द्वित्व विभक्ति लोप अन्तोदात्त समुदाय से विभक्ति पटुः पटुः। ईपट् पटुत्ववान् यहां 'गुणस्य' सूत्र में कहते वचनग्रहण सामर्थ्य से गुण है प्रकारीभूत अर्थात् उपसर्जन ऐसे द्रव्यार्थक का ग्रहण करना अर्थात् गुणविशिष्ट गुणवाचक शब्द यहां गृहीत है। एवं केवल गुणवाचक जो शब्द उनका भी गुणवचन से ग्रहण यहां करना चाहिये। 'शुक्लम्' गुणवाचक है रूप का प्रत्यायक है द्वित्व सुप् लुक् अन्तोदात्त समुदाय से विभक्ति शुक्लशुक्लं रूपम्। द्रव्यार्थक शुक्लः द्वित्वादिकार्यं शुक्लशुक्लः पटुः। * कर्मत्वरूप आनुपूर्व्ये अर्थ प्रतीयमान रहे वहां द्वित्व होता है। यथा मूले मूले रथूलः (वृक्षः)।

ॐ सम्भ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः ॐ सर्प सर्प सर्प वृध्यस्व, वृध्यस्ववृध्यस्व। ॐ क्रियासमभिहारे च ॐ। लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति। नित्यवीप्सयोरिति सिद्धे भृशार्थे द्वित्वार्थमिदम्। पौनःपुन्येऽपि लोट्। सह समुच्चित्य द्योतकतां लब्धुं वा।

ॐ कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये ॐ। ॐ समासवच्च बहुलम् ॐ। बहुलग्रहणादन्यपरयोर्न समासवत्। इतरशब्दस्य तु नित्यम्।

ॐ असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः ॐ। अन्योऽन्यं विप्रा नमन्ति। अन्योऽन्यौ। अन्योऽन्यान्। अन्योऽन्येन कृतम्। अन्योऽन्यस्मै दत्तमित्यादि। अन्योऽन्येषां पुष्करैरामृशन्त इति माघः। एवं परस्परम्। अत्र कस्कादित्वात् विसर्गस्य सः। इतरेतरम्। इतरेतरेणेत्यादि। ॐ स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेरामभावो वा वक्तव्यः ॐ। अन्योऽन्याम्। अन्योऽन्यम्। परस्पराम्। परस्परम्। इतरेतराम्। इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः।

* सम्भवसहित प्रवृत्ति होने पर इच्छानुसार अनेक बार प्रयोग न्यायसिद्ध है। क्रियासमभिहार में द्वित्व होता है। यथा लुनीहि लुनीहि। यहां 'नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व सिद्ध था किन्तु नृशार्थ में द्वित्व के लिए एवं पौनःपुन्य अर्थ में लोट् एवं द्वित्व उभय का समुच्चयार्थ करके द्योतकता लाभार्थ यह वचन है। * कर्मव्यतिहार में सर्वनामसंज्ञक शब्द का द्वित्व होता है। यह समास के समान बहुल होता है। यहां बहुल ग्रहण से अन्य एवं पर शब्द समासवत् = समास समान नहीं होते। इतर शब्द को तो नित्य समासवत् होता है। अर्थात् समासवद् भाव हुआ। जहां असमासवद्भाव है वहां पूर्वपदस्थ सुप् के स्थान में लुट् होता है। यथा अन्योऽन्यं विप्रा नमन्ति आदि। माघ कवि को कविता में भी यह प्रयोग है—अन्योन्येषां इति। इसी प्रकार परस्परम् में भी ज्ञान करना चाहिये। यहां कस्कादि पाठ प्रयुक्त विसर्ग को सकारादेश है।

स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग शब्द से पर विभक्ति को विकल्प से आन् होता है। अन्योऽन्यान्। अन्योन्यन् इत्यादि।

अत्र केचित् आमादेशो द्वितीयाया एव, भाष्यादी तथैवोदाहृतत्वात्। तेन स्त्रीनपुंसकयोरपि वृत्तीयादिषु पुंवदेव रूपमित्याहुः। अन्ये उदाहरणस्य दिङ्मात्रत्वात् सर्वविभक्तीनामामादेशमाहुः।

इस स्थल में कोई कहता है कि द्वितीया को ही आमादेश होता है क्योंकि माभ्यादि आकर ग्रन्थों में द्वितीयान्त में ही आमादेश घटित उदाहरण है । अन्य आचार्य कहते हैं कि उदाहरण वे दिक प्रदर्शनार्थ हैं । वे ही उदाहरण हैं ऐसा आग्रह न करना । माभ्य में कहा भी है “न चोदाहरण-मादरणीयम्” इति मेरे द्वारा प्रदर्शित उदाहरणों से अतिरिक्त उदाहरण ही नहीं ऐसा भ्रम न करना अर्थात् अन्य उदाहरण मेरे द्वारा अनुक्त भी है । अतः प्रकृति में सर्व विभक्तियों के स्थान में विकल्प से आन्माव होता ही है ।

“दलद्वये टाबभाय क्लीबे चाङ्विरहः स्वमोः ।

समासे सोरलुक् चेति सिद्ध बाहुलकात् त्रयम् ॥”

तथाहि— अन्योऽन्य परस्परमित्यत्र दलद्वयेऽपि टाप् प्राप्त । न च सर्व-नाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भाय, अन्यपरयोरसमासवद्भावात् । न च द्विवचनमेव वृत्ति, ‘या या प्रिय प्रैक्षत कातराक्षी सा सा’ इत्यादावतिप्रसङ्गात् । अन्योऽन्यमितरेतरमित्यत्र च अद्भुतरादिभ्य इत्यद्भुट् प्राप्तः । अन्योऽन्यससक्तम् अह्नियामम् । अन्योऽन्याग्रय । परस्परारक्षिसाद्वयम्, अष्टपरस्परैरित्यादौ सोर्लुक् च प्राप्त, सर्व बाहुलकघलेन समाधेयम् । प्रकृतवार्तिकभाष्योदाहरण क्षिपामिति सूत्रे अन्योन्यसत्रय त्वेतदि’ति भाष्ये चात्र प्रमाणमिति ।

श्लोक का अर्थ—दोनों दल में टाप् का अभाव, नपुंसक में एव अम् के स्थान में अद्भु का अभाव, एव समास में प्राचय का अलुक्, यह तीन प्रकार का कार्य बाहुलक से सिद्ध होता है । यथा अन्योन्यम्, परस्परम्, इस स्थल में दोनों दल में टाप् प्राप्त हुआ, अन्य एव पर में अन्मासवद्भाव से ‘सर्वनामो वृत्तिमात्रे’ से पुवद्भाव नहीं प्राप्त है, यदि द्विवचन को ही वृत्ति मानागे तो ‘या या प्रिय’ इत्यादि की अतिरिद्धि होगी—प्रिय ने जिन जिन प्रिया को देखी वे वे ल०ना से मतमुखी हुई । ‘अन्योन्यम्’ ‘इतरेतरम्’ यहा अद्भुतादेश प्राप्त हुआ । अन्योन्य स्तक्तम् आदि में सु का लोप प्राप्त हुआ इन सभी का समाधान बाहुलक से करना । प्रकृतवार्तिक, भाष्योदाहरण, ‘क्षियाम्’ सूत्र में अन्योन्यसत्रयम् ऐसा भाष्य इसमें प्रमाण है ।

२१४९ अकृच्छ्रे प्रियसुखयोरन्यतरस्याम् ८।१।१३।

प्रियप्रियेण ददाति प्रियेण वा । सुखसुखेन ददाति, सुखेन वा । द्विवचने कर्मधारयवद्भावात् सुपि लुकि तदेव वचनम् । अतिप्रियमपि वस्तु अनायासेन ददातीत्यर्थः ।

यहा द्वितोत्तर समासवद्भाव विभक्ति लुक् समुदाय से पुन पूर्व सदृशी विभक्ति प्रिय-प्रियेण ददाति । पक्ष में प्रियेण । इसी प्रकार सुखसुखेन । सुखेन वा । द्विवचन में कर्मधारयवद्भाव से विभक्ति लुक् पुन वही वचन । अत्यधिक प्रिय वस्तु को भी वह अनायास से दान करता है ।

२१५० यथास्वे यथायथम् ८।१।१४।

‘यथास्वम्’ इति बीप्सायाम् अव्ययीभावः । योऽयमात्मा यथात्मीय तद्व-यथास्वम्, तस्मिन् यथाशब्दस्य द्वे क्लीबत्व च निपात्यते । यथायथ ज्ञाता यथास्वभावमित्यर्थः । यथाऽत्मीयमिति वा ।

आत्मा एवम् आत्मीय दोनों को यथात्व कहते हैं। क्योंकि स्वशब्द का आत्मा एवं आत्मीय दोनों अर्थ में यथा शब्द का द्वित्व एवं नपुंसकलिङ्गत्व निपातन से सिद्ध है। सूत्र में वीप्ता अर्थ में अव्ययीभाव करना इससे 'यथास्वम्' की सिद्धि हुई है। यथायथं ज्ञाता = यथास्वभाव या यथात्मीय ज्ञाता।

२१५१ द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु ८।१।१५।

द्विशब्दस्य द्विर्वचनं पूर्वपदस्याम्भावोऽत्वं चोत्तरपदस्य नपुंसकत्वं च निपात्यते एष्वर्थेषु। तत्र रहस्यं द्वन्द्वशब्दस्य वाच्यम्। इतरे विषयभूताः। द्वन्द्वं मन्त्रयते, रहस्यमित्यर्थः। मर्यादा = स्थित्यनतिक्रमः। आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनीयन्ति। माता पुत्रेण मिथुनं गच्छति पौत्रेण प्रपौत्रेणापीति मर्यादार्थः। व्युत्क्रमणम् = पृथगवस्थानम्।

द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः। द्विवर्गसम्बन्धेन पृथगवस्थिताः। द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति। द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ। अभिव्यक्तौ साहचर्येणेत्यर्थः। योगविभागादन्यत्रापि द्वन्द्व इष्यते।

इति द्विरुक्तप्रकरणम्।

इति श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचितायां सिद्धान्तकौमुद्यां पूर्वार्धं समाप्तम्।

रहस्य, मर्यादा, वचन, व्युत्क्रमण, यज्ञपात्रप्रयोग, अभिव्यक्ति इन अर्थों में द्विशब्द का द्वित्व होता है एवं पूर्वपदको अम्भाव, एवं उत्तरपद को नपुंसकत्व निपातन से सिद्ध होता है। पूर्वोक्त अर्थों में रहस्य एवं द्वन्द्व शब्दवाच्य अर्थ है। एवं अन्य सब विषयभूत है।

द्वन्द्वं मन्त्रयते = एकान्त में परामर्श करता है। स्थिति का अनतिक्रमण को मर्यादा कहते हैं। द्वन्द्वं मिथुनीयन्ति। यहां पशुओं में गम्यागम्य विचार नहीं है मानव की तरह माता पुत्र से पौत्र से प्रपौत्र से मिथुनत्व प्राप्त होती है यह पशुओं की मर्यादा है, स्थिति का अतिक्रमण यहां नहीं है। पृथक् जो अवस्थान उसको व्युत्क्रमण कहते हैं।

यथा द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः = दो वर्ग के सम्बन्ध से पृथक् अवस्थित। द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि। संकर्षण-वासुदेवौ 'द्वन्द्वन्' यहां साहचर्य से अभिव्यक्त योगविभाग से सूत्रनिर्दिष्ट अर्थों से भिन्न अर्थ में भी 'द्वन्द्वन्' होता है।

गुजरातप्रान्तान्तर्गतवसाह (ढामला) नगराजिजनवास्तव्येन पञ्चाशद्धायनतो वाराणसीकृता-

खण्डनिवासेन विश्वविख्यातकाशीस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालय-वाराणसेयसंस्कृत-

विश्वविद्यालयपूर्वप्राध्यापकेन पवित्रतर्मादौच्यमादाणकुलोद्भवेन श्रीदिवालो-

देवीजननीजातेन विद्वद्वरधीनीलकण्ठशास्त्रिपञ्चोलितनुजन्मना सर्व-

तन्त्रस्वतन्त्रपूज्यगुरुवरधोत्तमापतिशर्माप्राध्यायप्रधानशिव्येण

श्रीशालकृष्णशास्त्रिपञ्चोलिना विरचिता वैयाकरणसिद्धान्त-

कौमुदीव्याख्या सविमर्शा रत्नप्रभा तस्याः

पूर्वार्द्धं समाप्तम्।

इति श्रुम्।



समासादि-द्विरुक्तान्तसूत्रसूची

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
अ		अत इनिठनौ	३२५	अनुगवमायामे	१०६
अश हारी	३१३	अतश्च	१६५	अनुगादिनष्टक्	३५७
अकृच्छ्रे प्रियसु	३७५	अतिग्रहाव्ययन	३६३	अनुग्वलङ्कामी	३०३
अक्षशलाकास	१०	अतिथेर्न्य	३६०	अनुदात्तादेरञ्	१७९
अक्षगोऽदर्शनात्	१०४	अतिशायने सप्त	३४०	अनुदात्तादेश्च	२३६
अगारान्तादृञ्	२५६	अस्ते शुन	५५	अनुपदसर्वाच्चा	३०१
अग्ने स्तुत्स्तौम	९६	अत्यन्तसयोगे च	१८	अनुपघन्वेष्टा	३१७
अग्नेर्दक्	१७६	अत्रिभृगुकुत्स	१५४	अनुप्रवचनादि	२९३
अग्रात्पायामुर	५५	अदूरभवश्च	१८६	अनुर्यत्समया	११
अग्रान्तशुद्धश्च	८३	अदोऽनुपदेशे	४७	अनुवादे चरणानाम्	९१
अद्भुदैर्वाणि	७७	अद्यश्चीनावष्टब्धे	३०३	अनुशक्तिकादीना	२१९
अद्भुत्पादिभ्यष्टक्	३५१	अधिकरणवाचिना	२७	अनृप्यानन्तर्ये	१४६
अच्च	२१२	अधिकम्	३१४	अनेकमप्यपदार्थे	६६
अचतुरविचतुर	१०४	अधिकरणविचाले	३३८	अनौऽस्मायस्तरसा	५५
अचित्तहस्ति	१८०	अधिकरणैतावत्त्वे	९५	अन्त पूर्वपदादृञ्	२१८
अचिसादेशका	२२६	अधिकृत्य कृते	२२४	अन्तरपरिग्रहे	४६
अरङ्ग गत्यर्थवदेषु	४६	अधुना	३३४	अन्तर्बहिर्भ्यां च	७८
अप्रत्यन्ववपूर्वा	१०४	अध्ययनतो	९१	अन्तिकषाठयो	३४१
अजादी गुणवच	३४०	अध्यर्धपूर्वाद्विगो	२७४	अक्ष्णाण्ण	२५९
अजाघवन्तम्	९०	अध्यायानुवाकयो	३११	अक्षेन व्यञ्जनम्	२१
अजाधिभ्या व्यन्	२६६	अध्यायिभ्यदेश	२५६	अन्ययामपि हरयते	७५
अजिनान्तस्योत्तर	३४७	अध्यायेष्वेवर्पे	२२१	अन्यपदार्थे च	१३
अज्ञाते	३४४	अध्वनौ यत्सौ	३०३	अन्वचतस्राद्ग्रह	१०६
अभ्वेलुङ्क्	३३७	अध्युक्तपुरनपु	९१	अपत्य पौत्र	१४२
अज्नासिकाया	७८	अन्	१५६	अपय नपुसकम्	६१
अणञौ च	२१२	अनत्यन्तगती	३५५	अपदाती	२०२
अणिशोरनार्पयो	१६६	अनत्याधाने	४८	अपपरिवहिरश्च	११
अणुगयमादिभ्य	२२१	अनसतने हिङ्	३३४	अपमित्ययाचि	२४६
अणो द्वयच	१६२	अनन्तावसथेतिह	३५९	अपरस्तरा	१३२
अणुकुटिलिकाया	२४५	अनश्च	१५	अपस्करो	१३३
अण्व	३२३	अनुकम्पायाम्	३४४	अपादाने चाहो	३६३
अणमहिष्यादिभ्य	२५२	अनुकरण	४५	अपूर्वपदादन्यत	१५८
अत इन्	१४४	अनुकाशिका	३१४		

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
अपेतापोलमुक्त	२३	अव्ययसर्वनाशाम्	३४३	आढ्यमर्यादाभि	११
अपोनप्त्रपात्रपृ	१७५	अव्ययात्यप्	१९५	आ च त्वात्	२९४
अप्पूर्णीप्रमा	६९	अव्ययीभात्रः	५	आज्ञाधिनि च	१०९
अभिजनश्च	२२५	अव्ययीभावश्च	७	आढकाचित	२८०
अभिजिद्विद्वद्	३५४	अव्ययीभावश्च	२१८	आत्मनश्च	१०९
अभिनिष्क्रामति	२२४	अव्ययीभावे चा	९	आत्मन्विश्च	२६६
अभिविधौ	३६५	अव्ययीभावे शरत्	१५	आत्माध्वानी	२६६
अभ्यसिन्नाच्छ	३०४	अशब्दे यत्त्वा	२२०	आथर्वणिक्	२३३
अमात्रास्याया	२१२	अशाला च	६४	आदरानादर	४५
अमूर्धमस्तकात्	१११	अश्वपत्यादि	१३६	आनदृतो	९५
अमेवाव्ययं	५१	अश्वस्येकाहगमः	३०४	आन्महत्	५७
अयःशूलदण्डा	३१४	अश्वादिभ्यः	१४८	आपत्यस्य	१३८
अरण्यान्मनुष्यं	२०१	अपढक्षितङ्ग्वलं	३५५	आपोऽन्यतर	८५
अस्मदक्षक्षुश्चेतो	३६५	अपढ्यवृत्तीयास्थ	१२४	आप्रपदं प्राप्नोति	३०१
अर्थं द्विभाषा	१२४	अष्टनः सञ्ज्ञायां	१२९	आवाधे च	३७३
अर्थं नपुंसकम्	२९	असञ्ज्ञायां तिल	२३७	आयुधजीविभ्य	२२५
अर्थार्थाः पुंसि	६१	असमासे	२७१	आयुधजीविसं	३५२
अर्धाच्च	५६	असाम्प्रतिके	२०६	आयुधाच्छ च	२४५
अर्धात्परिमाणस्य	२७१	अस्तं च	४६	आरगुदीचाम्	१५२
अर्धाद्यत्	२०५	अस्ताति च	३३६	आहदिगोपुच्छ	२७०
अर्शआदिभ्यो	३२८	अस्तिनास्तिदिष्टं	२५३	आलजाटर्चा	३२७
अलुगुत्तरपदे	१०८	अस्मदो	६१	आवसथाष्टल	२५७
अल्पाख्यायाम्	८२	अस्मायामे	३२६	आश्वर्यमनित्यं	१३३
अल्पात्तरम्	९०	अस्य च्चौ	३६४	आश्वयुज्या	२१५
अल्पे	३४७	अहस्तेवैकदेश	५२	आसन्दीवदष्टी	३२०
अवक्रयः	२५२	अहंशुभमोर्थुस्	३३०	आस्पदं प्रतिष्ठा	१३३
अवक्रपणं	३४८	अह्णष्टोरेव	५३	आहि च दूरे	३३८
अवयवाहतोः	२१०	अह्णोऽदन्तात्	५३	इ	
अवयवे च	२३५	अह्णोऽह्ण एतेभ्यः	५३	इकः काशे	१२९
अवयसि ठश्च	२८७	आ		इको वंहोऽपीलोः	१२८
अवतन्मन्वेभ्यः	१०५	आकर्पाष्टल	२४३	इको हस्तेऽढ्या	११७
अवाङ्कुटारश्च	३०६	आकर्पादिभ्यः	३१२	इगन्ताच्च लघुप्	२९८
अवारपारात्यन्ता	३०२	आकालिक	२९३	इचर्मव्यतिहारं	८०
अवृद्धादपि	२०१	आक्रन्दारुद्ध	२५०	इजः प्राचाम्	१३९
अवृद्धाभ्यो	१४८	आगधीनः	३०३	इजश्च	१९७
अवेः कः	३६०	आगस्त्यकौण्डिन्य	१५५	इतराभ्योऽपि द	३३३
अव्यक्तानुकरणा	३६६	आग्रहाण्यश्च	१७३	इतश्चानिजः	१५०
अव्ययं विभक्ति	५				

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
इदङ्गिमोरीरकी	१२२	उदक् च विपाश	१८७	ऊर्णावा युस्	३२७
इदम इश	३३१	उद-वानुदधौ च	३२१	ऊर्णाद्विभापा	८१
इदमस्थमु	३३५	उदराट्टनाद्यने	३१२	ऊर्णादिचिह्ना	४५
इदमो हिल्	३३४	उदधितोऽन्य	१७२	ऊपसुपिमुष्क	३२३
इदमो ह	३३२	उदीचा वृद्धा	१६२	ऊ	
इद्गोण्या	२७७	उदीचामिन्	१६१	ऊक्पूरब्धू	१०३
इद्वृद्धौ	९६	उदीच्यप्रामाच्च	१९७	ऊच शे	११६
इन स्त्रियाम्	८४	उद्विम्या काकु	८३	ऊतष्ठञ्	२२२
इनस्पिदधिकश्चि च	३०६	उपकादिभ्योऽन्य	१५५	ऊतोऽम्	२५२
इनप्यनप ये	१७८	उपजानूपकर्णा	२१४	ऊतोरण्	२९२
इनित्रकल्यचश्च	१८०	उपज्ञाते	२३०	ऊतो विधायोनि	११३
इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग	३१८	उपज्ञोपक्रम तदा	६४	ऊपभोपागहो	२६८
इव प्रतिकृतौ	३४९	उपपदमतिङ	४९	ऊप्यन्धकष्टु	१४९
इष्टरूपीकामालाना	१२०	उपमानाच्च	८२	॥	
इष्टादिभ्यश्च	३१७	उपमानादप्राणिषु	५६	एकनोपूर्वा	३२६
इष्टस्य यिट् च	३४२	उपमानानि सा	३५	एकतद्धिते	११८
इत्सुसुक्तान्ता क	१७३	उपमित म्या	३६	एकधुराखलुपच	२५८
ई		उपर्यध्यघस	३७१	एक बहुमीहि	३७२
ईदमे सोमनश्च	९५	उपर्युपरिष्ठात्	३३७	एकविभक्ति	६
ईयसश्च	८५	उपसर्गस्य घ	१२८	एकशालाया	३५१
ईपवृत्ता	४३	उपसर्गाच्च	७८	एकस्य सकृच्च	३५८
ईपदर्थे	१२५	उपसर्गादध्वन	१०६	एकहलादौ	११७
ईपदसमासौ कणप्	३४३	उपसर्गादनोत्पर	७८	एकाच्च प्राचाम्	३४८
उ		उपसर्गाद्बहुलम्	७९	एकादाकितिच्चास	३६९
उगवादिभ्यो यत्	२६४	उपसर्जन	६	एकादेश्वेकरस्य	५९
उगितश्च	११४	उपाञ्जऽन्वाजे	४७	एकादो ध्यमुन्	३३८
उञ्चुति	२४८	उपाधिभ्या	३०७	एको गोत्रे	१४३
उक् उन्मना	३१५	उप्ते च	२१५	एह प्राचा	१९८
उक्तरादिभ्य	१९१	उमाहुदात्तो	३०९	एण्या टम्	२३९
उत्तमकाभ्या	५४	उमोर्णयोर्वा	२३९	एतद्व्यतसो	३३३
उत्तरपथेनाहत	२८६	उर प्रभृतिभ्य	८४	एतदोऽम्	३३१
उत्तरपदस्य	२०९	उरसोण्च	२६१	एति सज्ञायाम्	१२३
उत्तरमृगपूर्वाच्च	५६	उरसो यच्च	२३०	एतेतौ रथो	३३१
उत्तराच्च	३३८	उपासोपस	९७	एधाच्च	३३८
उत्तराधरदक्षिणा	३३७	उद्गाद्वुञ्	२३८	एनवन्यतरस्याम्	३३७
उत्सादिभ्योऽञ्	१३७	उ		ऐ	
उदकस्योद	११७	ऊदनोद्वेशे	१०३	ऐकागारिकट्	२९३
				ऐयमोद्य	१९६

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
ओ		कर्तृकरणे कृता	१९	किंसर्वनामबहुभ्यो	३३१
ओजःसहोऽम्भसा	२४७	कर्मण उक्ञ्	२९२	किं क्षेपे	३९
ओजःसहोम्भ	१०८	कर्मणि वटोऽञ्च्	३०७	किति च	१३६
ओरञ्	१८६	कर्मणि च	२७	किम् क्षेपे	१०७
ओरञ्	२३६	कर्मधारयबहुत्तरेषु	३७३	किमः मंख्यापरि	३०८
ओर्गुण	७६	कर्मन्दकृशाश्वा	२३०	किमश्च	३३५
ओर्देशे ङञ्	१९९	कर्मवशाद्यत्	२९१	किमिदम्भ्यां वो वः	३०८
ओपवेरजातौ	३६१	कर्माध्ययने वृत्तम्	२५५	किमेत्तिङन्वयया	३४०
औ		कलापिनोऽण्	२२९	किमोऽत्	३३३
औत्तमनपत्ये	१५७	कलापिवैशम्पाय	२२८	किसरादिभ्यः ण्	२५२
क		कलाप्यश्चत्ययव	२१६	कुगतिप्रादयः	४५
कंशंभ्याम्	३३०	कलेर्हक्	१७०	कुटीशमीशुण्डा	३४७
कंसाट्टिठन्	२७३	कल्याण्यादीना	१५१	कु तिहोः	३३२
कंसीयपरश	२४०	कवं चोष्णे	१२५	कुत्वा डुपच्	३४७
ककुदस्याव	८३	कस्य च दः	३४३	कुत्सितानि कुत्सनैः	३४
कच्छाशिवक्त्र	२०१	कस्येत्	१७४	कुत्सिते	३४४
कच्छादिभ्यश्च	२०२	काण्डाण्डादीर	३२४	कुमति च	१३२
कठचरका	२२९	का पथ्यत्तयोः	१२५	कुमहद्भयामन्य	५७
कठिनान्तप्रस्ता	२५७	कापिरयाः फक्	१९५	कुमारः श्रमणादिभिः	४१
कडंकरदक्षि	२८४	कारनान्नि च प्राचां	११०	कुमुदनडवेतसे	१९१
कडाराः	४१	कारस्करो वृत्तः	१३५	कुम्भपदीषु च	८२
कणेमनसी	४६	कारे सत्यागदस्य	१२०	कुरुनादिभ्यो ण्यः	१६४
कण्वादिभ्यो	१९७	कार्मस्ताच्छील्ये	२५४	कुर्वादिभ्यो ण्यः	१६१
कतरकतमौ	३८	कालप्रयोजनाद्रोगे	३१५	कुलकुत्तिग्रीवाभ्यः	१९४
कभ्यादिभ्यो	१९४	कालाः	१८	कुलटाया वा	१५१
कयादिभ्यः	२६२	कालाः परिमाणिना	३०	कुलत्थकोपधादण्	२४३
कन्यापलदन	२०४	कालाच्च	३६१	कुलात्त्वः	१५८
कन्यायाष्ठक्	१९५	कालाट्टञ्	२०६	कुलालादिभ्यो	२३१
कन्यायाः	१४९	कालात्	२८६	कुलिजारलुक्खौ च	२८१
कपिज्ञात्योर्हक्	२९७	कालात्साधुपुण्यत्	२१५	कुल्मापादञ्	३१६
कपिवोधादाङ्गिरसे	१४७	कालाद्यत्	२९२	कुशाग्राच्छः	३५१
कम्यलाच्च	२६४	कालेभ्यो भववत्	१७६	कुसीददशैकादशा	२४८
कम्बोजारलुक	१६५	कालोपसर्जने च	१८९	कुस्तुम्बुरुणि	१३२
कर्कलंहितादी	३५१	काश्यपकौशिका	२२८	कृकणपर्णाङ्गार	२०४
कर्णललाटारक	२२०	काश्यादिभ्यः	१९९	कृजो द्वितीयतृतीय	३६७
कर्णं लक्षणस्या	१२६	कासृगोणीभ्यां ष्टश्च	३४७	कृतलब्धक्रीत	२१४
कर्तरि च	२८	कास्तीराजस्तु	१३४	कृते ग्रन्थे	२३०
		किंयत्तदो निर्धारणे	३४८	कृत्यतुल्याख्या	४१

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
कृत्यैरधिकार्यवचने	२०	ख सर्वधुरात्	२५८	गोयवाग्बोध	२०३
कृत्यैर्क्रमे	३१	खट्वा छेपे	१८	गोरतदितलुकि	३४
कृन्वस्तियोने	३६४	खण्डिकादि	१०९	गोश्व पुरीषे	२३७
केकयमित्रयुप्रलया	१५४	खलगोरयात्	१८०	गोपदादिभ्य	३१२
केऽण	७०	खलयवमाष	२६५	गोष्टात्स्नभूत	३०४
केदाराद्यश्च	१७९	खार्या ईक्न्	२७५	गोप्पद सेवि	१३३
केदाहोऽन्यतर	३२४	खार्या प्राचाम्	५३	गोखियोरुप	६
केदाभाभ्या यञ्	१८०	ग		ग्रन्थान्ताधिके	१२१
को कतत्पुरे	१२४	गन्धस्येदुरूपति	८१	ग्रामकौटाम्या	५५
कोपधाश्च	२३५	गम्भीराम्ब्य	२१८	ग्रामजनपदैक	२०५
कोपधाश्च	१८८	गतादिभ्यो	१४७	ग्रामजनघञ्शु	१७९
कोपधादण	२०२	गतोत्तरपदा	२०३	ग्रामारपर्यन्तु	२१९
कोशाद्धञ्	२१५	गवाश्चप्रश्	९३	ग्रामघञ्जौ	१९४
कौपिञ्जल	२३३	गवियुधिभ्या	१०९	ग्राम्यपशुसङ्घे	१००
कौमारारूपवचने	१७१	गहादिभ्यश्च	२०३	ग्रीवाम्योऽणश्च	२१८
कौसल्यकार्मा	१६१	गाण्ड्यजगात्स	३२४	ग्रीष्मवसन्तादन्य	२१५
वतेन च पूजायाम्	२६	गाधिविदधिके	१८४	ग्रीष्मावरसमावृत्तज	२१६
वतेन भन्विशिष्टे	३८	गिरेश्च सेन	१६	घ	
वतेनाहोरात्रायवा	३१	गुडादिभ्यष्टक्	२६२	घकालत्तेनेपु	१११
वज्रैर्मन्त्र निषम्	२४६	गुणवचन	२९६	घन सारया क्रिया	१८१
ववा च	५२	गृष्ट्यादिभ्यश्च	१५३	घनिलक्षौ च	३४५
व्यह्मानिनोश्च	७२	गृहपतिना	२६०	घरूपक्वप	११४
व्यच्ययोश्च	३६४	गोत्रचरित्राद्ये	२२७	ङ	
प्रतुयन्त्रेभ्यश्च	२२०	गोत्रचरणाच्छुला	२९८	ङ्वापो सञ्ज्ञाङ्गद	११८
प्रतुयवादिस्त्रान्ता	१८२	गोत्रचरणाद्वुञ्	२३२	च	
प्रमादिभ्यो वुञ्	१८३	गोत्रस्त्रिया	१५९	चटकाया पेरक्	१५३
प्रीतिवत्परिमाणा	२३८	गोत्रादङ्गवत्	२२२	चतुर्थी तदर्था	२२
प्रीत्यादिभ्यश्च	१६६	गोत्राद्यन्यस्त्रि	१४४	चतुष्पादो गर्भि	४२
ववाति	३३३	गोत्रायवयात्	१६६	चतुष्पादभ्यो	१५३
पत्राद्ध	१५७	गोत्रे कुञ्जादि	१४५	चरणे शङ्खचा	१२२
प्रीराद्धञ्	१७३	गोत्रेऽल्लुगचि	१३८	चरणेभ्यो धर्म	१८०
पुद्गजन्तव	९२	गोत्रोचोष्टोर	१७८	चरति	२४३
पुद्गाम्यो	१५२	गोद्व्यचोऽस्तुवा	२७७	चर्मणोऽञ्	२६९
पुद्गाम्रमरयट	२३१	गोघाया ढक्	१५२	चार्ये द्वन्द्व	८८
पुद्गादिपु च	५४	गोपयसोर्यत्	२३९	चिते कपि	१२९
प्रेत्रियप्पर	३१८	गोपुच्छाद्धञ्	२४३	चित्तवति	२८८
छेपे	३२			चूर्णादिनि	२४६

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
च्यौ च	३६५	ज्योत्स्नातमि	३२५	तत्र तेनेदमिति	७५
छ		झ		तत्र नियुक्तः	२५६
छगलिनो	२२९	क्षयः	१६	तत्र भवः	२१७
छ च	१७५	क्षयः	३२०	तत्र विदितः	२७८
छत्रादिभ्यो णः	२५४	ञ		तत्र साधुः	२६१
छदिरुपधिवलेदञ्	२६८	जितश्च तत्प्र	२३८	तत्रोद्घृतममत्रेभ्यः	१७२
छन्दसि परिप	३१७	व्यादयस्त	३५४	तत्रोपपद	४९
छन्दसो निमित्ते	२६१	ट		तत्सर्वादिः पथ्यङ्	३०१
छन्दसो यदणौ	२२१	टेः	२९५	तदधीते	१८२
छन्दोगौविथक	२३३	ड		तदधीनवचने	३६६
छन्दोब्राह्म	१८५	ठक्छौ च	१९०	तदर्थं विकृतेः	२६८
छाया बाहुल्ये	६४	ठगायस्थानेभ्यः	२२२	तदर्हति	२८३
छेदादिभ्यो	२८३	ठक्कचचिनश्च	१७९	तदर्हम्	२९४
ज		ठस्येकः	१५९	तदक्षिप्यं संज्ञाप्र	१८९
जङ्गलधेनुवलजा	२१८	ठाजादाबूर्ध्व	३४५	तदस्मिन्नधिकमि	३०९
जनपदतदव	२००	ढ		तदस्मिन्नश्चम्	३१६
जनपदशब्दा	१६३	ढकि लोपः	१५३	तदस्मिन्नस्तीति	१८६
जनपदिनां	२२७	ढक्च मण्डकात्	१५०	तदस्मिन्वृद्ध्या	२७९
जनपदे लुप्	१८८	ढे लोपोऽकद्रुवाः	१५३	तदस्मै दीयते नि	२५५
जम्बवावा	२४०	ण		तदस्य तदस्मिन्	२६९
जम्भामुहरित	८०	ण्यञ्त्रियार्पणिनो	१८४	तदस्य पण्यम्	२५२
जातरूपेभ्यः	२३८	त		तदस्य परिमाणम्	२८२
जातिनाम्नः कन्	३४६	तत्त आगतः	२२२	तदस्य ब्रह्मचर्यम्	२८९
जानिरप्राणिनाम्	९१	तत्पुरुषः	१७	तदस्य सञ्ज्ञातं	३०७
जातेश्च	७४	तत्पुरुषः समाना	३९	तदस्य सौढम्	२१७
जात्यन्ताच्छ्र	३५७	तत्पुरुषस्या	५२	तदस्यां ग्रहर	१८१
जात्याख्यायाम्	६१	तत्पुरुषे कृति	१११	तदस्यास्य	३१९
जायाया निठ	८१	तत्पुरुषोऽनञ्कर्म	६३	तदो दा च	३३४
जिह्वामूलाद्गुलेश्छः	२१९	तत्पुरुषोऽनञ्कर्म	६३	तदगच्छति पथि	२२४
जीवति तु वश्ये	१४२	तत्पुरुषोऽनञ्कर्म	६३	तद्वरति बह्व्या	२८०
जीविकार्थं चापण्ये	३४९	तत्पुरुषोऽनञ्कर्म	६३	तद्विनाशोत्तर	३३
जीविकोपनिपदाम्	४८	तत्पुरुषोऽनञ्कर्म	६३	तद्विनेष्यचा	१३६
जे प्रोष्टपदाना	२१३	तत्पुरुषोऽनञ्कर्म	६३	तद्युक्तात्कर्म	३६१
ज्य च	३४१	तत्पुरुषोऽनञ्कर्म	६३	तद्वाजस्य	१६४
ज्यादादीयसः	३४१	तत्पुरुषोऽनञ्कर्म	६३	तद्वहति रथयुग	२५८
ज्योनिरायुषः	१२३	तत्पुरुषोऽनञ्कर्म	६३	तन्त्रादचिराप	३१३
ज्योतिर्जनपद	१२२	तत्पुरुषोऽनञ्कर्म	६३	तपः सहस्राम्यां	३२३

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
तमधीष्टो भृतो	२८६	तीर्थे ये	१२२	दण्डव्यवसर्गयोश्च	३५४
तरति	२४३	तुन्दादिभ्य इलच्	३२५	दण्डादिभ्यो	२८४
तरतमपौ	३४०	तुन्दिबलिवटेर्भ	३३०	दध्नष्टक्	१७२
तवकममका	२०५	तुरिष्टेमेयसु	३४१	दन्त उन्नत ऊरच्	३२३
तसिलादिभ्या	७०	तुरङ्गन्दसि	३४०	दन्तशिखात्सज्ञा	३२५
तसिश्च	२३०	तुदीसलतुरवर्मती	२२५	दाण्डिनायनहा	१५४
तसेश्च	३३२	तृजकाम्यां कर्तरि	२७	दानीं च	३३४
तसौ मत्वर्थे	३१९	तृणे च जातौ	१२५	दामन्यादित्रि	३५३
तस्मान्मुडचि	४३	तृतीया तत्कृतार्थेन	१९	दिवङ्गन्देभ्य सप्त	३३६
तस्मिन्नणि च	२०५	तृतीयाप्रभृतीभ्यन्य	५१	दिवपूर्वपदाद्वच्च	२०५
तस्मै प्रभवति	२९१	तृतीयासप्तम्योर्बहु	७	दिवपूर्वपदादस	१९७
तस्मै हितम्	२६५	ते तद्वाजा	१६४	दिवसस्ये सज्ञाया	३६
तस्य च वृद्धिणा	२८९	तेन क्रीतम्	२७७	दिगादिभ्यो यत्	२१७
तस्य धर्म्यम्	२५२	तेन तुल्य क्रिया	२९४	दिङ्नामाभ्यन्तरा	७५
तस्य निमित्त	२७७	तेन दीव्यति खगति	२४२	दित्यदित्या	१३६
तस्य निघास	१८६	तेन निर्वृत्तम्	१८६	दिवसश्च पृथिव्याम्	९६
तस्य पाकमूले	३०५	तेन निर्वृत्तम्	२८६	दिवो घावा	९६
तस्य पूरणे	३०९	तेन परिज्यत्यस्य	२८९	विशोऽमत्राणाम्	२१०
तस्य भावस्य	२९४	तेन प्रोक्तम्	२२७	वीर्षाच्च वरुणस्य	१७७
तस्य बाप	२७९	तेन ययाकथा च	२९१	दुःखात्प्रातिलोभ्ये	३६८
तस्य विकार	२३५	तेन रक्त रागात्	१६८	दुष्कुलाद्वक्	१५९
तस्य व्याख्यान	२२०	तेन वित्तश्रुत्तुप	३०५	द्वारशक्तुपु	१२२
तस्य समूह	१७८	तेन सहेति तुल्ययो	७६	इतिकुचिकलशि	२१८
तस्यापत्यम्	१४०	तेनैकदिक्	२३०	इष्ट साम	१७०
तस्येदम्	२३१	त्यदादीनि च	१९८	देयमृगे	२१५
तस्येश्वर	२७८	त्यदादीनि सर्वैर्नि	९९	देये त्रा च	३६६
सालादिभ्यो	२३७	त्रपुजतुनो	२३५	देवताद्वन्द्वे च	९५
सावतिथ ग्रहणमि	३१४	त्रिंशच्च वरिशतो	२८३	देवताद्वन्द्वे च	१७६
तिकक्तिवादिभ्यो	१५५	त्रिककु पर्वते	८३	देवतान्तात्ताद्वन्द्वे	३५९
तिकादिभ्य फिन्	१६१	त्रे सम्प्रसारणश्च	३११	देवपयादिषुच	३५०
तिङश्च	३४०	त्रेष्ठय	५९	देवमनुष्यपुरुष	३६६
तिङ्तिरिवरतन्तु	२२८	त्वे च	११८	देनात्तल	३६०
तिरोऽन्तर्धौ	४७			देविकाशिशपा	२१९
ति विंशतेर्हिति	७५			देशे लुब्धलची च	३२३
तिष्ठद्गुप्रभृतीना	१२	दक्षिणादाच्	३३७	दैवयज्ञिशीचि	१६७
तिप्यपुनर्वस्वोर्न	६२	दक्षिणापश्चात्पुरस	१९५	घावापृथिवी	१७६
तीररूप्योत्तरपदा	१९६	दक्षिणेर्मा लुब्ध	८०	घुद्भ्या म	३२४
		दक्षिणोत्तराम्या	३३६	प्राद्युगपागुदक्	१९५

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
द्रव्यं च भव्यं	३५०	द्वयटनः सङ्ख्या	५८	नद्यादिभ्यो ढक्	१९४
द्रोणपर्वतजीव	१४६	ध		नद्यां मतुप्	१९०
द्रोश्च	२३९	धनगणं लब्धा	२५९	नद्यृतश्च	७०
द्वन्द्वं रहस्यमर्यादा	३७६	धनहिरण्यात्कामे	३१२	न द्वयचः प्राच्य	१९८
द्वन्द्वमनोज्ञादि	२९८	धनुपश्च	८१	न नन्पूर्वात्तत्पु	२९५
द्वन्द्वश्च प्राणि	९०	धन्वयोपधाद्वुञ्	२००	न निर्धारणे	२४
द्वन्द्वाच्चुदप	९७	धर्मं चरति	२५०	नपुंसकमनुपुंसकेनै	९९
द्वन्द्वाच्छः	१६९	धर्मपथ्यर्थन्याया	२६०	नपुंसकादन्य	१५
द्वन्द्वाद्बुन्वैरमैथु	२३२	धर्मशीलवर्णा	३२९	न पूजनात्	१०६
द्वन्द्वे वि	८९	धर्मादनिच्छेव	७९	न प्राच्यभ	१६५
द्वन्द्वोपतापग	३२८	धान्यानां भवने	३००	न भक्त्यु	२५८
द्वारादीनां च	२०७	धुरो यढढ्को	२५८	नभ्राणनपात्र	४४
द्विगुरंकवचनम्	३४	धूमादिभ्यश्च	२०१	न मपूर्वोऽप	१५६
द्विगुश्च	१७	ध्वाङ्क्षेण क्षेपे	३१	नखाभ्यां पदा	१४५
द्विगोः छंश्च	२८१	न		नरे संज्ञायाम्	१२९
द्विगोर्यप्	२८७	न कपि	७०	नलोपो नञः	४३
द्विगोर्लुगनपत्ये	१३८	न कंपधायाः	७२	न सङ्ख्यादंः समा	५४
द्विगोर्वा	२८७	नक्षत्राद्वा	१२४	न संज्ञायाम्	८५
द्वितीयतृतीयच	२९	नक्षत्रेण युक्तः	१६८	न सामिवचने	३५५
द्वितीया श्रिता	१७	नक्षत्रेभ्यो बहु	२१४	नस्तद्धिते	१५
द्वितीये चानुपा	१२१	नगरात्कुत्सन	२०१	नहिबृत्तिवृषि	१२७
द्वित्रिचतुर्भ्यः	३५८	न गोपवनादि	१५५	नाढी तन्त्र्याः	८६
द्वित्रिपूर्वादण्च	२७६	न गोऽप्राणिष्व	४४	नातः परस्य	२७१
द्वित्रिपूर्वान्निष्कात्	२७५	नञ्	४३	नान्तादसङ्ख्या	३१०
द्वित्रिभ्यां प मू	७७	नञः शुर्चाश्चर	२२३	नावो द्विगाः	५६
द्वित्रिभ्यां तय	३०८	नञस्तत्पुरु	१०७	नाव्ययीभावा	६
द्वित्रिभ्यामञ्जलेः	५७	नन्दुःसुभ्यो	७९	निकटं वसति	२५७
द्विन्योश्च धमुञ्	३३८	नडशदाद्	१९१	नित्यं वृद्धशरा	२३६
द्विदण्ड्यादि	८०	नडादिभ्यः	१४५	नित्यं शतादि	३११
द्विवचनविभ	३४०	नडादीनां कुक्य	१९१	नित्यं हस्ते	४८
द्विस्तावा त्रिस्तावा	१०६	नते नासिकायाः	३०६	नित्यं क्रीडाजीवि	२८
द्वीपादनुसमुद्रं	२०६	न तौल्यलिभ्यः	१४०	नित्यमसिचक्रजा	७२
द्वस्तीयः	३१०	न दण्डमाणवा	२३३	नित्यत्रोप्सयाः	३७०
द्वेपवंयात्रादञ्	१७१	न दधिपयञा	९४	निर्वृत्तेऽच्छृता	२४५
द्व्यचः	१५०	नदीपौर्णमा	१६	निशाप्रदोपाभ्यां	२०७
द्वयजृद्धाह्यणर्कप्र	२२१	नदीभिश्च	१३	निष्कुलान्निष्को	३६८
द्वयमगाधक	१६३	नद्याः शेषस्यान्य	११४	निष्ठा	८७
द्वयन्तरूपसर्गोभ्यो	१०३			निष्प्रवाणिश्च	८६

सू-म	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
नीती च तद्यु	३४४	परिवृत्तो रय	१७१	पुरुषहस्तिभ्या	३०८
नेन्द्रस्य परस्य	१७७	परिषदो ष्य	२५१, २६२	पुरोऽय्ययम्	४६
नेन्सिद्धवध्नातिषु	११२	परेर्वर्जने	३७१	पुष्करादिभ्यो	३२९
नेधिहस्तिवरी	३०६	परोवरपरम्पर	३०२	पूगान्भ्योऽग्रा	३५२
नौद्वयचष्टन्	२४३	पर्पादिभ्य ङ्	२४३	पूरणगुणसुहिता	२५
नौवयोधर्मविष	२६०	पर्याभिभ्या च	३३२	पूरणाज्ञाने तीया	३३८
न्यग्रोधरय च	२४०	पर्वताच्च	२०४	पूरणार्धाङ्गन्	२७९
प		पर्वादिभ्यो	३५३	पूर्णद्विभाषा	८३
पक्वति	३१	पलाशादिभ्यो	२३६	पूर्वकालेक सर्व	३२
पक्षिमरस्यमृगा	२४९	पद्मात्	३३७	पूर्वपदास्तज्ञायाम्	७८
पक्षिर्वाशिताञ्च	२८२	पाण्डुकम्बला	१७१	पूर्वषदश्ववद्वी	६०
पञ्चदशतौ वर्गे	२८३	पात्राष्टन्	२७९	पूर्वसदशसमोभा	१९
पञ्चमी भयेन	२३	पात्राद्वय	२८४	पूर्वादिनि	३१६
पञ्चम्या स्तोका	१०८	पात्रेसमितादयश्च	३२	पूर्वाधराधराणाम्	३३६
पञ्चम्यास्तसिल्	३३२	पादस्तस्य	३५४	पूर्वापरप्रथम	३७
पुणपादमाषश	२७६	पादस्य पदा	११५	पूर्वापराधरोत्तर	२८
परयन्तपुरोहि	२९७	पादस्य लोपो	८२	पूर्वाह्यापराह्या	२१२
पत्रपूर्वाङ्ग	२३१	पादार्धाभ्या च	३५९	पृथ्वादिभ्य	२९५
पत्राध्वयुं परि	२३२	पान देशे	१३०	पृषोदरादीनि	१२५
पथ अन्य च	२१२	पापाणके	३५	पेथ वासवाहन	११७
पथ प्कन्	२८५	पारस्करप्रभृ	१३५	पैलादिभ्यश्च	१३९
पथो विभाषा	१०७	पारायणपुरा	२८५	पोटापुवतिस्तोक	३९
पथ्यतिथिव	२६२	पाराशर्यंशि	२३०	पौरोडाशपुरो	२९१
पदमस्मिन्दरयम्	२५९	पारे मध्ये षष्ठ्या	१२	प्रकारवचने जातीयर्	३४३
पद्व्यवायेऽपि	१३२	पार्थेनान्विच्छति	३१४	प्रकारवचने याल्	३३५
पदान्तरस्यान्य	२४४	पाशादिभ्यो य	१८०	प्रकारे गुणवच	३७३
पदोत्तरपद	२५०	पिता मात्रा	९९	प्रकृत्याशिपि	७६
पदास्त्यतदर्थे	११६	पितुर्यच्च	२२२	प्रकृत्यैकाच्	३४१
पन्थो ण नित्यम्	२८६	पितृव्यमातु	१७७	प्रकृष्टे ङ्	२९२
परवह्निङ् द्वन्द्वत	६०	पितृत्वसुरङ्गण्	१५३	प्रज्ञादिभ्यश्च	३६२
परशधाट्टञ्च	२५३	पिष्टाच्च	२३७	प्रज्ञाश्रद्धार्चा	३२२
परेस्य च	१०९	पीलायावा	१५०	प्रनिकण्ठार्थ	२५०
परावराधमोत्तम	२०५	पुवल्कर्मधारय	३९	प्रतिजनादिभ्य	२६१
परिखाया ङ्	२६९	पुत्राच्छ च	२७८	प्रतिपथमेति	२५१
परिपन्थ च	२४९	पुत्रान्तादन्य	१६२	प्रतियोगे पञ्चम्या	३६२
परिमाणान्तस्या	२७१	पुत्रेऽन्यतर	११३	प्रतिष्कञ्च	१३४
परिमुख च	२४८	पुमान्निध्या	९८	प्रतेदरस सप्तमी	१०६
		पुराणप्रोक्तेषु	२२८	प्रत्ययोत्तरपद	२०५

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
प्रथमानिर्दिष्टं	५	प्रावृष पुण्यः	२०७	भ	
प्रधानप्रत्ययार्थ	१८९	प्रावृषपृष्	२०९	भक्ताणः	२६१
प्रतिरन्तः शरेक्षु	१३०	प्रियस्थिरस्फिर	३४२	भक्तादणन्य	२५६
प्रभवति	२२३	प्रोक्ताल्लुक्	१८४	भक्तिः	२२६
प्रमाणे द्वयसच्	३०७	प्लक्षादिभ्योऽण्	२३९	भक्षणेण मिश्रीकर	२१
प्रयच्छति गर्ह्यम्	२४८	फ		भर्गात्त्रैगर्त	१४८
प्रयोजनम्	२९२	फक्विजोरन्य	१४०	भवतएक्छुसौ	१९८
प्रवाहणस्य हे	१५१	फले लुक्	२३९	भस्त्रादिभ्यः	२४५
प्रशंसायां रूपप्	३४३	फल्गुनीप्रोष्ठपदा	६२	भागाद्यच्च	२८०
प्रशंसावचनैश्च	४०	फाण्टाहतिमि	१६०	भिन्नादिभ्योऽण्	१७८
प्रशस्यस्य श्रः	३४१	फेनादिलच्च	३२२	भीरोः स्थानम्	१२३
प्रसंभ्यां जानु	८१	फेरलृ च	१६०	भूतपूर्वं चरट्	३३९
प्रस्कण्वहरिश्च	१३४	च		भूपणेऽलम्	४६
प्रस्थपुरवहा	२००	वन्धने चर्पां	२६१	भौरिक्याद्यैपुका	१८१
प्रस्थोत्तरपद	१९७	वन्धुनि बहु	११९	भ्रातरि च ज्यायसि	१४२
प्रहरणम्	२५३	वन्धे च विभापा	१११	भ्रातृर्व्यच्च	१५९
प्राक्छादारात्स	२	वलादिभ्यो मतु	३२९	भ्रातृपुत्रौ स्वनृदु	९९
प्राक्क्रीताच्छुः	२६४	वहुपूगणस	३१०	भ्रुवो चुक्च	१५१
प्रागिवात्कः	३४३	वहुग्रीहौ सक्थ्य	७७	म	
प्रागेकादशभ्यो	३३९	वहुग्रीहौ संख्येये	७७	मड्डुकक्षर्शरादण	२५३
प्राग्विताद्यत्	२५८	वहोर्लोपो भू	३४२	मतजनहलात्करण	२६१
प्राग्विदशो विभक्ति	३३१	वह्लच इजः प्राच्य	१५४	मतोश्च वह्लजद्वात्	१८६
प्राग्दीन्यतोऽण्	१३६	वह्लचः कृपेपु	१८७	मतौ छुः सूक्तसान्नोः	३११
प्राग्वतेष्टन्	२७०	वह्लचोऽन्तोदात्ता	२२०	मर्ता वह्लचोऽन	१२८
प्राग्वहतेष्टक्	२४२	वह्लचो मनुष्य	३४४	मद्रवृज्याः कन्	२०२
प्राचां कटादेः	२०३	वह्लचपूर्वपदा	२५५	मद्रात्परिवापणे	३६९
प्राचां ग्रामनगरा	२११	वह्लत्पार्थाच्छु	३६२	मद्रेभ्योऽण्	१९७
प्राचां नगरान्ते	२१७	वाह्लादिभ्यश्च	१४४	मधुचभ्रवोर्ब्राह्मण	१४७
प्राचामवृद्धा	१६२	विल्वकादि	१९१	मध्याद्गुरौ	११०
प्राचासुपादे	३४५	विल्वदिभ्यो	२३५	मध्यान्मः	२०६
प्राणभृजाति	२९७	विस्ताच्च	२७५	मध्यपदे निवचने	४८
प्राणिरज्जतादि	२३८	वृहत्या आच्छादने	३५५	मध्वादिभ्यश्च	१९०
प्राणिस्था	३२१	ब्रह्मणस्त्वः	२९९	मनयः संज्ञायाम्	१०९
प्रातिपदिकान्त	१३१	ब्रह्मणो जानपदा	५७	मनुष्यतन्वयोः	२०२
प्राध्वं वन्धने	४८	ब्रह्महस्तिभ्यां	१०५	मनोजातावन्यतो	१६२
प्राप्तापन्ने च	३०	ब्राह्मणकोष्णिके	३१३	मन्योर्दाननवक्तुवि	११७
प्रायभवः	२१४	ब्राह्मणमाणव	१७९	मयट् च	२२३
प्रावृट्शरत्काल	१११	ब्राह्मोऽजातौ	१५७		

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
मयङ्वैतयोर्भाषा	२३६	यावादिभ्य कन्	३६०	रोणी	१८७
मयूरच्यसकादयश्च	४२	युवा खलतिपलित	४०	रोपधेतो प्राचा	२००
मस्करमस्करिणा	१३४	युवाल्पयो	३४२	त	
महाकुलाद्वस्त्रौ	१५८	युवोरनाकौ	१७८	लक्षणेनामिप्रती	११
महाराजप्रोष्ठपदा	१७६	युष्मदस्मदोरन्यतर	२०४	लवणाद्वज्	२५२
महाराजाद्वज्	२२६	यूनि लुक्	१३९	लवणाद्वलुक्	२४७
महेन्द्राद्वाणौ च	१७५	ये च तद्धिते	२६५	लाञ्छारोचना	१६८
माणयचरकाम्या	२६७	ये चाभावकर्मणो	१५६	लुक्कितलुकि	२१३
मातरपितराखुदीचा	९७	येषा च विरोध	९२	लुक्छियाम्	१४८
मातु पितृभ्यामन्य	११३	योगप्रमाणे च तद्	१८९	लुपि युक्त्वद्वयपि	१८८
मातुरुसव्यास	१४९	योगाद्यच्च	२९२	लुप्च	२४०
मातृपितृभ्या स्वसा	११३	योजन गच्छति	२८५	लुवविरोपे	१६९
मातृत्वमुश्च	१५३	योषधाद्युत्सपोत्तमात्	२९८	लु योगाप्रख्यानात्	१८९
माघोत्तरपदपद्वय	२५०	र		लुम्मनुष्ये	३४९
माहुपधायाश्च मतो	३२०	रक्षतो हलादेर्लघो	२९५	लोकसर्वलोकाद्वज्	२७८
मानपक्षयो	३३९	रक्ते	३६१	लोपो ष्योर्बलि	८१
माने वय	२३९	रक्षति	२४९	लोमादिषामादि	३२२
मासाद्वयसि	२८७	रक्षोरमनुष्येऽणश्च	१९५	लोहितात्मणौ	३६०
मित्रे चर्यौ	१२९	रज कृष्यामुति	३२४	य	
मुद्रादण्	२४७	रजवदयोश्च	१२४	वत्तण्हाश्च	१४७
मूलमस्यावर्हि	२६०	रथाद्यत्	२३१	वतोरिद्वा	२७३
मृदस्तिकन्	३६२	रसादिभ्यश्च	३१९	वतोरियुक्	३१०
		राजदन्तादिषु	८९	वत्सशालामिनि	२१४
		राजम्यादिभ्यो वुञ्	१८१	वत्सासाम्पो काम	३२२
यज्ञविरम्या घञ	२८४	राजम्बान्तीराज्ये	३२१	वत्सोच्चाश्चर्यभेग्य	३४७
यज्ञोश्च	१४७	राजभञ्जुराद्यत्	१५६	वन पुरगामिभ्रका	१२७
यभिजोश्च	१४६	रानाहसतिभ्यश्च	५३	वनगिर्यो सम्ज्ञायाम्	१२७
यत्तद्वैतस्य परिमाणे	३०८	राज्ञ क च	२०३	वन्दिते भ्रातु	८५
यथातयायथापुरयो	२९६	रात्राद्वाहा पुंसि	६०	वयसि दन्तस्य	८२
यथामुखसंमुखस्य	३०१	रात्रे कृति विभाषा	१२०	वयसि पूरणात्	३२८
यथासाद्वये	९	रान्यह सवसराच्च	२८७	वरणादिभ्यश्च	१९०
यथास्वे यथाययम्	३७५	राष्ट्रावारपाराद्वसौ	१९४	वर्गान्ताच्च	२१९
यव्यवचरपट्टिकाद्यत्	३००	रीकृत	१७६	वर्चस्केऽवस्कर	१३३
यस्कादिभ्यो गोत्रे	१५४	रूपादाहतप्रशसयो	३२६	वर्णदटादिभ्य	२९५
यस्य चायाम	११	रेवत्यादिभ्यश्च	१५९	वर्णाद्ब्रह्मचारिणि	३२९
यानकादिभिश्च	२४	रैवतिकादिभ्य	२३३	वर्णे चानित्ये	३६०
याप्ये पाशप्	३३८	रोमाश्चापनयने	३६४	वर्णो वर्णेन	४१
यावद्वधारणे	९			वर्णो लुक्	१९५

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
वर्षस्याभविष्यति	२८८	विप्रतिपिद्धं चान	९४	बुच्छृष्कठजि	१८८
वर्षाभ्यष्टक्	२०८	विभाषा	१०	वृकाट्टेयण्	३५३
वर्षाल्लुक च	२८८	विभाषा कार्पापण	२७५	वृद्धस्य च	३४१
वले	१२८	विभाषा कुरुयुगं	२०२	वृद्धाच्छः	१९८
वशं गतः	२५९	विभाषा कृजि	४७	वृद्धाष्टकसौवी	१६०
वसन्तादिभ्यष्टक्	१८३	विभाषा चत्वारिंश	५९	वृद्धात्प्राचाम्	१९९
वस्तेर्दञ्	३५०	विभाषाञ्चेरदिक्रियां	३५६	वृद्धादकेकान्त	२०३
वस्नक्रयविक्रयाट्टन्	२४४	विभाषा तिलमापो	३००	वृद्धिनिमित्तस्य च	७३
वस्त्रद्रव्याभ्यां	२८०	विभाषा परावरा	३३७	वृद्धिर्यस्याचा	१९८
वाकिनादीनां कु	१६२	विभाषा पुरुषे	१२५	वृद्धेत्कोसला	१६३
वाक्यादेरामन्त्रित	३७१	विभाषा पूर्वाह्णाप	२०९	वृद्धो यूना तल्ल	९८
वा वोपमिश्रशब्देषु	११६	विभाषा फाल्गुनी	१७४	वृन्दारकनाग	३८
वाचोग्मिनिः	३२७	विभाषा वहोर्धा	३५८	वेः शालच्छृङ्ग	३०५
वाचोव्याहृतार्था	३६१	विभाषा मनुष्ये	२०४	वेतनादिभ्यो	२४४
वातातीसाराभ्यां	३२८	विभाषा रोगातप	२०७	वैयाकरणाख्यायां	१०९
वान्यस्मिन्सपिण्डे	१४२	विभाषाऽवरस्य	३३६	वोपसर्जनस्य	७६
वा बहूनां जाति	३४८	विभाषा वर्षत्तर	१११	व्यञ्जनैरूप	२४७
वा भावकरणयोः	१३१	विभाषा विवधं	२४५	व्यन्सपत्ते	१५९
वामदेवाड्ढ्यंढ्यौ	१७०	विभाषा वृत्तमृगतृण	९३	व्याहरति मृगः	२१६
वाय्वृतुपिष्टुपसो	१७६	विभाषा श्यावा	८३	व्युष्टादिभ्योऽण्	२९१
वा शोकप्यन्तोगेषु	११५	विभाषा समीपे	९५	व्रातच्छ्रजोः	१४५
वासञ्ज्ञायाम्	८१	विभाषा साति	३६५	व्रातेन जीवति	३०४
वासुदेवार्जुनाभ्यां	२२६	विभाषा सुपो बहुच्	३४३	व्रीहिशार्दोर्दक्	३००
वा ह च छन्दसि	३३३	विभाषा सेनासुरा	६५	व्रीहेः पुरोडाशे	२३७
वाहनमाहितात्	१३०	विभाषा स्वस्त्वयोः	११३	व्रीह्यादिभ्यश्च	३२५
वाहिताग्न्यादिषु	८७	विभाषा हविरपृषा	२६४	श	
वाहीकप्रामेभ्यश्च	१९९	विभाषापोदरे	१२२	शकटादण्	२५८
विंशतिकात्स्वः	२७५	विभाषापोशीनरेपु	१९९	शक्तियष्टधोरी	२५३
विंशतित्रिंशद्भ्याम्	२७३	विभाषापोपधि	१३०	शण्डिकादिभ्यो	२२५
विंशत्यादिभ्यस्त	३११	विमुक्तादिभ्यो	३१२	शतमानविंशतिक	२७३
विकर्णकुपीतका	१५०	विशाखापाढाद	२९२	शतसहस्रा	३२६
विकर्णशुद्धच्छृग	१४९	विशिष्टलिङ्गो	९२	शताच्च टन्यताव	२७२
विदूराब्ज्यः	२२३	विशेषणं विशेषे	३६	शदन्तविंशतेश्च	३०९
विद्यायोनिसम्बन्धे	२२२	विशेषणानां	१८९	शब्ददुर्दुरं करोति	२४९
विध्यत्यधनुषा	२५९	विषयो देशे	१८०	शम्या प्लज्	२३६
विनब्भ्यां नानाजौ	३०५	विष्किरः	१३३	शयवासवासि	१११
विनयादिभ्यष्टक्	३६१	विसारिणो	३५७	शरद्वच्चुनक	१४६
विन्मतोर्लुक्	३४२				

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
शरादीना च	१२८	धोत्रियश्चन्द्रो	३१६	सशयमापन्न	२८५
शरीरावयवाच्च	२१७	शराणाद्भुज	२४४	ससृष्टे	२४६
शरीरावयवाद्यत्	२६५	शशुर शश्रा	९९	सस्फुन भवा	१७२
शर्करादिभ्योऽण्	३५१	शसस्तुट् च	२०७	सस्फुतम्	२४२
शर्कराया वा	१९०	शसोवसीय	१०५	सहितायाम्	१२६
शालालुनोऽन्य	२५३	शदेरिति	२४४	सहयुयं	२९७
शाकलाद्वा	२३२	प		सङ्कलादिभ्यश्च	१८७
शाखादिभ्यो	३५०	पट्कृतिकतिपय	३१०	सङ्कषयाभ्यया	७४
शाणाद्वा	२७६	पम्मासाण्यश्च	२८७	सङ्कषापूर्वो	३४
शालोनकौपीने	३०४	पपूर्वहन्ष्ट	१५७	सङ्कषाया भतिश	२७२
शिलाया घलच्	१९१	पटिका पटिरा	२८९	सङ्कषाया भव	३०८
शिलाया व	३५०	पट्वादेश्चास	३११	सङ्कषाया क्रिया	३५८
शिवपम्	२५३	पट्टाष्टमाभ्यां	३३९	सङ्कषाया सज्ञासं	२८२
शिवादिभ्योऽण्	१४८	पट्टी	२३	सङ्कषाया सरस्तर	२८७
शिष्टकन्दयम्	२२४	पट्टया आक्रोशे	११२	सङ्कषाया गुणस्य	३०९
शितौष्णाभ्या	३१३	पट्टया रूप्य	३३९	सङ्कषाया विधायै	३३८
शीर्षं च्छेदाद्यच्च	२८३	पट्टया व्याभये	३६३	सङ्कषायाश्च गुणा	३६८
शीलम्	२५४	प्यङ् सप्रसार	११८	सङ्कषा वश्येन	१३
शुक्राद्वा	१७५	स		सङ्कषासु पूर्वस्य	८२
शुण्डिकादिभ्योऽण्	२२२	स एषा ग्रामणी	३१५	सङ्कष्यैकवचनाच्च	३६२
शुभ्रादिभ्यश्च	१५०	सज्ञापूरण्योश्च	७३	सङ्क्षामे प्रयोजन	१८१
शुभ्रागामनिर	९२	सज्ञायाम्	३१	सङ्क्षाल्लक्षणेष्व	२३२
शुर्पादभ्यतर	२७३	सज्ञायाम्	३२०	सत्यादशपथे	३६९
शूला पाके	३६९	सज्ञायाम्	२३१	सद्यपदपरार्थे	३३४
शूलोखाद्यत्	१७२	सज्ञाया ललाट	२५१	स नपुंसकम्	६२
शृङ्खलमस्य	३१५	सज्ञाया शरद	२०९	सन्धिबेलाद्युतु	२०७
शैवलसुपरि	३४६	सज्ञाया श्रवणा	१६९	सन्महत्परमो	३८
शेषाद्विभाषा	८४	सज्ञायां कन्	२३७	सपत्रनिष्पत्रा	३६८
शेषे	१९३	सज्ञाया कन्	३४४	सपूर्वाच्च	३१७
शेषो बहुव्रीहि	६६	सज्ञाया कन्	३४७	ससमीविशेषणे	८६
शौनकादिभ्य	२२९	सज्ञाया कन्योशी	६३	ससमी शीण्डे	३०
शेयेनतिलस्य	१८१	सज्ञाया च	३४९	ससम्यास्त्रल्	३३२
श्रविष्ठाफल्यु	२१३	सज्ञाया जन्या	२५९	सभाया य	२६२
श्राणामासौ	२५६	सज्ञाया धेनुष्या	२६०	समा राजाऽमनुष्य	६४
श्राद्धमनेन	३१६	सज्ञाया मन्मा	३२९	समयस्तदस्य	२९२
श्राद्धे शरद	२०७	सयोगादिश्च	१५६	समयाच्च यापना	३६८
श्रेण्यादय	३७	सबसराग्रहायणी	२१६	समर्थः पदविधि	१

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
समर्थानां प्रथ	१३६	साल्वेयगा	१६३	स्त्रीषु सौवीरसाल्व	१८७
समवायान्तरम्	२५१	सास्मिन्पौर्णमा	१७३	स्थण्डिलाच्छ्रयि	१७२
समांसमां विजा	३०२	सास्य देवता	१७४	स्थानान्तगोशाल	२१४
समानतीर्थे वासी	२६२	सिकताशर्क	३२३	स्थानान्ताद्विभाषा	३५७
समानस्यच्छ्र	१२१	सिति च	१७९	स्थालीविलात्	२८४
समानोदरे शयि	२६३	सिद्धशुष्कपक्व	३१	स्थूलदूरयुवहस्व	३४१
समापनात्सपूर्व	२९३	सिध्मादिभ्यश्च	३२२	स्थूलादिभ्यः प्रकार	३५४
समायाः खः	२८७	सिन्धुतक्षि	२२५	स्थे च भाषायाम्	११२
समासाच्च तद्धि	३५१	सिन्ध्वपकराभ्याम्	२१२	स्वयं क्तेन	१८
समासान्ताः	१४	सुखप्रियादानुलो	३६८	स्वसुरश्चः	१५९
समासेऽद्भुलेः	१२३	सुखादिभ्यश्च	३२९	स्वागतादीनाञ्च	२४२
समूहवच्च बहुषु	३५९	सुधातुरकङ् च	१४४	स्वाङ्गाच्चेतः	७४
सम्पादिनि	२९१	सुपो धातुप्राति	४	स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते	३१२
सम्प्रसारणस्य	११८	सुप्प्रतिना मात्रार्थे	१०	स्वामिन्नैश्चयं	३२८
सम्प्रोदश्च कटच्	३०६	सुप्रातसुश्वसुदि	९९		
सम्भवत्यवहरति	२८०	सुवास्त्वादिभ्यो	१८७	ह	
सम्भूते	२१५	सुपामादिषु च	१२३	हरत्युत्सङ्गादिभ्यः	२४५
सर्वचर्मणः कृतः	३००	सुसर्वाधाञ्जनपद	२१०	हरितादिभ्यो	१४५
सर्वत्राण् च तलोपश्च	२०८	सुहृदुहृदौ मित्रा	८४	हरीतक्यादिभ्यः	२४०
सर्वपुरुषाभ्यां	२६७	सूत्राच्च कोपधात्	१८५	हृदन्तात्सप्तम्याः	१०९
सर्वभूमिपृथिवी	२७८	सेनान्तलक्षण	१६१	हलसीराट् टक्	२५९
सर्वस्य द्वे	३७०	सेनाया वा	२५१	हलसीराट् टक्	२३२
सर्वस्य सोऽन्यतर	३३१	सोदराद्यः	२६३	हस्ताज्जातौ	३२९
सर्वैकान्यकिञ्चत्तदः	३३३	सोमाद्वयण्	१७६	हायनान्तयुवा	२९७
सत्तौ प्रशंसायाम्	३६२	सोऽस्य निवासः	२२५	हितं भक्ताः	२५५
सस्येन परिजातः	३१३	सोऽस्यांशवस्त्रभृत	२८२	हिमकापिहति	११६
सह सुपा	३	सोऽस्यादिरिति	१८१	हीयमानपापयो	३६३
सहस्य सः संज्ञायाम्	१२१	स्तेनाद्यञ्जलोप	२९६	हृदयस्य प्रियः	२६१
साक्षात्प्रभृतीनि च	४८	स्तोकात्तिकदृरार्थ	२३	हृदयस्य हल्लेख	११५
साक्षाद् द्रष्टरि	३१७	स्त्रियाः पुंवङ्गापित	६७	हृद्गसिन्ध्वन्ते	१५२
सात्पदाद्योः	३६५	स्त्रियां संज्ञायाम्	८३	हेतुमनुष्येभ्यो	२२३
साप्तपदीनं सद्यं	३०४	स्त्रियामवन्तिकु	१६५	हैयङ्गवीन संज्ञा	३०५
सामि	१८	स्त्री पुंवच्च	९८	होत्रादिभ्यश्चः	२९८
सायञ्चिरग्राले	२०८	स्त्रीपुंसाभ्यां	१३८	हस्वात्तादौ तद्धि	१९६
साल्वावयव	१६४	स्त्रीभ्यो टक्	१५०	हस्व	३४७

द्विरुक्तान्त-वार्तिक सूची

वार्तिक	पृष्ठाङ्क	वार्तिक	पृष्ठाङ्क	वार्तिक	पृष्ठाङ्क
अ		अर्थाद्यासस्त्रिहिते	३२९	इकारादाविति वा	२४४
अक्चमरुणे तूष्णी	३४४	अर्थेन नियममासो	२२	इके चरताडुपसत्या	११६
अकारान्तोत्तरपदो	६२	अर्धाचेति यत्तन्मम	२७३	इत्येऽनभ्यासस्य	१२०
अगोवसहलेष्विति	७६	अर्हतो नुम च	२९६	इदम इश् समसण्	३३५
अग्निकलिभ्यादश्व	१३७	अलावृत्तिलोमाम	३०६	इयमोऽशभावो	३३५
अग्नाध शरणे	२३१	अवरस्योपसत्यानम्	१९	इयडुवड्भावितम्	११७
अग्नादिपश्चाद्दिमच्	२०८	अवर्णान्ताद्वा	१०३	इरिकादिभ्य प्रति	१३०
अङ्गचतुर्थमन्त्रिपूर्वा	१८२	अवादय प्रष्टाचर्ये	४९	इवन समासो	४
अचिशीर्ष इति	२६५	अधारपाराद्विगृही	१९४	ई	
अङ्गस उपसत्या	१०८	अवेर्दुग्धे	१७७	ईकश्च	१३७
अतद्धित इति वा	१३२	अव्ययस्य स्वाधीय	३६४	ईयसो बहुव्रीहेर्नेदि	८५
अत्यादय ज्ञान्ता	४९	अव्ययाना भमात्रे	१९५	ईपद्गुणवचनेनेति	४३
अद्रुतायामसहितम्	४३	अरमनो विकारे	२३५	उ	
अद्वन्द्वतत्पुरुषविशे	९९	अष्टन कपाले	५८	उत्तरपद यत्प्राति	१३१
अधमाचेति वक्त	२५०	असमासवद्भावे	३७४	उत्तरपदस्य चेति	११७
अध्यामादष्टभिज्य	२१९	अस्मिन्नर्थेऽण द्विद्वा	१७०	उत्तरपदेनपरिमाणिना	३०
अनजादौ च विभा	३४५	अहर्ग्रहण द्वन्द्वार्थम्	५२	उत्तरादाहन्	१९६
अनानलोपश्च वा	६२	अह् स मत्तौ	१७९	उपधिशब्दात् स्वाध	२६८
अनेकप्राप्तावेकत्र	८९	आ		उवर्णाह् इलस्य च	३४५
अनेकशर्षेष्वाति	१००	आकर्पात्पदि	२५७	उष्णभत्रयो करणे	१२०
अन्ताच्च	११०, २०८	आकालाटश्च	२९३	ञ	
अन्येभ्योऽपि हरयते	३२४, ३२६	आरयानाख्यायि	१८२	अनुनच्चाणा समा	९०
अपरस्याध पश्चभावो	३७	आग्नीध्रसाधारणा	३६०	अतोबुद्धिर्माद्विधा	२१०
अपीक्वादीनामिति	१२८	आचार्यादणवञ्च	२६६	अवगादपि	३४५
अपोयोनियन्मतुषु	१११	आद्यादिभ्य उपस	३६३	ए	
अभित परित	७	आनुपूर्व्ये द्वे वाच्ये	३७३	एकविभक्तावपष्टयन्त	२९
अभूततद्भाव इति	३६४	आवन्तो वा	६२	एकाक्षरपूर्व	३४६
अभ्यहितञ्च	९०	आमयस्योपस	३२६	एकाक्षो नियम	२३६
अत्रकृसादीनामिति	११७	आमुप्यायणामुप्य	११२	एतद्वाच्य	३३५
अमानिनीति वक्ष्य	७४	आहृतप्रकरणे धारि	२८६	ओ	
अमेहवतसिन्नेभ्य	१९५	आह्रीप्रभूनादिभ्य	२४२	ओकारसकारभ	३४४
अरण्याण	१९६	इ			
अर्णसोलोपश्च	३२४	इकन्पदोत्तरपदाच्च	१८२		

वार्तिकं	पृष्ठाङ्कः	वार्तिकं	पृष्ठाङ्कः	वार्तिकं	पृष्ठाङ्कः
क		गिलेऽगिलेऽय	१२०	तदन्ताच्च	३२९
कच्छ् वा ह्रस्ववं च	३२३	गुणवचनेभ्यो सुतुपो	३२०	तदस्मिन्वर्तते	१७७
कप्रत्ययनिकादेशा	३०६	गुणात्तरेण तरलोप	२४	तदाहेति	२४२
कम्बोजादिभ्य इति	१६५	गौरजादिप्रसङ्गे	१३७	तदो दावचनमनर्थकं	३३४
कर्मप्रवचनीयानां	४९	गोष्ठजादयः	३०६	तद्वृहतोः करपत्योः	१३५
कर्मव्यतिहारे	३७४	घ		तप्पर्वमरुद्धयाम्	३२७
कारके छे च नायम्	१२४	वोपग्रहणमपि क	२३२	तस्येतमित्यपत्येऽपि	१४०
कारिकाशब्दस्योप	४५	घ्यन्तादजाद्यन्तम्	९०	तावतित्येन गृह्णाति	३१४
कार्पाषणाद्विठन्	२७३	च		तिलाग्निफला	१७७
कुक्कुट्यादीनामण्डा	७२	चञ्चद्वृहतोरुप	३५५	तीयादीकक् स्वार्थं	३३९
कुत्सित इति वक्तव्यम्	३२७	चटकास्येति वाच्यम्	१५२	त्यदादितः शेषे पुन	९९
कृद्योगा च पष्ठी	२४	चतुरश्रयतावाद्य	३१०	त्यदादीनां फिञ्वा	१६२
कृन्नद्या न	११४	चतुर्थाद् च	३४५	त्यदादीनां मिथः	९९
कृष्णोदक्पाण्डुसंख्या	१०४	चतुर्थादनजादौ	३४५	त्यवनेध्रुव इति	१९५
केवलायाश्चेति	२७६	चतुर्थ्यर्थ	२७९	त्रौ च	१२४
कोपधप्रतिपेधे	७३	चतुर्मासाण्यो	२८९	घ्युपाभ्यां चतुरो	१०४
कौपिञ्जल	२३३	चतुर्वर्णादीनां	२९६	त्वतलोर्गुणवचनस्य	७०
क्रिया समभिहारे च	३७४	चरणाद्धर्माज्ञाय	२३२	द	
क्रोशशतयोजनश	२८५	चित्रारेवती	२१३	दिक्छन्देभ्यस्तीर	१२५
क्लिन्नस्यचिल्लिप्लश्च	३०७	चिरपरुपरारिभ्यः	२०८	दिवश्च दासे	११२
क्षत्रियसमानशब्दा	१६३	चुल् च	३०७	दुरादेत्यः	१९६
ख		च्यर्थ इति वाच्यम्	४८	दुरो दाशनाशदभ	१२५
खप्रत्ययानुत्पत्तौ	३०२	छ		दृष्टे चेति व	१२२
खलतिकादिपु	१९०	छागवृपयोरपि	१६१	दृशिग्रहणाद्भवदादि	३३३
खलादिभ्यः इनिः	१८०	ज		देवाद्यज्जौ	१३७
खुरखराभ्यां वा णस्	७८	जातार्थे प्रतिप्रसूतो	२१४	देवानांप्रिय इति	११२
ख्यश्च	७९	जातिकालसुखादि	८७	दोष उपसंख्यानम्	१७३
ग		ज्योत्स्नादिभ्य उ	३२३	द्युश्रोभयाद्भक्त्यः	३३५
गच्छतौ परदारादिभ्यः	२४२	ठ		द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरं	३३
गजसहायाभ्यां	१७९	ठक्छसोश्च	७१	द्वयच्यञ्चामेव	१३०
गङ्वादेः परा सप्तमी	८६	ड		द्विगुप्राप्तापञ्चालम्पू	६०
गणिकाया यजिति	१७९	डाचि विवक्षिते	३६७	द्विगोर्नित्यम्	३०७
गन्धस्थेत्वे तदेकान्ते	८१	त		द्वितीयं सन्ध्यत्तरं	३४६
गम्यादीनामुपसंख्यानम्	१७	ततोऽभिगमनम्	२८५	द्वित्वं गोयुगच्	३०६
गवि च युक्ते	५८	तत्पचतीति	२८०	ध	
गिरिनद्यादीनां वा	१३१			धमुपन्तात्स्वार्थं	३३८
गिलगिले च	१२०			धर्माद्रिप्वनियमः	८९

वार्तिक	पृष्ठाङ्क
धेनोर्मव्यापाम्	१२०
न	
नगपासुपाण्डुम्यञ्च	३२३
नश्रो नलोपस्तिङि	४३
नश्रोऽस्त्यर्थानां वा	६६
नराच्चेति	२५२
नवस्यान् आदेश	३५९
न विद्याया	३३९
नश्च पुराणे प्रात्	३३९
नञ्चासिक्काया	२६५
नान्तस्य टिलोपे	२२९
नियमात्रेदिते डा	३६७
निरादय कान्ताद्यर्थे	४९
निष्क चेति वाच्यम्	११६
निष्के गते	१९५
नील्वा अन्	१६८
नुनञ्चरे अव्यक्त्य	७८
प	
पञ्चजनादुपसर्ग्या	२६६
पञ्चाद्वाद्ये	२३२
पथ सख्याभ्ययादे	६२
पथ्यध्यायन्याय	२०१
परस्मादेष्ट्यहनि	३३५
परिमुखादिभ्य	२१८
परेर्वर्जने वा वचनम्	३७१
पर्यायस्यैवेप्यते	६४
पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे	४९
पर्थां णस् वक्तव्य	१७९
पश्यराजभ्यां चेति	१०५
पाण्डोर्बर्ण्ण्	१६३
पात्राद्यन्तस्य न	६२
पादशतप्रहणम्	३५४
पिञ्जरश्चन्दसि ङिञ्च	१७७
पितुभ्रातरि ध्यत्	१७७
पिशाचाच्च	३२८
पीताल्कन्	१६८
पुवद्वावप्रतिपेधोऽप्य	६९

वार्तिक	पृष्ठाङ्क
पुसानुजो जनुपान्य	१०८
पुण्यसुदिनाभ्यामह	६२
पुरपाद्वधविकार	२६७
पुष्पमूलेषु	२४०
पूरण इति वक्तव्यम्	१०९
पूरोरङ्गवक्तव्य	१६३
पूर्णमासादव्यक्त्य	१७७
पूर्वपूर्वतरयो	३३५
पूर्वादिभ्यो	३३५
पृच्छती सुजाता	२४२
पृथिव्याप्राप्तौ	१३७
पृथुमृदुमृदुकृश	२९५
पृष्ठादुपसंख्यानम्	१७९
प्रकृतिप्रत्ययार्थ	३०९
प्रकृत्या अके	१७८
प्रतिपदविधाना	२४
प्रमाणपरिमाणा	३०७
प्रमाणे ण्	३०७
प्रयोजन सुप्लोष	३७३
प्रहरणार्थेभ्यः परे	८७
प्राक्शताद्वक्तव्यम्	५९
प्राण्यङ्गाच्च	३२८
प्रादयो गताद्यर्थे	४९
प्रादिभ्यो घातुजस्य	६६
प्रायस्य चित्तिचि	१३५
फ	
फलपाकशुपामुप	२४०
फलबर्हाम्यामिन्ध	३२६
फलसेनावनस्पति	९३
फल्गुन्यपाढाम्या	२१३
ब	
बलादूल्	३२६
बहिपटिलोपो यञ्च	१३७
बहुपूर्वाच्चेति	२७५
बह्वर्थायान्मङ्गला	३६२
बाह्वर्ध्वपदाद्वलात्	३२९
ब्रह्मवर्षसादुप	२७८

वार्तिक	पृष्ठाङ्क
ब्राह्मणाच्छसिन	१०८
भ	
भद्राच्चेति वक्तव्यम्	३६९
भयभीतभीतिभी	२३
भवने क्षेत्रे शाकट	३०६
भवार्थे तु लुङ्वाच्च	१३७
भस्यादे तद्धित	७१
भागरूपनामभ्यो	३५९
भावप्रत्ययान्ता	२४६
भूमनिन्दाप्रशंसासु	३१९
भ्रातृन्यायस	९०
भ्रातृगन्धोरिन्धे	१२०
म	
मनुष्यलुपि	१९०
महत आधे घास	५८
महाजनाद्वज्र	२६६
महानाम्यादिभ्य	२८९
महिपाच्चेति	१९१
मातृजमातृकमातृषु	११९
मातरि पिञ्च	१७७
मातृहुलच्च	१७७
मातृपितृभ्यां पितरि	१७७
मिथोऽनयो समासे	८६
मुख्यार्थान्तकथ	१८२
य	
यज्ञविभ्या	२८४
यवखदादिभ्यङ्क	३२५
युवादेर्न	१३१
यूनश्च कुसाया	१४२
र	
रभ्रकरणे खमुल्लङ्घ	३२३
राज्ञो जातावेवेति	१५६
ल	
लङ्घचर पूर्वम्	९०
लिङ्गाद्यन वा	३६०
लोकस्य णे	१२०
लोपः पूर्वपदस्य	३४५

वार्तिक	पृष्ठाङ्कः	वार्तिक	पृष्ठाङ्कः	वार्तिक	पृष्ठाङ्कः
लोभोऽपत्वेपु	१३७	व्यासवरुडनिपाद	१४४	समिधामाधाने	२३१
व		श		सम्भ्रमेण प्रवृत्तौ	३७४
वटकेभ्य इनिर्वाच्यः	३१६	शकलकर्दमाभ्याम्	१६८	सर्वजनाद्वञ्	२६६
वत्वन्तात्स्वार्थे	३०७	शतरुद्राद् च	१७५	सर्वत्राग्नि	१७४
वर्णानामानुपूर्व्येण	९०	शतपष्ठेः पिकन् पयः	१८२	सर्वनामसंख्ययोरुप	८६
वाकेशेषु	२६५	शसि बह्वर्थास्य	७०	सर्वनाम्नो	३३, ७२
वा गोमयेपु	२०१	शाकपार्थिवादीनां	३८	सर्वाणो वेति	२६७
वातात्समूहे	३२७	शिखामालासं	३२५	सर्वादेः सा	१८२, २९६
वातपित्तश्लेष्मभ्यः	२७७	शीतोष्णतृप्रेभ्यः	३२६	सर्वादेश्व	३२९
वा नामधेयस्य	१९८	शीले को मलोपश्च	३४४	सर्वोभयार्था	३३२
वा प्रियस्य	८६	शुनो दन्तदंष्ट्राकर्म	१२९	सविशेषणस्यप्रतिषेध	६२
वायुशब्दप्रयोगे	९०	शृङ्गचून्दाभ्यामार	३२६	सहायाद्वा	२९८
वाग्दिकपर्यद्भ्यो	११२	शोफपुच्छलाङ्गुलेषु	११२	सामान्ये नपुंसकम्	६२
वा हितनाम्न इति	१५६	श्रविष्ठापाढाभ्यां	२१३	सुसर्वाधदिवच्छब्दे	२१०
वाहेस्तुरिण्ट् च	२३१	श्रेण्यादिपुच्छ्यर्थवचनं	३७	सूत्रान्तात्त्वकत्वा	१८५
विद्यायोनिसम्बन्धे	११३	श्रोत्रियस्य यलोपश्च	२९७	स्तोमे ढविधिः	२८१
विद्यालक्षण	१८२	प		स्त्रियामपत्य	१५२
विनापि प्रत्ययं	३४५	पट्त्वे पङ्गवच्	३०६	स्त्रीनपुंसकयोरुत्तर	३७४
विभाजयितुर्णि	२५२	पप उच्चं दतृदशधा	५९	स्थाम्नोऽकारः	१३७
विरूपाणामपि	९८	पपष्ठाजिदि वचना	३४६	स्थेणोर्लुङीति वक्त	९१
विशासितुरिड्लोप	२५२	स		स्नेहेतैलच्	३०६
विष्णो न	९६	संज्ञायामण्	२८९	स्वरूपस्य	२४९
विष्वगित्युत्तर	३२२	संज्ञायां स्वार्थे	२८२	स्वस्तिभ्यामेव	-
विस्तारे पटच्	३०६	सङ्ख्यापूर्वपदानां	२७१	स्वार्थउपसंख्यानम्	-
वृक्षादौ विशेषाणामेव	९३	सङ्ख्याया अल्पीय	८६	ह	-
वृत्तेश्च	३२२	सङ्ख्याया नदीगोदा	१०४	हरिद्रामहाराज	-
वृद्धस्य च पूजायां	१४२	सङ्ख्यायास्तत्पुरुषस्य	७७	हरीतक्यादिषु	-
वृद्धाच्चेतिवक्तव्यम्	१७८	सङ्ख्याते कटच्	३०६	हिमाच्छेलुः	२
वृद्धेर्वृधुपिभावो	२४८	सन्निपाताच्चेतिवक्तव्यम्	२७७	हृदयाच्चानुरन्यत	३२६
वैर्यावक्तव्यः	७९	समानस्य	३३४	हृद्घुभ्यां च	११०
वैरे देवासुरादिभ्यः	२३२	समाहारेचायमिष्यते	१३		